शिक्षा-प्रणालियाँ और उनके प्रवर्त्तक

['शिक्षाके नये प्रयोग और विधान'का नव्य रूप]

[संसारकी समस्त शिक्षा-प्रणालियोंके प्रवर्त्तकों और उनके प्रयोगोंका प्रामाणिक इतिहास, विवरण तथा विश्लेषण]

[द्वितीय संस्करण]

लेखक

शिक्षाशास्त्राचार्य

साहित्याचार्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी

एम्० ए० (हिन्दी, संस्कृत, पालि, प्रत्न भारतीय इतिहास संस्कृति), बी० टी०, एल्‌ एल० बी०



प्रकाशक

नन्दकिशोर एंड ब्रदर्स,

चौक, बनारस

सं० २००८ वि०

मुद्रक
ओम् प्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी ३८२७-०७

[प्रथम संस्करणकी भूमिका]

यह पुस्तक

जबसे चारों ओर मातृभाषा-द्वारा सब विषयोंके शिक्षणकी पुकार मची, उससे बहुत पहले ही मैंने निश्चय कर लिया था कि शिक्षा-सम्बन्धी सभी आवश्यक पुस्तकें अपनी मातृभाषा हिन्दीमें प्रस्तुत कर दूँगा और फलतः मैंने भाषाकी शिक्षा और अध्यापन-कला तो लिखकर प्रकाशित करा डाली किन्तु पाठशाला-प्रबन्ध और शिक्षाका इतिहास कल्पनामें ही रह गया।

गत वर्ष सहसा इन पुस्तकोंकी माँग बढ़ी और यह आवश्यक समझा गया कि इन पुस्तकोंके प्रकाशनमें विलम्ब न किया जाय। स्थानीय प्रकाशक श्री नन्दकिशोर बन्धुने यह दायित्व अपने ऊपर लेकर पुस्तकके प्रकाशनमें सुविधा कर दी और इस वर्षकी विकराल गर्मीकी अवमानना करते हुए मैंने पाठशाला-प्रबन्ध भी समाप्त कर दिया और यह ग्रंथ भी।

परिचय

इस ग्रन्थमें उन सभी शिक्षा-शास्त्रियों और शिक्षाके प्रयोगोंका विस्तृत विवरण है जिन्होंने वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली, परीक्षा-प्रणाली, पाठ्यक्रम-विधान आदि शिक्षाके सभी तत्त्वोंको अपने प्रयोगोंसे प्रभावित किया है। वास्तवमें ऐसे इने-गिने शिक्षा-शास्त्रियोंमें मुख्यतः रूसो, पैस्टालौजी, हरबार्ट, फ्रोबेल, मौन्तेस्सौरी और हेलन पार्खर्स्ट प्रधान हैं किन्तु इनकी शिक्षा-प्रणालियोंको समझनेके लिये उन सभी प्रवृत्तियों, आन्दोलनों और विचारोंका भी क्रमिक अध्ययन आवश्यक है जिनसे इन नवीन प्रयोगोंको प्रेरणा मिली। इसलिये इस ग्रन्थमें विशिष्ट शिक्षा-शास्त्रियों तथा उनके प्रयोगोंके विषयमें विस्तारसे और अन्य ऐतिहासिक प्रकरणोंको संक्षेपमें हमने समझानेका प्रयत्न किया है।

योरपके इन प्रभावशाली शिक्षा-शास्त्रियोंके अतिरिक्त अपने देशके उन प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियोंके उद्योगों और प्रयोगोंका भी हमने परिचय दिया है जिन्होंने अपने देशकी प्राचीन शिक्षा-परम्पराके साथ नवीन वैज्ञानिक युगका स्वस्थ सामंजस्य करनेका प्रयत्न किया है। इसके

अतिरिक्त अन्तमें हमने अपनी ओरसे भी भारतकी दशाको ध्यानमें रखते हुए पुरुषों और स्त्रियोंके लिये अलग-अलग पाठ्य-क्रमका विधान सुझाया है।

इस ग्रन्थका अधिक श्रेय मेरी प्रिय शिष्या, किशोरीरमण गर्ल्स इंटर कौलेज, मथुराकी प्राध्यापिका श्री इन्दुमती दे, एम्० ए०, बी० टी० को है जिन्होंने यरोपीय शिक्षा-शास्त्रियोंके सम्बन्धकी कुल सामग्री मेरे लिये एकत्र करके दी है।

वर्त्तमान शिक्षा-प्रणालीको व्यवस्थित करनेमें जिन महापुरुषोंने योग दिया है उनका क्रमिक ऐतिहासिक परिचय प्राप्त करनेमें यह पुस्तक अवश्य सहायक होगी।

इस ग्रन्थमें भारतकी उन सभी नवीन शिक्षा-प्रवृत्तियोंका परिचय देनेका प्रयत्न किया गया है जिन्हें मैंने स्वयं घूम-घूम कर देखा है और जिनका मुझे व्यक्तिगत ज्ञान है। इनके अतिरिक्त जो नवीन प्रयोग हुए हों या हो रहे हों उनका परिचय जो सज्जन देंगे उनका कृतज्ञतापूर्ण आभार मानते हुए अगले अंकमें हम उचित परिवर्द्धन कर देंगे।

गंगा दशहरा
संवत् २००५
काशी।

सीताराम चतुर्वेदी

[दूसरे संस्करणकी भूमिका]

संदर्शिका

'शिक्षाके नये प्रयोग और विधान' नामसे जो पुस्तक मैंने पहले लिखी थी उसमें उचित संवर्द्धन, परिवर्त्तन और संशोधन करके मैंने उसे इस नये नामसे प्रस्तुत किया है। मेरे शिष्यों और मित्रोंने अपनी जो कठिनाइयाँ उपस्थित कीं, जो नये सुझाव दिए और जो नई प्रवृत्तियाँ मेरी दृष्टिमें आईं उन सभीको नये ढंगसे उपस्थित करना मेरा कर्त्तव्य हो गया। पिछले संस्करणमें अनेक ऐसे स्थल दिखाई दिए जो साधारणतः अस्पष्टसे लगते थे। उन सबको इस बार मैंने खोलकर समझा दिया है। सभी शिक्षा-प्रणालियोंको अलग-अलग, उचित उपशीर्षक और सह-टिप्पणी देकर मैंने इसे अध्येताओं और विद्यार्थियोंके लिये अधिक उपादेय बनानेका यत्न किया है। इस ग्रन्थमें प्रत्येक शिक्षा-प्रणालीका विस्तृत विवेचन करके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें व्यावहारिक तथा भारतीय दृष्टिसे उसका विश्लेषण करके उसके गुण-अवगुणकी स्पष्ट आलोचना भी कर दी गई है। इस बातका विशेष ध्यान रक्खा गया है कि संसारमें प्रयुक्त होनेवाली कोई शिक्षा-प्रणाली छूट न जाय। साथ ही प्रत्येक शिक्षा-प्रणालीके संबंधमें इस दृष्टिसे भी विचार किया गया है कि भारतीय प्रणालीसे उसमें क्या भेद है और भारतके वातावरणमें वह कहाँतक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इन प्रणालियोंके साथ जो कुछ प्रयोग किए जा रहे हैं उनका भी इसमें विस्तृत विवेचन किया गया है कि उनका प्रयोग कितना और कहाँतक उचित, न्यायसंगत और व्यवहार्य है।

मुझे विश्वास है कि शिक्षा-प्रेमी लोग इस ग्रन्थका उचित उपयोग करेंगे और यदि कुछ विषय छूट गए हों या कोई स्थल अस्पष्ट रह गए हों तो मुझे सूचित करनेका कष्ट करेंगे जिससे अगले संस्करणमें उनका उचित परिमार्जन तथा परिवर्द्धन हो जाय।

इस ग्रन्थमें मनोवैज्ञानिक प्रयोगोंके संबंधमें मैंने अपने आदरणीय गुरुवर आचार्य लज्जाशंकर झा जीके एक लेखका आवश्यक अंश ज्यों-का त्यों ले लिया है जो 'सनातनधर्म'में प्रकाशित हुआ था। यों तो शिक्षाशास्त्रके कुल ज्ञानका श्रेय ही गुरुओंको है और सभी कुछ उनका ही

प्रसाद है किन्तु इस विशेष लेखको अपना अधिकार समझकर ज्योंका त्यों उद्धृत करनेके लिये मैं उन्हें धन्यवाद देने तथा कृतज्ञता प्रकट करनेकी ढिठाई कैसे कर सकता हूँ। यही आशा और विश्वास है कि उनकी कृपा और उनका वरदान मुझे निरन्तर उत्साहित और अनुप्राणित करता रहेगा। जिन अन्य विदेशी भाषाओंकी पुस्तकोंका मैंने आश्रय लिया है उन सबका मैं नैतिक आभार मानता हूँ। जिन अनेक भारतीय संस्थाओंकी मैंने आलोचना की है उनके संचालकोंसे यही निवेदन है कि यदि मेरे विचारोंमें कहीं कोई भूल हो या मैंने कोई बात अशुद्ध, भ्रामक या आपत्तिजनक लिख दी हो तो वे कृपा करके मुझे लिख देंगे जिससे मैं आगे आवश्यक सुधार कर दूँ।

विजयादशमी, सं० २००८
उत्तर बेनिया बाग,
काशी

सीताराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

शिक्षा-प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक

प्रस्तावना

संसार जिस समय मनुष्य बननेका प्रयत्न कर रहा था उस समय हमारे पूर्वज देवत्व प्राप्त कर चुके थे। जीवनके नैतिक और सामाजिक तत्त्वोंकी मीमांसा कर चुकनेपर उन्होंने आध्यात्मिक और पारलौकिक तत्त्वोंके सूक्ष्मतम रहस्य भी छान डाले। ज्ञान और विज्ञानका ऐसा कोई अङ्ग नहीं बचा जो उनकी सूक्ष्म दृष्टिसे छूट निकला हो। इस सम्पूर्ण सिद्धिका आधार था हमारा आश्रम-धर्म और ज्यों ज्यों हमारा आश्रम-धर्म शिथिल होता गया, त्यों त्यों हमारी सिद्धियाँ लुप्त होती गईं और भौतिक दारिद्र्यके साथ-साथ हमारा नैतिक और बौद्धिक दारिद्र्य भी बढ़ता गया। जिसने एक दिन यह कहनेका साहस किया था—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्व मानवाः॥

[इस देशमें उत्पन्न होनेवाले अग्रजन्मा ब्राह्मणोंने पृथिवीके सब मानव-समुदायोंको अपना आचरण सिखाया, मानवताकी शिक्षा दी।]

—वही आज परमुखापेक्षी होकर ज्ञान-विज्ञानकी भिक्षा माँगनेके लिये विदेश दौड़ा जा रहा है और अभीतक भी वह अपनी ओरसे कोई ऐसे प्रयास नहीं कर सका, होनेवाले प्रयासोंको ऐसा प्रोत्साहन नहीं दे सका कि अपने स्वर्णमय अतीतकी सफलताओंके मूल रहस्यकी खोज करके वह उसे फिरसे सजीव कर सके।

शिक्षाका महत्त्व

किसी भी देशकी विभूति, चाहे वह आर्थिक हो, सैनिक हो, व्यावसायिक हो या कलासंबंधी हो, उसकी लोक-शिक्षा-पद्धतिपर ही अवलंबित होती है। समाजके नेताओंने समाजके जो नैतिक नियम बाँधे हों उनकी पूर्त्ति तभी हो सकती है जब उन नियमोंको सम्मुख रखकर वहाँकी शिक्षा व्यवस्थित की गई हो। आदर्श स्थिर करना उतना ही सरल है जितना आदर्शकी पूर्त्तिके लिये संयमका पालन करना कठोर है। इस संयममें जहाँ शिथिलता हुई कि आदर्श अपने स्थानपर नहीं टिक सकते, उनका पतन अनिवार्य है, अवश्यम्भावी है।

गुरुकुल-प्रणाली

इसीलिये वैदिक युगके महर्षियोंने 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' [इस जन्ममें सांसारिक उन्नति और इससे छूटनेपर मुक्तिकी सिद्धि ही वास्तविक धर्म है।] कहकर धर्मकी व्याख्या की और धर्मके अनुसार आचरण करना ही मानवजीवनका परम लक्ष्य स्थिर किया। वे केवल लक्ष्य स्थिर करके ही चुप नहीं रह गए। उस जीवन-लक्ष्यकी साधनाके लिये उन्होंने उस वर्णाश्रम-धर्मकी प्रतिष्ठा की जिसके अनुसार द्विजमात्रको ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास तथा इन चार आश्रमोंमें अपना जीवन ढालना पड़ा। उसीका परिणाम यह हुआ कि समाजमें विद्याका प्रसार हुआ, कलाकी समुन्नति हुई और नैतिकताकी वृद्धि हुई। ब्रह्मचर्य आश्रमके सब संस्कार उन गुरुकुलोंमें पनपे, जहाँ धनी-निर्धनका कोई भेद नहीं था, सबको निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी, आचरणपर विशेष ध्यान दिया जाता था, स्वस्थ प्राकृतिक वातावरणमें सेवा और सहयोगकी भावना पुष्ट की जाती थी, निश्चिन्त होकर अध्ययनाध्यापन होता था, निश्चित अवधिसे अधिक भी छात्र अपना अध्ययन चला सकते थे, गुरुके प्रति आदर और श्रद्धा तथा शिष्यके प्रति वात्सल्य और उदारता थी और जहाँकी व्यवस्थामें राज्य-शासक किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। उस शुद्ध, निर्बाध, सात्त्विक, प्रबुद्ध तथा उदार प्राकृतिक वातावरणमें शिक्षा पाए हुए छात्र 'पूतेन वचसा, अवदातेन कर्मणा' (पवित्र वाणीसे और निष्कलंक कर्मसे) समाजकी नागरिकताको सुशोभित करते थे। उस गुरुकुल-पद्धतिके नष्ट होते ही हमारा समाज गिरते-गिरते आजकी दशातक पहुँच गया है जब हम राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनेपर भी शुद्ध हृदयसे यह कहनेमें असमर्थ हैं कि हम सच्चे और उपयुक्त नागरिक हैं।

नालन्दा

गुरुकुल—प्रणालीकी शिक्षाका अन्तिम ज्ञानदीप नालन्दा समझा जाता है। आततायी यवनोंके हाथसे जिस दिन उसका निर्वाण हुआ उसके पश्चात् केवल काशी ही एक मात्र ऐसा केन्द्र रह गया जहाँ भारतीय शिक्षाकी गुरुकुल-परम्परा तो कम किन्तु गुरु-शिष्य परम्परा आजतक भी अक्षुण्ण बनी चली आ रही है और आज भी काशी गौरवके साथ कह सकती है कि ब्रह्मदान (विद्यादान) की जिस उदात्त और सात्त्विक भावनासे प्रेरित होकर वैदिक युगके आचार्य अपने माणवकोंको विद्या पढ़ाते थे, उसी संलग्नता और चावसे आजके तपःपूत पंडित भी अपने शिष्योंको विद्याकी ज्योति प्रदान करते हैं। इतने विशाल देशमें यह केन्द्र अकेला ही अपनी परिपाटीका निर्वाह क

रहा है और प्रबल लोक-भावना और लोक-रुचिके विरुद्ध भी डटकर गौरवके साथ खड़ा हुआ है।

भारतीय शिक्षाका अन्त

हर्षके साम्राज्यका पतन आर्य-संस्कृतिके पतनका प्रारंभ समझना चाहिए। उसके पश्चात् राजपूतानेके क्षत्रिय राजाओंने आर्य-मान और आर्य-गौरवकी रक्षाके लिये ऐकान्तिक प्रयास तो अत्यन्त साहसपूर्ण और प्रशंसनीय रूपसे किए किन्तु सामूहिक प्रयास नहीं हो सके। उसका सिद्ध परिणाम यह हुआ कि हम लोग सशक्त होते हुए भी पश्चिमोत्तर सीमासे आक्रमण करने-वाले दस्यु यवनोंकी वर्द्धमान सैन्य-शक्तिका सामना न कर सके। थोड़े ही वर्षोंमें हमारा इतना शक्तिशाली राष्ट्र अपनी मूर्खता और अनेकताके कारण दस्यु यवनोंका दास बन गया और आर्यावर्त्तमें उन यवनोंका शासन प्रारंभ हो गया जिन्होंने सब न्यायान्यायुक्त उपायोंसे हमारे धर्म, आचार-विचार, भावसंस्कार, भाषा-भेस, कला-साहित्य सभीका धीरे धीरे संहार कर डाला और बलपूर्वक अपने आचार-विचार, भाषा-भेस और संस्कार हमारे सिरपर इस प्रकार लादे कि हमने अपनी राजनीतिक विवशतामें इसे ही अपनानेमें कल्याण समझा।

भारतमें योरोपीय शिक्षा

सत्रहवीं शताब्दीसे ही भारतका संबंध योरोपीय प्रदेशोंसे बढ़ चला और बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ा कि व्यापारके लिये आए हुए ये विदेशी, हमारे देशी राजाओंके सन्धि-विग्रहमें भी भाग लेने लगे और हम लोगोंकी परम्परागत सज्जनताका अनुचित लाभ उठाकर उन्होंने भारतके प्रदेशोंको भी धीरे-धीरे हथियाना प्रारंभ किया। सन् १७५७ के पलासी युद्धसे जो भारतका विदेशी-करण प्रारंभ हुआ वह १८५७ में पूर्ण हो गया और भारतपर पूर्ण रूपसे अँगरेजोंका शासन प्रारंभ हो गया। इसके पूर्व ही जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीने अपना शासन प्रारंभ किया था तब उसे ऐसे कर्मचारियोंकी आवश्यकता थी जो अँगरेजीमें लिखा-पढ़ी और पत्र-व्यवहार कर सकें अतः उसकी ओरसे कुछ ऐसे विद्यालय खोले गए जहाँ इस प्रकारसे अँगरेज़ीकी शिक्षा दी जाती थी कि वहाँसे निकले हुए छात्र योग्यतापूर्वक ईस्ट इण्डिया कम्पनीके व्यापारमें सहायक हो सकें और भारतीय व्यवसायका गला घोटकर, उसकी हत्या करके भी ईस्ट इण्डिया कम्पनीका धनकोष भरते चले जा सकें। इसीके साथ-साथ पुर्त्तगाल, हौलैंड और इँगलिस्तानकी ईसाई संस्थाओंने भी अपनी ओरसे कुछ विद्यालय खुलवा दिए थे जिनका उद्देश्य यह था कि विद्याका प्रलोभन देकर जनताको

ईसाई बना लिया जाय । दोनों प्रवृत्तियोंके पीछे शिक्षाके सार्वभौम सिद्धान्तोंका आधार नहीं था। वे तो केवल अपने स्वार्थ-साधनके लिये शिक्षाका आडम्बर खड़ा किए हुए थे। उनकी व्यवस्था भी अँगरेज़ी या योरोपीय ढंगपर थी जहाँ योरोपीय वेश-भूषा, भाषा और आचारके अवलम्बसे छात्रोंको शिक्षा दी जाती थी। कुछ अँगरेज़ी-प्रिय भारतीयोंने भी अच्छी नौकरियोंके लोभसे विद्यालय खोले किन्तु उनमें भी विद्यादान करनेकी प्रवृत्ति कम थो, ईस्ट इण्डिया कम्पनीके लिये योग्य सेवक उत्पादन करनेकी ही भावना अधिक थी।

विदेशी शिक्षासे विरक्ति

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंने एक लाख रुपया वार्षिककी स्वीकृति देकर यह घोषणा की कि इसके द्वारा भारतीय विज्ञान और साहित्यकी अभिवृद्धि की जाय और भारतीय विद्वानोंको विद्वद्वृत्ति दी जाय तो अंगरेज़ीवादी और प्राच्यवादियोंमें इस बातपर बड़ा संघर्ष चला कि इस द्रव्यका व्यय किस प्रकार किया जाय ।अन्तमें मैकौलेको पंच बनाकर यह विवाद सौंप दिया गया। उसने जो विषाक्त निर्णय दिया उसके फलस्वरूप जो निन्द्य शिक्षा-नीति निर्धारित हुई उसका कुफल आजतक भारतको भोगना पड़ रहा है। मैकौलेने जो निर्णय दिया उसमें पहले तो उसने जी भरकर भारतीय साहित्य, संस्कृति और विज्ञानको कोसकर अपनी अल्पज्ञताका परिचय दिया और अन्तमें लिखा कि हमारा उद्देश्य यह है कि भारतके लोग रंगमें तो भारतीय रहें किन्तु आचार-विचार, रहन-सहन, बोलचाल, खान-पान, भाव-संस्कार सब बातोंमें अंगरेज़ बन जायँ। धीरे-धीरे लोग अँगरेज़ बनने भी लगे। इसी बीच सन् १८५७ में हमारा स्वतंत्रताका पहला युद्ध भी सम्राट् बहादुरशाहके नेतृत्वमें प्रारंभ हुआ जिसमें झाँसीकी महारानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब और तात्या टोपे जैसे महावीरोंने अपना महात्याग किया और यद्यपि स्वयं हमारे ही अनेक बन्धुओंने विदेशियोंका साथ देकर हमारी स्वाधीनताके इस युद्धको विफल बनाया किन्तु उसने अँगरेज़ोंके प्रति ऐसी भयंकर विरक्ति उत्पन्न कर दी कि वह महारानी विक्टोरियाके शान्त शासनमें भी ठंडी न पड़ सकी।

शिक्षाके वास्तविक प्रयास

सन् १८५४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंने शिक्षाका नया महाविधान बनाकर भेजा जिसके अनुसार प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षाकी व्यवस्थाके साथ तीन विश्वविद्यालयों की, अध्यापकोंके शिक्षणके लिये शिक्षण संस्थाओंकी, लोकसंचालित संस्थाओंको आर्थिक सहायताकी, संस्कृत-अरबी-के देशी विद्यालयोंको सहायताकी तथा मेधावी छात्रोंको छात्र-वृत्ति देनेकी

व्यवस्था की गई और अंगरेज़ी शिक्षा अपने पूरे रूपकके साथ जमकर बैठ गई। किन्तु इस शिक्षा-प्रणालीसे पढ़े हुए जितने युवक निकल रहे थे उनकी व्यापक प्रवृत्ति यह रहती थी कि वे भारतीय और भारतीयतासे अत्यन्त क्षुब्ध और असंतुष्ट दिखाई पड़ते थे। अपने देशके सब आचार-व्यवहार उन्हें अशोभन लगते थे, अपने प्राचीन साहित्यमें उन्हें कोई काम की वस्तु नहीं दिखाई पड़ती थी और यह कुप्रवृत्ति यहाँतक बढ़ी कि इन अँगरेज़ी पढ़े-लिखे अँगरेज़-प्रिय युवकोंने भारतीय शील और परिवार-मर्यादा भी तोड़ दी। भारतीयताके प्रति बढ़ती हुई इस अराजकताने समाजके कान खड़े कर दिए, अनेक महापुरुषोंने इसके विरुद्ध विद्रोहका झंडा खड़ा करके गुरुकुलोंकी स्थापनाका प्रचार किया और वह प्रयास सफल भी हुआ। इस प्रकारके जितने प्रयास हुए उनमें सबसे अधिक महत्त्वका प्रयास था महामना पंडित मदनमोहन मालवीयका, जिन्होंने काशीमें हिन्दू विश्वविद्यालयकी स्थापना करते हुए यह आदर्श रक्खा कि हम विद्याएँ तो संसार भरकी पढ़ावें किन्तु आचार-व्यवहार शुद्ध भारतीय रक्खें।

शिक्षाका कठोर शासन

भारतके इन आन्दोलनोंके साथ साथ योरोपमें भी उस मध्यकालीन शिक्षा-प्रणालीके विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था जिसके अनुसार क्रूर अध्यापकोंके शासनमें बालक रख दिए जाते थे, छोटे छोटे अपराधोंपर बेंत सपसपाने लगती थी, भोजन बन्द कर दिया जाता था, नैतिक अपराधियोंके समान बालकोंको भी विद्यालयोंकी कालकोठरीमें बन्द कर दिया जाता था, बालकोंको कुत्ते या मेंढकका रूप भी धारण करना पड़ता था, सबसे बोल-चाल बन्द कर दी जाती थी, बलपूर्वक लातिन शब्दों और धातुओंके रूप घोटने पड़ते थे और न घोटनेपर बेंत खानी पड़ती थी, अध्यापक जो बता दे वह सीखना पड़ता था, जो कह दें वह मानना पड़ता था, छात्रको न काम करनेकी स्वतंत्रता थी न बोलनेकी, न सोचनेकी न कुछ बनानेकी। वह एक यंत्रमात्र था जिसे विद्यालयके निश्चित घंटोंके अनुसार चल-फिरकर सार्थ–निरर्थक सूचनाओंका भंडार बलपूर्वक अपने मस्तिष्कमें तहाना पड़ता था।

विद्रोह

योरपके स्वतंत्र विचारशील शिक्षाशास्त्रियोंने शिक्षकोंकी इस निर्दय कठोरताका विरोध प्रारंभ किया और समष्टि रूपसे उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि—

"बालककी कुलपरंपरा और उसके विकास-क्षेत्रका समुचित अध्ययन

करके उसकी रुचिके अनुसार उसके पूर्वार्जित ज्ञानसे संबद्ध करते हुए ऐसे रोचक विधानोंके द्वारा नया ज्ञान दिया जाय कि बालक रुचिपूर्वक क्रियाशीलताके साथ अपने व्यक्तित्वका विकास करता हुआ अपनेको शिक्षित करता चले।"

यह पूरा सिद्धान्त जिस क्रमसे विकसित होकर इस रूपतक पहुँचा है उसमें अनेक शिक्षा-शास्त्रियोंकी साधनाका हाथ है और इन सबके विभिन्न प्रयोगोंने विश्व-शिक्षा-विधानको इस प्रकार प्रभावित किया है कि भारतीय शिक्षाकी नई योजनाएँ भी उसके प्रभावसे बच नहीं सकतीं और जब हम अपने स्वतन्त्र भारतीय संघमें शिक्षाकी नई योजना बनावेंगे उसमें भी इन प्रयोगोंका कम महत्त्व नहीं रहेगा।

कुछ प्रश्न

शिक्षाके इन सब प्रयोगोंका इतिहास और विवरण देनेसे पूर्व शिक्षाके कुछ मूल तत्त्वोंका विवेचन कर लेना भी आवश्यक है। मूल तत्त्वोंका विवेचन करते समय कई प्रश्न सहसा उठ खड़े होते हैं—

शिक्षा किसे कहते हैं ?

क्या विद्या और शिक्षा समानार्थी शब्द हैं ?

क्या प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा देनी चाहिए ?

शिक्षाका उद्देश्य किस आधारपर निश्चित किया जाय ?

पाठ्य विषय कितने और किस क्रमसे हों ?

क्या शिक्षानीतिका निर्धारण राज्यकी ओरसे हो ?

क्या शिक्षाके लिये वर्ग-भेद आवश्यक है ?

इन प्रश्नोंकी व्याख्या कर चुकनेपर हम उपर्युक्त शिक्षा-शास्त्रियोंके महत्त्वपूर्ण प्रयोगोंपर गंभीरतापूर्वक विचार करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

शिक्षा किसे कहते हैं ?

बहुतसे लोग समझते हैं कि किसी विद्यालयमें अध्ययन करके वहाँसे उच्चतम कक्षासे निकलनेपर हमारी शिक्षा पूरी हो जाती है। किन्तु यह बड़ा भारी भ्रम है। अध्ययन करना एक बात है, शिक्षा ग्रहण करना दूसरी बात है। किसी पुराने सूक्तिकारने कहा है—

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां
न नाममात्रेण करोत्यरोगम्॥

[शास्त्रोंका अध्ययन करके भी लोग मूर्ख रह जाते हैं, विद्वान् वही है जो क्रियावान् हो, शास्त्रका व्यवहार भी कर सके। क्योंकि भली प्रकार निर्णय की हुई औषधि भी केवल नाम लेने भरसे रोगीको अच्छा नहीं कर सकती।] अतः अनेक विषयोंका अध्ययन करना, उन्हें घोट डालना ही पर्याप्त नहीं है, उनका व्यवहार-ज्ञान भी होना चाहिए। इसी व्यवहार-ज्ञानको शिक्षा कहते हैं। किन्तु शिक्षाकी परिधि केवल अर्जित ज्ञानके व्यवहार मात्रतक परिमित नहीं है। शिक्षाके भीतर हमारी संपूर्ण व्यक्तिगत, पारिवारिक, नागरिक, राष्ट्रिय, मानवीय तथा आध्यामिक सम्बन्धोंको व्यक्त करने वाली विवेकसंगत चेष्टाओंका समावेश होता है। इस परिभाषाकी व्याख्या करना आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य एक व्यक्ति है और व्यक्तिके रूपमें उसके कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जो उसे अपने व्यक्तिगत विकास और रक्षणके लिये करने पड़ते हैं जैसे अपने लिये किसी प्रकार भोजन संग्रह करना और ऋतुओंके प्रभावसे तथा अन्य आपत्तियोंसे बचनेके लिये प्रयत्न करना। ये मनुष्यकी मूल आवश्यकताएँ हैं और प्रत्येक व्यक्ति इन आवश्यकताओंकी पूर्ति करता है। इस प्रवृत्तिमें शिक्षा यह सहायता कर सकती है कि वह व्यक्तिको इस योग्य बना दे कि वह दूसरेको कष्ट दिए बिना ऐसी जीविकाके द्वारा भोजन एकत्र करे जिससे वह स्वयं भी भोजन कर सके और उन अन्य प्राणियोंको भी भोजन दे सके जो अशक्त, पंगु और असमर्थ हों। शिक्षाके द्वारा वह ऋतुओंके प्रभावसे बचनेके लिये केवल आड़ बनाकर न रह जाय वरन् ऐसा स्थान बनावे जहाँ कीट, पतंग, विषैले जीव या मच्छर न आ सकें, जो सुन्दर हो और एक क्रमसे बना हो। शिक्षाके द्वारा वह ऐसे रक्षा-कौशल, दावपेंच या शस्त्र-प्रयोग जान जाय जिससे वह दूसरोंको कष्ट न देकर अपनी भी रक्षा कर सके और अपने पड़ोसियोंकी भी रक्षा कर सके। इसीके साथ साथ शिक्षासे उसके मनमें परोपकार और पररक्षाकी ऐसी भावना भी उदित हो कि वह परके लिये 'स्व' का बलिदान करनेमें अपना महत्त्व समझे।

शिक्षाकी परिभाषा

ठीक यही बात परिवार, नगर, जनपद, राष्ट्र, और विश्वसे व्यक्तिके संबंधकी उन चेष्टाओंके विषयमें भी है जिनके औचित्य या अनौचित्यपर हमारे व्यक्तिगत या समाजिक उत्कर्षापकर्षके नैतिक सिद्धान्त अवलंबित हैं। अतः हमारे सब प्रकारके व्यवहारोंको लोकहितकी दृष्टिसे संयत और विवेकशील बनानेवाली सब क्रियाओंकी समष्टिको शिक्षा कहते हैं।

शिक्षा और विद्या

इस ऊपरके स्पष्टीकरणसे यह सिद्ध हो गया कि शिक्षा और विद्या समा-

नार्थी शब्द नहीं हैं। व्यायामचक्र (सरकस) वाले अपने हाथी, घोड़े, कुत्ते, सिंह, बकरी, बन्दर, तोते आदिको शिक्षा देकर ऐसा साध लेते हैं कि ये मूक जीव अपने मनुष्य शिक्षकोंके आदेशपर काम करने लगते हैं। वे उनको यह सिखा देते हैं कि अमुक शब्दध्वनिपर किस प्रकारकी आंगिक प्रतिक्रिया उन्हें करनी चाहिए। किन्तु आप उन्हें रामायण और भागवत नहीं पढ़ा सकते, ज्योतिष और आयुर्वेदके तत्त्व नहीं समझा सकते, जीव और जगत्के रहस्योंकी व्याख्याका बोध नहीं करा सकते अर्थात् आप उन्हें सिखा सकते हैं, पढ़ा नहीं सकते। हमारा संपूर्ण ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, साहित्य, इतिहास पुराण विद्याके अन्तर्गत हैं। अठारह विद्याओंकी गिनती कराते हुए कहा गया है कि चार वेद (ऋक्, यजुः, साम, अथर्व), छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, और निरुक्त), मीमांसा, न्याय, धर्म पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्वशास्त्र और अर्थशास्त्र मिलकर अठारह विद्याओंकी समष्टि होती है। इसके अतिरिक्त इस युगमें विज्ञानने जितने ज्ञानका विकास किया है वह भी सब विद्याके ही अन्तर्गत आ जाता है। अतः विद्या उस संपूर्ण ज्ञान-राशिको कहते हैं जो हमारे पूर्वजोंके तथा समकालीन विद्वानोंके अनुभव और प्रयोगके द्वारा संचित की गई है और की जा रही है। इस विद्याका प्राप्त करना केवल अभ्यास-पक्ष है और इस विद्याका प्रयोग करना, जीवनमें अवसरके अनुकूल कल्याणकारी रूपमें उसका व्यवहार करना ही व्यवहार-पक्ष है जो शिक्षासे आता है। विद्या और शिक्षा समानार्थी न होते हुए भी अन्योन्याश्रित हैं, इनका भी शब्दार्थके समान नित्य सम्बन्ध है। अतः जब हम शिक्षाकी बात कहते हैं तो उसमें विद्याकी भावना भी अन्तर्निहित रहती है और हम आगे इसी विस्तृत अर्थमें शिक्षा शब्दका व्यवहार करेंगे।

क्या प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा देनी चाहिए ?

प्रत्येक व्यक्तिके लिये शिक्षाका द्वार खुला रखना प्रत्येक विद्यालयका नैतिक कर्त्तव्य है। जाति, धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय, लिंग आदि अनेक प्रकारकी जो मानवीय श्रेणियाँ बन गई हैं उनसे शिक्षामें बाधा नहीं पड़नी चाहिए। किन्तु अनुभवसे यह ज्ञात हुआ है प्रत्येक मनुष्य शिक्षा प्राप्त करनेके लिये उत्सुक नहीं होता, उसमें सबकी रुचि नहीं होती, न सबकी बुद्धि और प्रवृत्ति ही शिक्षाके अनुकूल होती है और कभी-कभी तो पारिवारिक परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हो जाती हैं कि चाहते हुए भी और बुद्धि-सामर्थ्य रहते हुए भी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये अवसर निकालना संभव नहीं होता। तो क्या शिक्षा प्राप्त करना बालककी रुचि या अरुचिपर छोड़ दिया जाय ? यदि बालकपर ही यह निश्चय छोड़ दिया जाय तो

संभवतः सौमें दस बालक भी ऐसे नहीं निकलेंगे जो स्वेच्छासे विद्यालय जानेके लिये उत्सुक होंगे। क्या कारण है कि इतनी अधिक संख्यामें विद्यार्थिगण पाठशालामें नहीं जाना चाहते। प्रयोगसे यह परिणाम निकाला गया है कि पाठ्यक्रमकी बहुलता, पाठ्य-प्रणालीकी नीरसता, अध्यापकोंकी कठोरता और पाठशालाकी रूक्षता ये सब मिलकर छात्रोंमें विरक्ति उत्पन्न करते रहे हैं और यदि इन सब परिस्थितियोंमें परिवर्त्तन हो जाय, पाठ्यक्रम सरल और क्रमिक कर दिया जाय, पाठ्य-प्रणाली सरस हो जाय, अध्यापक सदय और सहृदय हो जायँ और पाठशालाका वातावरण अधिक सरस, आकर्षक और अनुरंजक हो जाय तो बालक दौड़े चले आवेंगे, सिरके बल चलकर आवेंगे यदि अन्य पारिवारिक बाधाएँ ही मार्ग रोककर न खड़ी हो जायँ।

क्या यह सम्भव है ?

किन्तु शिक्षाके सब क्षेत्रोंमें, सब श्रेणियोंमें इस प्रकारका वातावरण उत्पन्न नहीं किया जा सकता। भारत जैसा विशाल राष्ट्र अपनी आर्थिक हीनताकी दशामें विद्यार्थियोंको इस रूपमें परिवर्तित करनेका व्यय-भार नहीं सँभाल सकता। अधिकसे अधिक प्रारंभिक अवस्थाके बालकोंके लिये ऐसी व्यवस्था संभव हो सकती है। किन्तु इसके पश्चात् क्या हो ?

शिक्षाका आधार

शिक्षाके प्रश्नपर हमें कई दृष्टियोंसे विचार करना होगा। केवल यही नैतिक सिद्धान्त पर्याप्त नहीं है कि प्रत्येक मानवका अधिकार है शिक्षा प्राप्त करना और प्रत्येक राष्ट्रका कर्त्तव्य है राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिके लिये शिक्षा सुलभ करना। इस अनिवार्य शिक्षाकी एक सीमा होनी चाहिए और उसका क्रम भी इस प्रकार बन जाना चाहिए कि उस अनिवार्य शिक्षाकी अवस्थामें बालककी रुचि, प्रवृत्ति और मनोवृत्ति इतनी परिपक्व हो जाय कि उस अवस्थाको पार करनेके पश्चात् वह निश्चित रूपसे अपने भविष्यकी वृत्ति चुन सके। इसका निष्कर्ष यह निकला कि एक विशेष अवस्थातक प्रत्येक बालकको इस प्रकार शिक्षा दी जाय कि वह अपने अध्ययनके विभिन्न विषयोंके आधारपर यह निर्णय कर ले कि मैं किस वृत्तिका आश्रय लेकर अपनी जीविका कमाता हुआ राष्ट्रका और समाजका उपयोगी अङ्ग बन सकता हूँ। उपयोगी अङ्ग बननेका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि वह देशकी आर्थिक समृद्धिमें ही योग दे वरन् अपने आचरणसे वह दूसरोंको सुख भी दे और निर्भयता, सचाई, शील, आत्म-त्याग तथा सदाचारके साथ अपना जीवन-निर्वाह करता हुआ समाज और देशकी सेवा भी करे क्योंकि—

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।

स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥

[धर्मशास्त्र पढ़ लेनेसे ही कोई दुष्ट व्यक्ति धार्मिक नहीं बन जाता और न वेद पढ़नेसे ऋषि बन जाता । अच्छा-बुरा बनना तो स्वभावपर निर्भर है जैसे गौका दूध स्वभावसे ही मधुर होता है ।] इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमें शिक्षामें इतनी बातोंकी योजना करनी पड़ेगी—

१. विद्यालयका वातावरण ऐसा हो जिसमें बालक पारस्परिक सहयोग, सेवा, उदारता, शील, सत्यता और सदाचारका महत्त्व समझकर अपना स्वभाव उसी प्रकार ढाल सके ।

२. इतनी अवस्थातक इतने विभिन्न विषयोंसे उसका निकटतम परिचय करा दिया जाय कि उनके आधारपर वह अपनी भावी वृत्ति निश्चय कर सके ।

३. अध्यापन-शैली तथा अन्य साधन इतने आकर्षक हों कि बालक स्वतःप्रवृत्त होकर रुचिके साथ ज्ञान अर्जन करनेके लिये उत्सुक हो ।

४. जिन बालकोंकी पारिवारिक या अन्य किन्हीं परिस्थितियोंके कारण विद्यालयमें शिक्षा पाना संभव न हो उनके लिये ऐसी व्यवस्था की जाय कि वे छुट्टीके समय ज्ञानार्जन कर लें । इसी प्रकारकी व्यवस्था कारीगरोंकी सन्ततिके लिये भी करनी चाहिए जिससे वे स्वभावतः अपने पैतृक व्यवसायको बचपनसे सीखते हुए घरके व्यवसायमें योग भी देते रहें और छुट्टीके समय ज्ञानार्जन भी करते रहें ।

इतनी सुविधा राष्ट्रके प्रत्येक बालकके लिये होनी ही चाहिए और इस सिद्धान्तके अनुसार केवल एक ही प्रकारकी अनिवार्य तथा निःशुल्क पाठशालाएँ स्थापित की जायँ । किन्तु इससे आगेकी शिक्षा देनेवाली संस्थाओंको यह छूट अवश्य रहे कि वे यदि चाहें तो किसी विशेष उद्देश्यके अनुसार किसी विशेष वृत्ति या विशेष प्रयोजनके लिये शिक्षा दें और उसकी व्यवस्था करें किन्तु राष्ट्र-कोषपर उसका भार न हो ।

शिक्षाके उद्देश्य किस आधारपर निश्चित किए जायँ ?

शिक्षाके कुछ तो सार्वभौम उद्देश्य हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है जैसे—शील, सदाचार, निर्भयता, सत्यता, उदारता, राष्ट्रके लिये स्वार्थत्याग और आत्म-त्याग सिखाना तथा सदाचारके साथ उपयोगी नागरिक बनाना ।

किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विशेषकालिक उद्देश्य भी होते हैं जो किसी विशेष युगमें किसी विशेष परिस्थितिके कारण निर्धारित कर लिए जाते हैं । यदि हम अपने देशकी शिक्षा-योजना बनाना चाहें तो हमें पहले यह देख

लेना चाहिए कि हमारे देशमें ऐसी कौन सी त्रुटियाँ हैं जिनकी पूर्त्ति तत्काल आवश्यक है। व्यापक रूपसे विचार करनेपर हम इस निकर्षपर पहुँचते हैं कि हमारे देशमें—

(१) निरक्षरता
(२) दरिद्रता
(३) शक्ति-हीनता
(४) सरोगिता
(५) रूढिवादिता

—पाँच बड़ी भारी त्रुटियाँ हैं जिन्हें दूर करना तत्काल आवश्यक है अत: हम अपनी शिक्षाका उद्देश्य तबतकके लिये यह रख सकते हैं कि—

"हमारी शिक्षा इस प्रकार व्यवस्थित की जाय कि (१) राष्ट्रका प्रत्येक व्यक्ति साक्षर हो जाय, (२) उसमें इतनी व्यावसायिक योग्यता हो जाय कि वह सुखी जीवन बिताने योग्य जीविका कमानेके साथ-साथ राष्ट्रकी व्यावसायिक उन्नतिमें भी योग दे, (३) वह व्यायाम तथा सैन्य-शास्त्रका ज्ञान प्राप्त करके बाहरी शत्रुओंसे अपने राष्ट्रकी रक्षा कर सके, (४) स्वयं स्वस्थ रहकर अपने पास-पड़ोस, नगर-गाँव को स्वस्थ रख सके और (५) अपने प्राचीन संस्कारोंकी रक्षा करते हुए भी नवीन युगके संपूर्ण ज्ञान-विज्ञानके उपयोगी अंशका भरपूर प्रयोग कर सके। जब इतनी बात निश्चित हो गई तो हमें इस प्रश्नका उत्तर देना भी सरल हो गया कि—

पाठ्य-विषय कितने और किस क्रमसे हों ?

बालकोंकी शिक्षा-व्यवस्था करनेसे पूर्व हमें सदा यह विचार करना पड़ता है कि उन्हें पढ़ाया क्या जाय। सभी विषयोंके शिक्षणके प्रयोजनोंका वर्गीकरण करनेसे छः मुख्य प्रयोजन स्थिर होते हैं—

१. ज्ञानकी नींव स्थापित करना या प्रारंभिक आधार बनाना
२. विभिन्न विद्याओंसे परिचय कराना
३. व्यवहार-ज्ञान कराना
४. सामाजिकताका भाव बढ़ाना
५. नैतिक शिक्षा देना
६. रूढिगत संस्कार स्थिर करना
७. सांस्कृतिक ज्ञान देना

१. संपूर्ण ज्ञानकी नींव या आधार स्थापित करनेवाले विषयोंमें लिखना, पढ़ना और गणित ये तीन बातें आती हैं। गणितके ज्ञानके आधारपर हम बीजगणित, रेखागणित, ज्यौतिष आदि सीख सकते हैं, पढ़ने-लिखनेका ज्ञान

प्राप्त करके हम संसारका इतिहास, देशविदेशोंका वर्णन और साहित्यका अध्ययन कर सकते हैं।

२. कुछ ऐसे विषय हैं जो दूसरे विषयोंका परिचय करा देते हैं जैसे भूगोलका अध्ययन करनेसे हम विज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंसे परिचित हो जाते हैं जैसे वनस्पति-विद्या, जीव विद्या, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि। इसी प्रकार महा-काव्योंमें वर्णित विशिष्ट महापुरुषोंके चरित्र पढ़कर उन महाकाव्योंसे भी हमारा परिचय हो जाता है अर्थात् अर्जित ज्ञानके आधारपर उससे संबंध रखनेवाला नया ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

३. व्यवहार-ज्ञान करानेवाले विषयोंमें वे सभी विषय हैं जिनके द्वारा हम अपनी रक्षा करते हैं, जीविका चलाते हैं और परस्पर समाज तथा नगरके विभिन्न कार्योंमें व्यवहार करते हैं। यह उद्देश्य या प्रयोजन प्रायः कक्षासे बाहर ही सिद्ध होता है और मनुष्य अपने अनुभवसे ही इस प्रयोजनकी सिद्धि कर लेता है किन्तु कक्षामें भी अध्यापकोंके आचरण तथा अन्य सामूहिक उत्सवोंमें नाट्य, भाषण आदिके द्वारा उसकी भी व्यवस्था की जा सकती है।

४. सामाजिकताका भाव बढ़ानेवाले वे सभी विषय हैं जिनसे हम अपने पूर्व पुरुषोंके सामाजिक व्यवहार तथा संस्कारका ज्ञान प्राप्त करते हैं, विभिन्न देशोंके आचार-विचार, नीति-नियमका परिचय पाते हैं और अपने देशकी राज्य-व्यवस्थाके अनुसार तथा तत्कालीन समाज-नीतिके अनुसार व्यक्तिगत और सामाजिक आचरणका व्यवहार सीखते हैं। इसके अन्तर्गत इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, यात्रा-विवरण, हस्त-कौशल, उपन्यास, चलचित्र आदि ऐसे और भी विषय हैं जिनसे हम अपना सामाजिक ज्ञान बढ़ा सकते हैं और जो हमारे सामाजिक व्यवहारमें सहायक हो सकते हैं।

५. ऐसे कोई निर्दिष्ट विषय नहीं हैं जिनसे नैतिक शिक्षा भी दी जा सकती हो। नैतिक आख्यानों-द्वारा, नाटकों-द्वारा तथा अध्यापकोंके आचरण-द्वारा नैतिक शिक्षाका कुछ रूप उपस्थित किया जा सकता है किन्तु उसके लिये व्यवस्थित शिक्षाका कोई पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता। यों, साधारणतया कहा जा सकता है कि विज्ञान-द्वारा सत्यताका, इतिहासके द्वारा आत्मत्याग, वीरता, लगन और साहसका, कलाकौशल-द्वारा सुरुचि और संलग्नताका थोड़ा-बहुत भाव बढ़ता ही चलता है और वह बालकोंके नैतिक विकासमें सहायक होता है।

६. कुछ ऐसे विषय भी हैं जो किसी विशेष जाति या वर्गके संस्कारोंसे संबद्ध होते हैं। हम यदि अपने ही देशकी बात लें तो देखेंगे कि प्रत्येक हिन्दूके

सब संस्कार संस्कृतमें होते हैं और जितने भी धर्मग्रन्थ और सांस्कृतिक महाकाव्य हैं सभी संस्कृतमें हैं अतः प्रत्येक हिन्दूके लिये अपने रूढिगत संस्कारका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये संस्कृतका पढ़ना आवश्यक है।

७. सांस्कृतिक विषयोंमें दार्शनिक ग्रन्थ तथा वे सभी ललित कलाएँ आ जाती हैं जिनसे हमारी रुचि परिष्कृति होती है, जीवनमें कलात्मकता और सुन्दरता आती है, सुरुचिपूर्ण कल्पनाका विकास होता है, आत्मतुष्टिके साथ दूसरोंको भी सुख दिया जा सकता है और उदात्त वृत्तियोंका संरक्षण और पोषण होता है। इनमें संगीत, चित्र-कला, मूर्ति-कला, काव्य-कला, नाट्यकला आदि विषयोंका समावेश होता है।

इन सभी प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाले सब विषय एक साथ नहीं पढ़ाए जा सकते। प्रारम्भमें हम इस क्रमसे उपर्युक्त विषयोंके शिक्षणकी व्यवस्था कर सकते हैं।

व्यवस्था

१. मातृ-भाषामें पढ़ना और लिखना।
२. गणित
३. सामाजिक आचरण, इतिहास तथा भूगोल
४. संगीत तथा चित्र

किन्तु हम ऊपर कह आए हैं कि भारतकी वर्त्तमान अवस्थाके अनुसार हमें ऐसे विषय भी पढ़ाने चाहिएँ जिनसे हमारी दरिद्रता दूर हो, हमारी सैनिक शक्ति बढ़े, हममें बढ़ती हुई सरोगिता दूर हो जाय और हम संसारके सब देशों-के साथ होड़ कर सकें, अपने प्राचीन संस्कारोंकी रक्षा करते हुए भी नये ज्ञान-विज्ञानका समुचित लाभ उठा सकें। इसका यह अर्थ हुआ कि हमें अपने पाठ्य विषयोंमें निम्नलिखित विषय और बढ़ा देने होंगे—

१. व्यावसायिक शिक्षा
२. सैनिक शिक्षा
३. स्वास्थ्यकी शिक्षा
४. विज्ञान

सक्रमताका नियम

इतने विषयोंकी शिक्षा व्यवस्थित करके ही हम कह सकते हैं कि हमने अपना पाठ्यक्रम ठीक बनाया है किन्तु इतने सब विषयोंको पाठ्यक्रममें डालते समय हमें कुछ अन्य बातोंका भी ध्यान रखना चाहिए। पहली बात तो यह है कि बालकके कोमल मस्तिष्कपर सहसा बहुतसा बोझ न लाद दिया जाय। इसे

सक्रमताका नियम कहते हैं अर्थात् विषय धीरे धीरे बढ़ाए जायँ, एक साथ सब प्रारम्भ न कर दिए जायँ नहीं तो सब विषय कच्चे रह जायेंगे, पढ़ानेकी व्यवस्था भी न हो सकेगी और छात्रोंको भी शिक्षासे अरुचि हो जायगी।

पर्याप्तताका नियम

दूसरी बात ध्यानमें रखने योग्य यह है कि जो विषय एक बार एक वर्गमें पढ़ाए जाँय, उनके लिये इतना पर्याप्त समय दिया जाय कि बालक उनका ठीक प्रकारसे अध्ययन कर सके, क्योंकि यदि पर्याप्त समय न दिया गया, तो उसके लिये संपूर्ण परिश्रम व्यर्थ जायगा और यह एक राष्ट्रिय क्षति होगी। इसे पर्याप्तताका नियम कहते हैं।

संबद्धताका नियम

तीसरी बात यह है कि प्रत्येक नया विषय पहले विषयके साथ उपयुक्त रीतिसे संबद्ध होना चाहिए। उसमें एक प्रकारकी क्रमिक और नियमित वृद्धि होनी चाहिए अर्थात् किसी भी विषयका आगेका ज्ञान पिछले ज्ञानसे इस प्रकार संबद्ध होना चाहिए कि आगेका ज्ञान प्राप्त करनेमें बालकको कठिनाई न हो और साथ साथ उसका बौद्धिक ज्ञान भी विकसित हो। इसे संबद्धताका नियम कहते हैं।

निर्बाधताका नियम

चौथी बात यह है कि जो ज्ञान एक बार प्रारम्भ किया जाय उसकी धारा निर्बाध रूपसे बहती चलनी चाहिए, उसमें किसी प्रकारका व्यतिक्रम या व्याघात नहीं होना चाहिए। वह ज्ञानधारा इस प्रकार व्यवस्थित की जानी चाहिए कि बालक क्रमसे धीरे-धीरे निर्बाध रूपसे उस विषयका अध्ययन निरन्तर करते चलें। इसे निर्बाधता या निरन्तरताका नियम कहते हैं। इन नियमोंपर ध्यान रख कर ही हमें पाठ्य विषयोंका क्रम निर्धारित करना चाहिए।

क्या शिक्षाके लिये वर्गभेद आवश्यक है?

हमारे देशमें वैदिक युगसे यह यह विधान चला आ रहा है कि शिक्षाकी व्यवस्थाका कुल भार विद्वानों या आचार्योंपर हो। पहले राजाका या धनियोंका केवल यही कर्त्तव्य था कि वे धनसे गुरुकुलोंकी सहायता करें और यह प्रथा नालन्दाके युगतक, हर्षके समयतक चली भी आई। किन्तु उसके पश्चात् मुसलमानोंके राजत्वकालमें गुरुकुल-प्रथा तो नष्ट हो गई किन्तु फिर भी संस्कृतके पंडित लोग उसी पुरानी प्रणालीसे अपने स्वतंत्र, रूढ़िगत प्रबन्धके अनुसार शिक्षा-दीक्षा देते रहे। किन्तु अँगरेज़ी राज्यमें केवल अँगरेजी शिक्षा ही नहीं

वरन् संस्कृत शिक्षा-प्रणाली भी राज्यने अपने हाथमें ले ली और उसका विषम परिणाम यही हुआ कि परीक्षाके लिये शिक्षा होने लगी और परीक्षामें उत्तीर्ण हुए लोग ही आचार्य, पंडित और विद्वान् बन बैठे, न वास्तविक विद्वत्ता ही रह गई न वास्तविक विद्वान् ही रह गए।

शिक्षाके सञ्चालनमें राजनीतिज्ञोंका हाथ न हो

शिक्षाका क्षेत्र सदा राजनीतिज्ञोंसे बाहर रहना चाहिए या प्राचीन यूनानी प्रथाके समान पैदागौग [अध्यापक] ही दैमागौग [राजनीतिज्ञ] भी हों। शिक्षाका सम्बन्ध मनुष्यके नैतिक और सामाजिक जीवनसे है और इसलिये शिक्षाको सदा राजनीतिज्ञोंकी परिवर्त्तनशील, कुटिल और अनिश्चित नीतिसे मुक्त रखना चाहिए। राजनीतिके सिद्धान्त और गतियाँ सदा परिवर्त्तित होती चली जाती हैं। आज एक दल शक्तिशाली हुआ तो उसने अपनी सनकके अनुसार शिक्षाकी एक नई योजना गढ़ी, दूसरा दल आया उसने अपनी सनककी तृप्ति की और इस प्रकार शिक्षाका संपूर्ण क्रम राजनीतिज्ञोंकी स्वेच्छाचारिता और सनकपर इधर-उधर ठोकर खाता फिरता है। इस अनियमितताको रोकनेके लिये दो ही उपाय हैं—या तो अध्यापक ही राजनीतिका भी संचालन अपने हाथमें ले ले या वह राजनीतिज्ञोंके हाथसे शिक्षाका भार ले ले। इसलिये शिक्षा-शास्त्रियोंका तथा उदार, विचार-शील राजनीतिज्ञोंका यह कर्त्तव्य है कि शिक्षाको राजनीतिक दलोंका क्रीडाक्षेत्र होनेसे बचा लें, क्योंकि जबतक शिक्षाको राजनीतिसे मुक्ति नहीं मिलेगी तबतक स्वतंत्र शिक्षा-शास्त्रियोंको न तो अपने स्वतंत्र प्रयोग करनेकी सुविधा होगी और न हमारी शिक्षा पूर्ण होगी।

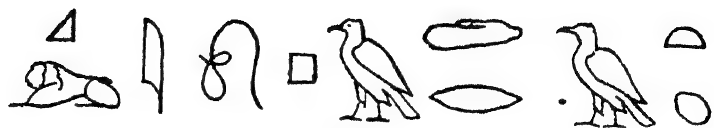
क्या शिक्षाके लिये वर्गभेद आवश्यक है?

आजकलकी शिक्षाको देखकर बहुतसे लोग यह प्रश्न उठा रहे हैं कि क्या सभीको समान रूपसे एक-सी शिक्षा देनी चाहिए। इसका उत्तर मनोविज्ञान और प्राणि-विज्ञानने भली-भाँति दे दिया है। हम जैसा ऊपर कह आए हैं कि कुछ आधार-ज्ञान सब व्यक्तियोंके लिये समान रूपसे आवश्यक है किन्तु उस आधार-ज्ञानके अनुसार जो आगेका समुन्नत ज्ञान दिया जाय उसमें शिक्षा-शास्त्रियोंको विवेकसे काम लेना चाहिए। बहुतसे देशोंमें यह व्यवस्था कर दी गई है कि बालकोंकी रुचि, प्रवृत्ति और क्षमताकी परीक्षा लेकर उनके लिये भावी वृत्ति और पाठ्य-सरणि निर्धारित कर दी जाती है और उसीके अनुसार उनकी आगेकी शिक्षा होती है। हमारे देशमें भी इसकी कुछ न कुछ व्यवस्था हुई है किन्तु वह अत्यन्त अपूर्ण और अकारथ है। आवश्यक यह है कि बालकोंके

घरेलू व्यवसाय, उनकी प्रवृत्ति और उनकी शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमताको देखकर ही उनका आगेका पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाय। इसमें वृत्तिके अनुसार वर्ग बनाए जा सकते हैं। स्त्रियोंका शिक्षाक्रम भी अलग होना चाहिए और उन्हें इस प्रकारकी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वे राज्यके सुखमय विकासमें उचित और व्यावहारिक सहयोग दे सकें।

इस प्रकारके स्वाभाविक वर्ग बना देनेसे ज्ञानके और कौशलके विभिन्न क्षेत्रोंकी स्वाभाविक उन्नति तो होगी ही, साथ ही जो सामाजिक विषमताओं और प्रतिद्वन्द्विताओंकी घातक प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं वे भी स्वतः समाप्त हो जायँगी।

शिक्षाके सिद्धान्तोंके संबंधमें जो हमने यह उपर्युक्त तात्त्विक मीमांसा की है, इसका तात्पर्य यही है कि विदेशोंमें तथा हमारे देशमें शिक्षाके सम्बन्धमें जो आन्दोलन या प्रयोग हुए हैं उनका हम भारतकी दृष्टिसे अध्ययन कर



मिस्र



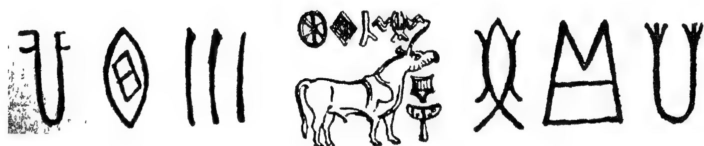
ऐसिरियन



चीनी



फोयनिशन



मोहेन जोदड़ो

प्राचीन संसार की लेखन कला

योरोपीय शिक्षा-प्रणालियाँ और उनके प्रवर्त्तक

१

परिचय

किसी भी देशकी विभूति, चाहे वह आर्थिक हो या सैनिक, व्यावसायिक हो या कलासंबंधी, उसकी लोक-शिक्षा-पद्धतिपर ही अवलंबित होती है। समाजके नेता समाजके जो भी नैतिक नियम बाँधें, उनकी पूर्त्ति तभी हो सकती है जब उन नियमोंको सम्मुख रखकर वहाँकी शिक्षा व्यवस्थित की जाय। आदर्श स्थिर करना उतना ही सरल है जितना आदर्शकी पूर्त्ति करना कठोर। इस संयममें जहाँ शिथिलता हुई कि आदर्श अपने स्थानपर नहीं टिक सकते, उनका पतन अनिवार्य है, अवश्यम्भावी है।

हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति

वैदिक युगके जिन महर्षियोंने 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' [इस जन्ममें संसारिक उन्नति और इससे छूटनेपर मुक्तिकी सिद्धि ही वास्तव धर्म है] कहकर धर्मकी व्याख्या की और धर्मके अनुसार आचरण करना ही मानव जीवनका परम लक्ष्य स्थिर किया, वे केवल लक्ष्य स्थिर करके ही चुप नहीं रह गए थे, उसकी साधनाकेलिये उन्होंने आश्रम धर्मकी प्रतिष्ठा की जिसके अनुसार द्विजमात्रको ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमोंमें अपना जीवन ढालना पड़ा। उसीका परिणाम यह हुआ कि समाजमें, विद्या, शील, विवेक, बल और नैतिकताकी वृद्धि हुई।

वर्णाश्रम-व्यवस्था, गुरु-सेवा, गुरुकुलमें शिक्षा—विनय, निःशुल्क शिक्षा, प्राकृतिक वातावरण, निश्चिन्त अध्ययन, निर्बाध शिक्षा-प्रणाली।

ब्रह्मचर्य आश्रमके सब संस्कार उन गुरुकुलोंमें पनपे जहाँ धनी-निर्धनका कोई भेद नहीं था, सबको निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी, आचरणपर विशेष ध्यान दिया जाता था, स्वस्थ प्राकृतिक वातावरणमें सेवा और सहयोगकी भावना पुष्ट की जाती थी, निश्चिन्त होकर अध्ययनाध्यापन होता था, निश्चित अवधिसे अधिक भी छात्र अपना अध्ययन चला सकते थे, गुरुके प्रति आदर और

श्रद्धा तथा शिष्यके प्रति वात्सल्य और उदारता थी और जहाँकी व्यवस्थामें राज्य-शासक किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। उस शुद्ध, निर्बाध, सात्विक, प्रबुद्ध तथा उदार प्राकृतिक वातावरणमें शिक्षा पाए हुए छात्र पूतेन वचसा, अवदातेन कर्मणा (पवित्र वाणीसे और निष्कलंक कर्मसे) समाजकी नागरिकताको सुशोभित करते थे। गुरुकुल-पद्धतिके नष्ट होते ही हमारा समाज गिरते-गिरते आजकी इस दशातक पहुँच गया है कि हम राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनेपर भी शुद्ध हृदयसे यह कहनेमें असमर्थ हैं कि हम सच्चे और उपयुक्त नागरिक हो गए हैं।

भारतका योरोपसे संबंध

सत्रहवीं शताब्दीसे ही भारतका संबंध योरोपीय प्रदेशोंसे बढ़ चला और बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ा कि व्यापारके लिये आए हुए वे विदेशी हमारे देशी-राजाओंके संधि-विग्रहमें भी भाग लेने लगे और हम लोगोंकी परम्परागत सज्जनताका अनुचित लाभ उठाकर उन्होंने भारतके प्रदेशोंको भी धीरे-धीरे हथियाना प्रारंभ किया। सन् १७५७ के पलासी-युद्धसे जो भारतका विदेशीकरण प्रारंभ हुआ वह १८५७में पूर्ण हो गया और भारतपर पूर्ण रूपसे अँगरेज़ोंका शासन प्रारंभ हो गया।

अँगरेज़ोंके कारण हमारी शिक्षा-पद्धतिपर योरोपीय प्रभाव पड़ने लगा।

इससे पूर्व ही जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीने अपना शासन प्रारंभ किया था तब उसे ऐसे कर्मचारियोंकी आवश्यकता थी जो अँगरेज़ीमें लिखा-पढ़ी और पत्र-व्यवहार कर सकें अतः उसकी ओरसे कुछ ऐसे विद्यालय खोले गए जहाँ इस प्रकारसे अँगरेज़ीकी शिक्षा दी जाती थी कि वहाँसे निकले हुए छात्र योग्यता-पूर्वक ईस्ट इण्डिया कम्पनीके व्यापारमें सहायक हो सकें और भारतीय व्यवसायका गला घोटकर, उसकी हत्या करके भी ईस्ट इण्डिया कम्पनीका धन-कोष भरते चलें। इसीके साथ-साथ पुर्त्तगाल, हौलैंड, और इँगलिस्तानकी ईसा[illegible] संस्थाओंने भी अपनी अपनी ओरसे कुछ विद्यालय खुलवा दिये थे जिनका उद्देश[illegible] यह था कि विद्याका प्रलोभन देकर जनताको ईसाई बना लिया जाय। दोन[illegible] प्रवृत्तियोंके पीछे शिक्षाके सार्वभौम सिद्धान्तोंका आधार नहीं था। वे त[illegible] केवल अपने स्वार्थ-साधनके लिये शिक्षाका आडम्बर खड़ा किए हुए थे[illegible] उनकी व्यवस्था भी अँगरेज़ी या योरोपीय ढंगपर थी जहाँ योरोपीय वेश-भूष[illegible] भाषा और आचारके अवलम्बसे छात्रोंको शिक्षा दी जाती थी। कुछ अँगरेज[illegible] प्रिय भारतीयोंने भी अच्छी नौकरियोंके लोभसे विद्यालय खोले किन्तु उनमें [illegible] विद्यादान करनेकी प्रवृत्ति प्रधान न होकर ईस्ट इण्डिया कम्पनीके लिये योग्य सेवक उत्पादन करनेकी ही भावना अधिक थी।

भारतीय शिक्षामें अँगरेजीका प्रवेश

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंने एक लाख रुपया वार्षिककी स्वीकृति देकर यह घोषणा की कि इसके द्वारा भारतीय विज्ञान और साहित्यकी अभिवृद्धि की जाय और भारतीय विद्वानोंको विद्वद्वृत्ति दी जाय तो अँगरेज़ीवादी और प्राच्यवादियोंमें इस बातपर बड़ा संघर्ष चला कि इस द्रव्यका व्यय किस प्रकार किया जाय। अन्तमें मैकौलेको पंच बनाकर यह विवाद सौंप दिया गया और उसने जो विषाक्त निर्णय दिया उसके फलस्वरूप जो निन्द्य शिक्षा-नीति निर्धारित हुई उसका कुफल भारतको आजतक भोगना पड़ रहा है। मैकौलेने जो पक्षपातपूर्ण निर्णय दिया उसमें पहले तो उसने जी भरकर भारतीय साहित्य, संस्कृति, इतिहास और विज्ञानको कोसकर अपनी अल्पज्ञताका परिचय दिया और अन्तमें लिखा कि हमारा उद्देश्य यह है कि भारतके लोग रंगमें तो भारतीय रहें किन्तु आचार-विचार, रहन-सहन, बोलचाल, खान-पान, भाव-संस्कार सब बातोंमें अँगरेज़ बन जायँ। धीरे-धीरे लोग अँगरेज़ बनने भी लगे। इसी बीच सन् १८५७ में हमारी स्वतंत्रताका युद्ध भी सम्राट् बहादुर शाहके नेतृत्वमें प्रारंभ हुआ जिसमें झाँसीकी महारानी लक्ष्मीबाई, नाना साहब, तात्या जैसे महावीरोंने अपना महात्याग किया और यद्यपि स्वयं हमारे ही अनेक बन्धुओंने विदेशियोंका साथ देकर हमारी स्वाधीनताके इस युद्धको विफल बनाया किन्तु उसने विदेशियोंके प्रति ऐसी भयंकर विरक्ति उत्पन्न कर दी कि वह महारानी विक्टोरियाके शान्त शासनमें भी ठंडी न पड़ सकी।

अँगरेज़ीवादी और प्राच्यवादियोंका संघर्ष। मैकौलेका पंचनामा।

सन् १८५४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनीके डाइरेक्टरोंने शिक्षाका नया महाविधान (वुड्स डिस्पैच) बनाकर भेजा जिसके अनुसार प्रारंभिक तथा माध्यमिक शिक्षाकी व्यवस्थाके साथ तीन विश्व-विद्यालयों की, अध्यापकोंके शिक्षणके लिये शिक्षण-संस्थाओंकी, लोक-संचालित संस्थाओंके लिये आर्थिक सहायताकी, संस्कृत-फ़ारसीके देशी विद्यालयोंके लिये सहायताकी तथा मेधावी छात्रोंके-लिये छात्रवृत्ति देनेकी भी व्यवस्था की गई और अँगरेज़ी शिक्षा अपने पूरे रूपकके साथ जमकर बैठ गई। किन्तु इस शिक्षा-प्रणालीसे पढ़े हुए जितने युवक निकल रहे थे उनकी व्यापक प्रवृत्ति यह रहती थी कि वे भारतीय और भारतीयतासे अत्यन्त क्षुब्ध और असंतुष्ट दिखाई पड़ते थे। अपने देशके सब आचार-व्यवहार उन्हें अशोभन लगते थे, अपने प्राचीन साहित्यमें

१८२४ के शिक्षा महाविधानने विदेशी शिक्षा-पद्धतिकी जड़ जमादी

उन्हें कोई कामकी वस्तु नहीं दिखाई पड़ती थी। यह कुप्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई कि इन अँगरेज़ी पढ़े लिखे अँगरेज़प्रिय युवकोंने भारतीय शील और परिवार-मर्यादा भी तोड़ दी। भारतीयताके प्रति बढ़ती हुई इस अराजकतासे समाजके कान खड़े हो गए और अनेक महापुरुषोंने इसके विरुद्ध विद्रोहका झंडा खड़ा कर दिया, फिरसे गुरुकुलोंकी स्थापनाका प्रचार किया गया और वह प्रयास सफल भी हुआ। इस प्रकारके जितने प्रयास हुए उनमें सबसे अधिक महत्त्वका प्रयास था महामना पंडित मदनमोहन मालवीयका, जिन्होंने काशीमें हिन्दू विश्वविद्यालयकी स्थापना करते हुए यह आदर्श रक्खा कि हम विद्याएँ तो संसार भरकी पढ़ावें किन्तु आचार-व्यवहार शुद्ध भारतीय हो।

योरोपमें शिक्षा-संबंधी आन्दोलन

भारतके इन आन्दोलनोंके साथ-साथ योरोपमें भी उस मध्यकालीन शिक्षा-प्रणालीके विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था जिसके अनुसार क्रूर अध्यापकोंके शासनमें बालक रख दिए जाते थे, छोटे-छोटे अपराधोंपर बेंत सपसपाने लगती थी, भोजन बन्द कर दिया जाता था, नैतिक अपराधियोंके समान बालकोंको भी विद्यालयोंकी कालकोठरीमें बन्द कर दिया जाता था, बालकोंको श्वान या मंडूकका रूप धारण करना पड़ता था, सबसे उनकी बोल-चाल बन्द कर दी जाती थी, बलपूर्वक लैटिन शब्दों और धातुओंके रूप घोटने पड़ते थे और न घोटनेपर बेंत खानी पड़ती थी, अध्यापक जो बता दे वही सीखना पड़ता था, जो कह दे वह मानना पड़ता था, छात्रको न काम करनेकी स्वतंत्रता थी न बोलनेकी, न सोचनेकी छूट थी न कुछ बनानेकी। वह एक यंत्र मात्र था जिसे विद्यालयके निश्चित घंटोंके अनुसार चल-फिरकर सार्थ-निरर्थक सूचनाओंका भंडार बलपूर्वक अपने मस्तिष्कमें तहाना पड़ता था।

शिक्षा-संस्थाओंमें छात्रोंपर होनेवाले क्रूर अत्याचारोंके विरुद्ध आन्दोलन

योरपके स्वतंत्र विचारशील शिक्षाशास्त्रियोंने शिक्षकोंकी इस निर्दय कठोरताका विरोध प्रारंभ किया और समष्टि रूपसे उन्होंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि—

"बालककी कुलपरंपरा और उसकी पर्यवस्थाओंका समुचित अध्ययन करके उसकी रुचिके अनुसार तथा उसके पूर्वार्जित ज्ञानसे संबद्ध करते हुए ऐसे रोचक विधानोंके द्वारा नया ज्ञान दिया जाय जिससे बालक रुचिपूर्वक क्रियाशीलताके साथ अपने व्यक्तित्वका विकास करता हुआ स्वयं अपनेको शिक्षित करता चले।"

यह पूरा सिद्धान्त जिस क्रमसे विकसित होकर इस रूपतक पहुँचा है उसमें अनेक शिक्षा-शास्त्रियोंकी साधनाका हाथ है और इन सबके विभिन्न प्रयोगोंने विश्व-शिक्षा-विधानको इस प्रकार प्रभावित किया है कि कोई भी शिक्षाकी नयी योजना उनके प्रभावसे बच नहीं सकती। इसीलिये हमें इन साधनाओंके इतिहासका अध्ययन करनेके पूर्व उसपर चलती दृष्टि डाल ही लेनी चाहिए।

योरोपकी शिक्षा-परंपरा

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कभी-कभी हम बिना किसीके सिखाए सीख लेते हैं और बिना किसीके बताए जान लेते हैं। हमारा संपूर्ण व्यक्तिगत और सामाजिक आचार-व्यवहार बिना किसीके सिखाए केवल अनुकरणके बलपर हमें आ गया है। चलना-फिरना, नमस्कार-प्रणाम करना, विशेष अवसरों पर विशेष प्रकारका आचरण करना यह सब हमने दूसरों को—अपनोंसे बड़ों-को—देखकर सीखा है। सभी युगोंमें यह होता चला आया है कि जो समाजके नेता, अग्रणी या महापुरुष होते रहे हैं उन्हींके चरित्रको आदर्श और अनुकरणीय मानकर समाजने अपने आचरण की प्रतिष्ठा की। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥

[श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करता है वैसा ही दूसरे लोग भी करने लगते हैं। वह जिस बातको ठीक बता देता है, समाज भी उसीको ठीक मानकर उसका व्यवहार करने लगता है]

किन्तु इस अनुकरणके अतिरिक्त प्रत्येक प्राणीमें सीखते चलनेकी स्वतः प्रवृत्ति भी होती है। चिड़िया अपने बच्चेको उड़ना नहीं सिखाती और न घोंसलेमें बैठा हुआ बच्चा ही देख पाता है कि मेरी माता या पिता किस प्रकार पंख फैलाकर या हिलाकर आकाश नाप डालते हैं। किन्तु जैसे ही उसके पंख सशक्त होने लगते हैं, वह भी आकाशमें उड़ चलनेके लिये पंख फैलाने लगता है। सिंहिनीके बच्चेको कोई सिखाता नहीं है कि हाथी पर आक्रमण कर। वह स्वयं स्वभावसे उसे शत्रु समझने लगता है और उसे सामने देखते ही उसके माथेपर चढ़ बैठता है। इसी प्रकार मनुष्य भी बहुत सी बातें स्वभावसे ही सीखने लगता है, विशेष रूपसे अपनी रक्षा करने, भोजन जुटाने और तन ढकनेका पाठ। यह स्वतःप्रवृत्ति द्वारा शिक्षित होनेका क्रम सभी देशोंमें और सब कालोंमें रहा है और रहेगा। अतः हम जब भी कभी शिक्षाकी योजना

बनावें, हमें सदा यह स्मरण रखना होगा कि पढ़ाने-सिखानेकी हम चाहे जितनी भी कलाएँ निकालें किन्तु मनुष्यमें स्वाभाविक रूपसे सीखनेकी जो प्रवृत्ति रहती है वह सबसे अधिक प्रबल तथा तीव्र रहती है और जड़ तथा मूढ़ बालकोंको छोड़कर शेष सभी बालक अपनी शिक्षाके समय अपनी स्वतःप्रवृत्तिसे ही अधिक प्रेरित होते हैं।

विदेशी शिक्षा-विकासका संक्षिप्त पर्यवेक्षण

समाजिक जीवनका प्रभात

मनुष्यने अपने जीवनकी सामग्रियाँ एकत्र करके समाज और राष्ट्रके संघटन तथा रक्षणका प्रबन्ध किया।

अशिक्षित मानवताकी मूल अवस्थामें भी मनुष्यने अपनी बनमानुसी प्रकृति धीरे-धीरे छोड़कर आखेटके लिये शस्त्रास्त्र बनाए, नदियोंको पार करनेके लिये नावें गढ़ीं, रहनेको झोपड़ियाँ छाईं, हुए आखेटमें मारे जीवोंकी खालसे तन ढका, मछली मारनेको बनसी जाल और काँटेका निर्माण किया, भोजन रखनेके लिये सींके बाँधे और बर्तन पकाए, खेत जोतनेको हल, खेती काटनेको हँसिए, इधरसे उधर आने-जाने, लाने-ले जानेके लिये गाड़ियाँ बनाईं, फिर जीवनकी व्यस्तताके साथ साथ परिवार, समाज, गाँव, जनपद और राष्ट्र अपने अनेक रूपोंमें बढ़ चले और उनकी अभिवृद्धिके साथ-साथ आत्मरक्षा और लोकरक्षाके नियम बनने लगे, मनुष्य क्रमशः सभ्य होने लगा। किन्तु इस सभ्यताकी गतिके साथ-साथ वह प्रकृतिसे भी दूर हटता चला गया। मानव-समुदायोंमें परस्पर श्रेष्ठता सिद्ध करनेकी स्पर्धा होने लगी, युद्ध होने लगे। देशोंके इतिहासोंमें सदा मानवीय विकासका यही क्रम रहा है और योरोप भी इसका अपवाद नहीं रह सका।

व्यक्ति, समाज और धर्मके लिये शिक्षाका विधान

इसी उन्नतिकी अवस्थामें मनुष्यने आत्मालंकरणकी प्रवृत्ति भी दिखाई। प्राकृतिक विप्लवोंसे भयभीत होकर मनुष्यने देवोंकी और दिव्य शक्तियोंकी कल्पना करके अपने सुख और अपनी समृद्धिके लिये उन्हें तुष्ट करना भी अपना कर्त्तव्य समझा। धर्म भी समाजका अंग बन गया, देवताओंकी संख्या बढ़ने लगी। भावुकों और साधकोंकी साधनाओं और अनुभवोंके आधारपर नूतन देवसृष्टि हो चली और मनुष्य देवभीरु और धर्मभीरु हो चला।

दूसरा समाज या वर्गरक्षणका और तीसरा धर्मरक्षणका । आत्मरक्षणके लिये खेती करना, ढोर पालना, शस्त्रास्त्र बनाना, घर उठाना, वस्त्र बनाना; समाज-रक्षणके लिये पारस्परिक आचार-व्यवहार तथा विवाह आदिके लिये नियम बनाना और संघ रूपमें शत्रुसे युद्ध करना; तथा धर्म-रक्षाके लिये विशिष्ट रूपसे देवताओंकी तुष्टिके लिये पूजा, जप, बलि आदिका उपाय करना, ये ही उनके गिने-चुने काम थे और घरके बड़े-बूढ़े इन सब बातों-की सीख मौखिक और व्यवहारसे अपने बच्चोंको दे लेते थे और बच्चे भी देख-सुनकर सब सीख लेते थे। किन्तु जब समाज जटिल होने लगा, मनुष्यकी आव-श्यकताओं की परिधि बढ़ने लगी, गृहपतियोंको समय कम मिलने लगा तब यह आवश्यकता समझी जाने लगी कि अब बच्चोंको पढ़ाने-सिखानेका अलग प्रबन्ध किया जाय । इस प्रकार अध्यापक या शिक्षकका नया वर्ग ही चल निकला ।

प्रकृतिक विप्लवोंसे भय-भीत होनेपर देवी-देव-ताओंकी कल्पना की गई और धर्मकी स्थापना हुई । आत्मरक्षण, समा-जरक्षण और धर्म-रक्षण सबका कर्त्तव्य बन गया । फलतः शिक्षाकी आवश्यकता समझी जाने लगी और अध्यापककी सृष्टि हुई ।

मिस्रमें पुरोहित, अध्यापक और शिक्षा-व्यवस्था

यह स्वाभाविक था कि जो व्यक्ति अधिकसे अधिक अनुभव-युक्त, बुद्धि, व्यव-हार और अवस्थामें वृद्ध, चरित्र और शीलमें सबके आदरका पात्र तथा किसी विशेष गुण, शिल्प, कला या विद्यामें पारंगत हो गया होता या उसे ही प्रारम्भमें लोगोंने शिक्षक या अध्या-पक पदके लिये योग्य समझा । अतः अधिकसे अधिक देवताओंकी तुष्टि करनेका उपाय जाननेवाले पुरोहित लोग स्वाभाविक रीतिसे लोक-नेता बन गए, क्योंकि लोगोंको भी भय होने लगा कि कहीं हमारे पुरोहित लोग रुष्ट होकर देवताओंके द्वारा कोई विपत्ति न बुला दें । इसलिये यद्यपि केवल अध्यापन करने वाले लोगोंका भी एक वर्ग धीरे-धीरे रूप धारण कर रहाथा और विद्वान् लोग स्थान-स्थानपर स्वयं अपनी पाठशाला खोलकर पढ़ाने भी लगे थे फिर भी मिस्रमें पुरोहित ही अध्यापक बन गए । उनकी पाठन-प्रणाली बस यही थी कि जो बताया जाय उसे कंठाग्र करो और जो अपनेसे बड़ोंको करते देखो वैसा ही आचरण करो । वहाँ लोहेके कलम-से लकड़ीपर खोदकर या स्याहीसे सरपतके पट्टोंपर लिखनेका अभ्यास कराया

मिस्रमें पुरोहित अपने प्रभावसे अध्यापक बन गए । लिखने, पढ़ने और गिननेकी शिक्षा दी जाने लगी । आचार नियम कठोर बनाए गए, उन्हें तोड़नेपर शारीरिक दण्ड दिए जाने लगे और अध्यापकका आतंक तथा आदर पूर्णतः स्थापित हो गया ।

जाता था, लिखे हुएको पढ़वाया जाता था और गिनती गिनवाई जाती थी। आचार-नियम बड़े कठोर थे, शारीरिक दण्ड कसकर दिये जाते थे। अध्यापकका बड़ा आतंकपूर्ण आदर व्याप्त हो गया था, उसके विरुद्ध मुँह खोलना पाप समझा जाने लगा था।

सेमेटिक जातियोंकी शिक्षा

बाबुली, (बैबीलोनियन), असीरी (असीरियन), हिब्र, फ़िनीशी (फ़िनीशियन) लोगोंकी शिक्षा-प्रणाली बड़ी ढीली-ढाली चलती रही। इन जातियोंमें पढ़ना, लिखना, गणित, इतिहास, धर्म, स्तोत्र, घरेलू शिल्प, गीत, नृत्य और व्यापार सिखलाया जाता था। राजशास्त्र नीतिशास्त्र, ज्यौतिष और भूगोलकी शिक्षा वे गिनेचुने लोग ग्रहण करते थे जो अपने घरका व्यापार छोड़कर इन विद्याओंके द्वारा जीविका चलाना चाहते थे। शिक्षक सभी पुरोहित या धर्म-गुरु लोग होते थे और इन्हीं लोगोंके कारण वहाँकी शिक्षा-पद्धतिमें वह व्यापकता और उदारता नहीं आ पाई जो यूनान और रोमकी शिक्षा-प्रणाली से आ पाई थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इन सेमेटिक जातियोंकी संपूर्ण शिक्षा अत्यन्त संकुचित तथा अनुदार घेरेमें घिरकर घुट गई, पनप नहीं पाई, बढ़ नहीं पाई।

बाबुली, असीरी, हिब्रू तथा फ़िनीशी जातियोंके लोगोंकी शिक्षा-योजना अत्यन्त संकुचित थी। पुरोहित और धर्मगुरु ही शिक्षक होते थे। राजशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्यौतिष और भूगोल केवल गिने-चुने लोगोंको पढ़ाए जाते थे। शेष लोगोंके लिये अन्य विषयोंकी व्यवस्था थी।

यूनानमें शिक्षा योजना

यूनानमें होमरके समयसे जिस शिक्षा पद्धतिका श्रीगणेश हुआ था वह रोमके आक्रमणतक अनेक रूपोंमें परिवर्तित होती रही। यह परिवर्तन शिक्षाके आदर्शोंमें भी हुआ और पाठन-सामग्रीमें भी। जिस युगमें योरोपपर यूनानका प्रभुत्व था उस युगमें भी यूनानके विभिन्न राज्योंमें भिन्न-भिन्न शिक्षण-व्यवस्थाएँ थीं, जिनमें मुख्यतः दो प्रधान थीं—एक अथेन्स (एथेन्स)की, दूसरी स्पार्त्ता (स्पार्टा)की। दोनोंकी आदर्श-भिन्नताका कारण बहुत कुछ प्राकृतिक था। अथेन्सके लोग आयोनियों (आयोनियन्स) की सन्तान थे—अत्यन्त कल्पनाशील, कलात्मक और साहित्यिक रुचिवाले। स्पार्तीय लोग दोरियों (डोरियन्स) की

यूनानकी शिक्षण-व्यवस्थाएँ दो प्रकारकी थीं—अथेन्सीय तथा स्पार्त्तीय। अथेन्सीय अधिक सुसंस्कृत थे, स्पार्त्तीय रूक्ष और उजड्ड।

सन्तान थे—अत्यन्त कल्पनाहीन, अपने कामसे काम रखनेवाले और परम योद्धा। अथेन्सीय लोग समुद्रके पास रहते थे और विभिन्न देशोंके साथ व्यापारका सम्बन्ध स्थापित कर लेनेके कारण उनकी वृत्ति, संस्कृति और भावना अत्यन्त उदार और परिष्कृत हो गई थी। उधर स्पार्त्तीय लोग पर्वतोंसे घिरी हुई घाटियोंके परिमित संस्कारमें पले थे और बाहरके जगत् तथा उदार व्यवहारसे नितान्त विच्छिन्न थे।

अथेन्सीय शिक्षा-योजना

इस भिन्न प्राकृतिक जीवनके परिणाम-स्वरूप अथेन्सियोंकी शिक्षाका आदर्श बना 'सुन्दरता तथा सुखके साथ पूर्ण जीवनका उपभोग करना'। फल यह हुआ कि एथेन्समें व्यक्ति, उसकी रुचि तथा सम्मतिका बड़ा आदर किया जाने लगा। सौन्दर्यकी उदात्त भावनाके साथ वहाँके बालकोंको यूनानी व्याकरण, काव्य, भाषा-शैली, अलंकार-शास्त्र, वक्तृत्व-कला, संगीत, गणित, भौतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र और राजनीतिकी शिक्षा दी जाने लगी। वहाँके अध्यापक सब परम स्वतन्त्र और मनस्वी थे। वे पैदागौग (अध्यापक) ही धीरे-धीरे दैमागौग (राजनीतिज्ञ) भी बन गए। उन्होंने अपने व्यक्तिवादको तो आवश्यकतासे अधिक समुन्नत किया ही साथ ही अपने शिष्योंको भी ऐसे अवाञ्छनीय रूपसे प्रगतिशील, स्वच्छन्द, उच्छृङ्खल, झगड़ालू और उद्दंड बना दिया कि उनके हृदयमें न तो राज्यके ही प्रति निष्ठा रह गई न अपने गुरुओंके ही प्रति। चारों ओर अविनय फैल गया।

अथेन्सीय शिक्षाका आदर्श बना सौन्दर्य और सुखके साथ पूर्ण जीवनका उपभोग। व्यक्तिवादका विकास हुआ, व्याकरण, काव्य वक्तृत्व कला, संगीत, गणित विज्ञान अर्थशास्त्र, और राजनीति पाठ्य-विषय बने। परिणामतः छात्रगण अत्यन्त स्वछन्द और अविनयी हो गए।

स्पार्त्तीय शिक्षा-योजना

स्पार्त्तियोंका आदर्श हुआ 'साहस और विनय (डिसिप्लिन)का इस प्रकार संवर्द्धन करना कि व्यक्ति सब प्रकारसे राज्यके लिये आत्मसमर्पण कर सके'। साहित्य तथा कलाके अध्ययनके लिये बहुत ही कम प्रोत्साहन दिया जाने लगा। हुआ यह कि अपने आदर्शकी रक्षाके फेरमें सारी राजकीय शिक्षाने सैनिक बाना पहन लिया और कठोर शासनके लिये 'स्पार्त्ती नियम' एक लोक-शब्द बन गया। वहाँ युद्धमें जानेवाले सैनिकको ढाल

स्पार्त्तीय शिक्षाका आदर्श बना साहस और सैनिक विनयका संवर्धन जिससे नैतिक उन्नति नहीं हो पाई।

देकर यही कहा जाता था—'इसे साथ लेकर आना या इसपर चढ़कर आना'। जो युद्धमें जीतकर आता था वह अपनी ढाल साथ लेकर आता था और जो वीरगतिको प्राप्त होता था उसे उसीकी ढालपर डालकर घर लाया जाता था। कठोर सैनिक शिक्षाका परिणाम यह हुआ कि व्यक्तिगत शिक्षा दी नहीं गई और इसीलिये स्पार्त्तियोंकी नैतिक दशा कभी नहीं सुधर पाई।

एथेन्सेने सुकरात, क्षीणोफन, अफ़लातून और अरस्तू चार बड़े दार्शनिकों और शिक्षा-शास्त्रियोंको जन्म दिया।

व्यक्तिगत समुन्नतिकी शिक्षाके अभावमें स्पार्त्तासे एक भी तेजस्वी शिक्षा-शास्त्री उत्पन्न नहीं हो सका। यूनानके सभी प्रसिद्ध शिक्षा–विशेषज्ञ, गुरु और लेखक अथेन्सवासी ही थे जिनमेंसे चार महा-पुरुषोंकी ख्याति आजतक बनी हुई है। वे हैं (सोक्रतेस् सुकरात या सौक्रेटीज़), क्षीणोफन (क्सेनोफ़न या ज़ेनोफ़न), अफ़लातून (प्लातो या प्लेटो) और अरस्तू (अरिस्तोतल या ऐरिस्टौटिल), जिन्होंने योरोपकी शिक्षाके इतिहास और विधानको बहुत दिनोंतक प्रभावित किए रक्खा।

रोमी शिक्षा-पद्धति

रोमी शिक्षाका केन्द्र घर बारह सरणि, व्यापार, खेती, नागरिक कर्त्तव्य, पढ़ना-लिखना और गणित की शिक्षा। कन्याओंको घरका काम।

रोमवाले भी प्रकृतितः अथेन्सियोंकी अपेक्षा स्पार्त्तियोंसे अधिक मिलते-जुलते थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षाका केन्द्र था घर, जहाँ एकमात्र गृहपतिका शासन चलता था। बालकोंको बारह सरणियोंकेनियम[१], व्यापार, खेती, नागरिक कर्त्तव्य, पढ़ने-लिखने और गणितकी शिक्षा दी जाती थी। कन्याओंको केवल घरके कामकी शिक्षा दी जाती थी।

---

१. बारह सरणियोंके नियम (लौज़ ऑफ़ दि ट्वैल्व टेबिल्स) रोमके शासन-नियमोंका सर्वप्रथम लिखित रूप है जिसे ४५१–४५० ई० पू० में लोक-सभा द्वारा निर्वाचित दस सदस्योंकी समितिने बनाया था। जान पड़ता है कि ये नियम पुराने नियमोंके संग्रह मात्र हैं जो व्यवहार और रूढ़िके आधारप[र] बनाए गए थे। ये नियम व्यक्तिगत संपत्तिसंबंधी अधिकारोंके विषयमें इतने स्प[ष्ट] थे कि न्यायाधीश लोग उनका कोई दूसरा अर्थ लगाकर अन्याय करनेकी भू[ल] नहीं कर सकते थे।

ोमी शिक्षापर यूनानी प्रभाव

जब रोमवालोंने यूनानको जीता तब एक उल्टी बात यह हुई कि रोमकी ाक्षा-प्रणालीपर यूनानियोंका बड़ा प्रभाव पड़ा। सैकड़ों यूनानी शिक्षक रोम-में आ धमके और रोमवालोंकी शुद्ध व्यावहारिक शिक्षामें साहित्य और कलाका भी समावेश हो गया। फल यह हुआ कि छोटे बच्चोंको तो यूनानी काव्य और गद्यकी शिक्षा दी जाने लगी और ऊँची कक्षाओंमें इतिहास, विज्ञान, दर्शन, वक्तृत्व-कला, वाक्चातुर्य और शास्त्रार्थ कलाकी। इस शिक्षाके व्यापक प्रभावसे रोममें सिसरो, सेनेका और क्विन्तिलियन जैसे प्रतिभा-शील शिक्षा-शास्त्री और वक्ता उत्पन्न हुए। बड़ा-बड़ा विद्यालय खुलने लगे और थोड़े ही समयमें म-साम्राज्यमें शिक्षाका प्रशस्त प्रसार हो चला। इसी बीच सहसा ट्यूटोनी ःयुओंने आक्रमण करके रोम-साम्राज्यको छिन्न-भिन्न कर डाला और यूनानी ा रोमी शिक्षा-शास्त्रियोंके समस्त परिश्रमपर पानी फेर दिया। इस बर्बर क्रमणका अत्यन्त भयानक दुष्परिणाम यह हुआ कि यूनान और रोमकी वह ास्त शिक्षा-पद्धति फिर पनप ही नहीं पाई, उसका अन्त हो गया।

मी शिक्षापर यूनानि-का यह प्रभाव हुआ यूनानी काव्य गद्य तेहास, दर्शन, वक्तृत्व-ा, वाक्चातुर्य तथा त्रार्थ-कला सिखाई ने लगी।

रोपीय शिक्षापर ईसाई पादरियोंका प्रभुत्व

योरोपमें ईसाई पादरियोंका जब प्रभुत्व हुआ तब उन्होंने केवल धार्मिक वस्थापर ही नहीं वरन् शासन-व्यवस्थापर भी अधिकार कर लिया। उनके अनुसार जीवनका उद्देश्य यही था कि सब लोग साधु वृत्ति धारण कर लें और संसारकी सब वस्तुओं-से विरक्त हो जायँ इसलिये शिक्षाका भी उद्देश्य हो चला परलोककी साधनाके लिये तैयारी करना। फलतः ईसाई मठोंमें इसी प्रकारकी शिक्षा दी जाने लगी और वहाँके सभी विद्यार्थी अपना अधिकांश समय प्रार्थना और ध्यानमें लगाने लगे, प्राचीन र्मिक शिक्षाओं और ग्रन्थोंका आदर होने लगा और इन ईसाई मठों-हने और पढ़नेवाले छात्र इन ग्रन्थोंकी सुन्दर कलात्मक प्रतिलिपि करना अपना सौभाग्यवर्द्धक व्यवसाय समझने लगे। इस कार्यमें अधिक दक्ष के लिये नये मूँडे हुए चेलोंको पढ़ना, लिखना, गाना, गिरजाघरमें पूजा ा और साधारण-सा गणित भी सिखाया जाने लगा। इसके पश्चात् उन्हें त्रयी [लैटिनका व्याकरण, भाषण-कला तथा तर्कशास्त्र] और ज्ञान—

ाई पादरियोंने साधु-ा और विरक्तिकी ा दी। उद्देश्य हुआ ोक-साधनकी तैयारी ना।

चतुष्टय [गणित, ज्यामिति, ज्यौतिष और संगीत] सिखानेकी व्यवस्था की गई और इस प्रकार 'सप्त ज्ञानविस्तारक कलाओं'के शिक्षणका क्रम चलने लगा।

साहसपूर्ण नागरिकता या सामन्तवादकी शिक्षा

सामन्तवादी शिक्षामें काव्य, संगीत, शतरंज, सैनिक शिक्षा, मृगया (शिकार), द्वन्द्व युद्ध, तैरना, और ईसाई धर्मका परिज्ञान कराया जाता था।

धार्मिक व्यूहसे मुक्त व्यक्तियोंने इन ज्ञानविस्तारक कलाओंसे भले ही कुछ लाभ उठाया हो, किन्तु इनका वास्तविक उद्देश्य धार्मिक अभ्युत्थान ही था, यहाँतक कि अलकुइनके नेतृत्वमें चार्लमैग्नेने जो इस सम्बन्धमें प्रयास किए वे भी शिक्षाके उद्देश्यको बहुत बदल नहीं पाए। उनकी मृत्युके समयतक पढ़े-लिखे लोग केवल पादरी ही होते थे। साधारण जन, यहाँतक कि कुलीन वर्ग भी, नाममात्रकी ही शिक्षा पाते थे। कुलीन वर्गको जो शिक्षा दी जाती थी उसे शिक्षाके बदले साहसपूर्ण नागरिकता (शिवेलरी), सामन्तवाद या संक्षेपमें नारी-सेवा कहा जा सकता है। किसी भी युवकको प्रारंभमें किसी सरदारके या किसी महिलाके साथ उसका सेवक होकर रहना पड़ता था, उसे काव्य और संगीतकी शिक्षा दी जाती थी और चतुरङ्ग (शतरंज) खेलना सिखाया जाता था। कुछ और बड़े होनेपर उसे सैनिक शिक्षा दी जाती थी और आखेट करना, घोड़ा चढ़ना, घोड़ेपर चढ़कर भालेसे द्वन्द्व-युद्ध करना, तैरना और गाना सिखाया जाता था। इसीके साथ-साथ ईसाई धर्मका भी उसे ज्ञान कराया जाता था। जब वह स्वयं सरदार बन जाता था तब उसे नीति-शास्त्रकी शिक्षा दी जाती थी, सदाचारका अभ्यास करना सिखाया जाता था और ईसाई धर्म तथा महिलाओंकी रक्षाके लिये दीक्षित कर लिया जाता था।

विद्वन्मंडलकी स्थापना

विद्वन्मंडलने यूनानी भाषाके प्रयोग और तर्कवादको महत्व दिया। इसके द्वारा नये ज्ञानतत्त्व खोजकर प्राचीन ज्ञानतत्त्वोंका समर्थन करना उद्देश्य बना।

ईसाई मठोंके विद्यालयोंमेंसे ही एक नये प्रकारके विद्वन्मण्डल आविर्भूत हुए जिनका उद्देश्य यह था कि धर्मकी समुन्नतिके निमित्त यूनानी भाषाका प्रयोग किया जाय। इन लोगोंने तर्कवादको बड़ा महत्त्व दिया जिसके अध्ययनका यह उद्देश्य था कि उसके द्वारा नये ज्ञान-तत्त्वोंकी खोज करनेके बदले प्राचीन ज्ञानतत्त्वोंका समर्थन किया जाय और उन्हें सत्य प्रमाणित किया जाय। इन लोगोंने अरस्तू और उसके ग्रन्थोंको ही ज्ञानका मूल मान लिया और अपनी सारी शक्ति उन्हींका अध्ययन करने और उन्हींको सिद्ध करनेमें लगा दी।

व्यापारी संघोंके अधीन शिक्षा

ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं सदियोंमें कारीगरों, मिस्त्रियों और व्यापारियोंकी चेष्टासे बहुतसे छोटे-छोटे गाँव भी बड़े-बड़े नगर बन गए। इन लोगोंने अपने-अपने व्यावसायिक संघ बना लिए और इन संघोंने निश्चय कर लिया कि अपने भावी सदस्योंको शिक्षित करके ही साँस लेंगे। इन संघोंने कुछ पादरी अध्यापक नियुक्त कर लिए जो बच्चोंको पढ़ना, लिखना और गणित सिखाते थे। नगरोंमें इस प्रकारके विद्यालय खुल गए और इन संघीय विद्यालयोंमें शिक्षाकी प्रणाली यह हो गई कि बालकोंको कुछ दिनोंतक किसी भी व्यवसायीके साथ रहकर उसका काम सीखना पड़ता था और काम सीखकर एक निश्चित अवधितक उसके यहाँ काम भी करना पड़ता था।

संघोंने पादरी अध्यापक नियुक्त करके बच्चोंको पढ़ना-लिखना और गणित सिखानेकी व्यवस्था कर दी। साथ ही किसी व्यवसायीके साथ रहकर और काम सीखकर कुछ दिन उसके यहाँ काम करना पड़ता था।

विश्वविद्यालयोंका प्रादुर्भाव

ग्यारहवीं शताब्दीके निर्वाण काल और बारहवीं शताब्दीमें विश्वविद्यालय खुलने लगे। जैसे भारतवर्षमें विशिष्ट विद्वानोंकी परिषदें पीछे चलकर गुरुकुलके रूपमें परिणत हो गईं वैसे ही योरोपमें भी प्रारम्भमें कुछ विद्यार्थी किसी विशेष विद्याके अध्ययनके लिये एकत्र होते थे—जैसे सालेनोंमें भैषज्य विद्याके लिये या बोलोनामें न्यायनीति [कानून] सीखनेके लिये—और वहाँ विश्वविद्यालय बन जाता था। पारी [पैरिस] विश्वविद्यालयका उद्भव एक गिरिजाघरसे संबद्ध विद्यालयसे हुआ जो वास्तवमें अध्यापकोंका ही एक संघटन मात्र था। वहाँ पहले केवल ईसाई-धर्मशास्त्र पढ़ाया जाता था। उन दिनों आजकलके समान अनेक भवनों और विभागोंसे युक्त लंबा-चौड़ा भूमिभाग विश्वविद्यालयोंको प्राप्त नहीं था यहाँतक कि व्याख्यान सुननेके लिये भी छात्रगण किसी भलेमानुसके घरमें या किरायेके भवनमें जुटा करते थे।

विद्वान् अध्यापकोंके संघटन ही विश्वविद्यालय बन गए।

मध्यकालीन युगकी शिक्षा

मध्यकालीन युगमें कला, सौन्दर्य-प्रेम, साहित्य कविता और विज्ञानने ईसाई धर्म और गिरिजाघरको सहायता देते हुए बड़ी उन्नति की। मुसलमानोंके हाथसे अपना धर्मदेश— ईसाका जन्मस्थान जेरुसलम—छीननेके लिये ईसाइयोंने जो सोलहवीं शताब्दीमें धर्मयुद्ध किया था उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह

हुआ कि लोगोंके विचार बदलने लगे और पादरियोंके प्रभावसे जो विषय अब तक त्याज्य समझे जाते थे वे भी जागरण कालमें जाग उठे। साहित्य और ज्ञानकी अभिवृद्धिके निमित्त यूनानी और लैतिन भाषाएँ पढ़ाई जाने लगीं और शिक्षाका उद्देश्य हुआ व्यक्तित्वका संवर्द्धन। पादरियोंका प्रभाव घटने लगा और लोग यश तथा नाम कमानेके फेरमें पड़ गए। यद्यपि शिक्षणका काम तो इस समयतक भी पादरियोंके ही हाथमें था, किन्तु शिक्षण-सामग्रीमें वृद्धि हो गयी। जागरण कालके इन अध्यापकोंने विशेषतः पेत्रार्कने भाषाकी शिक्षाको इतनी प्रधानता दे दी कि शारीरिक, सामाजिक, कलात्मक और वैज्ञानिक शिक्षाके तत्त्व पीछे छूट गए। किन्तु पेत्रार्कके स्वदेशवासी वित्तोरिनो द फ़ेल्त्रेने उससे असहमत होकर इतिहास और सभ्यताकी शिक्षाको अधिक महत्त्व दिया।

मध्यकालीन युगमें कला, सौन्दर्य-प्रेम, साहित्य, कविता और विज्ञानका प्रसार। नये लौकिक-विषयोंकी ओर प्रवृत्ति।

सुधार और प्रतिसुधारके युगमें शिक्षा

सुधार और प्रतिसुधारके युगमें जब धर्मके विषयमें परिवर्त्तन हुए तो शिक्षाका क्षेत्र भी उसके प्रभावसे अछूता न बच सका। ल्यूथर और मैलांशथौन दोनोंने यह माँग उपस्थित की कि राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षा दी जाय और राज्यका यह धर्म हो कि वह नये विद्यालय स्थापित करके, उनका पोषण करके प्रत्येक बालकको वहाँ पढ़ानेके लिये विवश करे। इस प्रकार सर्वप्रथम अनिवार्य शिक्षाका शंख फूँका गया और यह कहा गया कि जनताकी तात्कालिक आवश्यकताकी पूर्त्तिके लिये भाषा तथा व्यावहारिक विषयोंकी शिक्षाका प्रबन्ध प्रारम्भिक पाठशालाओंमें कर दिया जाय। माध्यमिक पाठशालाओंमें अर्थात् लैतिन पाठशालाओंमें [इँगलैंडमें ये पाठशालाएँ लैतिन पाठशालाएँ कहलाती थीं] उदात्त काव्य, इतिहास, सर्वगणित, व्याकरण, भाषण-कला, तर्कशास्त्र, संगीत और व्यायामकी शिक्षा दी जाने लगी। कहा तो यह जाता था कि इन पाठशालाओंसे निकले हुए छात्र लोकनेता होंगे, किन्तु वास्तवमें वे सब विश्वविद्यालयके प्रवेशार्थी ही निकले जिनका मुख्य उद्देश्य अध्यापक या राजमन्त्री होना ही था। जागरण-कालने शिक्षाक्षेत्रमें जिस उदारताकी आशा दिलाई थी वह सुधारकालमें ठंडी पड़ गई और शिक्षकों द्वारा उन विभिन्न सम्प्रदायोंका समर्थन किया जाने लगा जो रोमन कैथोलिकोंके विरुद्ध विद्रोह करनेके फलस्वरूप उत्पन्न हो चले थे। इन प्रोटेस्टेंट पाठशालाओंसे मिलती-जुलती जेसुइतोंकी पाठशालाएँ थीं जिन्होंने शिक्षामें

अनिवार्य शिक्षाकी माँग हुई।

पूर्णता और सुशिक्षित अध्यापकोंकी नियुक्तिको इतनी महत्ता दी कि यह बात एक लोकोक्ति बन गई।[1]

सोलहवीं शताब्दीके पिछले अर्द्धमें और पूरी सत्रहवीं शताब्दीमें शिक्षा–पर इस धार्मिक शासन और रूढ़िका बड़ा प्रभाव बना रहा। देखनेमें तो पाठ्य-क्रम बड़ा मानवोचित और स्वाभाविक लगता था किन्तु वास्तवमें वह वैसा ही कठोर और पंडिताऊ था जैसा मध्ययुगमें।

यथार्थवादी या प्रत्यक्षज्ञानवादी

इस शिक्षा-पद्धतिका राबैल, मिल्टन, मौन्टेन तथा सर फ्रान्सिस बेकन जैसे विद्वानोंने बड़ा विरोध किया। ये लोग यथार्थवादी या प्रत्यक्षज्ञान-वादी कहलाते हैं। इनका कथन था कि यदि साहित्यका अध्ययन करना हो तो उसके शब्द रूपों और उसके व्याकरण-संबंधी प्रयोगोंपर माथापच्ची और शास्त्रार्थ न करके उसके भाव, उसकी ध्वनि और उसके अर्थको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए। इसी प्रकार यदि प्रकृति, न्यायविधान, कला या शिल्पका अध्ययन करना हो तो उसका मौखिक शब्दबोध करनेके बदले उसका प्रत्यक्ष निरीक्षण, अनुभव और प्रयोग करना चाहिए। पाठ्यक्रममें साहित्य और भाषाकी प्रधानता थी और इसका विरोध भी नहीं हुआ। इसके समर्थकोंका उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा हम राष्ट्रको 'नियमित संयम'- सिखा सकते हैं और इस नियमित-संयम-सिद्धान्तके आचार्य हुए प्रसिद्ध अंग्रेज़ जौन लौक। उनका कहना था कि क्या सीखा या पढ़ा जाता है इसका कोई महत्व नहीं है, महत्व इस बातका है कि कैसे पढ़ा या सीखा जाता है। छात्रके लिये शिक्षाका फल यही है कि वह पढ़ने या सीखनेकी क्रियाके साथ-साथ संयम भी सीखता चले।

शिक्षामें यथार्थवाद तथा नियमित संयमकी व्यवस्था।

रूसोका प्रकृतिवाद

पिछली शताब्दियोंमें धर्म और शिक्षाको जिन कठोर नियमों और बन्धनोंने कस लिया था उसके विरुद्ध अठारहवीं शताब्दीमें जो बड़ा प्रभावशाली विद्रोह हुआ उसका नेतृत्व किया रूसोने। उसने हाँक लगाई– 'लौट चलो प्रकृतिकी ओर'. जो कुछ करो प्राकृतिक ढंगसे, प्राकृतिक वातावरणमें, प्राकृतिक

लौट चलो प्रकृतिकी ओर

१—सन् १५३३में इग्नेतिअस लौयोला नामक ईसाई सन्तने रोमन कैथोलिक सम्प्रदायका एक नया 'जैसुइत' नामक पंथ निकाला था जिसके सदस्य अपनेको ईसाका भक्त मानते थे।

साधनोंके साथ—छोड़ दो बालकको प्रकृतिकी गोदमें और उसे अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तिके अनुसार बढ़ने दो, पलने दो, पनपने दो, सीखने दो।

रूसोका प्रभाव

रूसोका तात्कालिक प्रभाव तो कुछ न हुआ किन्तु उन्नीसवीं शताब्दीमें जो शिक्षाके आन्दोलन चले उन सभीपर रूसोके सिद्धान्तोंकी अमिट छाप थी।

रूसोके अनुगामी पेस्तालौज़ी, हरबार्ट और फ्रोबेलने स्वयं-क्रिया, स्वतः प्रवृत्ति और व्यक्तित्वके विकासको महत्त्व दिया।

नियमित और आबद्ध शिक्षाके बदले बालकको प्राकृतिक ढंगसे शिक्षा देनेकी व्यवस्था होने लगी, बालककी अवस्था और उसके व्यक्तित्वका ध्यान करके उसकी शिक्षाका विधान बनाया जाने लगा। रूसोका अनुगमन किया पेस्तालोज़ीने। उसने यह व्यवस्था दी कि समुचित शिक्षा देनेके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षणीय बालककी मनोवृत्तिका भरपूर अध्ययन किया जाय और उसकी आवश्यकता, रुचि तथा योग्यताके अनुकूल शिक्षा दी जाय। फिर आए हरबार्ट महोदय जिन्होंने कहा कि शिक्षाको वैज्ञानिक रूपमें प्रयोग करना चाहिए और अध्यापकोंको शिक्षणकला और शिक्षण-सिद्धान्तोंकी पूरी शिक्षा लेनी चाहिए। इसके पीछे आए फ्रोबेल, जिन्होंने बालोद्यान (किण्डेरगार्टेन्-प्रणालीकी स्थापना की और यह सिद्धान्त बताया कि शिक्षाका महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है स्वयं-क्रिया, स्वतः प्रवृत्ति और व्यक्तित्वका विकास।

हरबर्ट स्पेन्सर

उन्नीसवीं शताब्दीमें धीरे-धीरे यह सिद्धान्त प्रचलित हो रहा था कि ठीक-ठीक शिक्षा वही है जो छात्रको इस योग्य बना दे कि वह प्राप्त ज्ञानका तत्काल व्यवहार कर सके। इसीके साथ-साथ यह भी माना जाने लगा था कि मानसिक या बौद्धिक विकास उन्हीं विषयोंके अध्ययनसे संभव है जिनका हमारे जीवनमें अधिक व्यवहार होता हो। हरबर्ट स्पेन्सर इस 'व्यावहारिक' शिक्षा-सिद्धान्तके प्रवर्त्तक थे। उनका कहना था कि बच्चोंको अर्थंकरी विद्या अर्थात् वे ही विषय सिखाये जायँ जिनसे वे अपनी जीविकाका उपार्जन कर सकें और भले नागरिक बन सकें। उनकी प्रेरणाके फलस्वरूप पाठशालाओंके पाठ्यक्रममें विज्ञानको भी स्थान मिल गया और जौन लौकके 'नियमित संयम'का सिद्धान्त ध्वस्त हो गया।

शिक्षाके व्यवहारिक पक्ष-का महत्त्व स्थिर हुआ।

व्यावसायिक शिक्षाका विकास

उन्नीसवीं शताब्दीतक केवल व्यक्तिकी दृष्टिसे शिक्षा-पद्धतिपर विचार किया गया था, किन्तु ज्यों-ज्यों व्यवसाय बढ़ने लगे और लोकतन्त्रकी भावना प्रबल

होने लगी त्यों-त्यों शिक्षाकी मूल भावनामें परिवर्त्तन होने लगा और शिक्षा-शास्त्री लोग यह कहने लगे कि शिक्षा-प्रणाली कुछ इस प्रकार बनाई जाय जिसके द्वारा समाजमें व्यक्तिकी स्थितिका समन्वय हो सके, उसे बौद्धिक, शारीरिक और नैतिक शिक्षाके साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा दी जाय जिससे वह व्यापार, कृषि, शिल्प आदि सीखकर अपनी जीविका कमा सके अन्यथा वह समाज और राष्ट्रपर निरर्थक भार बन जायगा। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यह आवश्यक है कि बालक तथा नागरिकके सम्मुख सभी ज्ञात साधन ला रक्खे जायँ अर्थात् ऐसे प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालय खोले जायँ जिनमें शिल्प और व्यवसायकी शिक्षा दी जाती हो, ऐसे महाविद्यालय चलाए जायँ जिनमें सांस्कृतिक विषयोंके अतिरिक्त शिल्प-विज्ञानकी भी शिक्षा हो। इतना ही नहीं, राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिको अर्थकरी विद्या ग्रहण करनेके लिये बाध्य भी किया जाय।

बौद्धिक, शारीरिक और नैतिक शिक्षाके साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा देनेका भी विधान किया गया।

व्यावसायिक शिक्षा

इस सिद्धान्तका परिणाम यह हुआ कि बीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें ही विद्यालयोंके रूप और प्रकार बदल गए। मातृभाषा पढ़ना-लिखना, गणित, भूगोल, इतिहास, तथा अन्य पहलेसे सिखाए जाते रहनेवाले परिचित विषयोंके अतिरिक्त निम्नाङ्कित नये विषय भी पाठ्यक्रममें समाविष्ट कर लिए गए:—

अनेक व्यावसायिक विषयोंका शिक्षा-क्रममें समावेश हो गया।

बढ़ईगिरी, लुहारी, रसोईदारी, सीना, छापना, चित्रकला, घर बनाना, सब प्रकारकी यन्त्रविद्या, खेती, फुलवारी लगाना, जंगल-विद्या, गोपालन, व्यावसायिक कागजपत्र सँभालना, व्यापार-ज्ञान, नागरिक शास्त्र, व्यावसायिक विधान, त्वरालेखन, टपलेखन, अर्थशास्त्र, कोश[बैंक]–विद्या, मुद्रा-शास्त्र, यातायात, बीमा, समाजशास्त्र, ढलाई, नपाई, यन्त्रशालाका काम, ईंट-जुड़ाई, पलस्तरका काम, कताई-बुनाई तथा अन्य शिल्प। इस प्रकार सार्वजनिक पाठशालाओं और विद्यालयोंके अधिकारियोंने उन अनेक शिल्प और वृत्तियोंको अपने पाठ्यक्रममें ले लिया है जिनपर पहले व्यक्तियों या कारखानेवालोंका ही प्रभुत्व था। खेल-भूमि, बाल-रक्षक-केन्द्र, मनोरंजन-स्थल तथा अन्य ऐसे क्षेत्रोंकी अधिकता होनेसे व्यक्तिकी स्वतन्त्रता संकुचित हो गई है। राष्ट्रोंने समाजके हितकी रक्षाके लिये व्यक्तिको चारों ओरसे बाँध दिया है। इस दिशामें नवीनतम प्रयोग है अनिवार्य सैनिक शिक्षा देना।

सन् १९१४ के प्रथम विश्वयुद्धने राष्ट्रोंके बी   ।विश्वास उत्पन्न कर दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे लोकतंत्रवादी देशमें भी अनिवार्य सैनिक शिक्षाकी पुकार होने लगी। यह समाजवादी शिक्षापद्धति संसारको किधर घसीट ले जायगी यह कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

संक्षेपमें हमने योरोपके शिक्षा-क्रमकी ऐतिहासिक मीमांसा इसलिये क दी है कि जिन शिक्षाशास्त्रियोंने योरोपकी शिक्षाको समय-समयपर प्रभावित किया है, जिनका सूत्र ग्रहण करके डाल्टन प्रयोगशाला-पद्धति [डाल्टन लैबोरेटरी प्लान], प्रयोग प्रणाली [प्रोजेक्ट मैथड] तथा मौंतेसोरी पद्धति आदिका विकास हुआ है और जिनके सिद्धान्तोंसे प्रेरणा पाकर विश्व-शिक्षा-पद्धति और भारतीय शिक्षा-पद्धतिका निर्माण किया जा रहा है उनकी प्रेरक शक्तियों और परिस्थितियोंको समझनेमें पर्याप्त सहायता प्राप्त हो।

पिछले लगभग दो सौ वर्षोंसे हमारे देशमें जितने नये प्रकारके विद्यालय खुले उनका रंगढंग सब योरोपीय ही रहा। छात्रोंको एक विशेष पाठ्यक्रमके अनुसार विभक्त करके अलग-अलग कक्षाओंमें रखना, उन कक्षाओंमें प्रतिदिन एक निर्धारित समयमें शिक्षा देना, उस निर्धारित समयको कुछ घंटोंमें विभक्त करके अलग-अलग घंटेमें अलग-अलग विषय पढ़ाना, वर्षके भीतर दो या तीन परीक्षा लेना और परीक्षाके अनुसार वर्षमें एक बार अगली कक्षामें चढ़ाना— यह क्रम न तो भारतीय आर्य-शिक्षा-पद्धतिमें रहा और न मुसलिम-शिक्षा-पद्धतिमें। ये कक्षा-प्रणालीके स्कूल पहले पहल डच पादरियोंने अपने नवदीक्षित ईसाइयोंके बच्चोंके लिये खोले और फिर तो पुर्तगाली, फराँसीसी और अंग्रेजी पादरियोंने भी इसी ढंगके स्कूल खोल दिए। यह स्कूलका ढंग योरोपके स्कूलके ढंगपर आजतक भी चल रहा है पर बीच-बीचमें योरोपके नये-नये शिक्षाचार्योंने उनमें जो परिवर्त्तन सुझाए उनका प्रभाव स्कूलोंके रूपपर तो कम पड़ा किन्तु शिक्षण-प्रणाली तथा विषय-निर्वाचनपर अधिक पड़ा। इसलिये योरोपकी शिक्षा-प्रणालियों और उनकी प्रवृत्तियोंका परिचय भारतीय अध्यापकोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

२

योरोपीय शिक्षाका आदिकाल

विकासके किस क्रमसे योरोपने अपने वन्य जीवनका परित्याग करके सभ्यता और लोकवृत्ति अपनाई इसका कोई प्रामाणिक इतिहास न तो उपलब्ध है न उपलब्ध होना संभव ही है किन्तु यह निश्चय है कि योरोपके देशोंमें यूनान ही पहला देश है जहाँ सर्वप्रथम शिक्षाकी नियमित, संयत और व्यापक व्यवस्था की गई। आरंभमें वहाँ सभी लोग अपने-अपने 'स्व' को उन्नत और तृप्त रखनेका प्रयत्न करते रहे और उस स्वतृप्ति और स्वोन्नतिकी भावनाको अधिक बलवती बनानेके फेरमें पूराका पूरा यूनानी राष्ट्र इतना व्यक्तिवादी बन गया कि अपने व्यक्तित्वका स्वतंत्र विकास करना ही उसका ध्येय हो गया और सिद्धान्ततः वह यह मानने लगा कि यदि राष्ट्रके सभी व्यक्ति अपने 'स्व' को नियमित ढंगसे पूर्ण कर लें तो उनकी समष्टिसे सम्पन्न राष्ट्र भी स्वतः वीर्यवान्, शक्तिशाली और समुन्नत हो सकेगा। वह अतीतके गीत गाते रहनेकी अपेक्षा भविष्यके लिये सुसन्नद्ध होनेकी ओर अधिक ध्यान देने लगे और इस आकांक्षाने इन्हें इस आदर्शकी ओर प्रवृत्त किया कि मनुष्यकी स्वाभाविक रीतिमें जो श्रेष्ठता दिखाई पड़ती जाय उसके अनुकूल मनुष्यको अपना विकास करते चलना चाहिए। यद्यपि ईसासे कई शताब्दी पहले यूनानमें शिक्षाक्रम प्रारंभ हो चुका था किन्तु ईसासे पाँच शताब्दी पूर्व इस शिक्षा-सिद्धान्तने यूनानियोंको इतना प्रभावित कर दिया था कि पेरिक्लेस्‌के समयतक उसकी पूर्ण रूपसे स्थापना हो चुकी थी।

योरोपीय समाजका आदिकाल। व्यक्तित्वका विकास ही मूल ध्येय।

स्पार्त्ता

स्पार्त्ताकी शिक्षा

यूनानमें दो राज्य प्रधान थे एक अथेन्स दूसरा स्पार्त्ता। स्पार्त्तावाले प्रारंभसे ही युद्धमें पले थे। रात-दिन उनके चारों ओर रहनेवाले लोग उनसे लड़ते-भिड़ते रहते थे अतः उनके लिये यह अनिवार्य हो गया कि उन्हें स्वदेश-प्रेम, शारीरिक शक्ति और युद्ध-कौशलकी शिक्षा दी जाय। तदनुसार शक्ति,

स्पार्टावालोंको स्वदेश-प्रेम, शारीरिक शक्ति और युद्ध-कौशलकी शिक्षा दी जाने लगी।

साहस और आज्ञापालन ही शिक्षाके उद्देश्य : लिए गए और उसीके साँचेमें उनकी शिक्षाका क्रम भी ढाला जाने लगा। स्पार्टी शिक्षा-प्रणालीका उद्देश्य ही था राज्यकी सेवा करना और इसलिये व्यक्तिके अधिकारोंका वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं था। बालकके जन्म लेते ही उसपर राज्यका शासन प्रारंभ हो जाता था।

नवजात शिशुकी परीक्षा होती थी। स्वस्थ बालककी रक्षा राज्य करता था, दुर्बलको नष्ट कर दिया जाता था।

बड़े-बूढ़ोंकी एक पंचायत मिलकर नवजात शिशुका परीक्षण करती थी और यदि वह कहीं दैवदुर्विपाकसे रोगी या विकलांग निकला तो लोग उसे मरनेके लिये पहाड़ोंपर डाल आते थे, जहाँ वह भूख-प्यास, गर्मी, सर्दी और वर्षाका आखेट होकर समाप्त हो जाता था। किन्तु यदि उसकी आकृति कुछ तेज पूर्ण हुई और वह स्वस्थ दिखाई पड़ा तो वह नियमित रूपसे राज्यका आश्रित बना लिया जाता था और सात वर्षकी अवस्थातक पालित-पोषित होनेके लिये माताके पास छोड़ दिया जाता था। सात वर्ष पार करते ही उसे एक राजपुरुषके अधीन रहकर सार्वजनिक पड़ावोंमें खाना-सोना पड़ता था और नियमित रूपसे विशेष संयम और सैनिक व्यायामकी शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। उसे काठकी चौकियों पर सोना पड़ता था, नाम मात्रके कपड़ोंसे काम चलाना पड़ता था, कम भोजन करना होता था और मलखंभ आदि फुर्तीले व्यायामका क्रमिक अभ्यास करना पड़ता था। गेंद खेलने, नाचने और पंचखेल [दौड़ना, कूदना, चक्र फेंकना, भाला चलाना और मल्लयुद्ध] के अतिरिक्त मुक्का-मुक्की और विपक्षि-दमनके अभ्यासकी भी उसे अनुज्ञा थी, जिसके अनुसार लड़ंगी देकर, धक्का मारकर, दाँतसे काटकर, दावपेंचसे गिराकर या मुक्के मारकर शत्रुको हरा देना भी उचित तथा न्याय्य समझा जाता था।

सात वर्ष माता-पिताके साथ रहनेके पश्चात् एक राजपुरुषके साथ सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी।

स्पार्टाके बालकोंकी बौद्धिक शिक्षा नाम-मात्रकी ही मिलती थी। लोग लुकर्गस [लाइकर्गस] और हमेरस [होमर] की रचनाओंके कुछ संकलन रट लेते थे, उन्हींका पारायण कर लिया करते थे और सार्वजनिक भोजनालयोंमें भोजनके समय बैठकर बड़े-बढ़ोंकी बातचीत सुन लिया करते थे

बौद्धिक शिक्षाके अन्तर्गत लुकर्गस और होमरके कुछ संकलनोंका रटना और बड़े-बूढ़ोंकी बातें सुनना था।

वहाँ उनकी बुद्धिकी परीक्षाके लिये जो प्रश्न किए जाते थे उनका संक्षिप्त और युक्तियुक्त उत्तर देनेकी शिक्षा भी वे वहीं पाते चलते थे। प्रत्येक प्रौढ़के लिये आवश्यक था कि वह सदा किसी श्रोता युवकको अपने पास रक्खे जिसे वह निरन्तर अनुप्राणित और उत्साहित करता रहे।

सैनिक शिक्षा

जब युवक १८ वर्षका हो जाता था तब वह नियमित रूपसे युद्ध-कला सीखने लगता था। दो वर्षोंतक उसे शस्त्र और युद्ध-विद्याकी शिक्षा दी जाती थी और प्रति दसवें दिन उसे अरतेमिसकी वेदीपर पहुँचकर कोड़े खा-खाकर अपने साहस और स्वास्थ्यकी परीक्षा देनी पड़ती थी। इस शिक्षण-

१८ वर्षका होनेपर उसे युद्ध-विद्या सीखते हुए कष्ट-सहनका अभ्यास, दो वर्ष पीछे सेनामें भर्ती होकर दस वर्ष तक सीमान्त - दुर्गमें कठोर जीवन बिताना, तीस वर्षका होनेपर विवाह। छोटे लड़कोंको सिखाना कर्त्तव्य था।



स्पार्त्ताका सैनिक छात्र

अवधिके पश्चात् वह नियमित रूपसे सेनामें भरती हो जाता था और दस वर्षोंतक सीमान्तके किसी दुर्गकी रक्षा करते हुए अत्यन्त कठोर जीवन

व्यतीत करता था। तीस वर्ष पूरे कर लेनेके पश्चात् ही वह मनुष्य समझा जाने लगता था और उसे तत्काल विवाह कर लेनेके लिये बाध्य कर दिया जाता था। किन्तु विवाह करके भी वह खुल कर अपनी पत्नीसे नहीं मिल सकता था। वह लुक-छिपकर चोरीसे अपनी पत्नीसे मिलता-जुलता था और उसका कर्तव्य था कि अपनी अवस्थासे छोटे लड़कोंमें रहकर उनकी शिक्षामें सहायता करे।

कन्याओंकी शिक्षा

पुरुषोंके समान कन्याओंकी शिक्षा

स्पार्त्तामें कन्याओंकी शिक्षा भी पुरुषोंके समान ही होती थी। यद्यपि वे रहती तो घरपर ही थीं किन्तु उन्हें भी पुरुषोंके समान ही शारीरिक शिक्षा दी जाती थी जिससे वे बलवान् पुत्रोंकी माता बन सकें।

दुष्परिणाम

केवल शारीरिक और सैनिक शिक्षाके कारण वे राजभक्त नागरिक तो बने किन्तु मूढ़ और उजड्ड भी बन गए।

इस शिक्षा-प्रणालीका परिणाम यह हुआ कि वहाँके युवक-युवतिजन बलवान् योद्धा और राजभक्त नागरिक तो बन गए, किन्तु उदात्त मानवताके सात्त्विक गुण उनमें न आ पाए क्योंकि कला, साहित्य और दर्शनादि, सभ्यताकी अभिवृद्धि करनेवाले विषयोंके ज्ञानसे उन्हें शून्य रक्खा गया और इसीलिये जहाँ स्पार्ताने अगणित वीरताके उदाहरण उपस्थित किए हैं वहीं मूर्खता और उजड्डपनके भी कम उदाहरण नहीं उपस्थित किए।

अथेन्स

अथेन्सकी प्रारम्भिक शिक्षा

प्रारम्भमें अथेन्समें भी स्पार्ता जैसी ही शिक्षा दी जाती थी जिसका उद्देश्य था राज्यकी सेवा और जिसमें व्यक्तिगत स्वत्वोंकी कोई गणना नहीं थी। किन्तु उन्हीं दिनों अथेन्सने यह अनुभव किया कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्ण वैयक्तिक समुन्नति कर सके तो इन विशिष्ट समुन्नत नागरिकों-द्वारा विशिष्ट रूपसे राज्यकी भी उन्नति हो सकती है। इसलिये अथेन्सी बालकोंको सात वर्षकी अवस्थामें ही दो प्रक

अथेन्समें दो प्रकारकी शिक्षा — मल्लशाला और संगीतालय। संगीतालयमें संगीतके साथ पढ़ना-लिखना भी। प्रत्येक बालकको एक प्रौढ़ दास द्वारा आचार-व्यवहारकी शिक्षा।

की शिक्षा दी जाने लगी—एक तो पलैस्रा [मल्ल-शाला] में पंचांगी शारीरिक-शिक्षा [१ दौड़ने, २ कूदने, ३ चक्र फेंकने, ४ भाला चलाने और ५ मल्लयुद्ध करनेकी शिक्षा], दूसरी डिड्सकलेडम् [संगीतालय] में गाना, तन्त्री बजाना और पढ़ना-लिखना। रेतेपर उँगलीके सहारे लिख-लिख कर जब वे अक्षर-ज्ञान प्राप्त कर चुकते तब उन्हें मोमकी पाटियोंपर लोहेकी लेखनीसे और फिर चर्मपत्रपर कलम-स्याहीसे प्रसिद्ध कवियों और लेखकोंके पद्य तथा संकलित अंशोंकी प्रतिलिपि करनी पड़ती थी। गीत सीखते समय विद्यार्थियोंको लय और तालकी भी शिक्षा दी जाती थी और कविताका अध्ययन करते समय पद्यके भावार्थ समझना भी आवश्यक समझा जाता था। इस प्रकार अध्यापकों-द्वारा बताए हुए अर्थों और भावोंके द्वारा उस समयकी सारी विद्या बालक सीख लेते थे। फल यह होता था कि इस प्रकारकी शिक्षासे उनकी नैतिक और बौद्धिक उन्नति निरन्तर होती ही रही। उन दिनों एक यह भी बड़ी विचित्र प्रथा थी कि प्रत्येक बालकके साथ एक पैदागोगस [प्रौढ़ दास] भी रहा करता था जो बालकके साथ-साथ उसकी तन्त्री आदि अन्य सामग्रियाँ भी पाठशालातक लाया ले जाया करता था। वही प्रौढ़ दास बालकको आचार-व्यवहार और शिष्टाचारकी भी शिक्षा दिया करता था।

युवकोंकी शिक्षा

१५ वर्षकी अवस्थामें व्यायामशालामें जाने तथा सामाजिक जीवनमें प्रवेश करनेकी आज्ञा। १८ वर्षकी अवस्थामें राजभक्तिकी शपथ लेना। दो वर्षतक सैनिक शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। २० वर्षकी अवस्थामें पक्का नागरिक हो जाता था।

पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें अथेन्सी बालकको यह स्वतन्त्रता थी कि वह अथेन्ससे बाहर जिमनेज़िया [व्यायामशाला] में जाकर और भी अधिक शारीरिक शिक्षा प्राप्त करे। उसे सामाजिक जीवनमें प्रवेश करके सब कहीं आने-जाने और प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करनेकी भी आज्ञा थी। अट्ठारह वर्षकी अवस्थामें उसे अथेन्सके प्रति राजभक्त रहनेकी शपथ लेनी पड़ती थी और दो वर्ष तक सैनिक छात्रके रूपमें सैनिक कर्त्तव्य सीखने पड़ते थे। इनमेंसे पहला वर्ष तो उसे अथेन्सके पास-पड़ोसकी नगर-सेनामें बिताना पड़ता था और दूसरे वर्ष उसे सीमान्तके किसी दुर्गमें जाकर रहना पड़ता था। बीस वर्षकी अवस्थामें वह पक्का नागरिक हो जाता था किन्तु नागरिक होनेपर भी वह

वे यह नहीं चाहते थे कि केवल कल्पनाके एक अप्रत्यक्ष संसारमें रहकर जीवनको शुद्ध काल्पनिक बना दिया जाय। वे चाहते थे कि जीवनमें विचार और कर्मका शुद्ध सामंजस्य स्थापित किया जाय, जो बात सोची जाय वह कल्पना या विचार-जगत्से निकलकर प्रत्यक्ष जगत्में भी आती रहे। इस दृष्टिसे रोमवालोंका विचार-सिद्धान्त अधिक व्यावहारिक और स्पष्ट था। इसी आधारपर उन्होंने कर्त्तव्य और अधिकारका भी उचित समन्वय करके समाजमें उनके पालनका प्रबन्ध किया और जीवनका उद्देश्य ही यह स्थिर किया कि प्रत्येक नागरिकको अपने अधिकार प्राप्त करने चाहिएँ और अपने कर्त्तव्योंका पालन करना चाहिए। यही कारण है कि उन्होंने शिक्षाका उद्देश्य भी इसी अधिकार और कर्त्तव्यके व्यवहारमें सफलताको ही स्वीकार कर लिया। आदर्श और उद्देश्यकी इतनी स्पष्ट योजना होनेपर भी रोमवालों-ने अधिकार और कर्त्तव्यका जो रूप निर्धारित किया वह इतना संकुचित और परिमित था कि उसमें केवल रोमवालोंको ही संसारका प्रभुत्व और श्रेष्ठत्व मिल सकता था, संसारके समस्त वैभव और सुखके उपभोक्ता मानो वे ही हों, उनके अतिरिक्त संसारकी मानवता मानो उनके लिये भोग-पदार्थ संचय करने और उनकी सेवा करनेके लिये ही उत्पन्न हुई हो। रोमकी सबसे बड़ी बात यह थी कि वहाँ प्रारम्भिक शिक्षा शुद्ध पारिवारिक थी। छोटे बच्चोंकी शिक्षा-दीक्षाका कुल भार मातापर ही था जो बालकके भावी जीवनसे संबद्ध संपूर्ण आचरणका ज्ञान करा डालती थी। उधर पिता भी अपने पुत्रको साथ रखकर साधारण आचार-व्यवहारकी शिक्षा दे देता था। किन्तु इससे पीछेका उनका जो क्रम था वह बड़ा अटपटा और दुरुद्दिष्ट था। जहाँतक बालकोंकी इतिहास पढ़ानेकी बात थी, उसमें तो किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि इतिहासका संबंध देशकी परम्परा और संस्कृतिसे है, किन्तु रोमवालोंने अपने बालकोंके कोमल मस्तिष्कपर न्यायालय और सीनेटकी संचालन-विधि सीखनेका जो भार डाल दिया था वह मनोवैज्ञानिक और नैतिक दृष्टिसे बहुत बुरा था क्योंकि दोनों प्रकारके विषयोंमें स्वभावतः कुटिलता, झूठ, परस्पर राग-द्वेषकी तिकड़म आदिकी ऐसी खोटी प्रवृत्तियाँ बालक सीख लेते थे जिनसे न तो उनके मानसिक संस्कार ही शुद्ध और नैतिक

रोमकी शिक्षा पहले पारिवारिक रही, फिर यूनानियोंके प्रभावसे अन्य विषय भी पढ़ाए जाने लगे। क्विन्तिलियनने यद्यपि शिक्षाको मनोवैज्ञानिक बनानेका प्रयत्न किया पर उसका प्रभाव न पड़ सका। रोमकी शिक्षा एकपक्षीय, स्वार्थपूर्ण और एकांगी बनी रही। उदारता और समत्व की भावना वहाँ नहीं पनप पाई।

बन पाते थे और न उनकी बुद्धि ही विवेकपूर्ण हो पाती थी। इन दोनों विषयों के अध्ययनसे वह केवल एक पक्षकी बात समझनेके लिये बाध्य हो जाता था जिसके कारण शिक्षासे संप्राप्य उदारता रोमवालोंको स्पर्श न कर सकी। इन दोनों विषयोंके साथ-साथ भाषण-कलाकी शिक्षाने अग्निमें घीका काम किया। एकपक्षीय भावनाको प्रबल करके लोकमें उसकी तर्कपूर्ण व्याख्या कर-करके ये बालक अपनी नेतृत्व-शक्ति भी बढ़ाने लगे और अपने साथ-साथ अपने श्रोताओंका मानस भी एकपक्षीय बनाकर दूषित करने लगे।

यूनानियोंके सम्पर्कसे जब रोममें यूनानकी शैलीके विद्यालय खुलने लगे और अन्द्रोनिखस आदि अनेक विद्वान् आकर वहाँ बसने लगे उस समय यूनानके रंगमें रोम नहा गया। किन्तु रोमवालोंकी एक बड़ी विशेषता यह रही कि उन्होंने जो कुछ यूनानसे सीखा उसे अपने साँचेमें ढालकर अपने रंग-ढंगका बना लिया। धनी लोग अपने घरोंमें यूनानी अध्यापक रखना गौरवकी बात समझने लगे। इस यूनानी प्रभावसे तीन प्रकारके विद्यालय चल तो निकले पर उनका परिणाम बहुत अच्छा न निकला। प्राथमिक विद्यालयोंमें तो पढ़ना-लिखना भर सिखाया जाता था। वहाँ मार-पीटका बोलबाला था, बालकोंमें परस्पर स्नेह-भाव या सहायताकी भावनाका पूर्ण अभाव था। व्याकरण-विद्यालयोंमें भी लातिन-व्याकरणके साथ-साथ भाषा, साहित्य, भाषण-कला, गणित, ज्यामिति, संगीत और ज्योतिष सिखाया तो जाने लगा, पर वह निर्बाध और उदार न बन सका। भाषण-कला-विद्यालयोंमें जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें निपुणता प्राप्त करनेकी कला तो सिखाई जाती ही थी पर इन सबके साथ बारह सरणियोंके नियम (लौज़ औफ दि ट्वैल्व टेबिल्स) की शिक्षा का पुछल्ला भी लगा दिया गया। कला और शास्त्रकी शिक्षा लेते समय उनके प्रति जो उदार भाव होना चाहिए उसका जान-बूझकर मर्दन किया गया और एक विशेष ढंगसे सोचने और शिक्षा ग्रहण करनेकी दूषित तथा संकुचित पद्धति स्वीकार कर ली गई। इस सबका परिणाम यह हुआ कि रोममें सेनेका, सिसरो और क्विन्तिलियन जैसे प्रचण्ड व्याख्याता तो हुए किन्तु वे शिक्षाके आदर्शोंका राष्ट्र-जीवनके साथ ठीक समन्वयका मार्ग न निकाल पाए और इसीलिये उनमें जीवनकी वह वास्तविकता न आ पाई न जनतापर उनका उतना प्रभाव पड़ सका जितना यूनानके दार्शनिकोंका—सुकरात, अफलातून और अरस्तूका था। यद्यपि क्विन्तिलियनने शिक्षाके आदर्शोंकी स्थापना करते हुए प्रारम्भिक बाल्यावस्थाको अधिक महत्त्व दिया और उस समयके संस्कारको ही मूल संस्कार भी बताया किन्तु वह न तो बालकोंके सामर्थ्यका ठीक-ठीक ज्ञान कर पाया

न उसने शारीरिक संस्कारका कोई महत्त्व समझा। वह खेलों-द्वारा बालकोंको शिक्षा देनेका पक्षपाती था और उसका यह सिद्धान्त पैस्तालौज़ी, फ्रोबेल तथा मौन्तेस्सौरी आदिने ग्रहण भी किया किन्तु वह शिक्षाके लिये सुनिर्दिष्ट और सुविचारित खेलोंका भी कोई स्पष्ट निर्देश न दे सका। सम्भवतः वह पहला विचारक है जिसने शारीरिक दण्डका विरोध किया। सहानुभूतिमय तथा प्रेममय व्यवहारसे छात्रको प्रोत्साहन दे-देकर शिक्षा देनेका तथा अध्यापनको रोचक बनानेका विधान भी सम्भवतः पहले-पहल उसीने किया किन्तु उसकी इस सुविचारित शिक्षा-प्रणालीका प्रभाव उस समय कुछ न पड़ सका और



रोमवासी परिवार २०० ई. पू. से २०० तक

रोमवाले अपनी धुनमें चलते हुए एकांगी, एकपक्षीय और स्वार्थपूर्ण बने रहे। इसीलिये बहुत दिनोंतक वह न चल पाई और उसी स्वार्थपूर्ण शिक्षाका

यह प्रभाव हुआ कि रोममें दम्भ, पाखण्ड, अपने प्रभुत्वकी भावना और उद्दण्डता बढ़ चली।

इस रोमकी शिक्षाका उद्देश्य प्रारम्भमें सैनिक बनाना रहा, किन्तु पीछे साहित्य, कला और सैनिक शिक्षाका संयोग हुआ। इसके पश्चात् इसमें व्यक्तिवादका प्रवेश हुआ। फिर समाजवाद और व्यक्तिवादका संघर्ष निरन्तर चलता रहा और इसी संघर्षसे यूनानके समान रोम भी अपना वैभव लेकर समाप्त हो गया।

४

प्रारंभिक ईसाई शिक्षण-पद्धति

पारलौकिक विद्यालय

जिस समय ईसाई धर्मका प्रचार हुआ उस समय ईसाके अनुयायियोंकी बौद्धिक स्थिति सन्तोषप्रद न थी क्योंकि उनमेंसे अधिकांश निरक्षर थे। किन्तु ईसाई पादरियोंने ईसाकी शिक्षाओं और धर्मोपदेशों-द्वारा नैतिक शिक्षा भली भाँति पाई थी जिसका परिणाम यह हुआ कि वे इस लोककी बात छोड़कर पारलौकिक चिन्तनमें लग गए। इसीलिये शिक्षा-शास्त्रियोंने उस समयकी शिक्षाको ही पारलौकिक शिक्षा कहा है। द्वितीय शताब्दीमें जब ईसाई मतका प्रचार बढ़ने लगा तब सभी लोग शिक्षाकी आवश्यकताका अनुभव करने लगे। स्थान स्थानपर कतिशूमेन्स नामक विद्यालय खोले गए जिसमें आत्माके कल्याण और पारलौकिक ज्ञानके लिये शिक्षाकी व्यवस्था की जाने लगी। गिरजाघरोंकी बरसातीमें या दालानमें कक्षाएँ लगने लगीं और वहाँ नैतिक तथा धार्मिक शिक्षाके साथ-साथ पोथी बाँचने, धर्मग्रंथ रटने तथा धार्मिक गीत गानेकी शिक्षा भी दी जाने लगी। पाठ्यक्रमकी अवधि तीन बरसकी थी जिसमें किसी प्रकारका कक्षा-विभाग या श्रेणी-विभाग नहीं था।

गिरजाघरोंमें पारलौकिक शिक्षाका आरंभ। धार्मिक शिक्षाके साथ बाँचने, ग्रन्थ रटने और गानेकी शिक्षा भी।

इहलौकिक विद्यालय—एपिस्कोपल स्कूल

इधर ईसाई लोग पारलौकिक शिक्षा दे रहे थे उधर रोम और यूनानके दार्शनिक लोग इहलौकिक शिक्षाका विधान बनानेमें जुटे थे। उनका उद्देश्य यह था कि कोई ऐसा साधन खोज निकाला जाय कि हम अपने जीवनमें अधिकसे अधिक तुष्टि पा सकें। ईसाई विद्यालयोंसे विभेद दिखलानेके लिये हम इन रोम-यूनानी विद्यालयोंको इहलौकिक विद्यालय कह सकते हैं। जब ईसाई-धर्म रोमतक फैल गया तब नये ईसाई लोग यह प्रयत्न करने लगे कि ईसाइयोंकी पारलौकिक शिक्षाके साथ रोम-यूनानी इहलौकिक-

रोम और यूनानमें इहलौकिक शिक्षाकी योजना। समन्वयवादियों (एपोलोजिस्ट) द्वारा पारलौकिक तथा इहलौकिक शिक्षाके

गठबंधनकी योजना। कैटेचेटिकल या धार्मिक शिक्षालयोंकी स्थापना, उनमें बाइबिलके साथ साथ विज्ञान, साहित्य, व्याकरण आदिकी शिक्षा भी। एपिस्कोपल या पादरियोंके स्कूल जिनमें व्याकरण, संगीत तथा मिश्रित विद्यालयोंका प्रादुर्भाव किन्तु जस्तीनियनकी आज्ञासे बहुदेववादियोंकी बहुविषयक शिक्षा बन्द और केवल पारलौकिक शिक्षा शेष।

शिक्षाका भी गठबंधन करा दिया जाय। ये लोग समन्वयवादी (एपोलोजिस्ट्स) कहलाए। परिणाम यह हुआ कि दूसरी और तीसरी शताब्दिमें अलक्षेन्द्रिया-निवासी सभी ईसाइयोंने अपने धार्मिक दर्शनके साथ यूनानी विचारोंका सम्मिलन करके कैटेचैटिकल (मौखिक या प्रश्नोत्तरके द्वारा पढ़ानेवाले शिक्षालय) या धार्मिक विद्यालय खोल दिए जिनमें ईसाई शिक्षकों और नेताओंका निर्माण किया जाने लगा था। इन विद्यालयोंके कोई अपने अलग भवन नहीं थे। सब विद्यार्थी सामूहिक रूपसे अध्यापकके घर पढ़ने जाते थे। विद्यार्थियोंको यह भी अनुज्ञा थी कि वे अलक्षेन्द्रिया विश्वविद्यालयका भी पूरा लाभ उठावें। बाइबिलका पूर्ण ज्ञान लाभ करनेके साथ साथ उन्हें एपीक्यूरीय (खाओ–पीओ–मौज करो) दर्शनको छोड़कर शेष यूनानी दर्शन, सभी प्रकारके विज्ञान, उदात्त यूनानी साहित्य, व्याकरण, भाषणकला तथा बहुदेववादी विद्यालयोंके अन्य उदात्त विषयोंके अध्ययनकी भी अनुज्ञा थी। इस प्रकार इन मौखिक विद्यालयोंमें इहलौकिक और पारलौकिक शिक्षाओंके सम्मेलनका स्तुत्य उद्योग किया गया। यूनान तथा रोमके विभिन्न क्षेत्रोंमें इस प्रकारके अनेक विद्यालय खुल गए। किन्तु इससे भी पूर्व पादरियोंने गिरजाघरोंमें सेवा करनेवाले अन्य पादरियोंको शिक्षित करनेके लिये यूनानी शिक्षा-पद्धति स्वीकार कर ली थी। ये शिक्षालय एपिस्कोपल या कैथड्रल या पादरियोंके स्कूल कहलाने लगे। मध्ययुगमें ये विद्यालय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिक्षाकेन्द्र समझे जाने लगे थे। शनैः शनैः इन विद्यालयोंमेंसे तीन प्रकारके विद्यालयोंका प्रादुर्भाव हुआ—पहला व्याकरण-विद्यालय, दूसरा संगीत-विद्यालय और तीसरा दोनोंका मिश्रण। किन्तु ईसाई धर्मके विकासके साथ ही इस रोम-यूनानी संस्कृति और शिक्षाके विरुद्ध विद्रोह होने लगा और सन् ५२९ ईस्वीमें जस्तीनियनने अपने आदेशसे बहुदेव-वादियोंकी शिक्षा बन्द करा दी और ईसाई शिक्षा फिरसे पारलौकिक शिक्षा मात्र रह गई।

ईसाई मठोंमें शिक्षा

मध्यकालीन युगमें जर्मन जातिने इस वेगसे उन्नति की कि उन्होंने रोम-

यूनानी तथा ईसाई सभ्यताओंको पचा डाला। यह श्रेय जर्मन जातिको ही है कि उसके कारण वे मृत सभ्यताएँ वर्तमान कालतक बनी चली आईं। धीरे-धीरे गिरजाघरोंमें यह भावना उत्पन्न हो चली कि प्रत्येक व्यक्तिको विशेष रूढ़ि, संयम और आदेशका पालन करना चाहिए। गिरजाघरोंने मठोंका रूप ले लिया और उन्हींके आदेश सर्वमान्य और प्रधान समझे जाने लगे। इन मठीय विद्यालयोंको समझनेके लिये उस आन्दोलनकी भी परीक्षा कर लेनी चाहिए जिसने इन विद्यालयोंको जन्म दिया। अपने वैभवके युगमें रोमवाले इतने विलासी हो गए थे कि आचार-विचार, धर्म और नीतिमें भयंकर विश्रृंखलता उत्पन्न हो गई थी। वीरताके जिन आदर्शोंने रोमके उत्कर्षका मंगलगान गाया था वह शिथिल होकर धराशायी हो गया और उसके स्थानपर चारों ओर अत्यन्त हीन प्रकारकी विलासिताका नग्न नृत्य होने लगा। इस प्रकारके विलासितापूर्ण जीवनका विरोध होना सर्वथा स्वाभाविक ही था। इसलिये जो धार्मिक व्यक्ति ईसाई धर्मको इन पापोंसे बचाना चाहते थे उन्होंने प्रत्यक्ष विरोध करके इस अनीतिका मूलोच्छेदन करनेका निश्चय किया और एक नये प्रकारके मठ (मोनास्टरी) स्थापित किए जिनमें सांसारिक जीवन तथा अन्य प्रलोभनोंकी पूर्णतः उपेक्षा करके एकान्त-जीवन, संन्यास और भक्तिकी शिक्षा दी जाने लगी। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ऐसे मठ या आश्रमोंकी स्थापना हुई जिनमें साधु लोग अलग-अलग कोठरियोंमें रहकर धर्म-चिन्तन करते थे, केवल भोजन, प्रार्थना और धार्मिक गोष्ठीके लिये ही एकत्र होते थे। यह मठवाद (मोनास्टिसिज़्म) मिस्र देशसे प्रारंभ हुआ और वहाँ से सीरिया, फिलिस्तीन, यूनान, इतालिया और गौलतकमें फैल गया। किन्तु जो पाश्चात्य मठवाद चला वह अधिक सशक्त और सक्रिय सिद्ध हुआ क्योंकि वहाँके नियम भी अधिक कठोर न थे, यहाँतक कि उसके साधु लोग उपासना, भजन और प्रार्थनाके साथ-साथ हल चलाने और साहित्य-संरक्षणका काम भी करते चलते थे। ये मठ बेनिदिक्तके नियमानुसार संबद्ध और समुन्नत हुए। इस नियममें यह आज्ञा दी गई थी कि प्रत्येक साधुको प्रतिदिन कमसे कम सात घण्टे शारीरिक श्रम करना चाहिए और दो घण्टे नियमित रूपसे पढ़ना चाहिए। फल यह हुआ कि प्रत्येक मठमें एक स्क्रिप्टोरियम या लेखशाला बनाई गई, जहाँ साधु-लोग या तो लातिन ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करते

एकान्त-जीवन, संन्यास और ईश्वर-भक्तिकी शिक्षा-के लिये मठीय विद्यालय (मोनास्टिक स्कूल)। पाश्चात्य मठवादमें कठोर नियम-पालनके साथ-साथ कृषि या शारीरिक श्रम और साहित्यिक संरक्षणकी छूट। बेनिदिक्तके मतानुसार इनकी समुन्नति।

थे या मौलिक साहित्यका सर्जन करते थे। साहित्य-संरक्षणकी यह प्रवृत्ति इंगलिस्तानमें विशेष रूपसे समुन्नत हुई। शनैः शनैः रोमन चर्च और आयरलैण्डके ईसाई धर्मका सम्मिलन हुआ जिसके फलस्वरूप साहित्य और संस्कृतिका बड़ा उत्कर्ष हुआ।

मठीय विद्यालय (मोनास्टिक स्कूल)

इन मठोंमें विद्यालय भी खोल दिए गए। मठोंके विद्यालयोंमें आठ या दस वर्षका पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया। प्रविष्ट होनेवाले विद्यार्थियोंकी अवस्था भी आठ या दस वर्षकी ही होती थी क्योंकि अठारह वर्षसे कमका विद्यार्थी गिरजाघरका सदस्य नहीं हो सकता था। नवीं शताब्दिमें तो ऐसे भी विद्यार्थी भरती किए जाने लगे जो गिरजाघरके सदस्य नहीं होते थे। इसलिये इन्हें बाहरी (एक्स्टर्नी) कहा जाने लगा और साधु (मौन्क) बननेवाले विद्यार्थियोंको दीक्षित (ऑब्लती)। साधुनी बननेवाली बहनोंको भी इसी प्रकारकी शिक्षा दी जाने लगी। पहले तो इन पाठशालाओंका पाठ्यक्रम अत्यन्त संकुचित और साधारण था जिसमें बाइबिल अध्ययन करनेके उद्देश्यसे पढ़ना, धर्मग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करनेके उद्देश्यसे लिखना और गिरजाघरोंके उत्सवोंकी गणना करनेके उद्देश्यसे गिनना सिखाया जाता था किन्तु पीछे सात लौकिक कलाओंकी शिक्षा भी संक्षिप्त रूपसे दी जाने लगी। यद्यपि रोम और यूनानमें इन सात उदार कलाओंकी परिधि विभिन्न थी किन्तु पाँचवीं और छठी शताब्दिमें परिधिका रूप स्पष्ट कर दिया गया। अधोज्ञानत्रयी (त्रिवियम) में व्याकरण, भाषणकला और शास्त्रार्थकी गणना हुई और ज्ञानचतुष्टयी (क्वाड्रिवियम) में गणित, ज्यामिति, संगीत और ज्यौतिषकी गणना हुई। यद्यपि यह पाठ्यक्रम अधिक उदार और व्यापक नहीं जान पड़ता किन्तु इसकी परिधि वस्तुतः अत्यधिक विस्तृत थी क्योंकि व्याकरण-द्वारा साहित्यका ज्ञान होता था, भाषणकला-द्वारा नीति और इतिहासका, शास्त्रार्थ-द्वारा दर्शनका, गणित-द्वारा सब प्रकारकी गणनाका, ज्यामिति-द्वारा भूगोल और भू-भाषाका, संगीत-द्वारा भाव-परिष्कारका और ज्यौतिष द्वारा समस्त भौतिक विज्ञान और उच्चतम गणितका। इन मठीय विद्यालयोंमें

मठोंके विद्यालयोंमें आठ-दस वर्षका पाठ्यक्रम। केवल साधु (मौंक) बननेवालोंकी प्रारम्भमें भर्त्ती। नवीं शताब्दीमें बाहरी छात्रोंका भी प्रवेश। बाइबिल पढ़ने, धर्म-ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करने और उत्सवोंकी गणना करनेके अतिरिक्त पीछे सात कलाओं—व्याकरण, भाषण, शास्त्रार्थ, अंक-गणित, ज्यामिति, संगीत और ज्यौतिषकी शिक्षा भी सम्मिलित। प्रश्नोत्तर-प्रणालीसे शिक्षा।



एक मठीय (मोनैस्टिक) विद्यालय

प्रश्नोत्तरी-प्रणालीसे शिक्षा दी जाती थी। पुस्तकोंकी कमीके कारण शिक्षक लोग बोलते चलते थे और इनके शिष्य लोग अपनी पाटियों-पर उसे लिखते चलते थे। इन मठीय विद्यालयोंने यद्यपि अत्यन्त कठोरताके साथ इहलौकिकता-का विरोध किया किन्तु यह भी सत्य है कि इन्हींके द्वारा रोम-यूनानी संस्कृति, सभ्यता तथा साहित्यकी परंपराका संरक्षण भी हुआ। यदि ये मठीय विद्या-लय न होते तो रोम और यूनानका न जाने कितना साहित्य अबतक जल, अग्नि, कीट और दीमकका आखेट बनकर लुप्त हो गया होता।

चार्ल मैग्ने और अलकूयिन—प्रासाद-विद्यालय (पैलेस स्कूल)

अलकूयिनकी प्रेरणासे चार्ल मैग्ने-द्वारा प्रासाद-विद्यालयों (पैलेस स्कूलों) की स्थापना जिनमें राज-पुरुषोंकी शिक्षा। रटन्त-प्रणालीका बहिष्कार। व्याकरण, ज्यौतिष, लातिन, भाषण, शास्त्रार्थ, गणित, ज्यौ-तिष और धर्मकी शिक्षा भी सम्मिलित। अन्य विषयोंका सुधार, गाँवों में नये विद्यालयोंकी स्थापना। अनिवार्य शिक्षा।

आठवीं शताब्दीतक विद्या और विद्यालयोंकी जो अव्यवस्था थी उसे सुधारनेके लिये चार्ल मैग्नेने यौर्क-निवासी प्रसिद्ध शिक्षक अलकूयिनको शिक्षा-सचिव बनाकर बुलाया। अलकूयिनने भली प्रकार सोच-विचारकर यह सम्मति दी कि उच्च शिक्षाकी व्यवस्था प्रासाद-विद्यालयों (पेलेस स्कूल) में की जाय। इन विद्यालयोंमें राजा, राज-परिवार, राजाके सम्बन्धी तथा अन्य राजपुत्र आ-आकर सैक्सन शिक्षकोंसे पढ़ने लगे। यहाँके शिक्षार्थी भी अन्य छात्रोंसे भिन्न, नितान्त दूसरे ढंगके अर्थात् राजपुरुष थे इसलिये रटन्त प्रणालीका पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया। शिक्षाके विषयोंमें व्याकरण, लातिन कवि और पादरियोंके लेखोंका अध्ययन, भाषण-कला, शास्त्रार्थ, गणित, ज्यौतिष और धर्मकी शिक्षा सम्मिलित कर ली गई। इसीके साथ-साथ धार्मिक (कैटेचैटिकल) विद्यालय, मठीय (मोनास्टिक) विद्यालय और गिरजाघरी (एपिस्कोपल) शिक्षालयोंमें भी बहुत सुधार किए गए। सन् ७८७ में चार्ल मैग्नेने सब पादरियोंको आदेशपत्र (केपिचुलरी) भेजा कि आप लोगोंको शिक्षाके सम्बन्धमें अधिक सावधान रहना चाहिए इसलिये आप लोग ऐसे अध्यापक चुनिए जो योग्य हों, पढ़ानेके इच्छुक हों, जिन्हें स्वयं सीखने और दूसरोंको शिक्षा देनेकी लगन हो। इसके दो वर्ष पीछे उसने एक दूसरे आदेशपत्रमें पाठ्य विषयोंका भी निर्धारण कर दिया। इस समयतक उपर्युक्त विद्यालयोंके अतिरिक्त गाँवोंमें भी विद्यालय खुलने लगे थे जहाँ प्रारम्भिक कक्षाओंमें पढ़ना, लिखना, गिनना, गाना और धर्म पढ़ानेका प्रबन्ध था। इसके आगे व्याकरण, भाषणकला और शास्त्रार्थकी शिक्षा

दी जाती थी और कुछ प्रसिद्ध विद्यालयोंमें ज्ञान-चतुष्टयी (गणित, ज्यामिति संगीत और ज्योतिष-विद्या) भी सिखाई जाती थी। गाँवके विद्यालयोंमें स्थानीय पादरी लोग केवल ईश-प्रार्थना, धर्म और धार्मिक गीत ही सिखाते थे। साधु बननेवाले समस्त बालकोंको निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। उनका उद्देश्य यह था कि शिक्षाका द्वार राजा और रंक सबके लिये खुला रक्खा जाय। जनतामें शिक्षा प्राप्त करनेकी यह चेतना देखकर चार्ल मैग्नेने सबके लिये शिक्षा अनिवार्य कर दी। चार्ल मैग्नेसे छुट्टी पाकर अलकूयिनने अपना अलग शिक्षा-केन्द्र खोला जहाँसे साम्राज्य भरके अनेक प्रसिद्ध शिक्षक और पादरी निकले। अलकूयिन कुछ प्राचीनतावादी था इसलिये उसकी शिक्षासम्बन्धी भावना कुछ संकुचित थी किन्तु तत्कालीन शिक्षा-पद्धतिपर अलकूयिनने जो प्रभाव डाला उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार पहले पहल व्यवस्थित रूपसे यूरोपमें शिक्षा-पद्धतिका विकास और विस्तार करनेका श्रेय चार्ल मैग्ने और अलकूयिनको ही है।

ईसाई शिक्षा-पद्धतिकी विवेचना

जिस प्रकार रोम और यूनानकी शिक्षा-पद्धति एकांगी बन गई उसी प्रकार ईसाइयों द्वारा संस्थापित शिक्षा-पद्धति भी पूर्णतः संकुचित और असन्तुलित थी। या तो उन्होंने अपने साधु-शिष्योंको संसारकी समस्त विद्याओं तथा सांसारिक भावनाओंसे दूर करके शुद्ध ऐकान्तिक साधनाका उपदेश दिया और उसीके लिये उनकी शिक्षण-व्यवस्था की या फिर उस पारलौकिक या लोक-विमुख शिक्षाके साथ लौकिक विद्यालयोंका असंयत गठबन्धन करके उसकी ऐसी खिचड़ी बना डाली कि न वह तीतर ही रह गया न बटेर ही बन पाया। कमसे कम एक बात तो निश्चित है कि बहुत शीघ्र ईसाई शिक्षकोंने यह तो अनुभव कर ही लिया कि शुद्ध पारलौकिक या शुद्ध इहलौकिक विद्यासे कोई शिक्षा-पद्धति सशक्त, सजीव और पूर्ण नहीं हो सकती किन्तु वे यह नहीं स्थिर कर पाए कि दोनोंका सामंजस्य किस प्रकार स्थापित किया जाय और दोनोंको एक दूसरेका पूरक कैसे बनाया जाय। यह एक साधारण-सा सिद्धान्त है कि पारलौकिक ज्ञानके लिये जिस आध्यात्मिक वृत्तिकी आवश्यकता होती है उस आध्यात्मिक वृत्तिको जगाने, उसे पुष्ट करने और स्थिर करनेके लिये एक विशिष्ट भावभूमि अपेक्षित है। यह भावभूमि तभी समुद्भूत हो सकती है जब उसमें सांसारिक वस्तुओं और वासनाओंसे ऐकान्तिक विरक्ति

पारलौकिक और इहलौकिक शिक्षाओंका ठीक समन्वय न हो सकनेके कारण न तो आध्यात्मिकता ही पनप पाई न इहलौकिक ज्ञान ही पक्का हो पाया।

हो, यह विरक्ति तबतक नहीं आ सकती जबतक सांसारिक वस्तुओंकी असारताका ठीक-ठीक बोध न हो सके, यह बोध तबतक नहीं हो सकता जबतक संसारकी प्रत्येक वस्तु अथवा कमसे कम मनुष्यके संपर्कमें आनेवाली वस्तुओंका और मनुष्यकी सर्वसामान्य भावनाओंका पूर्ण ज्ञान न हो और यह ज्ञान तबतक नहीं हो सकता जबतक सांसारिक वस्तुओंके ज्ञानसे संबंध रखनेवाले विषयोंका अध्ययन न हो। इसका तात्पर्य यह है कि पहले इहलौकिक विषयोंकी शिक्षा पूर्णतः देकर तभी विरक्तिकी चर्चा करना अधिक संगत और युक्तियुक्त है। अतः ईसाई पादरियोंने जो ऐकान्तिक अध्यात्म-शिक्षाकी व्यवस्था की उसमें विपथ होने तथा पथभ्रष्ट होनेकी संभावनाएँ अपरिमित मात्रामें विद्यमान थीं अतः वह किसी प्रकार सफल हो नहीं सकती थी और हुई भी नहीं। इस असफलताका एक यह भी कारण था कि उन्होंने आठ-आठ दस-दस वर्षके बच्चोंको लेकर बलपूर्वक उनके मानसिक विकासको दबाकर उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्तिको अस्वाभाविक रूपसे रोककर ऐसी दिशाकी ओर मोड़ना चाहा जिसकी ओर उनकी कोई प्रवृत्ति न थी। जैसे हमारे यहाँ बहुतसे महन्त और साधु लोग छोटे-छोटे बच्चोंको साधु बना लेते हैं और अपनी इच्छाके विरुद्ध साधु बननेवाले वे बालक स्वाभाविक रूपसे बढ़ते हुए साधुचर्याके विरुद्ध आचरण करने लगते हैं तब हम साधुओंको बुरा-भला कहने लगते हैं। ठीक वही दशा उनकी भी हुई। वास्तवमें भूल तो उन साधुओंकी थी जिन्होंने बचपनमें उन्हें दीक्षित किया। प्रत्येक धर्माचार्यको यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि साधु-प्रवृत्ति या तो सहज अर्थात् स्वाभाविक होती है या भोगसे विरक्त होनेपर प्रकट होती है अथवा किसी विशेष घटनासे प्रेरित होनेपर समुद्भूत होती है। स्वाभाविक विरक्ति पूर्व जन्मके संस्कारसे होती है। ऐसे सहज विरक्त बालकको दीक्षाकी अपेक्षा नहीं होती। भोगसे विरक्त होनेवाले व्यक्तिकी मानसिक वृत्ति पूर्णतः संतुष्ट हो चुकती है अतः उसे भी दीक्षाकी आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जो व्यक्ति किसी विशेष कारणसे—जैसे, किसी साधु या महापुरुषके संसर्गसे, किसी दैवी विपत्तिके कारण अथवा क्रोध या चिढ़के कारण—विरक्त होता है उसे ही दीक्षा देने और निरंतर सँभाले रखनेकी आवश्यकता होती है अन्यथा वह अनुकूल कारण होनेपर फिर सांसारिक वासनाओंकी ओर प्रवृत्त हो सकता है। ईसाई पादरियोंने जब अपनी पारलौकिक शिक्षाके साथ लौकिक शिक्षाका मेल किया तब उन्होंने इहलौकिक विषयोंके शिक्षणके साथ पारलौकिक शिक्षामें उनकी सहायता और सामान्यतः उनकी निःसारताका पाठ नहीं सिखाया। दोनों प्रकारकी शिक्षाएँ एक साथ अलग अलग चलती रहीं, न वे एक दूसरेकी

सहायक हो पाईं न पूरक। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लौकिक शिक्षासे जितने विकार आ सकते थे, वे सब फैलने लगे और पारलौकिक शिक्षासे जो मनस्साधना होनी चाहिए थी वह शिथिल पड़ गई।

ईसाई पादरियोंने शिक्षा और नीतिका एक सबसे बड़ा सिद्धान्त ध्यानमें नहीं रक्खा और वह यही कि धार्मिक या नैतिक जीवनकी शिक्षा कुछ चुने हुए लोगोंको साधु बनानेसे नहीं दी जा सकती। उसके लिये तो जबतक सामूहिक रूपसे संपूर्ण जनतामें नैतिक भावना नहीं भरी जाती तबतक ऐकान्तिक नैतिक शिक्षा सर्वथा निरर्थक है। चार्ल्स मैग्नेने यद्यपि पीछे चलकर शिक्षा अनिवार्य कर दी किन्तु वह शिक्षा केवल आरंभिक अक्षर-ज्ञान तथा साधारण ज्ञानमात्र तक परिमित रही। सुसंस्कृत नैतिक जीवनके लिये जो व्यापक भावशुद्धि और परकल्याणकी उदात्त भावुकता चाहिए उसका उस शिक्षामें लेशमात्र भी समावेश नहीं हो पाया इसीलिये उससे जो सार्वजनिक आध्यात्मिक लाभ होना चाहिए था वह तो न पाया पर हाँ, इतना अवश्य हुआ कि यूनान और रोमने जिन कलाओं और शास्त्रोंके अध्ययनका क्रम चलाया था वह अविरत रूप से इन ईसाई संस्थाओंमें चलता रहा।

५

मध्ययुगमे शिक्षाकी प्रगति

यूरोपकी शिक्षामें मुसलमानोंका हाथ

मूरों द्वारा स्थापित विद्यालयोंमें गणित,ज्यामिति, त्रिज्यामिति, ज्यौतिष, विज्ञान, आयुर्वेद,न्याय, तर्क और दर्शनकी शिक्षा। ईसाई विद्यालयों पर भी इनका प्रभाव।

मुसलमानोंके पैगम्बर मोहम्मद साहबने जिस इस्लाम धर्मका नेतृत्व किया वह जब धीरे धीरे सुरिया (सीरिया) और यूनानसे सम्पर्क स्थापित करने लगा तो स्वाभाविक रूपसे मुसलमानोंने सीरिया और यूनानके दार्शनिकों, गणितज्ञों और वैद्योंके ग्रन्थोंका अरबी भाषामें अनुवाद करना आरम्भ किया। उन दिनों अधिकांश मुसलमान यूनानी विद्या और सभ्यतासे बहुत सशंक थे। इसीलिये यूनानसे प्रभावित मुसलमानोंको कट्टरपंथियोंने खदेड़कर उत्तरी अफ्रीका और स्पेनमें भेज दिया। ये खदेड़े हुए लोगही मूर कहलाए। इन लोगोंने नये देशोंमें पहुँच कर कौर्दोवा, ग्रानावा, तोलेदो आदि बहुतसे स्थानोंमें अपने नये विद्यालय स्थापित किए। इन विद्यालयोंमें गणित, ज्यामिति, त्रिज्यामिति, ज्यौतिष, भौतिक विज्ञान, प्राणिशास्त्र, ओषधि-विज्ञान, चीर-फाड़, न्याय, तर्क और दर्शनकी शिक्षा भी दी जाती थी। इन मुसलमानी विद्यालयोंका प्रभाव यह हुआ कि ईसाई विद्यालयोंने भी उनका अनुकरण करके अपनी शिक्षा-प्रणालीमें बड़ी उन्नति की और नये नये विषय पाठ्यक्रममें जोड़ लिए। किन्तु कट्टरपन्थी मुसलमानोंका प्रभाव बड़े वेगसे बढ़ता जा रहा था। वे यह नहीं चाहते थे कि ऐसी विद्याएँ पढ़ाई जायँ जिनका किसी भी रूपमें इस्लामसे विरोध हो इसलिये धीरे धीरे यह उन्नत मुसलमानी शिक्षा समाप्त हो गई और मुसलमान फिर जैसेके तैसे रह गए।

विद्वद्वाद (स्कौलेस्टिसिज्म)की प्रवृत्तियाँ

ईसाई धर्म-सिद्धान्तोंका पोषण और समर्थन

ग्यारहवीं शताब्दिमें मठीय विद्यालयों तथा पादरी विद्यालयोंमें जो अधिकृत अध्यापक होते थे उन्हें डौक्टर औफ़ स्कौलेस्टिक्स (विद्याचार्य) की पदवी दी जाती थी। क्रमशः इन लोगोंने दार्शनिक विचारकी एक नई प्रणाली आविष्कृत की। उनका विश्वास था कि किसी बातपर तर्क करनेसे पहले उसमें विश्वास

करनेके लिये विद्याचार्योंका प्रयत्न। विद्वद्वाद का प्रारंभ और धार्मिक सिद्धान्तोंकी सत्यताके लिये तर्कका आश्रय। पीछे अनुभव और खोजकी महत्ता।

होना चाहिए। किन्तु शनैः शनैः इसका दुष्परिणाम यह होने लगा कि सत्यके परीक्षणकी एकमात्र कसौटी तर्क ही समझी जाने लगी। इस प्रणालीका प्रारम्भ हुआ था प्राचीन अंध-विश्वासको नष्ट करनेके लिये। इन विद्याचार्योंका यही उद्देश्य रहा कि जैसे भी हो ईसाई मतके सभी सिद्धान्तोंका तर्क-द्वारा पोषण और समर्थन करें। इनके सर्वप्रथम आचार्य आंगसिन (१०३३-११०९) महोदयने यह प्रतिपादित किया कि किसी भी सिद्धान्तका पालन करने और उसकी सत्यताका निश्चित निर्णय करनेके पूर्व उसमें अखंड विश्वास होना अनिवार्य है किन्तु यदि विचार और तर्क-द्वारा वह सिद्ध न किया जा सके तो उसे छोड़ देनेमें किसी प्रकारका संकोच भी नहीं करना चाहिए। परन्तु धीरे-धीरे यह विश्वास बदलता गया और यही सिद्ध किया गया कि मनुष्यके किसी सिद्धान्तकी सारता माननेके लिये केवल तर्क ही पर्याप्त नहीं है, उसकी परीक्षा तो केवल अनुभव और खोजसे ही हो सकती है।

यद्यपि साधनाके क्षेत्रमें तर्कका स्थान अनुभव और खोजने ले लिया किन्तु शिक्षाके क्षेत्रमें पहुँचकर इस विद्वद्वादका उद्देश्य यह स्थिर किया गया कि ज्ञानकी पूर्णताके लिये तर्कशास्त्रकी शिक्षा अपरिहार्य है।

विद्वद्वादसे शिक्षामें तर्कशास्त्रका प्रवेश। नवीन-शिक्षा-प्रणाली-दार्शनिक समस्याओं पहले आमूल खंडन फिर समाधान।

साथ ही यह भी बिर्धारित किया गया कि सभी छात्रोंका ऐसा बौद्धिक नियमन भी होना चाहिए कि विद्यार्थिगण अपने युगके समस्त ज्ञानको रुचिपूर्वक ग्रहण करनेमें समर्थ हो सकें। इस नवीन पाठ्यक्रममें ईसाई धर्मके सिद्धान्त तो थे ही किन्तु साथ ही साथ उस समयकी उन समस्त विद्याओंका परिचित और संक्षिप्त रूप भी था जो अरस्तूके परिमाणात्मक तर्क (इण्डक्टिव लौजिक) के आधार-पर व्यवस्थित था। इसकी शिक्षा-प्रणाली यह थी कि छात्रोंके सम्मुख पहले कोई दार्शनिक समस्या रख दी जाती थी, फिर समस्त विरोधी तर्क और प्रमाण देकर उसका आमूल खण्डन कर दिया जाता था और अन्तमें उसका युक्तियुक्त उचित समाधान करके उस सिद्धान्तकी स्थापना कर दी जाती थी। इस प्रणालीका एक ही अच्छा फल हुआ कि ईसाई धर्मके जितने सिद्धान्त थे सब व्यवस्थित रूपसे क्रमबद्ध कर दिए गए। इस प्रणालीसे यद्यपि दर्शन तो धर्मशास्त्रसे अलग हो गया, किन्तु फिर भी शिक्षाके क्षेत्रके लिये यह प्रणाली अधिक उपादेय सिद्ध न हो पाई।

मध्ययुगीन विश्वविद्यालय

यह हम पीछे कह आए हैं कि मध्ययुगके अन्तिम भागमें स्थान-स्थानपर नये-नये विश्वविद्यालय जन्म ले रहे थे। तत्कालीन युवकोंमें उच्च शिक्षा प्राप्त करनेकी लालसा भी बड़े वेगसे जग रही थी। इस समस्त आन्दोलनमें सबसे विचित्र बात तो यह थी कि इन सभी शिक्षाकेन्द्रोंमें केवल नैतिक या धार्मिक शिक्षा ही नहीं दी जाती थी प्रत्युत भेषज्-विज्ञान, नीति तथा अन्य शास्त्रोंकी भी वहाँ शिक्षण-व्यवस्था थी। सालेर्नोमें वैद्यककी, बोलोनामें नागरिक न्यायनीतिकी और पैरी (पैरिस) में धर्मशास्त्रकी शिक्षा दी जाने लगी थी। बोलोना ही तत्कालीन विश्वविद्यालयोंका आदर्श बना। दक्षिणके विश्वविद्यालय उसके आधार पर स्थापित हुए और उत्तरके विश्वविद्यालय पैरिसके आधार पर। बोलोना विश्वविद्यालयकी विशेषता यह थी कि वहाँका समस्त प्रबन्ध स्वयं विद्यार्थी ही करते थे, वे ही अध्यापक नियुक्त करते थे, वे ही शुल्क निर्धारित करते थे, वे ही पढ़नेकी अवधि निश्चित करते थे और वे ही कार्यारम्भका समय बाँधते थे। इसका कारण यह था कि वहाँके सब विद्यार्थी युवक तथा प्रौढ़ थे। किन्तु पैरिस विश्वविद्यालयमें विद्यार्थी छोटी अवस्थाके थे और इसी कारण पेरिस विश्वविद्यालयकी व्यवस्था अध्यापकोंके हाथमें रही। इसीलिये पेरिसके आधारपर स्थापित उत्तरीय विश्वविद्यालय, मास्टर यूनिवर्सिटीज (अध्यापक-विद्यालय) कहलाए और बोलोनाके आधारपर स्थापित विश्वविद्यालय, छात्र-विश्वविद्यालय (स्टूडेंट्स यूनिवर्सिटी) कहलाये। धीरे-धीरे इन विश्वविद्यालयोंको राजाओं और पोपोंने अनेकानेक इतने अधिकार और इतनी सुविधाएँ दे दीं जिनसे उनका प्रचार वेगसे चल निकला। यूनिवर्सिटी या विश्वविद्यालय शब्द प्रारम्भमें छात्रों और अध्यापकोंके समूहका बोधक था, जहाँ प्रत्येक राष्ट्रके विद्यार्थी अलग अलग वर्गोंमें विभक्त कर दिए जाते थे और शिक्षक भी चार या पाँच फ़ैकल्टीज़ या विषय-वर्गोंमें विभक्त थे।

नये विश्वविद्यालय बोलोनामें छात्र-विश्वविद्यालय और पैरिसमें अध्यापक विश्वविद्यालय। राजाओं और पोपोंकी सहायतासे विश्वविद्यालयोंकी उन्नति।

इन विश्वविद्यालयोंके शास्त्र (आर्ट्स)-विभाग में सात उदार शास्त्र और कलाएँ (व्याकरण, भाषण, शास्त्रार्थ, गणित, ज्यामिति, संगीत और ज्योतिष) तथा अरस्तूके ग्रन्थोंका कुछ भाग पढ़ाया जाता था। नागरिक–शास्त्र और न्याय-विधानमें युस्तीनियन (जस्टीनियन) का दण्डविधान और ग्रातियन (ग्रेटियन) की डिक्री या आदेशकी शिक्षा दी जाती थी।

इन विश्वविद्यालयोंमें व्याकरण, भाषण, शास्त्रार्थ, गणित,

ज्यामिति, संगीत, ज्योतिष, अरस्तूके ग्रन्थ, न्याय तथा दंडविधान, भेषज् विज्ञान तथा धर्मशास्त्र की व्याख्या-प्रणालीसे शिक्षा ।

भेषज-विज्ञानमें यूनानी तथा अन्यान्य वैद्योंके निबंध पढ़ाए जाते थे । धर्मशास्त्रमें पेतर दे लोम्बार्द (पीटर दि लम्बाड) का सैंतेंशिया या धर्मोपदेश पढ़ाया जाता था । पाठन-प्रणाली यह थी कि अध्यापकगण पुस्तक पढ़ाते चलते थे और व्याख्यानों-द्वारा संबद्ध विषयोंकी व्याख्या करते चलते थे । इसीके साथ ही साथ शास्त्रार्थ करनेकी व्यावहारिक शिक्षा भी उन्हें दी जाती थी कि किस सिद्धान्तका किस प्रकार तर्कसंगत प्रतिपादन किया जाय । यद्यपि इन विश्वविद्यालयोंमें पाठ्यक्रम और पाठ्य-प्रणाली अत्यन्त परिमित और संकुचित थी किन्तु इन मध्ययुगीन विश्वविद्यालयोंमें विचार और कार्यकी स्वतंत्रताके भावोंको अत्यन्त उत्तेजना भी प्रदान की गई ।

पोपों या राजाओंने इन विश्वविद्यालयोंको जो अधिकार और सुविधाएँ प्रदान कीं उनमें एक यह भी थी कि अध्यापकोंको बिना आगेकी परीक्षा दिए हुए ही कहींपर भी व्याख्यान देनेका अधिकार था और यह भी अधिकार था कि जब विश्वविद्यालके अधिकारमें किसी प्रकारकी बाधा पड़े तो हड़ताल भी कर दें । यदि बाधा पड़नेपर उसका उचित परिहार हुआ तो ठीक, नहीं तो व्याख्यान बन्द कर दिए जाते थे और विश्वविद्यालय भी एक नगरसे उठाकर दूसरे नगरमें ले जाए जाते थे । इसमें कोई कठिनाई भी नहीं थी क्योंकि उस समय विश्वविद्यालयोंके पास न तो भवन थे, न पुस्तकालय, न भव्य प्रयोगशालाएँ । इस अधिकारका कुफल यह हुआ कि विश्वविद्यालय स्वतंत्र ही नहीं, उच्छृङ्खल भी हो गए । छात्रोंमें नित्य परस्पर अनेक प्रकारके झगड़े होने लगे और परिणामस्वरूप एक ऐसा छात्र-दल उत्पन्न हो गया जो एक विश्वविद्यालयसे दूसरे विश्वविद्यालयमें निरन्तर स्थान-परिवर्तन करता रहता था । ये छात्र भ्रमणशील कहलाने लगे । इन विश्वविद्यालयोंमें पाठ्यक्रम समाप्त होनेपर प्रत्येक छात्रकी इस बातमें परीक्षा ली जाती थी कि वह किसी विषयमें शास्त्रार्थ करने या व्याख्या करनेके योग्य हो सका है या नहीं । यदि वह इसमें सफल हुआ तो उसे आचार्य (मास्टर), महाचार्य (डाक्टर) या प्राध्यापक (प्रोफ़ेसर) की उपाधि दे दी जाती थी और उसे कहीं भी जाकर पढ़ानेका अधिकार मिल जाता था । प्रारम्भमें तो ये सभी पद प्रायः समान समझे जाते थे और इनका

पोपों और राजाओं द्वारा अध्यापकों को बिना परीक्षाके व्याख्यानका अधिकार । एक नगरमें विश्वविद्यालयका परिवर्तन । छात्रोंमें झगड़े । भ्रमणशील छात्रोंका दल। शास्त्रार्थ और व्याख्यानमें कुशल छात्रोंको मास्टर डाक्टर और प्रोफेसरकी उपाधियाँ ।

केवल यही अर्थ समझा जाता था कि इन उपाधियोंवाला व्यक्ति कहींपर भी शिक्षकका कार्य कर सकता है । इन उपाधियोंके अतिरिक्त एक और भी उपाधि थी 'बेकेलौरिएट' जो वास्तवमें उपाधि तो नहीं थी वरन् शिक्षक होनेके लिये एक प्रकारकी अनुज्ञा मात्र थी, किन्तु तेरहवीं शताब्दीमें यह भी एक प्रकारकी सम्मानित उपाधि समझी जाने लगी ।

वर्तमान विश्वविद्यालयोंकी दृष्टिसे इन मध्ययुगीन विश्वविद्यालयोंकी शिक्षा अत्यन्त परिमित, संकुचित, बँधी हुई और अल्प थी । इनमें यद्यपि प्राचीन युगके साहित्यका अत्यन्त अभाव रहा किन्तु इनके द्वारा स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र विचारका पूर्ण रूपसे विकास हुआ जिससे सभ्यता और संस्कृतिको आगे बढ़नेमें बड़ी सहायता मिली । इन मध्ययुगीन विश्वविद्यालयोंकी अत्यल्प शिक्षाके तीन प्रधान कारण उस समय उपस्थित हो गए थे—एक तो पुस्तकोंका अभाव, दूसरे पाठ्यक्रमकी अव्यवस्था और तीसरे विज्ञानके प्राध्यापकोंका अभाव । उन दिनों छापाघर न होनेसे उतनी मात्रामें पुस्तकें प्राप्त नहीं थीं जितनी किसी भी विश्वविद्यालयके छात्रोंके लिये आवश्यक होती हैं । हाथसे लिखी जानेवाली पोथियाँ एक तो कम थीं और दूसरे उनकी व्याख्या करनेके लिये और उन्हें ठीक-ठीक समझानेके लिये जिस प्रकारके प्राध्यापक होने चाहिएँ थे उनका सर्वथा अभाव था । केवल शास्त्रार्थ और व्याख्या करनेकी कला सीखे हुए तथा विश्वविद्यालयोंसे नये नये निकले हुए युवक केवल अपनी उपाधियोंकी धौंससे स्थान स्थानपर पहुँच कर आचार्य बन गए थे । 'पाधाके पढ़ाए पधोकड़े और पधोकड़ेके पढ़ाए आलमाल' वाली स्थिति इनकी हो गई थी । पाठ्यविषयोंका भी न तो ठीकसे संयोग हो पाया था न यही निश्चय हो पाया था कि किस विषयके अन्तर्गत कितने उपविषय और कितनी सामग्री रहेगी । इस अव्यवस्थाका यह सुपरिणाम हुआ कि सभी आचार्योंने अपने अपने प्रिय विषयोंपर अपने अपने ढंगसे विचार और चिन्तन करके अपने ही मन से प्रत्येक विषयकी परिधिका विस्तार किया और इस प्रकार स्वतन्त्र चिन्तनकी एक स्वस्थ परिपाटी निकल चली ।

मध्ययुगीन विश्वविद्यालयोंमें संकुचित तथा अत्यल्प शिक्षा, प्राचीन युगके साहित्यका अभाव किन्तु स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र विचारका विकास ।

वीरताकी शिक्षा

उपर्युक्त शिक्षा-पद्धतियोंके अतिरिक्त इस युगमें एक और प्रकारकी शिक्षा भी एक विशेष वर्गको दी जाने लगी थी और वह थी एक प्रकारकी अर्द्धसैनिक

शिक्षा जो केवल मध्ययुगीन साहसी सरदारों (नाइटों) के लिये ही सुरक्षित थी। इसे वे लोग वीरता (शिलवेरी) की शिक्षा कहते थे। शिवेलरी या वीरता, उच्च समाजके शिष्टाचारकी उस पूरी नीतिमालाको कहते हैं जो मध्ययुगीन सामन्त-प्रणालीमें प्रचलित थी। ये सामन्त छोटे-छोटे भूमिपति या सामन्त थे जो अपनी रक्षाके लिये किसी शक्तिशाली पड़ोसी सामन्तपर निर्भर रहते थे और जो शनैः-शनैः अपने सामाजिक रहन-सहनके विशिष्ट पदके कारण, किसानोंसे अलग एक नया वर्ग बनाकर खड़े हो गए थे। इनका काम यही था कि आपसमें भाला, तलवार या फरसा लेकर लड़ें और समय पड़नेपर अपने रक्षक सामन्तोंकी ओरसे युद्धमें भाग लें। इस शिक्षाके अभ्यासके लिये ये लोग आपसमें बनावटी युद्ध भी करते थे जो कहनेको तो बनावटी होते थे पर परिणाममें पूर्ण वास्तविक और भयंकर, क्योंकि इन दिखावटी युद्धोंमें भी मार-काट वैसी ही होती थी जैसी सच्चे युद्धोंमें।

सामन्तोंके लिये वीरता-की शिक्षा।

बारहवीं शताब्दिके मध्यमें जब वीरता-युगके समाप्त होनेपर शिष्टाचारका युग प्रारम्भ हुआ उस समय इन सामन्तोंका काम यही रह गया कि महिलाओं-के प्रति अतिशय भक्ति दिखावें और कोई साहसिक कार्य करके अति ख्याति प्राप्त करें। ऐसे साहसिक कार्य प्रायः व्यवस्थित प्रतियोगिताओं (टूर्नामेंट)-में ही प्रदर्शित किए जाते थे और जैसे आजकल खेलकी प्रतियोगिताओंके नियम बने रहते हैं वैसे ही उस समय भी इस वीरता-प्रदर्शनकी प्रतियोगिता-के भी नियम बाँध दिए गए थे। इन सामन्तोंके निश्चित आदर्श ये थे कि ईश्वरकी भक्ति और उपासना करें, अपने स्वामीकी आज्ञा मानें तथा अपनी-अपनी चुनी हुई महिलाको प्रसन्न करनेके लिये और उसकी आज्ञा पालन करनेके लिये जो कुछ भी किया जा सके वह सब करें। इसीलिये इस वीरताकी शिक्षाके तीन प्रधान लक्ष्य हुए धर्म, स्वामिभक्ति और प्रेम।

वीरताकी शिक्षाके आदर्श—ईश्वरकी भक्ति, स्वामीकी आज्ञाका पालन, अपनी प्रेयसीको प्रसन्न करना और तीन लक्ष्य—धर्म, स्वामि-भक्ति, प्रेम।

इस शिक्षाकी तीन अवस्थाएँ थीं। आठ वर्षकी अवस्थातक बच्चेको माता-द्वारा धर्म, विनय और शारीरिक स्वास्थ्यकी शिक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात् वह किसी सामन्तके पास जाकर उसका सेवक हो जाता था। वहाँ वह अपने स्वामी और स्वामिनीकी व्यक्तिगत सेवाएँ करता हुआ उन्हींसे शतरंज खेलना, प्रेम और आदरका शिष्टाचार, तंत्री और वंशी बजाना,

शिक्षाकी तीन अव-स्थाएँ—८ वर्षतक माता-द्वारा धर्म, विनय और

स्वास्थ्यकी शिक्षा। फिर किसी सामन्तका सेवक होकर अपने स्वामी और स्वामिनीसे शतरंज, शिष्टाचार, गीत, वाद्य, लिखना - पढ़ना और कविता सीखना और बाहर–दौड़ना, कुश्ती लड़ना, घुड़सवारी और भाला चलाना सीखना। चौदह वर्षमें स्क्वायर या उपसामन्त बनकर किसी सामन्तके साथ युद्धकी शिक्षा लेना। २१ वर्षमें पूरा सामन्त। सामन्त - शिक्षामें प्रेम, युद्ध और धर्म।

गाना, लिखना, पढ़ना और कविता करना सीखता था। प्रासादके भीतरकी इस शिक्षासे बाहर उसे दौड़ने, कुश्ती लड़ने, मुक्की लड़ने, घुड़सवारी करने और भाला फेंककर मारनेकी शिक्षा लेनी पड़ती थी। चौदह-पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें वह स्क्वायर या उप-सामन्त बन जाता था और यद्यपि वह अब भी अपने स्वामी और स्वामिनीके लिये मांस पकाता और अतिथि-सेवा करता था किन्तु विशेष रूपसे अब उसे किसी नाइट या सामन्तके साथ रहकर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। वह रातको उसीके पास सोता, घोड़ोंको मलता, अस्त्र-शस्त्रोंकी मँजाई करता और प्रतियोगिताओं और युद्धोंमें उसके साथ रहता। इस प्रकार उसे नियमित रूपसे युद्धकौशलकी शिक्षा मिल जाती थी। इस शिक्षाके समाप्त होनेतक वह अपनी कोई प्रेमिका भी चुन लेता था और नृत्य तथा कविता करनेमें पूर्ण पण्डित हो चुकता था। इक्कीस वर्षकी अवस्थामें बड़ी धूमधामसे और बड़े सांस्कारिक कृत्योंके साथ उसे सामन्त वर्गमें दीक्षित कर लिया जाता था। दीक्षित होनेसे पहले दिन उसे व्रत रहकर पूर्ण शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर रातभर गिरजाघरमें जाकर अत्यन्त सावधानीके साथ पवित्र ध्यान करना पड़ता था। अगले दिन प्रातःकाल धर्मगुरुके पास जाकर वह अपने सब पुराने दोष स्वीकार करता था, गिरजाघरकी वेदीपर पुरोहितसे अपनी तलवारपर आशीर्वाद लेता था और यह प्रतिज्ञा करता था कि मैं आजसे गिरजाघर तथा स्त्रियोंकी रक्षा करूँगा और दीन-हीनोंकी सेवा करूँगा। इसके पश्चात् वह अपने स्वामीके आगे पहुँचकर घुटने टेक देता था। स्वामी अपनी तलवार उसके सिरपर रखकर उसे सामन्त-वर्गमें दीक्षित कर लेता था।

यह थी सामन्त-शिक्षा जिसमें प्रेम, युद्ध और धर्मकी शिक्षा दी जाती थी। इसमें जहाँ एक ओर साहस था वहीं दूसरी ओर निर्दयता भी थी, एक ओर आत्म-सम्मान था तो दूसरी ओर अभिमान भी था, एक ओर उदारता थी तो दूसरी ओर विलासिता भी थी। यद्यपि व्यापक रूपसे सभी महिलाओंके प्रति आदर प्रदर्शित करना इनका कर्तव्य था किन्तु वह आदर भी विशेष वर्गकी महिलाओंके प्रति ही दिखाया जाता था। फिर भी इस शिक्षासे दो बड़े लाभ

यह हुए कि एक तो स्त्रियोंका पद और मान अधिक बढ़ गया और अभी तक पादरी-पाठशालाओंमें पारलौकिक शिक्षाका जो एकांगी आदर्श था उसमें इह-लौकिक शिक्षाका भी समावेश होने लगा। किन्तु यह सब होनेपर भी सामन्त-शिक्षा-पद्धति वर्गवादी शिक्षा थी जिसका मूल उद्देश्य एक विशेष वर्गको एक विशेष प्रकारके जीवनके लिये एक विशेष प्रकारकी शिक्षा देना था। यद्यपि यह सत्य है कि उन दिनों योरोपका धार्मिक जीवन अत्यन्त संघर्षमय हो गया था और उसकी रक्षाके साथ जनताकी रक्षाका प्रश्न भी विकट रूपसे उपस्थित हो गया था जिसके लिये ऐसी शिक्षा अनिवार्य हो चुकी थी किन्तु शिक्षा-शास्त्र-की दृष्टिसे यह शिक्षा-भावना अत्यन्त संकुचित, स्वार्थपूर्ण और मूलतः विलास-पूर्ण थी। किसी भी देशमें व्यापक रूपसे ऐसी शिक्षाका प्रचार करने अथवा उसका समर्थन करनेका अर्थ यही होगा कि समाजके मध्यम वर्ग और निम्न वर्गको और भी अधिक दबाने तथा पीसनेके लिये एक विशेष वर्गकी व्यवस्था की जाय। अतः जहाँतक इस पद्धतिकी शिक्षा-भावनाका प्रश्न है, वह नितांत हेय थी, किन्तु जहाँतक शिक्षण-प्रणालीका प्रश्न है, यह प्रणाली शिक्षाकी सब प्रणालियोंमें सर्वश्रेष्ठ थी, क्योंकि जैसे प्राचीन भारतमें छात्र अपने गुरुके पास रहकर सेवा करके प्रत्येक प्राप्य विद्यामें पारंगत हो जाते थे वैसे ही इस प्रणालीमें भी बड़े सामन्तोंके साथ रहकर लोग व्यवहार-कुशल और नीति-सिद्ध हो जाते थे। इस दृष्टिसे शिक्षाके क्षेत्रमें इस प्रणालीका बड़ा महत्त्व है।

व्यावसायिक संघोंके विद्यालय

मध्ययुगके अन्तिम भागमें जब यूरोपमें व्यावसायिक उन्नति होने लगी तो गाँवके किसान और निम्न वर्गके लोग भाग-भागकर अपने सामन्तोंको छोड़-छोड़कर नगर तथा उपनगरोंमें आ बसने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि इन लोगोंने अपने-अपने संघटन करके प्रत्येक नगरमें अपने-अपने व्यावसायिक वर्ग बना लिए। इस प्रकार सब नगरोंमें एक नया 'बर्घर वर्ग' या 'परदेशी-नागरिक-संघ' बन गया जो विद्यामें पादरियोंके समान और रहन-सहनमें सामन्तों-के समान हो चला। इन वर्गोंका प्रभाव धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि राज-शासनमें भी इनकी सम्मति ली जाने लगी। इन औद्योगिक वर्गोंने अपने-अपने व्यवसायके लिये शिक्षार्थी-प्रणालीके अनुसार विद्यालय खोल दिए। शिक्षार्थी-प्रणाली यह थी कि कोई भी शिक्षार्थी पहले अपने शिक्षक-स्वामीके घर जाकर

व्यावसायिक संघोंके शिक्षार्थी (एप्रेंटिस)-प्रणालीके विद्यालय, शिक्षार्थी अपने शिक्षक-स्वामीके घर व्यवसाय सीखता, सीख चुकनेपर पारिश्रमिक लेते हुए अपने स्वामीकी ओरसे फेरीपर बेचता, परीक्षा-में उत्तीर्ण होनेपर स्वतन्त्र व्यवसाय करने-

की छूट। कोई भी एक से अधिक शिक्षार्थी अपने पास नहीं रख सकता था।

उसका व्यवसाय सीखता था। इस शिक्षाकी अवधि भी विभिन्न व्यवसायोंके अनुसार भिन्न-भिन्न थी जैसे रसोइएका काम सीखनेके लिये दो वर्ष, कपड़े-पर बेल-बूटे बनानेवालोंके लिये आठ वर्ष और सुनारके कामके लिये दस वर्ष। शिक्षार्थी-अवस्थामें किसीको कोई वेतन नहीं दिया जाता था किन्तु शिक्षार्थीको यह अधिकार अवश्य था कि यदि उसका शिक्षक स्वामी उसके साथ दुर्व्यवहार करे या ठीकसे शिक्षा न दे तो वह उद्योग-संघके आगे अपने शिक्षकके विरुद्ध अभियोग ला सकता था किन्तु प्रायः दुर्व्यवहार होनेपर भी शिक्षार्थी अपने शिक्षकके विरुद्ध कभी अभियोग लाते नहीं थे। इस शिक्षार्थी-अवस्थाके पश्चात् वह फेरीवाला बन-कर अपने स्वामीके लिये काम करता हुआ पारिश्रमिक भी ले सकता था किन्तु उसे स्वतन्त्र रूपसे व्यवसाय करनेका अधिकार नहीं था। इस अवधिके पश्चात् उद्योग-संघकी ओरसे उसकी परीक्षा ली जाती थी जिसमें उसे अपने कौशलके सर्वोत्तम प्रतीक-स्वरूप कोई वस्तु बनाकर उपस्थित करनी पड़ती थी। उसके स्वीकृत हो जानेपर वह स्वतन्त्र व्यवसाय करनेका अधिकारी मान लिया जाता था। फेरीवालोंकी संख्या अधिक न बढ़ने देनेके लिये यह भी नियम बना दिया गया कि कोई भी व्यवसायी अपने साथ एकसे अधिक शिक्षार्थी नहीं रख सकता था।

पुरोहितोंके विद्यालय

नये विद्यालयोंमें व्यवसायियोंके बालकोंके साथ बाहरके बालक भी लिए जाने लगे। व्यवसायके साथ लिखने और गिनने की शिक्षा भी।

क्रमशः इन उद्योग-संघोंके पुरोहितोंने एक नये प्रकारके विद्यालय प्रारंभ कर दिए जिनमें इन व्यवसायियोंके बच्चे तो थे ही पर बाहरके बच्चे भी लिए जाने लगे थे। आगे चलकर ये उद्योग-संघोंके विद्यालय भी बर्घर-विद्यालयों (परदेशी-नागरिक-संघोंके विद्यालयों) के साथ मिल गए और उनमें कुछ व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाने लगी, विशेष रूपसे लिखने और गिनने की।

जाप-विद्यालय

एक और प्रकारकी संस्थाएँ भी इस युगमें जन्म ले रही थीं जिन्हें चैण्ट्री स्कूल (जाप-विद्यालय) कहते हैं। बहुतसे धनिकोंने ऐसे पुरोहितोंके पालन-पोषणके लिये कुछ जागीरें दे दी थीं जो उनके पितरोंके आत्माकी तृप्तिके लिये जाप किया करते थे। ये पुरोहित दिन-रात तो जप करते नहीं थे, इसलिये शेष समयमें ये लोग अन्य विषय पढ़ा लेते थे। प्रारम्भमें तो इन विद्यालयोंमें कोई

शुल्क नहीं लिया जाता था किन्तु पीछे ग्राम-पादरियों तथा दीनोंके बच्चोंके अतिरिक्त अन्य सबसे शुल्क लिया जाने लगा। ये विद्यालय भी पीछे जाकर बर्घर विद्यालयोंमें सम्मिलित हो गए जिनमें पढ़ानेवाले तो पादरी ही थे किन्तु उनका प्रबन्ध नागरिकोंके ही हाथोंमें था और जिनमें व्यवसायी-वर्गके अनुकूल व्यावहारिक शिक्षा भी दी जाती थी। पादरियोंने इस प्रकारके विद्यालयोंका यद्यपि घोर विरोध किया किन्तु ये इतने लोकप्रिय हुए कि इनकी संख्या बढ़ती ही चली गई। इन्हीं विद्यालयोंसे आगे चलकर व्यावहारिक तथा लौकिक शिक्षा देनेवाले विद्यालयोंका प्रादुर्भाव हुआ।

मध्ययुगकी शिक्षा-प्रवृत्तिका विश्लेषण

ईसाई धर्मके प्रचारकों और पादरियोंने केवल ईसाके धार्मिक सिद्धान्तोंको ही जनसाधारणमें प्रचारित नहीं किया वरन् उन्होंने नैतिकताको ही जीवनका प्रधान लक्ष्य बनाया, इहलौकिक शिक्षाका घोर विरोध किया और संकुचित सीमामें परिबद्ध देशके प्रति अन्ध-भक्तिकी भावनाको व्यापक करके सार्वभौम बन्धुत्वकी भावनाको प्रोत्साहित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस धार्मिक और नैतिक शिक्षाके चक्करमें बौद्धिक शिक्षा शिथिल पड़ गई, यूनान और रोमकी जो शिक्षा-पद्धति सैकड़ों वर्षोंसे एक विशेष रूढ़िमें बढ़ती हुई अपना स्पष्ट रूप धारण कर चुकी थी वह खटाईमें पड़ गई। शिक्षाका आदर्श भी नैतिक विकास बन गया इसलिये एक विशेष प्रकारके नैतिक व्यक्तिवादका प्रचलन हुआ जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने 'स्व' को सांसारिक'स्व'से अलग करके पारलौकिक या आध्यात्मिक 'स्व' की ओर प्रवृत्त करने लगा और इसीलिये समाजकी जो संघ-भावना इतनी सदियोंमें समुन्नत हुई थी उसकी भी कड़ियाँ टूटने लगीं, उस भौतिक समाजसे हटकर एक नये प्रकारका धार्मिक समाज संघटित होने लगा जिसका केन्द्र बना गिरजाघर।

एक ओर तत्कालीन इहलौकिक शिक्षा देनेवाले विद्यालयोंका नियमित विरोध हो रहा था, दूसरी ओर गिरजाघरोंकी ओरसे कोई ऐसी योजना नहीं बन पाई थी कि छोटे बालकोंकी शिक्षाके लिये धार्मिक या नैतिक पाठ पढ़ानेके लिये नये विद्यालय खोले जायँ, इसलिये ईसाकी शिक्षाके अनुसार माता-पिता ही बालककी शिक्षा-दीक्षाके प्राथमिक आचार्य बने किन्तु उनमेंसे सभीकी न तो अध्यापककी मनोवृत्ति थी, न अध्यापनका अनुभव था और न अध्यापनका अवकाश। इसलिये बच्चोंकी पढ़ाई तेरह-बाईस ही होती रही। उधर देववादियोंके विद्यालय (पैगन स्कूल) अपनी पुरानी पद्धतिसे पढ़ाते हुए अनेक देवताओंमें श्रद्धा जगा रहे थे। यह बात ईसाई पादरियोंको फूटी आँखों न सुहाई। इसलिये जिसे देखो वही अध्यापक बन गया। धर्मप्रचारक (ऐपोसिल्स), दूदेवत

(प्रोफेट्स) और धर्माधिकारी (बिशप्स) सभीने अपने अपने ढंगसे अपने अपने पाठ्यक्रमके अनुसार जो मनमें आया पढ़ाना आरम्भ किया । क्राइसोस्तम (३४७–४०७) हीं इन लोगोंमें पहला व्यक्ति था जिसने भारतीय स्वरमें स्वर मिलाते हुए यह कहा था—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ॥

[वह माता शत्रु है और पिता वैरी है जिसने अपने बच्चेको पढ़ाया-लिखाया नहीं]।

क्राइसोस्तमने यद्यपि कोई पाठ्यक्रम निर्धारित नहीं किया है और न कोई शिक्षा-प्रणाली ही नई सुझाई है किन्तु उसने एक काम यह अवश्य किया कि आज श्रीमती मौन्तेस्सौरी जिस अवयव-सिद्धि (सेन्स ट्रेनिंग) की बात कह रही हैं उसके संबंध में उसने चौथी शताब्दीमें विस्तारके साथ समझा दिया था कि शिक्षाके लिये देखने, सुनने, सूँघने और स्पर्श करनेकी शक्तियोंके विकासका क्या उपयोग है । यहाँ तक कि कामशास्त्रकी शिक्षापर भी उसने जो कुछ लिख दिया वह आज भी प्रामाणिक माना जाता है। पर इतना होते हुए भी उस समय की शिक्षा बहुत कुछ असंयत और असंबद्धही होती रही । किन्तु ईसाई पादरी थोड़े ही दिनोंमें सँभल गए। उन्होंने देखा कि लोगोंके हृदयमें बहुदेववाद इतनी जड़ताके साथ प्रविष्ट हो गया है कि वह कोरे उपदेशोंसे नहीं डिग सकता सकता, इसलिये उन्होंने 'समझ सकने' का संस्कार डालनेके लिये दूसरीसे पाँचवीं शताब्दिके बीच एक प्रकारके कैटेक्यूमिनल स्कूल खोले जिनमें केवल धार्मिक और नैतिक सिद्धान्त ही सिखाए जाते थे । ईसाई बनानेके प्रयोगमें तो ये विद्यालय बड़े सफल रहे किन्तु बौद्धिक अथवा व्यावहारिक शिक्षा इन विद्यालयोंसे कुछ नहीं हो पाई । इसीलिये नवीं शताब्दीमें जब देखा गया कि लोग ईसाई धर्मके संबंधमें बहुत कुछ जानने लगे हैं तब ये विद्यालय बन्द कर दिए गए। यद्यपि प्रारंभमें ईसाइयोंने यूनानी शिक्षाका घोर विरोध किया किन्तु फिर उन्होंने देखा कि कोरी बाइबिल-शिक्षासे न तो रोटी ही चलती है न लोगोंको सन्तोष ही होता है। इसलिये उन्होंने एक मध्यम मार्ग निकाला, यूनानी शिक्षाके मूलतत्त्व लेकर उनका भी सन्निवेश अपनी शिक्षा-पद्धतिमें कर लिया । यों हल्ला मचानेवाले तो बहुत थे किन्तु जस्तिन मार्तर और थिओदतस् (दूसरी शताब्दी) ने इस सम्बन्धमें अत्यन्त व्यावहारिक परिश्रम किया । थिओदतस्ने अरस्तूकी तर्क-प्रणालीका आश्रय लेकर ईसाइयोंके धार्मिक दर्शनका अत्यन्त मार्मिक विवेचन किया । उन्हीं दिनों अलेग्ज़ान्द्रियामें सब धर्मोंके आचार्य बड़ी कठोरताके साथ परस्पर धार्मिक शास्त्रार्थ किया करते थे

अतः ईसाई धर्मकी ओरसे शास्त्रार्थ करनेकी शिक्षा देनेके लिये 'कैटेचैटिकल स्कूल' स्थापित किए गए जिनके कारण क्लीमेंट और ओरिजेन जैसे विचक्षण शास्त्रार्थ-पंडितोंने बड़ी ख्याति पाई। ये विद्यालय धर्माचार्योंके घर पर ही लगते थे जिनमें स्त्री और पुरुष दोनों ही धर्मदर्शनके साथ-साथ तर्क, भौतिक शास्त्र, ज्यामिति, और ज्योतिष भी सीखते थे क्योंकि इन शास्त्रोंके बिना धर्म-दर्शनकी शिक्षा पूर्ण नहीं हो पाती थी। इन विद्यालयोंमें एपिक्यूरिअस्‌के 'खाओ–पीओ–मौज करो' वाले मस्तीवादको छोड़कर शेष सभी यूनानी आचार्योंके मतोंकी विवेचना हुआ करती थी क्योंकि मस्तीवाद इतना प्रत्यक्ष, सरल और प्रलुब्धक मत था कि उसकी ओर शिष्य सरलतासे प्रवृत्त हो सकते थे। अधिक शास्त्रीय तथा दार्शनिक होनेके कारण यहाँकी शिक्षा नीरस हो चली और ये विद्यालय बन्द भी हो गए फिर भी प्रचारकोंकी एक परम्परा बँध गई जो कई शताब्दियों तक निरन्तर बनी रही।

एपिस्कोपल और कैथेड्रल स्कूलके नामसे गिरजाघरोंमें पादरियोंने जो पाठशालाएँ खोलीं उनमें वे छोटे बच्चोंको पादरी बनानेकी शिक्षा देने लगे। यह क्रम ही अत्यन्त अस्वाभाविक था। कहाँ छोटे बच्चोंकी कोमल चंचल मति और कहाँ धर्म-दर्शनकी कठोर और नीरस शिक्षा। अतः धर्मशिक्षाकी कठोरता और नीरसता दूर करनेके लिये उसमें संगीत ला जोड़ा गया पर संगीतकी यह योजना महान् ग्रेगरीको न जँची और उसकी आज्ञासे सन् ५९५ ईस्वी में संगीत निकाल दिया गया अतः जो कुछ बचा-खुचा अभिरोचक तत्त्व था वह भी जाता रहा। इन महापुरुषोंने यह नहीं समझा कि भक्तिका सबसे प्रधान साधन संगीत ही है। नारदजीसे स्वयं भगवान्‌ने कहा था—

> नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै।
> मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

[हे नारद! न मैं वैकुण्ठमें रहता हूँ, न योगियोंके हृदयमें रहता हूँ, मैं तो वहाँ रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त तन्मय होकर गाते रहते हैं।] संगीतकी तन्मयताका तत्त्व संयुक्त न होनेके कारण ही ईसाई शिक्षा-पद्धति वह लोक-समर्थन न प्राप्त कर सकी जो भारतमें भक्तिकालके संत-मतोंने प्राप्त की। यह बड़े दुःखकी बात है कि आज भी बहुतसे शिक्षा-शास्त्री संगीतकी शिक्षा-महत्ता नहीं समझ रहे हैं और उसे केवल कला मात्र समझकर आधे मनसे उसे पाठ्यक्रमसे रक्खे हुए हैं!

इस संपूर्ण शिक्षा-योजनाकी सबसे अधिक विचित्र बात रही स्त्रियोंकी उपेक्षा। उन्हें न अपना विचार व्यक्त करनेकी छूट थी न इधर उधर अपनी इच्छाके अनुसार आने जानेकी। मनुके 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' [स्त्रीको

कभी स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिए।] सिद्धान्तका कठोरतासे पालन हो रहा था क्योंकि उनका भी गोस्वामी तुलसीदासके समान यह विशुद्ध मत था—'जिमि स्वतन्त्र होई बिगरहिं नारी।' परिणाम यह हुआ कि स्त्री केवल परिवारकी दासी या अधिकसे अधिक कहिए तो संरक्षिका बनी रह गई। वह धर्म-ग्रन्थ पढ़ सकती थी और धार्मिक भजन कंठाग्र करके अपनी शिक्षा पूर्ण समझनेकी आत्मतुष्टि कर सकती थी। नवयुवकोंसे मिलने-जुलनेपर तथा संगीत-गोष्ठियों और नाटकोंमें जानेको तो रोकटोक उन्हें थी ही पर उन्हें नित्य स्नान करनेकी भी आज्ञा नहीं थी। यह अनुपम बन्धन क्यों लगाया गया इसका कारण कुछ समझमें नहीं आता किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि उस युगमें न तो स्त्रियोंका आदर था, न उनका कोई सामाजिक महत्त्व था इसलिये उस युगमें समाजकी उदार समुन्नति नहीं हो पाई और जीवनका मधुर पक्ष अनुन्नत रहनेके कारण ईसाई धर्म लड़ाईका अखाड़ा बन रहा।

मठीय शिक्षा (मनास्टिक एजुकेशन)का प्रारंभ अत्यन्त विषम तथा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें हुआ और इसीलिये वह शिक्षा एकांगी ही रह गई। ६४ ई० से ३११ ई० तक ईसाईयोंके लिये कष्ट काल था। जो भी ईसाई धर्म अंगीकार करनेकी प्रवृत्ति प्रदर्शित करता था वही राजकोप और जनकोपका भाजन बन जाता था। प्रत्येक नया ईसाई कष्टका पर्वत सिरपर लेकर ईसाका धर्म स्वीकार करता था क्योंकि वह राजधर्म था नहीं, इसलिये जितनी प्रकारकी सामाजिक और आर्थिक यातनाएँ दी जा सकती थी सबके ये आखेट बन जाते थे। अतः केवल ऐसे ही लोग ईसाई बने जिनमें धैर्य, साहस और सहिष्णुता होती थी और जिनके जीवनका लक्ष्य ही बन गया था अपने धर्मपर बलिदान होना। धर्मके लिये कष्ट सहन करनेकी भावनाके उदाहरण पुथगोरस (पाइथागोरस) के शिष्य और यहूदी एसीन्स पहले ही उपस्थित कर चुके थे। तीसरी शताब्दिके मध्यतक ऐसे अगणित ईसाई स्त्री-पुरुष खड़े हो गए जो अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति लुटाकर आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत लेकर आत्म-संयमका अभ्यास करने लगे थे। डेसियनकी क्रूरताने न जाने कितने ईसाई सन्तोंको सहाराकी मरुभूमिमें वैराग्यपूर्ण जीवन व्यतीत करनेको विवश किया। पौल दि हरमिट तथा सन्त एन्थोनीके धार्मिक उपदेशोंने न जाने कितने लोगोंको सन्त बना दिया। ऐसे साधुओंकी अलग अलग टोलियाँ बनने लगीं और उनके साथ साथ उनके अलग अलग मठ भी बनने लगे जहाँ वे लोग शारीरिक सुख छोड़कर तपस्याका जीवन व्यतीत करने लगे। इन लोगोंके त्यागमय, कष्टमय, तपस्यामय, वैराग्यमय तथा सहिष्णुतामय जीवनका व्यापक प्रभाव तत्कालीन जन-समाजपर अत्यधिक पड़ा और फल यह हुआ कि समाजमें परोपकार, उदारता तथा

लोकमंगलकी भावना इतनी प्रबल हो उठी कि साधारणतः सर्वसामान्य लोगोंके हृदयमें ईश्वरका और पापका भय समा गया।

सन्त बेनेदिक्त और मठीय शिक्षा

मठीय शिक्षाको पूर्णतः संघटित करनेका श्रेय था सन्त बेनेदिक्तको, जिसका जन्म हुआ सन् ४८० ई०में। जिस समय वह रोममें शिक्षा पा रहा था उसी समय तत्कालीन समाजकी अनेक बुराइयों और दुरवस्थाओंसे वह इतना क्षुब्ध होगया कि उसे समाजसे घृणा होगई और उसने निश्चय कर लिया कि ऐसे सड़े समाजमें रहकर नारकीय जीवन बितानेकी अपेक्षा तो यही अच्छा है कि एकान्तमें जाकर भगवानका भजन करें, जहाँतक हो संसारका कल्याण करें और सब झगड़े-टंटेसे दूर रहकर शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करें। उसके पवित्र जीवनका और लोगोंपर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। सैकड़ों लोग उसके चेले बनकर उसके पास आश्रमसे आकर रहने लगे और धार्मिक जीवन बिताने लगे। सन् ५२० ई० में उसने इतालियामें नेपल्सके पास माउंट कैसिनोपर अपना मठ बनाया जिसका पिछले द्वितीय महायुद्धके समय तक (१९३९ से १९४६) पश्चिमी योरोपमें अत्यन्त आदर और सम्मान था और जिसे पिछले युद्धमें अंगरेजोंने गोले बरसाकर नष्ट कर डाला। सन्त बेनेदिक्तका मत था कि मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति एकान्त जीवन व्यतीत करनेसे ही हो सकती है, समाजके दोषपूर्ण वातावरणमें रहनेसे नहीं, क्योंकि समाजमें रहते हुए स्वतन्त्र विचारका न तो अवकाश मिलता है न उसका प्रयोग ही किया जा सकता है। सन्त बेनेदिक्तके सात्त्विक जीवनका इतना प्रभाव पड़ा कि उनसे पहले पश्चिमी योरोपमें जिन आश्रम और मठवालोंने अपने अपने लिये अलग अलग नियम बना रक्खे थे और जो अपनी डेढ़ चावलकी खिचड़ी अलग पका रहे थे उन सबके नियम एकसे होगए और रोमके पोपने भी इन नियमोंको स्वीकृति दे दी। साधारणतः नियम ये थे—

१. संन्यासी (मौंक) को सबसे साथ अत्यन्त विनम्रताका व्यवहार करना चाहिए।

२. सांसारिक भोग-विलाससे दूर रहना चाहिए।

३. स्वयं नित्य काम करके अपनी जीविक चलानी चाहिए और नित्य शारीरिक श्रम करना चाहिए।

४. अपने धर्मगुरुकी सदा आज्ञा पालन करनी चाहिए।

५. संग्रह करनेकी भावना छोड़कर दान करना चाहिए और संसारके किसी पदार्थके लिये इच्छा नहीं करनी चाहिए।

७. अपने गुणोंसे समाजका हित करना चाहिए और जो विद्या अपनेको आती हो वह दूसरोंको भी सिखानी चाहिए।

८. नियमित रूपसे अध्ययन करना चाहिए।

इन नियमोंका अत्यन्त स्वस्थ प्रभाव यह पड़ा कि मठीय जीवनसे आलस्य भाग गया, निरर्थक शास्त्रार्थ बन्द हो गया, खेती लहलहाने लगी, व्यापार बढ़ने लगा, कलाएँ चमक उठीं, चारों ओर एक नये प्रकारका उल्लास और उत्साह दिखाई पड़ने लगा जिसमें स्वार्थ नहीं था, दुर्वृत्ति (बेइमानी) नहीं थी और शोषणकी भावना नहीं थी। पारस्परिक विश्वास, सहयोग, कर्मठता तथा सात्त्विक निष्ठाके साथ यह जीवन इतनी सरलताके साथ चल रहा था कि राजनीतिक संघर्षोंका भी प्रभाव इनपर नहीं पड़ पाया, उलटे इनका प्रभाव तत्कालीन शिक्षा और सामाजिक जीवनपर पड़ता रहा।

यद्यपि इन मठों या आश्रमोंका उद्देश्य तो पारलौकिक तथा नैतिक अभ्युदय ही था किन्तु सार्वजनिक शिक्षा-क्षेत्रपर भी इसका प्रभाव इसलिये बढ़ने लगा कि उन दिनों शिक्षाका काम इन्हीं साधुओंके हाथमें था और लगभग तेरहवीं शताब्दी तक तत्कालीन शासकोंने शिक्षामें हस्तक्षेप नहीं किया था। इधर सन्त औगस्ताइन (३५४-४३० ई०) तथा सन्त जेरोमीका भी कम प्रभाव नहीं पड़ा। सन्त औगस्ताइनको गणित तथा ज्यौतिष आदिकी उच्च शिक्षामें विश्वास नहीं था। वह चरित्र-निर्माणके लिये--'लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः' (लाड करना बुरा है, पीटना बहुत अच्छा है)के सिद्धान्तको भी मानता था। इन सिद्धान्तोंके कारण रोमवालोंके विलासी साम्राज्यवादके विषैले वातावरणका बड़ा परिष्कार हुआ और इस कठोर नियन्त्रणसे नैतिकताके प्रसारमें बड़ी सहायता मिली। उधर सन्त जेरोम भी मनुके समान 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' या 'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी'का सिद्धान्त माननेवाला था। उसने स्त्रियोंकी शिक्षाका जो क्रम बनाया वह बहुत दिनोंतक योरोपमें मान्य समझा जाता रहा। इन प्रवृत्तियोंका इतना प्रभाव पड़ा कि अनेक विद्वानोंकी लेखनी सजग हो उठी, मार्तिनियस कैपेलाने 'मैरेज औफ़ फ़िलोलौजी ऐंड मर्करी' नामकी एक पुस्तक (४१०-४२७)में गणित, संगीत तथा ज्यौतिषका ज्ञान भरा, बोथियस (४८०–५२०)ने संगीत और अंकगणितकी पाठय पुस्तक तथा 'कन्सोलेशन औफ़ फ़िलौसोफ़ी' लिखी, कैसिओदोरसने अत्यन्त साहित्यिक शैलीमें रोमकी सात उदार कलाओंका अत्यन्त विशद चित्रण किया और उन्हें ज्ञानके सात स्तम्भ बताया। ये हैं—व्याकरण, भाषणकला, तर्कशास्त्र, अंकगणित, रेखागणित, ज्यौतिष तथा संगीत। इनमें भी व्याकरणका बड़ा मान था फलतः स्थान-स्थानपर व्याकरणके विद्यालय खुल गए। वहाँ भी हमारे पंडितोंके अनुसार ही लोगोंका मत था--

'यद्यपि बहुनाधीतं तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्'

व्याकरण के साथ साथ भाषण-कला और लेखन-कलाका भी बड़ा प्रचार था और जैसे हमारे देशमें शास्त्रार्थी पंडितका बड़ा सम्मान होता था उसी प्रकार वहाँ भी शास्त्रार्थी विद्वानोंका बड़ा आदर होता था। पर भाषण-कलामें तर्कका प्रयोग अधिक होने लगा, साहित्यिक विद्वत्ताका कम। अधिकांश विद्वान् हमारे पंडितोंके समान व्याकरणके नियमोंको तर्ककी कसौटीपर कसनेमें ही अपने पांडित्यकी पराकाष्ठा समझने लगे क्योंकि धार्मिक प्रचारके लिये तर्कशास्त्र ही सबसे प्रधान आधार बन गया था। उधर सन्त औगस्ताइनके प्रभावसे उच्च संगीत तो समुन्नत न हो पाया किन्तु गिरजाघरोंकी सामूहिक प्रार्थनाके लिये धार्मिक संगीतका विकास अवश्य हुआ। आगे चलकर गिरबर्ट (९५० ई०) के प्रयत्नसे तथा अरबोंके संसर्गसे गणित-का विकास हुआ जो उन्होंने भारतसे सीखा था। ग्यारहवीं शताब्दी-तक ज्यौतिष तथा भूगोलकी शिक्षा भी गणितसे बाँध दी गई।

ग्यारहवीं शताब्दी-तक इन मठोंकी धाक दूर दूरतक फैल गई थी और ये वास्तवमें ज्ञानके केन्द्र बन चुके थे। लोगोंमें साहित्यानुराग बढ़ चला, सभी मठोंमें छोटे-मोटे पुस्तकालय स्थापित हो गए और पुस्तकोंकी प्रतिलिपि करना भी साधुओंका एक पुण्य कार्य समझा जाने लगा। पर जैसे जैसे विश्व-विद्यालयों, राजभवनों और धनिकोंके घरोंमें उच्च शिक्षाकी व्यवस्था होने लगी, वैसे वैसे मठोंमें विद्याका विकास कम होने लगा। बहुतसे लोगोंने पोथियोंकी प्रतिलिपि करनेका एक धन्धा ही खोल दिया इसलिये मठोंमें यह काम भी मन्दा पड़ गया। इसी बीच बारहवीं शताब्दीमें कर्मठ साधुओंका सिस्टर्शियन या 'ग्रे मौंक्स' का आन्दोलन चल पड़ा जिसके अनुसार बहुतसे लोग धर्ममें दीक्षित होकर भी व्यापार, खेती तथा पशु-पालनका काम कर सकते थे। फल यह हुआ कि पढ़ने-लिखनेका काम ठंढा पड़ गया। इस प्रकार ईसाई पादरियोंकी मठीय शिक्षा सामान्यतः एकान्त जीवनकी पवित्रताके लिये ही बनी रही, जन-साधारणकी शिक्षाके लिये उन्होंने व्यवस्थित योजनाका न तो निर्माण किया न प्रसार।

विद्वद्वादके प्रवर्त्तकोंने भी उदात्त दार्शनिक ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न तो किया किन्तु नीति और धर्ममें गिरजाघरको या रोमके पादरियोंकी व्यवस्थाको ही प्रमाण मानकर विवेककी उपेक्षा की यद्यपि उन्होंने विवेकको ईश्वर-प्रदत्त बताया है। यह स्वतःविरोध ही विद्वद्वादका सबसे प्रबल दोष था। इससे भी अधिक विचित्र तथा अबुद्धिगम्य बात उन्होंने यह समझाई कि ज्ञानकी अपेक्षा विश्वासका अधिक महत्त्व है। साथ ही वे यह भी कहते

हैं कि विद्वद्वादका लक्ष्य यह है कि सत्यकी खोज करके उसीपर चला जाय। किन्तु विद्वद्वाद वास्तवमें रोमके पादरियोंका समर्थन करनेवाले विद्वानोंकी एक संस्था मात्र बन गई, सत्यकी खोज वे न कर पाए क्योंकि पहलेसे ही उन्होंने जो अनेक धारणाएँ बना ली थीं वे स्वयं सत्यशोधकी भावनासे भिन्न थीं।

विश्वविद्यालयोंका रूप भी उस समय कुछ व्यवस्थित नहीं हो पाया क्योंकि न तो उन्होंने उचित सम्बन्धके साथ पाठ्य-विषयोंका संयोजन किया, न पढ़नेके लिये निश्चित पाठ्यक्रम बनाया और न पढ़ानेका नियमित प्रबन्ध किया। विद्वानोंके व्याख्यान मात्रसे चलाए जानेवाले उन विश्वविद्यालयोंमें पंडितम्मन्य शिक्षकों और शिष्योंकी भरमार तो रही किन्तु विश्वविद्यालयोंमें सर्वांग अध्ययनकी जिस विशेष वृत्तिको प्रोत्साहन और पोषण मिलना चाहिए था उसका सर्वथा अभाव रहा फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्य युगके समयतक शिक्षा-योजना कुछ अपना रूप स्थिर अवश्य कर चुकी थी।

वीरताकी शिक्षा एकवर्गीय शिक्षा थी। उसका कोई वास्तविक जीवनोद्देश्य था या नहीं, उस शिक्षाके अनुसार शिक्षित व्यक्तिका मानव-समाजके लिये कोई महत्त्व था या नहीं यह अत्यन्त विचारणीय विषय है। उस संपूर्ण शिक्षा-योजनाके देखनेसे प्रतीत होता है कि एक विशिष्ट सामन्त वर्गकी स्थापना, रक्षण और परम्परित प्रचलनके लिये ही अत्यन्त कृत्रिम, उद्देश्यहीन, निरर्थक, काल्पनिक, भावोद्दीपन-युक्त नियन्त्रित जीवन स्थिर कर दिया गया था। इसके अतिरिक्त वीरता (शिवैलरी)की शिक्षाका न तो कोई महत्त्व था और न जनसाधारणकी शिक्षापर उसका कोई प्रभाव ही पड़ा।

किन्तु जो अनेक व्यावसायिक संघ (गिल्ड) बन गए थे उनकी ओरसे जो शिक्षा-प्रणाली प्रचलित हुई वह इतनी सुघर, सुलझी हुई और व्यवस्थित थी कि उसीके पश्चात् लोक-शिक्षाका एक क्रम चल निकला जिसके उन्नत रूप आजके अनेक विद्यालय दिखाई पड़ रहे हैं। उसका कारण यही था कि इन संघीय विद्यालयोंमें शिक्षाका उद्देश्य अत्यन्त स्पष्ट था जीविका चलाना, और शिक्षा प्राप्त करनेपर उस शिक्षाका फल भी स्पष्ट हो जाता था। इस प्रकार वास्तवमें शिक्षाका ठीक, बुद्धिसंगत, सोद्देश्य रूप इन संघी विद्यालयोंकी स्थापनाके समयसे ही स्थिर हुआ।

६

जागरण युगमें शिक्षाकी नवीन भावना

मध्य युगमें पहुँचकर ही योरोपकी शिक्षा कुछ कुछ व्यावहारिक बनने लगी थी जब विद्या न तो शुद्ध पारमार्थिक तत्त्वज्ञानके लिये रह पाई न अनिर्दिष्ट उद्देश्यके कारण भ्रमपूर्ण ही रह पाई। व्यवसायियोंके हाथमें पकड़कर जब शिक्षाका परिणाम स्पष्ट रूपसे जीविकाका आधार हो गया तभी सर्वसाधारणकी भी समझमें यह बात आ गई कि यदि विद्या किसी प्रकार अर्थकरी बना दी जाय तो वह अधिक लोकप्रिय हो सकती है। इसीलिये व्यावसायिक संघोंके पुरोहितोंने ओर जाप-विद्यालयके पादरियोंने जब अन्य शिक्षण-विषयोंके साथ व्यावहारिक अर्थकरी शिक्षाका मेल कर दिया तब सर्वसाधारणकी भी उस ओर प्रवृत्ति होने लगी यहाँतक कि लोग शुल्क दे-देकर इन विद्यालयोंमें अपने बच्चेको पढ़वाने लगे। इन विद्यालयोंकी शिक्षासे जो प्रत्यक्ष लाभ सबको मिलने लगा उसीसे प्रेरित होकर लोगोंने स्थान स्थानपर ऐसे विद्यालय खोल दिए और शिक्षाका उद्देश्य भी स्पष्ट हो गया।

जाप विद्यालय (चैंट्री स्कूल) जिनमें पुरोहित लोग पढ़ाते थे और शुल्क भी लेते थे। ये भी बर्बर विद्यालयोंके साथ मिल गए। इनका प्रबन्ध नागरिकोंके हाथमें था और इनमें व्यावसायिक शिक्षा भी दी जाती थी।

मानववादी शिक्षा

चौदहवीं शताब्दीके प्रारंभमें ज्ञान-विज्ञानके प्रसारकी एक लहर उठी जिसने पादरियोंके पारलौकिक ज्ञानकी संकुचित सीमाका उल्लंघन करके इस संसार और समाजकी सभी समस्याओंपर बुद्धि और तर्ककी कसौटीपर विशेष ध्यान देना प्रारंभ किया। व्यक्तिवादके आदर्शमें भी विशेष संवर्द्धन हुआ। चारों ओर सांसारिक जीवनमें सुख उपलब्ध करनेकी बराबर चेष्टाएँ होने लगीं तथा प्रत्येक दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्त तथा विचारकी तर्कयुक्त मीमांसा की जाने लगी। इस नई लहरने एक नए ढंगके जागरणकी सृष्टि की थी इसलिये इस कालका नाम ही जागरण युग पड़ गया। बड़ी

रोम और यूनानके प्राचीन ग्रन्थोंमें निहित ज्ञान-विज्ञानके आधारपर दी जानेवाली मानववादी शिक्षाका प्रारंभ।

तत्परताके साथ ज्ञान और विद्याकी पुनरावृत्ति होने लगी। यह समझा जाने लगा कि यूनान और रोमके प्राचीन विद्वानोंने जिस साहित्यकी सृष्टि की थी उसमें शुद्ध ज्ञान तथा विज्ञानका अपरिमित कोष निहित है। फिर क्या था, ईसाई मठ, गिरिजाघर और प्रासाद सब छान डाले गए और जितने ग्रन्थ मिले सबकी बड़े वेगसे बहुगुणित प्रतिलिपियाँ कराई जाने लगीं। इस आन्दोलनके प्रवर्तक लोग मानववादी (ह्यूमेनिस्ट) कहलाए और इसीलिये इन प्राचीन ग्रन्थों-के आधारपर दी जानेवाली शिक्षा भी मानववादी शिक्षा कहलाई जाने लगी।

पेत्रार्क, बोकेशियो और ख्रूसोलौरस

इस शिक्षाका श्रीगणेश इतालियासे हुआ और इस जागरण-युगके विशिष्ट प्रतिनिधि पेत्रार्क (१३०४-१३७४) और बोकाशियो (१३१३-७५) हुए जिन्होंने लातिनके प्राचीन ग्रन्थोंका पुनरुद्धार करके उनके शिक्षणकी व्यवस्था की। पीछे जब १३९६ ईसवीमें पूर्वी सम्राट्का राजदूत बनकर ख्रूसोलोरस (क्राइसोलोरस--१३५० से १४१५ ई०) इतालियामें आया तो उसने यूनानी साहित्यका भी व्यापक प्रचार किया।

वित्तोरिनो द फ़ैल्त्रेका मानववादी विद्यालय

उधर इतालिया (इटली) में विभिन्न नगरोंके नगरपतियोंने अपनी अपनी राजसभाके अधीन बहुतसे मानववादी विद्यालय खोल दिए जिनमें वित्तोरिनो द फ़ैल्त्रे (१३७८-१४४६ ई०) का मन्तुआमें स्थित विद्यालय सर्वाधिक प्रसिद्ध हुआ। इन राजकीय विद्यालयोंमें व्यवस्था यह थी कि कोई विद्वान् किसी राजकुमारका अध्यापक बनाकर बुला लिया जाता था और फिर राजपरिवार तथा सामन्त-परिवारोंके बच्चे उसे पढ़ानेके लिए सौंप दिए जाते थे। वित्तोरिनो द फ़ैल्त्रेने अपने आश्रयदातासे आज्ञा लेकर अपने मन्तुआ-विद्यालयमें अपने मित्रोंके बच्चे तथा अन्य मेधावी बालक भी भरती कर लिए थे जिसमें वह पिताके समान अपने समस्त शिष्योंके लिये भोजन, वस्त्र और स्वस्थ जीवनका भी प्रबन्ध करता था और उनके साथ खेल-कूद आदिमें भी भाग लेता था। उसका उद्देश्य यह था कि विद्यार्थियोंकी नैतिक भावनाका मान बराबर ऊँचा बना रहे। उसका लक्ष्य था कि शिक्षासे मस्तिष्क, शरीर और सदाचारकी एक साथ घुली मिली अभिवृद्धि हो। यद्यपि यह उद्देश्य यूनानियोंकी 'उदार-

मानववादी विद्यालय राजाश्रित थे जिनमें किसी राजकुमारको शिक्षा देनेके लिये विद्वान् बुलाया जाता था जो अन्य राजपरिवारवालोंको भी पढ़ाता था। वित्तोरिनोने अन्य बालकोंको भी भर्त्ती किया जिनके भोजन-वस्त्रका भी वही प्रबन्ध करता था। मस्तिष्क, शरीर और सदाचारकी समान अभिवृद्धि उसका उद्देश्य था।

क्षिक्षा'से मिलता-जुलता ही था किन्तु अन्तर यही था कि वित्तोरिनो अपने छात्रोंकी योग्यताके व्यावहारिक और सामाजिक पक्षपर भी आग्रह करता था और यूनानी उस सामयिक और व्यावहारिक पक्षका कोई महत्त्व नहीं समझते थे। उसकी इच्छा थी कि मेरे शिष्य चेतन क्रिया और सेवाका जीवन व्यतीत करें, केवल ज्ञानलवदुर्विदग्ध, पण्डितम्मन्य कोरे व्याख्याता मात्र न बने रह जायँ। उसका विश्वास था कि यूनान और रोमके साहित्य तथा व्याकरणके अध्ययनसे निश्चित रूपसे उक्त उद्देश्यकी पूर्ति हो सकती है। इसलिये वहाँ प्रारम्भसे ही बालकोंको लैतिनमें बातें करना सिखाया जाता था, अक्षरोंके प्रयोगोंके खेलका अभ्यास कराया जाता था और शुद्ध उच्चारण तथा उचित स्वराघात और सुस्वरताकी व्यवस्थित शिक्षा दी जाती थी। जैसे हमारे यहाँ संस्कृतके पण्डित लोग अपने बालकोंको प्रारंभमें अष्टाध्यायी और अमरकोष रटवा देते हैं उसी प्रकार वहाँ भी दस वर्षकी अवस्थासे पहले ही बच्चोंको इस ढंगसे प्राचीन काव्यके सरल अंश कण्ठाग्र करा दिए जाते थे कि वे शुद्धताके साथ इन अंशोंका पाठ कर सकें। यह पाठ करनेका कार्य अवस्थाके साथ अभिवृद्ध होता चला जाता था। उसका फल यह होता था कि विद्यार्थीका शब्द-भाण्डार भी अत्यधिक बढ़ जाता था और उसे लय-ज्ञान भी हो जाता था। बड़े होनेपर ये बालक लातिनके विभिन्न लेखकोंकी कृतियोंका अध्ययन करते थे और फिर यूनानी ग्रन्थकारों और पादरियों-द्वारा रचित साहित्यका अध्ययन करते थे। उन्हें चित्रकला, भूमिमाप और क्षेत्र-गणितसे संबंध रखनेवाले अभिवृद्ध गणितका भी ज्ञान कराया जाता था। पुस्तकोंके अभावमें जो कुछ पढ़ाना-लिखाना होता था सब बोल-बोलकर लिखा दिया जाता था। यद्यपि आजकलके मनोवैज्ञानिक लोग बालकोंकी प्रवृत्तिका परीक्षणके करनेके लिये आकाश सिरपर उठाए हुए हैं किन्तु वित्तोरिनो ही पहला योरोपीय शिक्षक था जिसने सर्वप्रथम छात्रोंकी योग्यता, रुचि और भावी-वृत्तिका परीक्षण करके तदनुरूप विषयों और तदनुकूल शिक्षा–विधियोंके प्रयोगका निरूपण किया था। शारीरिक और नैतिक शिक्षा भी उतने ही पूर्ण रूपसे वह देता था जितनी बौद्धिक शिक्षा। उसने अपने यहाँ मल्लयुद्ध, नृत्य, कन्दुक-क्रीड़ा, दौड़ और कूद आदि अनेक खेल चलाए थे जिनका मुख्य उद्देश्य यही था कि बौद्धिक उन्नतिके साथ-साथ मानसिक शक्तिका भी अभिवर्द्धन हो। उसने अपने आचरण और उपदेशोंके द्वारा छात्रोंमें पवित्रता, दूसरोंका आदर और धार्मिक आचार-व्यवहारकी भावना भरी। उसका विश्वास था कि केवल ईसाई ग्रन्थोंसे ही सत्य और नैतिक सौन्दर्य-की शिक्षा नहीं दी जा सकती प्रत्युत प्राचीन

वित्तोरिनोने सर्वप्रथम छात्रोंकी योग्यता, रुचि और भावी वृत्तिका परीक्षण करके शिक्षा देनेकी बात चलाई और

बौद्धिक शिक्षाके साथ शारीरिक तथा नैतिक शिक्षाकी योजना की। वह प्राचीन काव्य-ग्रन्थों-से आचरण-ज्ञान लेना उचित समझा जाता था। उसीसे मानववादी शिक्षाका प्रारम्भ, किन्तु पीछे वह सिसरोके लातिन प्रवचनोंके अभ्यासतक बँध गई।

सांस्कृतिक काव्य-ग्रन्थोंमें जिन महापुरुषोंका जीवनाचार वर्णित है उनसे भी यह शिक्षा सम्भव है। शनैः शनैः यह मानववादी शिक्षा विश्वविद्यालयोंमें भी फैलने लगी। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दिके अन्ततक यह उदार शिक्षा भी स्थिर, गतिशून्य और परिमित हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि ढलते-ढलते यह शिक्षा व्याकरणकी रटाई और प्रसिद्ध वक्ता सिसरोके प्रवचनोंके अभ्यासतक ही बँध गई। इस मानववादी शिक्षाको दुर्नाम देकर लोग इसे सिसरोवादी शिक्षा कहने लगे क्योंकि इसमें सिसरो-को ही आदर्श मानकर एक विशेष शैलीकी शिक्षा दी जाने लगी थी, सिसरोकी लातिनमें ही बात-चीत करनेका अभ्यास कराया जाता था यहाँतक कि वाक्य-निर्माण, अलंकार और शब्द-योजना, सब कुछ सिसरोके वाक्योंके आधारपर ही होती थी।

मानववादका प्रसार—फ्रांसिस प्रथम, वूद्य॒, कारदेरीअ और रैमू

यह मानववाद जहाँ धीरे-धीरे इतालियामें अस्त हो रहा था वहाँ वह मुद्रण यंत्रोंके आविष्कारके साथ-साथ फ्रांस, इङ्गलैण्ड तथा ट्यूटोनी देशोंमें, विशेषतः जर्मनीमें, बढ़ रहा था। उसका उद्देश्य व्यक्तिगत उन्नति तथा आत्मसंतोष न होकर सामाजिक योग्यता और नैतिक जीवन हुआ। इस मानववादके संस्थापनमें उनका उद्देश्य यही था कि विश्वमें सामाजिक, नैतिक और धार्मिक समुन्नति हो। फ्रांसमें प्रथम फ्रांसिस (१४१५-४७ ई०) ही इस मानववादके सर्वप्रथम पोषक थे जिनके संरक्षणमें वूद्य॒ (१४६८-१५४० ई०) जैसे प्रतिभाशाली मानववादी शिक्षा-शास्त्रियोंने तथा कारदेरीअ (१४७९-१५६४ ई०) और रैमू (१५१५-७२ ई०) जैसे शिक्षाचार्योंने प्राचीन ग्रन्थोंकी प्रतियाँ एकत्र करके उनका अनुवाद किया और सम्पादन करके प्रकाशन कराया। इसका परिणामय ह हुआ कि फ्रांसके बहुतसे विद्यालयोंने इस नये वादको अंगीकार कर लिया। उधर जर्मनीमें तो इसका इतना विस्तार हो गया था कि वहाँ प्रायः सभी विश्वविद्यालयोंने इस मानववादका लोहा मान लिया

फ्रांस, इंगलैण्ड और ट्यूटोनी देशोंमें मानव-वादका प्रचार और उसका उद्देश्य हुआ सामाजिक योग्यता, नैतिक जीवन तथा धार्मिक समुन्नति। प्रसिद्ध मानववादी प्रथम फ्रांसिस, वूद्य॒, कारदेरीअ और रैमू द्वारा प्राचीन ग्रन्थोंका अनु-वाद और प्रकाशन। विश्वविद्यालयोंमें मानव-वादी शिक्षाका प्रवेश।

और किसी न किसी रूपमें इसे ग्रहण भी कर लिया था। हिरोनियोंने दीनोंकी शिक्षाके लिये जो विद्यालय चलाए थे उनमें प्राचीन सांस्कृतिक ग्रन्थ भी पढ़ाए जाने लगे और वहाँ इस मानववादी शिक्षाका नेता हुआ इरासमस (१४६७-१५३१ ई०) जिसने बहुत-सी पाठ्य-पुस्तकें, व्यंग-नाटक और शिक्षा-सिद्धान्त-संबंधी कई पुस्तकें लिखीं।

जिमनाशियम या उच्च शिक्षालय

इन्हीं मानववादी विद्यालयोंमेंसे एक नये प्रकार के विद्यालय निकल चले जिन्हें उच्च शिक्षालय या जिमनाशियम कहते हैं। इनका प्रवर्तन मैलांकथोम (१४९७-१५६०) ने किया किन्तु इनकी व्यवस्था का वास्तविक श्रेय है स्ट्रासबर्गके स्टुर्मको (१५०७-१५८९)। उसने १० वर्षका एक पाठ्यक्रम निकाला जिसमें ६ या ७ वर्षकी अवस्थामें विद्यार्थी भरती किए जाते थे। इनका उद्देश्य था पवित्रता, ज्ञान और धाराप्रवाह लातिन बोलनेकी शिक्षा देना। पवित्रताकी शिक्षाके लिये लूथरका धर्मादेश तीन वर्ष तक जर्मन भाषामें सिखाया जाता था और तीन वर्ष तक लातिनमें। चौथे और पाँचवे वर्षोंमें रविवारी प्रवचन पढ़े जाते थे और जेरोमीके पत्र भी पाँचवें ही वर्षमें पढ़े जाते थे। छठे वर्षसे लेकर अन्ततक सेण्ट पौलकी पत्रिकाओंका गम्भीर अध्ययन होता था। ज्ञान और भाषणकलामें पटुता प्राप्त करनेके लिये चार वर्षतक लातिन व्याकरण चलता था। चौथे वर्षमें शैलीकी शिक्षाके साथ साथ सिसरो, वर्जिल आदि बड़े-बड़े साहित्यकारोंकी कृतियोंका भी अध्ययन कराया जाता था। पत्र लिखने, शास्त्रार्थ करने तथा अभिनय करनेकी शिक्षा भी चौथे वर्षमें ही दी जाती थी। पाँचवें वर्षमें यूनानी भाषा सिखाई जाती थी और तीन वर्ष व्याकरण सीखनेके पश्चात् देमौस्थनेस (डिमोस्थिनीज़) के साथ-साथ सभी यूनानी नाटकोंका, होमरका तथा थसुदिदेस (थूसिडायडीज़) का अध्ययन प्रारम्भ हो जाता था।

मैलांकथोम-द्वारा उच्च शिक्षालयका प्रवर्त्तन। स्टुर्मका सहयोग। दस कक्षाओंका पाठ्यक्रम। पवित्रता, ज्ञान और धाराप्रवाह भाषण ही उद्देश्य।

मानववादी शिक्षाका प्रभाव

शनैः शनैः यह शिक्षा भी बँधकर कृत्रिम तथा नीरस हो गई किन्तु इस शिक्षाका प्रभाव अत्यधिक हुआ। इंगलैंड भी इस प्रभावसे अछूता न रहा। औक्सफ़ोर्ड और केम्ब्रिजमें यूनानी भाषाकी शिक्षा प्रारम्भ कर दी गई यहाँतक कि राजपरिवार भी इस प्रभावसे न बच सके। किन्तु वहाँ भी यह मानववादिता क्रमशः परिमित होकर बँध गई। इसी

इंगलैंडमें मानववादी प्रभाव। यूनानी शिक्षा प्रारम्भसे। पीछे अमे-

रिकामें भी विद्यालयों-की स्थापना ।

मानववादी सिद्धान्तके आधारपर अमरीकी प्रदेशोंमें भी व्याकरण-विद्यालय खोल दिए गए।

मानववादी आदर्शोंका ह्रास

धीरे अपने प्राचीन गौरव

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मानववादी आदर्श किस प्रकार धीरे धीरे अपने प्राचीन गौरव और उदारतासे गिरकर कितने क्षुद्र और संकुचित हो गए। पारलौकिक शिक्षाका स्थान ले लिया इहलौकिक विषयोंकी प्रवृत्तिने, सामाजिक तथा व्यक्तिगत उन्नतिने और प्राचीन सांस्कृतिक ग्रन्थोंके अध्ययनने। उत्तरी देशोंमें इस मानववादिताने केवल सामाजिक संस्कारका ही रूप धारण किया जहाँ यूनानी भाषाके अध्ययनके साथ साथ नए और पुराने टेस्टामेण्ट (ईसाई धर्मग्रन्थों) के अध्ययनकी प्रवृत्ति भी बढ़ी। सोलहवीं शताब्दिके मध्यमें ही आलोचना, परीक्षण और बौद्धिक रचनाकी प्रवृत्ति मन्द पड़ती जा रही थी। धीरे धीरे १७ वीं शताब्दिके आरंभ-तक यह मानववाद संकीर्ण और परिधिबद्ध हो गया। प्राचीन काव्य-ग्रन्थोंके अध्ययनमें व्याकरण, शब्द-रूप और शैलीपर विशेष ध्यान दिया जाने लगा, विषयसे अधिक उसके रचना-स्वरूपकी अधिक मीमांसा होने लगी और केवल रटना ही एक मात्र अध्ययन-प्रणाली बची रही। शिक्षाके क्षेत्रमें इस मानववादिताने क्रान्तिकारी परिवर्तन तो किया किन्तु सत्रहवीं शताब्दिके जन्मसे ही इसने जो रूप धारण किया उसने इसमें पुनः सुधारकी आवश्यकताका अनुभव कराना आरंभ कर दिया।

मानववादी शिक्षा संकुचित होगई। पारलौकिक शिक्षाके बदले इहलौकिक विषय, सामाजिक तथा व्यक्तिगत उन्नति और प्राचीन काव्योंका अध्ययन। रटन्त प्रणालीका बोलबाला। सुधारकी आवश्यकता समझी जाने लगी।

मानवतावादी शिक्षाका विश्लेषण

जिन मानवतावादियोंने प्राचीन काव्योंमेंसे मानवीय ज्ञान और लोक-कल्याणकी उदात्त भावनाओंके आदर्शोंकी प्रतिष्ठा समाजमें करनेके लिये प्राचीन मानस्थ कवियों और आचार्योंके ग्रन्थोंके अध्ययनका मार्ग सुझाया उन्होंने जहाँ सुग्गा-रटन्त और शब्द-शास्त्रार्थका निरर्थक व्यायाम बन्द किया वहाँ उन्होंने एक व्यापक मानवीय भावनापर ध्यान नहीं दिया कि मनुष्यके हृदयमें उठनेवाले जितने उदात्त या नीच भाव हो सकते हैं उनका विकास या दमन केवल ग्रन्थोंके अध्ययनसे नहीं सिद्ध हो सकता। संसारके समस्त जीवोंके समान मनुष्यका बालक भी जीवनके अधिकांश पाठ अनुकरणसे सीखता है। कान्तासम्मित उपदेश देनेवाले काव्य-ग्रन्थोंसे जीवनके उचित आदर्श ग्रहण

करने और उन ग्रहण किए हुए आदर्शोंका जीवनमें व्यवहार करनेके लिये केवल अक्षर-ज्ञान या साहित्य-ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। । उसके लिये एक विशेष प्रकारकी भावभूमि होनी चाहिए जिसे हम बौद्धिक शिक्षाके बदले जातिगत, कुलगत, समाजगत तथा संसर्गगत संस्कारसे ही उर्वरा बना सकते हैं। यही कारण है कि जिस उदार लोक-मंगलकी भावनासे मानवतावादने जन्म लिया था वह दुर्बल आधार पानेके कारण अत्यन्त शीघ्र धराशायी हो गया। इससे जिस विशिष्ट परिणामकी आशा की गई थी वह समाप्त हो गया और हाथ लगा उन उच्च आदर्शोंका एक विराट् आडम्बर जिसने मनुष्यकी उदारता छीनकर उसे ग्रन्थकीट मात्र बनाकर छोड़ दिया।

मानवतावादियोंने अपनी दूरदर्शिताका परिचय देकर जहाँ उसे व्यावहारिक, अर्थकरी तथा अधिक लौकिक बनाकर व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके लिए मार्ग प्रशस्त किया वहाँ उसने उसके परिणामपर अधिक ध्यान नहीं दिया। स्वभावतः मनुष्यकी प्रवृत्ति ऐहिक अभ्युदय की ओर होती ही है। यदि उसे इस अभ्युदयकी ओर प्रवृत्त होनेमें नैतिक समर्थन मिल जाता है तब वह संयत और निर्लोभ होनेके बदले अधिक उच्छृङ्खल और लोभी बन जाता है। यह उच्छृङ्खलता और लोभ धीरे धीरे उसकी पशुवृत्तिको प्रोत्साहन देते हैं और उसकी उदात्त वृत्तियोंको नष्ट कर डालते हैं। यही फल हुआ इस मानववादी शिक्षाका जिसके प्रवर्त्तकोंकी मूल शुभकांक्षाएँ आगे चलकर सफल सिद्ध न हो सकीं।

७

सुधार-युगमें शिक्षा

मानववादी शिक्षकोंने योरोपके उत्तरी प्रदेशोंमें जो सुधार उपस्थित किए उनसे प्राचीनतावादी पादरी बिगड़ खड़े हुए और उन लोगोंने भरसक गिरजाघरोंकी अन्तरंग व्यवस्थामें किसी भी प्रकारका सुधार नहीं होने दिया। किन्तु शिक्षित जनता सुधारवादियोंके साथ थी और सभी यह चाहते थे कि युगकी आवश्यकता जिस शिक्षाके द्वारा पूर्ण होती हो वही शिक्षा समाजके लिये उपयुक्त है, कूपमंडूक होकर रहना नितान्त मूर्खता है। फलस्वरूप कैथोलिक ईसाईयोंके विरुद्ध एक नया सुधार-मण्डल स्थापित हो गया जिसका नेतृत्व किया मार्टिन लूथरने।

शिक्षित जनताके विरोधसे सुधारक ईसाई-मंडलकी स्थापना।



मार्टिन लूथर

मार्टिन लूथर

प्रसिद्ध धार्मिक विद्रोही मार्टिन लूथर (१४८३ से १५४६ ई०) भी पहले तो अरस्तू और विद्वद्वादका विरोधी रहा किन्तु शीघ्र ही उसने अनुभव किया कि पोपोंका धार्मिक रूप अत्यन्त पाखंडपूर्ण और मिथ्याडंबर मात्र है इसलिये दो वर्ष पश्चात्

मार्टिन लूथर द्वारा पोप

और कौंसिलका विरोध; सार्वदैशिक भाषामें बाइबिलका अनुवाद; सयानों और बच्चोंके लिये प्रश्नोत्तरी पाठ्य-क्रम (कैटेचिज़्म); पत्र और प्रवचन - द्वारा शिक्षाकी व्याख्या

उसने पोप और कौंसिल दोनोंका विरोध किया और वह भी तत्कालीन युगकी मानववादी और व्यक्ति-वादी धारामें बह चला। जनताकी शिक्षाके लिये पहले तो उसने सार्वदैशिक भाषामें बाइबिलका अनुवाद करके सुधारका श्रीगणेश किया और फिर जनसाधारणकी शिक्षाके लिये उसने दो प्रश्नोत्तरी-पाठ्यक्रम (कैटेचिज़्म) निर्धारित किए—एक सयानोंके लिये और दूसरा बच्चोंके लिये। इससे साथ साथ उसने बहुतसे पत्रक, पत्र और भाषण भी लिखे जिनमें शिक्षा और शिक्षण-विधियोंका भी प्रासंगिक उल्लेख था। किन्तु उसके शिक्षा-संबंधी विचारोंको व्यक्त करनेवाले प्रमुख उपादान उसके ये पत्र और प्रवचन ही थे—'ईसाई विद्यालयोंकी ओरसे जर्मन नगरोंके नगरपतियोंके नाम पत्र' (१५२४ ई०) और 'बच्चोंको विद्यालय भेजनेके कर्तव्यपर प्रवचन' (१५३० ई०)

लूथरकी शिक्षा-योजना

लूथरके मतसे शिक्षाका उद्देश्य था राज्य तथा धर्मकी समान रूपसे भलाई करना। वह चाहता था कि विद्यालयोंसे भद्र नागरिक और धर्मात्मा पुरुष तैयार होकर निकलें और इसीलिये उसका मत था कि जनताके व्ययसे ऐसे सार्वजनिक विद्यालय खोले जायँ जिनमें धनी और दरिद्र बिना किसी भेदके समान रूपसे एक ही शिक्षा ग्रहण कर सकें। जिन शिल्पी परिवारोंके बालकोंको स्कूलमें पूरा समय देना संभव नहीं था उनके लिये यह व्यवस्था की गई कि वे दिनमें एक या दो घण्टेके लिये ही पाठशालामें आ जाया करें। अध्यापक, उपदेशक और लोकसेवक बन सकनेवाले मेधावी बालकोंके लिये उसने दूसरा ही सांस्कृतिक पाठ्यक्रम निर्धारित किया था। यों तो लूथरने बाइबिल और प्रश्नोत्तरी-पाठ्यक्रमकी व्यवस्था की थी किन्तु उत्तरी मानववादी होनेके कारण उसने लातिन, यूनानी और हिब्रू भाषाओंके अध्ययनकी भी सम्मति दी, भाषण-कला और शास्त्रार्थके अभ्यासका भी समर्थन किया और इतिहास, प्राकृतिक विज्ञान, गीत, वाद्य तथा फ़ुर्तीले व्यायामोंको भी प्रोत्साहन

लूथरके मतसे शिक्षाका उद्देश्य था राज्य तथा धर्मका समान हित। धनी निर्धनोंके लिये समान शिक्षालय। अध्यापक, उपदेशक और लोकसेवकके लिये सांस्कृतिक पाठ्यक्रम। लातिन, यूनानी, हिब्रू, भाषणकला, शास्त्रार्थ, इतिहास, प्रकृति-विज्ञान, गीत, वाद्य, फुर्तीले व्यायाम-की शिक्षाका समर्थक। बालकोंकी स्वाभाविक

गति और प्रवृत्तिके अनुसार शिक्षा। इसके आधारपर अनेक विद्यालय खुले।

दिया। उसका मत था कि संसारकी सामाजिक संस्थाओंका अध्ययन करनेके लिये इतिहासका, ईश्वरकी सर्वशक्ति और दैवी कृपालुताके विस्मयजनक प्रभावका साक्षात्कार करानेके लिये प्रकृति–विज्ञानका, शरीर तथा आत्माकी स्वस्थताके लिये फुर्तीले व्यायामका, और चित्तसे सब चिन्ता और विषाद मिटानेके लिये संगीत-शिक्षाका प्रबन्ध होना चाहिए। उसकी शिक्षण-विधिमें बल-प्रयोगका नितान्त निषेध था। वह बालकोंकी स्वाभाविक गति और प्रवृत्तिके अनुकूल ही शिक्षा देनेके पक्षमें था, उनपर अधिकार जमानेके पक्षमें नहीं। किन्तु व्याकरणका ज्ञान भाषा-द्वारा करानेके बदले वह अभ्यास-द्वारा ही सिखानेके पक्षमें ही था। यह शिक्षा-पद्धति अब तकके ईसाई विद्यालयोंकी नीरस तथा अस्वाभाविक पढ़ाईसे इतनी भिन्न, नवीन, सरस और उपयोगी प्रतीत हुई कि सम्पूर्ण जनसमाज सहसा उसकी ओर लपक पड़ा। परिणामतः लूथरके पश्चात् उसके साथियोंने उसके शिक्षाके आदर्शोंका आधार लेकर स्थान-स्थानपर नवीन सुधारवादी विद्यालय खोल दिए। सबसे पहले लूथरके जन्मपुर आईस्लेबनमें मैलाङ्कथौनने उसके शिक्षा-सिद्धान्तों और व्यवहारोंको सक्रिय रूप देनेके लिये विद्यालय खोला। फिर तो इन विद्यालयोंकी बाढ़ सी आ गई, देखते-देखते चारों ओर सैकड़ों विद्यालय खुल गए।

ज़्विंग्ली

लूथरने तो विद्रोह किया ही था किन्तु उससे भी अधिक भयंकर विद्रोह किया ज़्विंग्ली (१४८४ से १५२१ ई०) ने। उसका विश्वास था कि बाइबिलमें रूढ़िगत धर्म-विज्ञानके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं है। अतः उसने मूल यूनानी और हिब्रूका अध्ययन किया। तत्पश्चात् ज़्यूरिखके गिरजाघरको अपने हाथमें लेते ही उसने एक एक करके समस्त रूढ़ियाँ तोड़ डालीं यहाँतक कि उसने सामूहिक प्रार्थना भी बन्द कर दी और सार्वजनिक शिक्षाके लिये बहुतसे मानववादी विद्यालय खोल डाले। १५२३ ई०में उसने ईसाई युवकोंके लिये जो पाठयक्रम निर्धारित किया उसमें उसने और सब विषय तो लूथरवाले ही लिए किन्तु इतिहास छोड़ दिया और गणित तथा भूमाप ये दो विषय और जोड़ दिए। यद्यपि समाजमें सुधारकी भावना बहुत बल पकड़ चुकी थी किन्तु फिर भी ऐसे धर्मान्ध लोगोंकी कमी नहीं थी

ज़्विंग्लीने गिरजाघरकी रूढ़ियाँ तोड़ डालीं, सामूहिक प्रार्थना बन्द कर दी, लूथरके पाठ्य-क्रमसे इतिहास निकाल-कर गणित और भूमाप जोड़ दिया। युवावस्था में ही मार डाला गया।

जो इनका सुधार और विद्रोह सहन कर सकें। इसलिये इस विद्रोहके फलस्वरूप वह युवावस्थामें ही मार डाला गया।

कालविन

उधर दूसरे विद्रोही कालविन (१५०९–६४ ई०) का प्रभाव भी बड़े वेगसे बढ़ रहा था। वह भी पोपोंके कैथोलिक गिरजाघरसे विद्रोह कर चुका था और उत्तरी मानववादितासे भली भाँति प्रभावित हो चुका था। जिन दिनों वह जिनेवाका नागरिक और धार्मिक शासक होकर आया, उसने जहाँ तहाँ बहुतसे महाविद्यालय स्थापितकर दिए। कालविनके गुरु कौर्देरियसने बच्चोंके लिये 'कौलोकीज़' (बातचीत) नामसे अनेक पुस्तकें लिखी थीं जिनमें प्रायः सभी विषयोंपर ऐसी बातें दी हुई थीं जिनके आधारपर कोई भी व्यक्ति सरलताके साथ लातिन बोलना सीख सकता था। कालविनके महाविद्यालयोंका भी प्रायः यही उद्देश्य था कि विद्यार्थियोंमें नैतिक और धार्मिक भावना भरनेके लिये लातिन सिखाई जाय। वहाँ धार्मिक गीत गवाए जाते थे, सार्वजनिक प्रार्थनाएँ होती थीं और नित्य बाइबिलका पारायण भी कराया जाता था। जिनेवा विद्यालयोंकी सात कक्षाओंमेंसे प्रारंभकी तीन कक्षाओंमें लातिन प्रश्नोत्तरीसे वाचन और व्याकरण सिखलाया जाता था। उसके पश्चात् वर्जिल, सिसरो, ओविद, सीज़र और लिवि-का अध्ययन करके लातिनमें निबंध लिखनेका अभ्यास कराया जाता था। चौथे वर्षमें यूनानी भाषा प्रारंभ कर दी जाती थी और ऊँची कक्षाओंमें यूनानीके साथ-साथ तर्कशास्त्र और भाषण-कलाकी शिक्षा भी दी जाती थी।

कालविनके अनुसार नैतिक और धार्मिक भावना भरनेके लिये लातिनकी शिक्षा, धार्मिक गीत, सार्वजनिक प्रार्थना और बाइबिलका पारायण। जिनेवा विद्यालयमें प्रारंभमें लातिन-वाचन और व्याकरण, फिर महाकवियोंके अध्ययनके पश्चात् लातिन में निबन्धका अभ्यास, फिर यूनानीका अभ्यास, ऊँची कक्षाओंमें तर्कशास्त्र और भाषण-कला।

आठवें हेनरीके विद्रोहका शिक्षापर प्रभाव

इंगलैण्डका राजा आठवाँ हेनरी (१५०९–१५४५ ई०) अपनी पहली रानीका परित्याग करना चाहता था किन्तु धर्मके अनुशासन इसमें बाधक थे इसलिये उसने कुचक्र रचकर गिरजाघरपर अधिकार कर लिया। और एक बार जो उसे अधिकार मिला तो उसने तत्काल एक ओर तो पादरी-विद्यालयों तथा अन्य प्रकारके मानववादी विद्यालयोंकी भूमि और

आठवें हेनरी-द्वारा सब विद्यालय बन्द।

सम्पत्ति सब हड़प ली और दूसरी ओर शिल्पी-संघोंके विद्यालयोंके साथ-साथ तीन सौ व्याकरण-विद्यालय भी समाप्त कर डाले। किन्तु यह दशा बहुत दिनोंतक न चल पाई। थोड़े ही दिनों पीछे आठवें हेनरीकी शक्ति समाप्त होते ही इनकी पुनः स्थापना हुई और फिरसे ये विद्यालय चल निकले।

यीशू-समिति और निम्न महाविद्यालय

इधर राजा लोग अपने अधिकार बढ़ानेमें लगे हुए थे उधर पोपके अधिकार दृढ़ करनेके लिये एक यीशू-समिति स्थापित हो गई थी, जिसने अपना संघटन दृढ़ करके एक नये ढंगके माध्यमिक वर्गके विद्यालय प्रारंभ कर दिए। इन विद्यालयोंमें एक था निम्न महाविद्यालय और दूसरा था उच्च महाविद्यालय। निम्न महाविद्यालयोंमें दससे चौदह वर्षकी अवस्था-तकके विद्यार्थी भरती किए जाते थे। ये विद्यार्थी पाँच या छः वर्षतक पढ़ते चलते थे। इनकी पहली तीन कक्षाओंमें लातिन, व्याकरण और थोड़ा सा यूनानी भाषाका अध्ययन कराया जाता था, चौथे वर्षमें गिने-चुने यूनानी और लातिन कवियों तथा इतिहासकारोंका अध्ययन होता था और अन्तिम कक्षामें दो वर्षतक विशिष्ट प्राचीन ग्रन्थकारोंका विस्तृत अध्ययन कराया जाता था। पीछे सन् १८३२ ई० में इन विषयोंके साथ साथ सर्वगणित, प्रकृति-विज्ञान, इतिहास और भूगोल आदि विषय भी जोड़ दिए गए।

यीशू समिति - द्वारा माध्यमिक वर्गके लिये निम्न और उच्च महाविद्यालय। निम्नमें १० से १४ वर्षके छात्र ५-६ वर्षतक पढ़ते थे। पहली तीनमें लातिन और यूनानी, चौथीमें यूनानी-लातिन कवि, अन्तिम दो कक्षामें प्राचीन ग्रन्थ, पीछे सर्वगणित, प्रकृति-विज्ञान, इतिहास और भूगोल जोड़े गए।

यीशू-समितिके उच्च महाविद्यालय

उच्च महाविद्यालयोंका पाठ्यक्रम सात या नौ वर्षोंका था जिनमेंसे पहले तीन वर्षोंमें दर्शन और पीछेके चार या छः वर्षोंमें धर्म-विज्ञान सिखलाया जाता था। विचित्र बात तो यह थी कि दर्शनके अन्तर्गत केवल तर्कशास्त्र, तत्त्वज्ञान, मनोविज्ञान, कर्तव्यशास्त्र तथा प्राकृतिक धर्म-विज्ञान ही न थे प्रत्युत बीजगणित, रेखागणित, त्रिज्यामिति, यन्त्रशास्त्र, उच्चगणित, भौतिक-विज्ञान, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, ज्यौतिष और शरीर-विज्ञान भी सम्मिलित थे। जो इस पाठ्यक्रमको सफलता-

उच्च महाविद्यालयमें ७ या ९ वर्षोंका पाठ्यक्रम—पहले ३ वर्षोंमें दर्शन, पिछले ४ वर्षोंमें धर्मविज्ञान, दर्शनके अन्तर्गत सर्वगणित, यंत्रशास्त्र, भौतिक-विज्ञान, रसायन,

भूगर्भ, ज्योतिष और शरीर - विज्ञान भी।

पूर्वक पूरा कर लेता था उसे शास्त्राचार्य या 'मास्टर औफ़ आर्ट्स' की उपाधि दी जाती थी।

दर्शनका पाठ्यक्रम समाप्त करनेपर इन यीशूवादियोंको धर्मविज्ञानका अध्ययन प्रारम्भ करनेसे पूर्व निम्न महाविद्यालयोंमें पाँच या छः वर्षतक शिक्षकका काम करना पड़ता था। धर्मविज्ञानके पाठ्यक्रममें चार वर्षतक धर्म-ग्रन्थ, हिब्रू भाषा, अन्य प्राचीन भाषाएँ, ईसाई धर्मका इतिहास, धर्म, न्याय और धर्म-विज्ञानकी विभिन्न शाखाओंका अध्ययन करना पड़ता था। इसके पश्चात् भी यदि कोई पढ़ना चाहता तो और भी दो वर्षतक दर्शन और धर्मविज्ञानका अध्ययन करके प्रबन्ध लिख सकता था। यदि उस प्रबन्धकी परीक्षामें उसे सफलता मिलती तो उसे डौक्टर औफ़ डिविनिटी (धर्माचार्य) की उपाधि दे दी जाती थी। इस यीशूप्रणालीकी शिक्षामें जीवनके अठारहसे तीस वर्ष लग जाते थे जो साधारण मनुष्यके लिये बड़ा लम्बा समय था। इसीलिये इन विद्यालयोंकी ओर जनसाधारणका अधिक आकर्षण न हो पाया। इनकी उपेक्षाका एक यह भी कारण था कि इन विद्यालयोंमें प्रायः मौखिक शिक्षा ही दी जाती थी जिसे विद्यार्थी लिख या रट लेते थे। शिक्षणके लिये भी व्याख्या-प्रणालीका ही प्रयोग होता था अर्थात् जिस विषयपर व्याख्यान देना होता था उसकी प्रारम्भमें व्याख्या कर दी जाती थी। क्रम यह था कि पहले सम्पूर्ण पाठ्यभाग या विषयकी साधारण व्याख्या कर दी जाती थी, फिर पाठके वाक्योंकी अलग-अलग विस्तृत व्याख्या होती थी, इसके पश्चात् अन्य लेखकोंके विचारोंसे उसकी तुलना की जाती थी, तत्पश्चात् उस भागपर सूचनात्मक टिप्पणियाँ दे दी जाती थीं, तब उसके आलंकारिक विभागका अध्ययन किया जाता था और अन्तमें उससे कोई नैतिक निष्कर्ष निकाल लिया जाता था। उनका सिद्धांत ही यह था कि 'आवृत्ति ही शिक्षाकी माता है' इसलिये प्रतिदिन पिछले दिनका पाठ

दर्शन पाठ्यक्रमके पश्चात् निम्न महाविद्यालयमें ५-६ वर्षतक शिक्षण। धर्मविज्ञानके पाठ्यक्रम में ४ वर्षतक धर्मग्रंथ, हिब्रू, प्राचीन भाषाएँ, ईसाई धर्मका इतिहास, धर्म और न्यायका अध्ययन। दो वर्ष अधिक अध्ययनपर प्रबन्ध लिख कर डौक्टर औफ़ डिविनिटीकी उपाधि।

यीशू विद्यालयमें १८ से ३० वर्षतक लगते थे। शिक्षा मौखिक थी, व्याख्या-प्रणाली तथा तुलना-पद्धतिका प्रयोग। पाठकी आवृत्ति-पुनरावृत्तिपर अधिक ध्यान, सार्वजनिक शास्त्रार्थोंका आयोजन। इसमें अधिकार अधिक, नवीनता कम, व्यक्तित्वके विकासका अभाव। परस्पर कलहसे समिति भंग।

दुहरा दिया जाता था और पाठके अन्तमें पाठकी पुनरावृत्ति कर दी जाती थी, यहाँतक कि सप्ताहके अन्तमें साप्ताहिक पाठकी और वर्षके अन्तमें वर्ष भरके पाठकी आवृत्ति कर दी जाती थी। इस आवृत्ति-पुनरावृत्तिकी नीरसताको दूर करनेके लिये दो-दो विद्यार्थियोंकी जोट बाँध दी जाती थी जो परस्पर एक-दूसरेके साथ शंका-समाधान और शास्त्रार्थ करते हुए विषयको पक्का करते चलते थे। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक शास्त्रार्थका भी आयोजन किया जाता था। यह प्रणाली अत्यन्त व्यवस्थित, रुचिकर और भावपूर्ण तो थी किन्तु साथ ही उसमें अधिकारकी मात्रा अधिक थी और नवीनताका अभाव था। सबसे बुरी बात यह थी कि इसमें व्यक्तित्वके विकासका कोई स्थान न था। थोड़े ही दिनोंमें ये यीशू-समितिवाले अभिमानी और झगड़ालू हो गए इसलिये सन् १७७७ में पोपने इनसे तंग आकर यह समिति ही भंग कर डाली।

पोर्ट रौयलीयोंकी शिक्षा-व्यवस्था

बुद्धिवादके आधारपर जान्सेनवादी संस्थाकी स्थापना। पोर्टरौयल मठमें नये नन्हें विद्यालय जिनमें २०–२५ छात्रोंको सांसारिक प्रलोभनोंसे दूर रखकर एक अध्यापकके अधीन ५–६ छात्र करके तर्क या समझके आधारपर पढ़ाया जाता था।

इन यीशूवादियोंके विरोधमें लाउवेन विश्वविद्यालयके आचार्य कार्नेलियस जान्सेनके अनुयायी जान्सेनियोंने सन् १६२१ में 'जान्सेनिस्ट्स' (जान्सेनवादी) नामकी एक धार्मिक संस्था स्थापित की। इन्होंने उस समयके गिरजाघरोंकी रूढ़ियोंका विरोध करते हुए देकार्त्तेके बुद्धिवादी दर्शनका आश्रय लिया। देकार्त्तेका कथन था कि केवल इने-गिने लोगोंको छोड़-कर शेष सब लोग दूषित और भ्रष्ट हैं। इस विचारसे प्रभावित होकर कुछ जान्सेनियोंने शेवरयूके 'पोर्ट रौयल' नामक ईसाई मठमें एक नये ही प्रकारके विद्यालय खोल दिए। इन विद्यालयोंमें बालकोंको इस प्रकार रक्खा जाता था कि वे सांसारिक प्रलोभनोंसे सर्वथा दूर रहें। इस आदर्शकी पूर्त्तिके लिये एक विद्यालयमें केवल बीससे पैंतीस-तक विद्यार्थी लिए जाते थे और पाँच या छः विद्यार्थी एक अध्यापकके अधीन कर दिए जाते थे जो चौबीस घंटे उनकी देखरेख करता था। इन विद्यालयोंको नन्हें विद्यालय (लिटिल स्कूल्स) भी कहते हैं। इन बुद्धिवादी विद्यालयोंमें तर्क या समझको रटनेसे अधिक महत्त्व दिया जाता था। जो बात बुद्धि-द्वारा, तर्क-द्वारा संगत न जान पड़े वह इनके लिये अग्राह्य थी। इसी प्रकार चरित्रको ज्ञानसे अधिक महत्त्व दिया जाता था। दिखावटी चमकदार शिक्षा देनेके बदले ये लोग शाश्वत और चिरस्थायी

ज्ञानसे अधिक चरित्र।

शिक्षाके पक्षमें थे। इन विद्यालयोंमें सर्वप्रथम विद्यार्थीको देशी भाषाकी शिक्षा दी जाती थी, तत्पश्चात् फ्रांसीसी भाषामें लिखे हुए अत्यन्त संक्षिप्त व्याकरणके द्वारा लातिनका अध्ययन कराया जाता था और फिर देशी भाषा-द्वारा ही लातिनके ग्रंथकारोंका ज्ञान कराया जाता था। यूनानी साहित्यकी शिक्षा भी इसी क्रमसे दी जाती थी। तर्कशक्ति पुष्ट करनेके लिये सयाने शिष्योंको तर्क-शास्त्र और ज्यामितिकी शिक्षा दी जाती थी। पाठ्य-क्रम अधिकांश साहित्यिक था और विज्ञानकी शिक्षा-पर बहुत ध्यान नहीं दिया जाता था। इन पोर्ट-रौयली शिक्षकोंने वर्णमाला-क्रमसे भाषा सिखानेकी प्रणाली छोड़कर सम-ध्वन्यात्मक प्रणाली (फ्रोनेटिक मेथड) से पढ़ाना प्रारंभ किया तथा प्रतियोगिता और पुरस्कारकी प्रथा बन्द कर दी। यह समध्वन्यात्मक प्रणाली यह थी कि एक सी ध्वनिवाले सब शब्द एक साथ पढ़ा दिए जायँ जैसे आम, काम, घाम, चाम, थाम, दाम, धाम, नाम, याम, राम, वाम, शाम, साम आदि। अर्थात् अक्षर-बोध प्रणाली छोड़कर समध्वनिक शब्दबोध-प्रणाली ग्रहण की। इसीलिये इनके छात्रोंमें वह स्फूर्ति, वह संलग्नता और वह स्निग्धता न मिल सकी जो यीशू विद्यालयोंमें थी। इन पोर्ट रौयलीयोंने बहुतसे शिक्षा-ग्रंथ भी लिखे जिनमें इन्होंने अपने सिद्धान्तोंकी विस्तृत व्याख्या भी की है। यीशूवादियों और पोर्ट रौयलियोंने केवल माध्यमिक और उच्च शिक्षाकी ओर तो अधिक ध्यान दिया किन्तु प्रारंभिक शिक्षाकी ओरसे उदासीन रहे।

पहले देशी भाषा, फ्रांसीसी भाषामें लिखे व्याकरणके द्वारा लातिन-का अभ्यास। इसी क्रमसे यूनानीकी शिक्षा, तर्कशक्तिके लिये तर्क-शास्त्र और ज्यामिति, वर्णमाला-क्रम छोड़-कर सम-ध्वन्यात्मक प्रणालीसे पढ़ाना।

जीन बपतिस्ते द ला साले

किन्तु 'जीन बपतिस्ते द ला साले' (१६५१ से १७१९ ई०) नामक एक व्यक्ति ने ईसाई-बन्धु नामकी संस्था-द्वारा प्रारम्भिक पाठशालाएँ भी खोल दीं। इस संस्थाका प्रारम्भ किया था उन पाँच अध्यापकोंने, जिन्होंने सन् १६७९ ई० में हीम्स नगरमें दीनों और अनाथोंके लिये विद्यालय खोले। शनैः शनैः ऐसे विद्यालयोंकी संख्या बड़े वेगसे बढ़ती गई। इन नये विद्यालयोंके लिये उनके अनुरूप अध्यापकोंकी भी आवश्यकता थी अतः ल सालेने अध्यापकोंकी बढ़ती हुई माँग पूरी करनेके लिये सन् १८६४में अध्यापक-कक्षा (सेमीनरी फ़ौर स्कूल-मास्टर्स) स्थापित की। यद्यपि इन

ल सालेकी ईसाई-बन्धु संस्था-द्वारा प्रारम्भिक पाठशालाओंकी तथा अध्यापक - कक्षाकी स्थापना। पेरिसमें दीन छात्रोंको चित्र, ज्यामिति, वास्तुकला सिखानेके

लिये ईसाई विद्यालय। उच्च माध्यमिक शिक्षा-के लिये आश्रम-विद्यालय जिनमें युद्धविद्या, कृषि, व्यापार आदिकी शिक्षा दी जाती थी। उद्देश्य धार्मिक।

कक्षाओंका यह कहकर बड़ा विरोध भी किया गया कि अध्यापकको पढ़ाना उसका अपमान करना है फिर भी ये संस्थाएँ चल निकलीं। ल सालेने पेरिसमें एक ईसाई विद्यालय स्थापित किया जिसमें उत्साही दीन विद्यार्थियोंको चित्रकला, ज्यामिति और वास्तुकला सिखाई जाती थी। इसीके साथ उच्चतर माध्यमिक शिक्षाके लिये आश्रम—विद्यालय भी स्थापित कर दिए गए जहाँ विद्यार्थियोंके रहनेका भी प्रबन्ध था। सन् १७०५ ई० में जब जब ल साले जाकर सन्तयोनमें वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने लगे तब उन्होंने वहाँ अपना प्रसिद्ध आश्रम-विद्यालय स्थापित किया जहाँ बालकोंको युद्धविद्या, कृषि, व्यापार तथा अन्य अनेक प्रकारकी औद्यौगिक शिक्षा दी जाती थी।

इन ईसाई-बन्धु-विद्यालयोंमें विद्यालयके आचार (कौंडक्ट औफ़ स्कूल्स) नामक स्थिर नियमोंके अनुसार पढ़ाई होती थी जिनमें पीछे समय-समयपर आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन भी होते ही रहे। इन

उद्देश्य प्रायः धार्मिक, कठोर नियन्त्रण। पाठ-क्रममें व्यावहारिक विषय भी। कक्षा-पणालीका पवर्त्तन तथा शिछण-कलाका प्रारम्भ।

ईसाई-बन्धुओंका शैक्षणिक उद्देश्य प्रधानतः धार्मिक था और इस उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये साधन थे—कठोर नियन्त्रण, आदर्श आचरणके उदाहरण और प्रश्नोत्तरी-शिक्षा। पाठ्यक्रममें अन्य तत्कालीन विषयोंके साथ साथ और भी व्यावहारिक विषय जोड़ दिए गए थे। पढ़ना, लिखना, गणित, धर्मशिक्षा और सदाचारके साथ सर्वगणित, इतिहास, वनस्पति-विज्ञान, भूगोल, चित्रकला, वास्तुकला, जल-विज्ञान, नौका-शास्त्र तथा अन्य यन्त्र-सम्बन्धी विषय भी सिखाए जाते थे और व्यावसायिक विद्यालयोंमें शिल्प और उद्योगकी शिक्षा भी दी जाती थी। ल सालेने समवेत शिक्षा-प्रणाली या कक्षा-प्रणाली (साइ-मल्टेनिअस मेथड)का प्रयोग करके शिक्षाक्रममें उचित सुधार भी कर दिया था। समवेत-प्रणालीका अर्थ यह था कि विद्यार्थियोंको उनकी योग्यताके अनु-सार श्रेणीबद्ध कर दिया जाय जहाँ वे एक ही अध्यापकके अधीन रहकर एक साथ एक समयमें एक ही पुस्तकका एक ही पाठ पढ़ें। उस समयतक अध्या-पकोंको भी तत्कालीन प्रणालीके अनुसार समस्त विद्यार्थियोंको एक एक करके अलग अलग पढ़ाना पड़ता था जिससे विशेष परिश्रम भी होता था और पुनरावृत्ति भी बहुत होती थी। इस समवेत प्रणाली या वर्ग-प्रणालीसे बहुत श्रम बच गया। इस प्रकार आजकलकी कक्षा या वर्ग-प्रणालीका जो प्रवर्तन भारतमें

इतिहासके पहले ही अपने आश्रमोंमें ऋषियोंने व्यवस्थित कर लिया था वह सत्रहवीं सदीमें सर्वप्रथम योरोपमें ल-सालेने ही किया। इसीके साथ-साथ शिक्षण-कलाका प्रवर्तन भी इन ईसाई-बन्धुओंके शिक्षण-विद्यालयोंमें ही हुआ और इन शिक्षण विद्यालयोंमें शिक्षित अध्यापक ही विद्यालयोंमें पढ़ानेके लिये भेजे जाने लगे। ईसाई बन्धुओंकी इन पाठशालाओंका बड़ा प्रचार हुआ। और अनेक स्थानोंपर इस प्रकारकी बहुत सी पाठशालाएँ खुल गईं।

सुधार-युगकी शिक्षाका विश्लेषण

यद्यपि मानववादी शिक्षा-सिद्धान्त भी प्राचीन शिक्षा-प्रणालीमें पर्याप्त क्रान्ति उत्पन्न करके साधारण मानव-समाजमें नई विचार-धारासे सोचने-विचारनेकी भावना पल्लवित कर चुके थे किन्तु फिर भी अभी उनमें यह साहस नहीं आ पाया था कि वे खुलकर ईसाई धारणाओंके अबुद्धिगम्य विश्वासोंमें शंकातक उत्पन्न कर सकें। किन्तु मार्टिन लूथरने जिस वेगसे प्राचीन रूढ़ियोंको झटका दिया उससे लोगोंमें कुछ कुछ आत्मविश्वास जागरित होने लगा। लूथर ही पहला व्यक्ति था जिसने सामाजिक वर्गोंकी चिन्ता न करके समानताके सिद्धान्तपर ऊँच-नीच, धनी-निर्धनका भेद मिटाकर राष्ट्र तथा धर्मके हितके लिये शिक्षाका प्रवर्त्तन किया। किन्तु इससे भी अधिक महत्त्वकी बात उसने यह की कि जहाँ बालककी बुद्धि और उसके मानसिक विकासकी उपेक्षा करके उसपर बलपूर्वक ज्ञानका भार लादा जाता था वहाँ उसने बालककी मनोवृत्ति और रुचिके अनुकूल शिक्षा देनेका विधान किया जो अत्यंत स्वाभाविक था और जिसमें वर्त्तमान मनोवैज्ञानिकोंका आडम्बरपूर्ण अतिकरण भी नहीं था। ज़्विंग्लीने कुछ हड़बड़ीसे काम लिया और वह एक बाणसे सातों ताल बेधने लगा। परिणाम यह हुआ कि उसने इतने विरोधी उत्पन्न कर लिए कि न तो उसकी धार्मिक योजना ही फल पाई न शिक्षा योजना ही। यद्यपि कालविनने थोड़े संयमसे काम लिया किन्तु उसने शिक्षाकी ऐसी लम्बी-चौड़ी योजना बनाई कि जीवनकी समस्याओंमें लिप्त रहनेवाले सर्वसाधारणको उसके प्रति विशेष श्रद्धा न हो सकी। इन सुधारकोंके पश्चात् यीशू समितिने जो विद्यालय खोले उनमें भी इतना विराट् पाठ्यक्रम स्थिर कर दिया गया कि उनमें शिक्षा प्राप्त करनेके लिये अपरिमित धैर्य तो अपेक्षित था ही, निरवधि समय भी आवश्यक था। इतना धैर्य, समय और द्रव्य किसके पास था कि अट्ठारहसे तीस वर्षतक लगातार विद्यालयमें बैठकर पुस्तकोंसे जूझे। फलतः इन विद्यालयोंकी ओर भी जनता प्रवृत्त न हो सकी और यह विस्तृत शिक्षा-प्रणाली अपनी जटिलताके कारण समाप्त हो गई। हाँ, पोर्ट रौयलीयों या जान्सेनियोंने जो शिक्षा-योजना बनाई वह अधिक व्यावहारिक थी क्योंकि एक तो उन्होंने

रूढ़िकी अपेक्षा बुद्धि और तर्कको प्रधानता दी जिससे ज्ञानमें विश्वास उत्पन्न हो, दूसरे थोड़े-थोड़े छात्र एक एक अध्यापकके साथ कर दिए जिससे प्रत्येक छात्रके आचरण और ज्ञानपर पूरा ध्यान दिया जा सके और तीसरे उन्होंने शिक्षाका यह मुख्य उद्देश्य ठीक समझा था कि ज्ञान प्राप्त करना इतना आवश्यक नहीं है जितना चरित्रनिर्माण। ईसाई-बन्धु-विद्यालयोंके प्रवर्त्तक ल सालेने योरोपको जो सबसे अधिक महत्त्वकी वस्तु दी वह थी कक्षा-प्रणाली (क्लास सिस्टम) जिससे अध्यापकोंके समय और परिश्रमकी बड़ी रक्षा हुई अन्यथा इससे पूर्व योरोपमें भी मकतबोंके समान अनेक छात्र, अनेक पुस्तकोंके पाठ एक साथ पढ़ते थे। इस कक्षा-प्रणालीसे शिक्षा-योजनामें एक प्रकारकी व्यवस्था और संयतता आ गई। इन सब बातोंका विचार करके यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि योरोपीय शिक्षाको उचित रूपसे उचित मात्रामें व्यवस्थित करनेका श्रेय सुधार युगको ही है जिसका अधिक श्रेय लूथर, यीशू समिति और जीन बपतिस्ते द ला सालेको है।

इस सुधार युगके इन शिक्षान्दोलनोंका परिणाम यह हुआ कि शिक्षाका उद्देश्य धार्मिक हो गया और जर्मनी, हौलैण्ड, स्कौटलैण्ड तथा अमेरिकाके विभिन्न प्रदेशोंमें राज्यकी ओरसे नये-नये विद्यालय खुलने लगे और जनताके व्ययपर प्रारंभिक शिक्षाकी व्यवस्था करना राज्यका कर्तव्य समझा जाने लगा। माध्यमिक विद्यालयोंपर भी यद्यपि प्रभाव तो पादरियोंका ही था किन्तु नागरिक लोग भी विद्यालयोंके प्रबंधमें योग देने लगे। विश्वविद्यालयोंमें भी यद्यपि अधिकांश तो कैथोलिक सम्प्रदायके ही पक्षपाती रहे किन्तु कुछमें नये विरोधी विचारोंका प्रचार भी होने लगा। पर यह अवस्था अधिक दिन न टिक सकी। धीरे-धीरे इन नई और पुरानी दोनों प्रकारकी संस्थाओंमें शिथिलता आने लगी। केवल पढ़ना ही लोगोंका एकमात्र ध्येय रह गया और पाठ्यक्रम भी बँध-से गए। तर्कके बदले रटन्त-प्रणालीको पुनः प्रधानता दी जाने लगी। अधिकारमद चारों ओर फैलने लगा और व्यक्तित्वके विकासका मार्ग पुनः अवरुद्ध हो गया।

पढ़ना ही ध्येय हो गया। रटन्त प्रणालीका फिर प्रचार। अधिकारमदके फैलनेसे व्यक्तित्वका विकास हुआ। शिक्षा-संस्थाएं ढीली पड़ गईं।

८

शिक्षामें तथ्यवाद

मिल्टन और मौन्टेन

सुधार तथा जागरणके युगमें जो बौद्धिक जागर्ति हुई थी उसका एक रूप तो था मानवतावाद, जिसकी व्याख्या पीछे की जा चुकी है किन्तु एक दूसरी भी प्रवृत्ति इसमेंसे प्रादुर्भूत हुई जिसने प्रारंभिक अवस्थामें तथ्यवाद (रीअलिज़्म)का रूप धारण किया। उसका स्पष्ट उद्देश्य यह था कि मनुष्यको ईश्वरने जो बुद्धि दी है उसका उपयोग ठीक-ठीक करके और जितनी ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं उनसे अनुभव करके मनुष्य जिस बातको सत्य या वास्तविक समझता हो उसे ही शुद्ध ज्ञान समझकर ग्रहण करे, किसी पोथीको प्रमाण न माने चाहे वह किसीने भी लिखी हो। इसका तात्पर्य यह है कि इस नये मानवतावादका आधार हुआ प्रत्यक्ष या गोचर तथा युक्तियुक्त अथवा बुद्धिसंगत बातोंको ही वास्तविक ज्ञान मानना। इसका कारण स्पष्ट यह था कि सम्पूर्ण साहित्यमें अनेक इस प्रकारकी बातें, घटनाएँ, वर्णन और कथाएँ भरी पड़ी थीं कि उन्हें किसी प्रकार भी सत्य या वास्तविक नहीं समझा जा सकता था। अतः इन नवीन आन्दोलनकारियोंका कहना था कि ज्ञान, सत्य होता है और सत्य या तो प्रत्यक्ष होता है या बुद्धिसंगत। क्योंकि ज्ञान प्राप्त करना ही शिक्षाका लक्ष्य है इसलिये मनुष्यको ज्ञानके रूपमें वही ग्रहण करना चाहिए जो स्वानुभूत हो या युक्तिसंगत हो।

अपने स्वतः अनुभव तथा तर्कसे ही वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है—यही तथ्यवाद था जो अन्तमें स्वानुभूतिवादके रूपमें परिणत हुआ।

तथ्यवाद तथा स्वानुभूतिवाद

यों तो पहलेसे ही व्यक्तिको रूढ़ियों और निरर्थक कठोर विधानोंसे मुक्त करानेका क्रम चल रहा था किन्तु इन तथ्य-वादियोंका मार्ग उससे कुछ भिन्न ही था। इन तथ्य-वादियों (रीअलिस्ट्स) ने ऐसी विधि खोज निकालनेका प्रयत्न किया जिससे वस्तुओंका वास्तविक ज्ञान हो सके। इस प्रवृत्तिका सबसे अधिक स्पष्ट और अन्तिम रूप था इन्द्रियानुभववाद या स्वानुभूतिवाद (सेन्स रीअलिज़्म), जिसका तत्त्व यह था कि हमें अपनी इन्द्रियों और बुद्धिगम्य तर्कों-द्वारा ही वास्तविक ज्ञान

प्राप्त होता है, पोथी रटने और रूढ़ियोंमें अंध-विश्वास करनेसे नहीं। उनका कहना था कि संसारकी सब वस्तुएँ अलग अलग अध्ययनीय विषय हैं और इसलिये उनका अध्ययन भी अलग अलग होना चाहिए। अतः शिक्षाके क्षेत्रमें इस तथ्यवादने प्राकृतिक विज्ञानोंकी खोजपर ही विशेष ध्यान दिया और यदि इसमें प्रारंभिक तथ्यवादी प्रवृत्तियोंकी उपेक्षा न की गई होती तो इसे वैज्ञानिक आन्दोलनका प्रभाव भी कहा जा सकता था। इस तथ्यवादके दो पक्ष थे, एक था मानवतावादी तथ्यवाद (ह्यूमेनिस्टिक रीअलिज़्म) और दूसरा था समाजवादी तथ्यवाद (सोशलिस्ट रीअलिज़्म)।

मानवतावादी तथ्यवाद

साहित्यमें तथ्यकी खोज करना ही मानवतावादी तथ्यवादियोंका उद्देश्य

संसारके समस्त पदार्थोंका वास्तविक तथ्य समझनेके लिये पिछले खेवेके मानवतावादियोंने यह प्रयत्न किया कि किसी भी लेखकके शब्दोंमें जिन भावोंकी अभिव्यक्ति हुई है उनमें वास्तविक वस्तुओं तथा तत्त्वोंकी खोज करें। इस उदार मानवतावादका फल यह हुआ कि लोगोंने उदात्त साहित्य (क्लासिकल लिटरेचर) के शब्दों और बँधे हुए रूपोंकी उपेक्षा करके उसके वर्ण्य विषयकी ओर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया। यही था मानवतावादी तथ्यवाद क्योंकि इसमें उदात्त काव्योंके विषयका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये काव्यमें वर्णित कथाके समयकी सामाजिक, भौगोलिक तथा प्राकृतिक परिस्थितिके अध्ययनकी प्रवृत्ति लोगोंमें बढ़ चली, यहाँतक कि अंग्रेज कवि मिल्टन (१६०८-१६७४ ई०) तो कोरे लातिन वैयाकरणों और कोरे साहित्यकारोंसे चिढ़कर यह कहने लगा था कि साहित्यकी विषय-सामग्रीका ठीक परिज्ञान करनेके लिये पहले लातिनके कृषि-शास्त्रियोंके ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ और प्राकृतिक इतिहास, भूगोल तथा भेषज-विज्ञानमें पूर्ण प्रवेश पानेके लिये पहले यूनानी ग्रन्थकारोंके ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ। मिल्टन भली प्रकार समझता था कि प्रकृतिका वर्णन करनेवाला जो कवि अपने देशकी ऋतु, जलवायु, लता, गुल्म, वृक्ष, पशु-पक्षी आदिसे अपरिचित होगा वह उस देशकी प्रकृतिमें जीवन-लीला दिखानेवाले व्यक्तियोंपर प्रबंध काव्य कैसे लिख सकेगा। देश-काल-प्रकृतिकी इसी अनभिज्ञताके कारण ही अनेक कवियोंने अपने वर्णनोंमें अनेक प्रकारकी भद्दी भूलें कर डाली हैं जिसका दुष्परिणाम यह हुआ है कि उन कवियोंको प्रामाणिक समझनेवाले लोगोंने उनकी सब बातें तथ्य तथा प्रामाणिक समझकर उसके आधारपर संसारमें अनेक मिथ्या तथा भ्रमपूर्ण बातें प्रचारित कर डाली हैं। इसी अज्ञानके

कारण वास्तविक ज्ञानकी प्राप्तिमें बाधा पड़ी है और असत्य तथा अतथ्यक स्थापना हुई है।

समाजवादी तथ्यवाद

संसारमें जीवनवहन करनेकी योग्यता ही समाजवादी तथ्यवादका लक्ष्य। साहित्यके साथ शीलकी शिक्षा। विद्यालयोंमें पढ़ानेके बदले घरमें अध्यापक द्वारा देशाटन द्वारा शिक्षा।

जहाँ एक ओर लिखित साहित्यमें वास्तविकता ढूँढ़नेका प्रयत्न हो रहा था वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे भी लोग थे जो यह समझ रहे थे लिखित ज्ञान प्राप्त करनेके अतिरिक्त मनुष्यका अपना वास्तविक जीवन भी है जिसे वह सामाजिक प्राणी होनेके नाते निबाहना चाहता है और जो उसे निबाहना पड़ता है। अतः केवल कुछ तथ्य बताना मात्र ही शिक्षाका चरम लक्ष्य या ज्ञानकी परमावधि नहीं मान लेनी चाहिए क्योंकि शिक्षा या ज्ञान प्राप्त करनेका उद्देश्य तो यही है कि जीवन-निर्वाहमें मनुष्य उस ज्ञानका प्रयोग कर सके। यदि यह न हो सका तो उस तथ्य-ज्ञानसे लाभ क्या हुआ और उस ज्ञानार्जनके निमित्त समय तथा द्रव्य लगानेका क्या प्रयोजन रहा। इस विचारके आधारपर तथ्यवादियोंका एक नया पन्थ चल पड़ा—सामाजिक तथ्यवाद। इन समाजवादी तथ्य-वादियोंके मतसे शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि वह छात्रोंको इस वास्तविक संसारमें रहने और जीवन वहन करने योग्य बना सके तथा जीवनके अवसरों और कर्तव्योंके लिये सीधी व्यावहारिक बातें बता सके। इन लोगोंका विश्वास था कि उच्च समाजके उच्च वर्गको साहित्यिक शिक्षाके साथ मध्ययुगीन वीरताकी शिक्षा भी दी जाय जिससे वह वर्ग शिष्ट और सज्जन भी बन सके। इनका विचार था कि छात्रोंको विद्यालयोंमें पढ़ानेकी अपेक्षा किसी एक घरेलू अध्यापक-द्वारा या देशाटन-द्वारा शिक्षा देनी चाहिए और इसीलिये इन्होंने अपने पाठ्यक्रममें दौत्यकर्म (राजदूतका काम), मुख-सामुद्रिक-शास्त्र (किसीका मुख देखकर उसका स्वभाव जान लेना), अश्वारोहण, बर्छी चलाना और फुर्तीले व्यायामके साथ-साथ वर्तमान भाषाओं तथा पास-पड़ोसके देशोंकी रीति-नीति और आचार-विचार आदि विषयोंको स्थान दिया था।

मौन्टेन और लौक

लौकके अनुसार शिक्षाके

इस प्रकारकी शिक्षाका ठीक विवरण मौन्टेन (१५३३ से १५९२ ई०) के "बच्चोंकी शिक्षा" नामक निबंधोंमें मिल सकता है। किन्तु मौन्टेनसे भी अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है जौन लौक (१६३२ से १७०४ ई०) का "शिक्षा-संबंधी कुछ विचार"

उद्देश्य-सद्गुण, ज्ञान, संस्कार और विद्या।

नामक ग्रन्थ। लौकने महत्त्वके क्रमसे शिक्षाके ये उद्देश्य रक्खे हैं—१. सद्गुण या सदाचार, २. ज्ञान (सांसारिक या इहलौकिक समस्त विषयोंका ज्ञान), ३. भाव-संस्कार अथवा मनकी उदारता और ४. विद्या। उसका कहना है कि यह शिक्षा केवल ऐसे शिक्षक द्वारा ही प्राप्त हो सकती है जो स्वयं अच्छे संस्कारोंमें पला हो, जिसे विभिन्न प्रकारके अवसरों और स्थानोंके अनुकूल नागरिक आचरणोंका ज्ञान हो और जो अपने शिष्यको युगकी आवश्यकताके अनुसार इन सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी व्यवस्था करा सके। पाठ्यक्रमके विषयमें उसका मत है कि पुस्तक-ज्ञानके अतिरिक्त उसे सज्जनों या शिष्ट नागरिकोंके भी कुछ गुण प्राप्त करने चाहिएँ जैसे नृत्यकला, अश्वारोहण, बर्छी चलाना और मल्लयुद्ध करना।

मानवतावादी तथ्यवादपर मिल्टनका मत

जिन लोगोंने मानवतावाद या सामाजिक तथ्यवादपर लेख या ग्रन्थ लिखे हैं उन्होंने शिक्षाके इन दोनों पक्षोंका ऐसा गड़बड़घोटाला कर दिया है कि उनका भेद करना अत्यन्त कठिन हो गया है। वास्तवमें न तो मानवतावादी ही सामाजिक पक्षको छोड़ना चाहते थे न सामाजिकतावादी मानव पक्षको। मानवतावादी तथ्यवादके समर्थक मिल्टनने कहा है कि भाषा और पुस्तककी शिक्षाके साथ-साथ पाठ्य-क्रमके अन्तमें इतिहास, नीति-शास्त्र (ईथिक्स) राजनीति, अर्थशास्त्र और धर्मविज्ञान आदि सामाजिक विज्ञान भी सिखाने चाहिएँ एवं ऐसी व्यावहारिक शिक्षा देनी चाहिए जो विद्यार्थीको जीवनके निकटतम पहलुओंसे सम्पर्क करा दे। उसका यह भी विचार है कि इँगलैण्ड तथा अन्य देशोंमें विद्यार्थियोंको देशाटन-द्वारा भी ज्ञान प्राप्त कराना चाहिए। पैरेडाइज़ लौस्ट (खोया हुआ स्वर्ग) तथा पैरेडाइज़ रीगेन्ड (स्वर्ग पुनः-प्राप्त) काव्यके रचयिता जिस मिल्टनने काव्यकी उदात्त भूमिकामें अपनी अलौकिक तथा भव्य कल्पना प्रतिष्ठित की थी वही मिल्टन अपने समाजकी पुकारको अनसुनी न कर सका। उसने विद्यालयोंके सुधारका पथ-प्रदर्शन करनेके लिये एक ज्ञानमन्दिर (ऐकेडेमी) स्थापित किया और सन् १६४४ में अपने अध्यापन-अनुभवके आधारपर एक शिक्षा-प्रबन्ध (ट्रैक्टेट औफ़ एजुकेशन) लिखा। मिल्टनका विचार था कि किसी काव्यके बँधे-बँधाए शब्द-

मानवतावादी तथ्यवादियोंके अनुसार पाठ्यक्रमके अन्तमें इतिहास, नीतिशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा धर्म विज्ञानकी शिक्षा भी आवश्यक। देशाटन द्वारा शिक्षा भी अपेक्षित। मिल्टन द्वारा आश्रम विद्यालयकी स्थापना।

रूपोंकी रटाई छोड़कर हमें उन विचारों और तथ्योंका अध्ययन करना चाहिए जिनकी अभिव्यक्ति शब्दों-द्वारा होती है। काव्यका भाव समझना, उसका संदेश समझना ही वास्तवमें हमारे अध्ययनका लक्ष्य होना चाहिए और उस अध्ययनसे हमारे व्यवहार और विचारमें जो परिवर्त्तन हो वही हमारे लिये ग्राह्य होना चाहिए। इसी ज्ञानको आचार्योंने मानवीय सानुभव-ज्ञान कहा है। इसी भावाध्ययनके साथ साथ काव्यकालीन समाज और काव्यकालीन प्राकृतिक वातावरणके अध्ययनको भी इस दृष्टिसे महत्त्व दिया जाने लगा कि तत्कालीन सामाजिक और प्राकृतिक अध्ययनसे काव्यार्थको भली भाँति समझनेमें पूरी सहायता मिल सकेगी। इसके साथ-साथ यह भी प्रयास किया जाने लगा कि बालकोंकी शिक्षा इतनी उपादेय हो कि वे अपने सांसारिक जीवनके साथ उसका सामंजस्य स्थापित करके वास्तविक जीवन-निर्वाहमें कुशलता प्राप्त कर सकें। इस उद्देश्यको सफल करनेके लिये यह भी सुझाया गया कि योग्य अध्यापककी देखरेखमें बालकोंको देशी-विदेशी विद्यालयोंमें थोड़े-थोड़े दिन रख छोड़ा जाय। इस प्रवृत्तिको हम सामाजिक सानुभव-ज्ञान कह सकते हैं। मानवीय और सामाजिक अध्ययनकी यही प्रवृत्ति आगे चलकर शिक्षाचार्योंकी परिभाषामें स्वानुभव-ज्ञान या इन्द्रियानुभव-ज्ञान बन गई।

काव्यका भाव और संदेश समझना ही हमारा लक्ष्य और उस अध्ययनसे हमारे व्यवहार और विचारमें परिवर्त्तन हो, हमारे जीवन-निर्वाहकी कुशलता प्राप्त हो।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मिल्टनको सुग्गा-रटंत या बिना समझे किसी पोथीको सुग्गेके समान रट लेनेसे बड़ी चिढ़ थी। वह शब्दकी अपेक्षा भावको अधिक महत्त्वपूर्ण समझता था। वह चाहता था कि किसी काव्यके सब शब्दों या वाक्योंका अर्थ भले ही किसीकी समझमें न आवे पर उसका भाव स्पष्ट समझमें आ गया तो पर्याप्त है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे लातिन या यूनानी भाषासे चिढ़ थी क्योंकि उसने शिक्षा-विषयोंकी जो लम्बी-चौड़ी सूची दी है उसमें विज्ञान, शिल्प, प्रकृति-निरीक्षण आदिके साथ साथ लातिन और यूनानी भाषाके विस्तृत अध्ययनको भी महत्त्वपूर्ण बताया है यहाँतक कि उसने यह योजना बनाई थी कि लातिन भाषाके द्वारा कृषिशास्त्र पढ़ाया जाय और यूनानीके द्वारा प्राकृतिक इतिहास, भूगोल और औषधशास्त्र सिखाया जाय। यों तो भाषाओं तथा अन्य विषयोंके अध्ययनकी योजना मिल्टनने इतनी विशाल बनाई है कि साधारण बालक तो दस जन्मोंमें भी सब विषय नहीं सीख सकता पर उसका अर्थ यही निकालना चाहिए कि मिल्टन उस युगकी शिक्षाके घेरेको बड़ा कर देना चाहता था।

मिल्टनने भी मौन्टेनके समान यह सुझाव रक्खा है कि शिक्षाक्रमके अंतिम कालमें इतिहास, कर्तव्यशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र तथा अन्य ऐसे व्यावहारिक सामाजिक विषय सिखा देने चाहिएँ जिनका मानव जीवनसे नित्यका सम्बन्ध हो। इसी ज्ञानको पुष्ट, सुसंबद्ध और व्यवस्थित करनेके लिये मिल्टनने स्वदेश-विदेशके भ्रमणका भी प्रस्ताव किया है। इस नीतिपर शिक्षाकी प्रतिष्ठा करनेवाले मिल्टनकी शिक्षाका उद्देश्य भी स्पष्ट है। वह मनुष्यको शिक्षा देकर ऐसा साध देना चाहता था कि मनुष्य जिस वातावरणमें भी रहे उसमें ऐसा ठीक बैठ जाय कि न तो उसे ही असुविधा या कष्ट हो और न उसके कारण समाजको ही असुविधा हो। शिक्षाका उद्देश्य बताते हुए वह कहता है—"मैं उसी शिक्षाको पूर्ण और उदार समझता हूँ जो मनुष्यको इस योग्य बना दे कि वह शान्ति तथा युद्धकालमें अपने व्यक्तिगत तथा समाजगत कर्त्तव्योंको न्याय, कुशलता और उदारताके साथ सम्पन्न कर सके।"

अपने शिक्षा-सिद्धान्तोंकी पूर्त्तिके लिये मिल्टनने एक 'एडेकेमी' (ज्ञान-मन्दिर) नामक विद्यालयकी योजना प्रस्तुत की थी जो विशाल मैदानसे घिरे हुए भव्य भवनमें स्थापित हो और जिसमें डेढ़ सौ छात्र रक्खे जा सकें। सन् १६६२ के ऐक्ट औफ़ यूनीफ़ौर्मिटी (साम्य-विधान) के कारण जो दो सहस्र असाम्प्रदायिक पादरी अलग कर दिए गए थे उन्होंने कुछ ऐसी संस्थाएँ स्थान-स्थानपर खोल दीं और यद्यपि इनमें मिल्टनके मानवीय स्वानुभव-ज्ञानका ही बोलबाला था किन्तु वहाँसे विज्ञान, गणित और समाजशास्त्रके भी अच्छे विद्वान् निकले। इसी स्वानुभव ज्ञानके आधारपर अमेरिकामें भी माध्यमिक शिक्षाके लिये अनेक संस्थाओंका जन्म हुआ।

मौन्टेन

सामाजिक तथ्यवादी मौन्टेनने भी वास्तविकतापूर्ण मानवतावादको अधिक महत्त्व दिया। "दिखावटी विद्वत्तापर" (ओन पेडेण्ट्री) नामक अपने ग्रन्थमें उसने तत्कालीन संकुचित मानवतावादी शिक्षापर बड़ा कठोर व्यंग्य किया है और तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीकी आलोचना करते हुए कहा है कि हमारे विद्यालयोंमें जो शिक्षा दी जा रही है वह अत्यन्त नियन्त्रित, कृत्रिम और संकुचित मानवताकी है। लातिन और यूनानी भाषाओंके शब्द और धातु-रूप रटवाना, न रटनेपर अध्यापकके डंडे खाना, मार सहना, कोठरियोंमें बन्द किए जाना और पढ़ लिख चुकनेपर अत्यन्त व्यवहार-शून्य, शब्द-संचयमात्रसे युक्त ऐसे

मौन्टेन-द्वारा तत्कालीन शिक्षा प्रणालीकी आलोचना। अध्यापकका कर्त्तव्य है पाठके शब्दका नहीं, उसके अर्थ और भावकी शिक्षा दे।

साधनहीन, प्रयोगहीन तथा अनुभवनहीन नागरिक बनकर निकलना ही उस शिक्षाका फल था जिनकी रचनात्मिका शक्ति कुण्ठित हो गई हो और जिन्हें मानव-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें चारों ओर शून्य ही शून्य दिखाई पड़ता हो। इसीलिये मौन्टेनने यह व्यवस्था दी कि अध्यापकका कर्तव्य केवल यही नहीं है कि वह पाठके शब्दोंमें ही विद्यार्थीकी परीक्षा ले, उसका यह भी कर्तव्य है कि वह पाठके अर्थ और भावका भी परीक्षण करे। उसे केवल यही नहीं देखना चाहिए कि विद्यार्थीने कितना रटा है प्रत्युत यह भी देखना चाहिए कि छात्रने कितना समझा है और कितना लाभ उठाया है।

मानवतावादी शिक्षाके अन्य आचार्य

मानवतावादी आचार्योंने वास्तविक जीवनसे संबद्ध पाठ्य-विषयोंकी बहुलतासे भरी तथा प्राचीन रूढ़ियोंसे मुक्त शिक्षाका प्रचार किया।

इस मानवतावादी शिक्षाके अन्य आचार्योंमें राबैले (१४९५-१५५३ ई०) और मलकास्टर (१५३०-१६११ ई०) के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी थे जो स्पष्ट रूपसे सामाजिकतावादी ही थे जैसे 'दरबारी' (दि कोर्टियर १५२८) के लेखक कास्टिग लिओन, 'शासक' (दि गवर्नर १५३१) के लेखक ईलियट, 'पूर्ण सज्जन' (दि कम्प्लीट जैंटिलमैन १६२५ ई०) के लेखक पीचम और 'अंग्रेज़ सज्जन' (इंगलिश जेंटिलमैन १६३० ई०) के लेखक ब्राथवेट। इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे विद्वान् हुए जिन्होंने और भी उदार तथा बहुमुखी शिक्षाके साथ-साथ प्राकृतिक और सर्वसाधारण पद्धति-द्वारा शिक्षा देनेके सुझाव प्रस्तावित किए थे, यहाँतक कि मलकास्टरने तो सार्वभौम प्रारम्भिक शिक्षा, अध्यापकोंकी शिक्षा, कन्याओंकी शिक्षा एवं शिक्षाके दार्शनिक तत्त्वके आधारपर बालकोंके मनका विश्लेषण करनेका भी सुझाव दिया था। वर्तमान शिक्षाके लिये इन सब प्रारम्भिक वास्तविकतावादियोंने इतने सुझाव दिए थे कि इन्हें लोग नवप्रवर्त्तक कहने लगे थे। इन्होंने प्राचीन रूढ़िवाद और बन्धनयुक्त मानवतावादको छिन्न-भिन्न कर डाला और वास्तविक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी शिक्षाका प्रचार किया जिसमें पाठ्य-विषयोंकी बहुलता थी।

सामन्त शिक्षालय या रिट्टेर आकाडेमियन

सामन्त शिक्षालयोंमें नृत्य, शस्त्र-विद्या, दर्शन,

इसी समय जर्मन राज्योंमें सत्रहवीं शताब्दिमें इस सामाजिकता-वास्तविकतावादसे प्रभावित एक प्रकारके नए विद्यालय खुले जिनमें सामन्तों और सरदारोंके बच्चोंको फ्रांसीसी, इतालवी, स्पेनी और अंग्रेज़ी भाषाओंके

विज्ञान, गणित, न्याय-विधान, मुख-सामुद्रिक तथा दौत्यकर्मकी शिक्षा

साथ साथ सदाचार, नृत्य, बर्छी चलाना, अश्वारोहण, दर्शनशास्त्र, सर्वगणित, भौतिक विज्ञान, भूगोल, गणनाशास्त्र, न्यायविधान, मुख-सामुद्रिक-विज्ञान और दौत्य-कर्मकी शिक्षा दी जाती थी। इन विद्यालयोंको रिट्टेर-आकाडेमियन या सामन्त-शिक्षालय कहते थे। इनमें व्यायामशाला (जिमनेशिया) के सब कार्योंके साथ साथ वर्त्तमान भाषाओं, विज्ञानों और सामन्तवादी कलाओंका भी शिक्षण होता था और विश्वविद्यालयोंका भी थोड़ासा पाठ्यक्रम मिला लिया गया था।

मानवता तथा समाजवादी तथ्यवादका विश्लेषण

समाजवादी तथ्यवादियोंने जहाँ काव्योंमें वास्तविक ज्ञान ढूँढ़नेका प्रयास किया था वहाँ उन्होंने शिक्षाके उद्देश्य और आदर्शको समझनेका कोई प्रयत्न नहीं किया और यही कारण है कि उन्होंने चरित्र-निर्माणके उदार, विश्वमान्य तथा सर्वोद्देश्य-युक्त लक्ष्यको छोड़कर शिक्षाका लक्ष्य समझा केवल जीवन-वहन करनेकी योग्यता। इसका स्वाभाविक कुपरिणाम यही हुआ कि छात्रोंमें स्वार्थकी भावना अधिक बलवती हो गई तथा उदात्त आचरणके साथ उत्पन्न होनेवाली परहित और लोक-कल्याणकी भावनाएँ नष्ट हो गईं। यद्यपि इन समाजवादी तथ्यवादियोंने साहित्यके साथ शीलकी शिक्षाका भी विधान किया था किन्तु वह आचार-विचारकी अनुकरणीय सांस्कारिक शिक्षाके अभावमें निरर्थक ही थी। इन समाजवादी तथ्यवादियोंकी यह उल्टी सूझ थी कि विद्यालय बन्द करके घरपर छात्रोंको पढ़ाया जाय और देशाटन कराया जाय, किन्तु इन्होंने यह विचार नहीं किया कि इतने अध्यापक कहाँ प्राप्त हो सकेंगे जो घर-घर जाकर पढ़ा सकें, सबके घरपर पढ़ने-लिखनेकी सुविधा और उसके साधन कहाँ होंगे और सब विद्याएँ जाननेवाले ऐसे अध्यापक कहाँ मिलेंगे जो सब कुछ पढ़ा सकें। देशाटनवाली योजना इससे भी अधिक अव्यावहारिक थी। यद्यपि यह सत्य है कि देशाटन-द्वारा बहुत अनुभव प्राप्त हो सकता है किन्तु यह अनुभव केवल भौगोलिक और सामाजिक मात्र होता है। तर्क, विज्ञान, इतिहास, गणित, कला आदि अनेक ऐसे विषय हैं जो देशाटनसे सीखे नहीं जा सकते। फिर देशाटन करनेका सामर्थ्य भी तो सबमें नहीं होता। इतने बड़े विश्वमें इतने धनपतियोंमें एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो यह कह सके कि मैं इस धरित्रीके सब प्रदेश देख चुका हूँ। इसलिये जहाँ ये समाजवादी तथ्यवादी अपने छात्रोंको व्यावहारिक बनाना चाहते थे वहाँ उनकी शिक्षण पद्धति ही स्वयं अव्यावहारिक बन गई थी। लौकने इस शिक्षाका रूप ठीक समझा था और वही एक ऐसा शिक्षा-शास्त्री है जिसने ज्ञान और विद्याके साथ

सद्गुण और संस्कारका मेल करके 'विद्या ददाति विनयम्' के भारतीय सिद्धान्त-का महत्त्व समझा। मिल्टनने तथ्यवादको जिस रूपमें समझने और समझानेका प्रयत्न किया वह बड़ा बेढंगा था। वह काव्यके भावको प्रधानता देना ही मानवतावाद समझ कर रह गया किन्तु उसने यह नहीं विचार किया कि कवि अपने काव्यमें जिस आदर्शकी प्रस्थापना कराता है वह सदा सब कालके लिये मान्य नहीं हो सकता। वीरताकी भावना भिन्न देशोंमें भिन्न रूपसे हुई है और वह प्रत्येक देशकी संस्कृतिके अनुसार मान्य या अमान्य होती रही है। अतः काव्यके भावको महत्त्व न देकर मनुष्यके व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवनको समुन्नत करना ही शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिए था, किन्तु इस ओर इन तथ्यवादियोंका ध्यान ही नहीं गया। मानवतावादी आचार्योंको यह श्रेय अवश्य दिया जायगा कि उन्होंने सार्वभौम प्रारंभिक शिक्षा, अध्यापन-कलाकी शिक्षा और कन्या-शिक्षाकी व्यवस्था की और बालकोंके मानसिक विकासका अध्ययन करनेके लिये मार्ग खोल दिया।

९

स्वानुभव-तथ्यवादी और विज्ञानका प्रारंभिक आन्दोलन

कमीनियस और लौक

सत्रहवीं शताब्दिमें चारों ओर वैज्ञानिक उन्नतिकी लहर उठ खड़ी हुई और शिक्षा-शास्त्रियोंने वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति तथा प्रत्येक वस्तुका वास्तविक तत्त्व पहचाननेके लिये पाठ्यक्रममें विज्ञान भी जोड़ दिया। उस विज्ञानमें बहुतसी ऐसी बातें भी थीं जो धार्मिक अन्धविश्वाससे टक्कर खाती थीं। इसलिये पादरियोंके कान खड़े हुए। वे भला यह कब सहन कर सकते थे कि कोई वैज्ञानिक आकर यह कह दे कि पृथ्वी, सूर्यके चारों ओर घूम रही है। इसी प्रकार शरीर-विज्ञान तथा ज्यौतिष-विज्ञानमें भी निरंतर नई नई बातें ज्ञात होती चलती जा रही थीं। इसलिये पादरियोंने इस नये आन्दोलनका बड़ा विरोध किया और इन सब वैज्ञानिकोंको नास्तिक तथा धर्मद्रोही-तक घोषित कर डाला।

विज्ञानकी बहुतसी बातें धार्मिक अंधविश्वासोंके विरुद्ध पड़ती थीं इसलिये पादरियोंने विरोध किया।

बेकन

अभीतक जितनी कुछ वैज्ञानिक खोज हो रही थी वह सब घुणाक्षर न्यायपर ही अवलम्बित थी। अचानक किसीको कुछ अनुभव हो जाता था और उसीके सहारे कोई वैज्ञानिक तथ्य स्थापित कर दिया जाता था, जैसे न्यूटनने पेड़परसे फल गिरते देखा तो गुरुत्वाकर्षणका सिद्धान्त स्थापित कर दिया। किसी व्यवस्थित क्रमसे वैज्ञानिक विकास नहीं हो रहा था। फ्रांसिस बेकन (१५६१—१६२६ ई०)को ही वैज्ञानिक खोजकी वह सर्वप्रथम व्यवस्थित पद्धति निकालनेका श्रेय है जिसका नाम उसने परिणाम-पद्धति (मैथड औफ़ इण्डक्शन) रक्खा। शिक्षाके क्षेत्रमें यह सर्वप्रथम वैज्ञानिक पद्धति मानी गई और

वैज्ञानिक विकासके लिये बेकनकी परिणाम-पद्धति—एकसे परिणाम-वाले अनेक उदाहरणोंसे सिद्धान्तकी स्थापना, स्वयं-अनुभवसे तथ्य जाननेकी प्रवृत्ति।

इसीलिये लोग बेकनको सबसे पहला स्वानुभव-तथ्यवादी अर्थात् अपने अनुभवसे तथ्यको जानने और समझनेवाला मानते हैं। उसने अरस्तूकी उस सिद्धान्त-पद्धति (डिडक्टिव मैथड) का खंडन किया जिसमें वैज्ञानिक लोग पहलेसे ही एक सिद्धान्त मान लेते थे और उसे आधार मानकर उसकी सिद्धिके लिये प्रमाण या उदाहरण खोजते थे। बेकनने इसे बदलकर यह पद्धति स्थापित की कि एकसा ही परिणाम दिखानेवाले अनेक उदाहरण, पदार्थ या प्रयोग एकत्र करके उनके परिणामसे सिद्धान्तकी स्थापना की जाय। उसने अपने 'नोवम ऑर्गेनम' (नया साधन) नामक लेखमें इस पद्धतिकी व्याख्या करते हुए कहा है कि कोई भी व्यक्ति इस पद्धतिके प्रयोगसे समस्त बुद्धिगम्य विषयोंका व्यवस्थित तथा निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यद्यपि प्रारंभमें तो यह पद्धति बड़ी सहायक सिद्ध हुई किन्तु पीछे चलकर यह भी यंत्रवत् बँध गई। इस पद्धतिकी योजना यह थी कि पहले प्रत्येक व्यक्तिके मनसे सम्पूर्ण व्यक्तिगत धारणाएँ निकलवा दी जायँ, फिर प्रकृतिके सब तथ्योंकी सूची बनाकर ध्यानपूर्वक उनका परीक्षण कराया जाय, तदनन्तर सबकी तुलना करके समान तथा असमान परिणाम प्रकट करनेवाले पदार्थोंके आधारपर मूलभूत सिद्धान्त या नियम स्थिर कर दिए जायँ। यद्यपि स्वयं तो बेकनको शिक्षामें कोई रुचि थी नहीं किन्तु जर्मन विद्वान् राटिख़ और मोराविया-वासी कमीनियसपर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा और इन दोनों शिक्षा-शास्त्रियोंने बेकनकी परिणाम-पद्धतिको लेकर शिक्षाके क्षेत्रमें नया प्रयोग प्रारंभ कर दिया।

राटिख़

राटिख़ (१५७१–१६३५) मूलतः जर्मनवासी था। इँगलैण्डमें अध्ययन करते समय ही वह बेकनके स्वानुभव-तथ्यवादसे परिचित हो गया था। उसी समय उसने यह भी निश्चय कर लिया था कि मैं इस सिद्धान्तके आधारपर नवीन शिक्षा-पद्धतिकी अवश्य स्थापना करूँगा। तथ्यवादियोंके समान वह भी सर्वप्रथम देशी भाषा सिखानेके पक्षमें था जिससे अन्य भाषाएँ सीखनेका संगत आधार मिल सके। उसका यह भी सिद्धान्त था कि एक समय एक ही वस्तु इस प्रकार पढ़ाई जाय कि उसकी निरन्तर आवृत्ति होती रहे जिससे वह ज्ञान पक्का होता जाय। उसका तात्पर्य यह था कि एक पुस्तक समाप्त होनेपर ही दूसरी पुस्तक प्रारंभ की जाय। जब वह क्वीथेनमें पढ़ाता था तब उसका क्रम यह था कि जैसे ही छात्र अक्षर पहचानने लगते थे वैसे ही उन्हें जर्मन सीखनेके लिये पुरानी बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट)

राटिख़ भी मानता था कि एक समय एक ही वस्तु इस प्रकार पढ़ाई जाय कि उसकी आवृत्ति होती रहे।

से 'सृष्टिकी उत्पत्ति' भली भाँति पढ़ लेनी पड़ती थी। शिक्षाका क्रम यह था कि अध्यापक प्रत्येक अध्यायको पहले दो बार बाँचता था। उस समय छात्र अपनी उँगली फेरते हुए पुस्तकमें उस पाठको देखते चलते थे। जब विद्यार्थी भली प्रकार पुस्तक पढ़ सकने योग्य हो जाते थे तब उन्हें उसीके आधारपर व्याकरण सिखाया जाता था। इसके पश्चात् अध्यापक उस पाठकी पदव्याख्या करके छात्रोंको उदाहरण ढूँढ़नेके लिये उत्साहित करता था और उनसे शब्दरूप तथा धातु-रूपकी आवृत्ति कराकर उनसे पदव्याख्या कराता था।

उसके शिक्षा-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्त भी स्पष्टतः व्यावहारिक और वास्तविक थे। उसने शिक्षाके कुछ मूलमंत्र या गुर स्थिर किए थे जैसे "प्रकृतिके अनुसार चलो, प्रत्येक बात प्रयोग और परिणामके द्वारा सीखो, रटकर कुछ भी कंठाग्र न करो।" इस प्रकार राटिख़ने केवल भाषा-शिक्षणकी ही सर्वश्रेष्ठ पद्धतिका रूप स्थिर नहीं किया अपितु वर्तमान शिक्षा-शास्त्रके सिद्धान्तोंका भी पूर्व-दर्शन कर लिया। अनुभव-शून्यता तथा अन्य कई कारणोंसे वह अपनी योजनामें सफल न हो सका किन्तु उसके विचारोंने शिक्षाके क्षेत्रमें हलचल अवश्य मचा दी और उसके अनुयायी कमीनियसने इस जर्मन शिक्षाशास्त्रीको पैस्तालौज़ी, फ्रोबेल् और हर्बार्टका आध्यात्मिक पूर्वज सिद्ध कर दिया।

शिक्षाके गुर—प्रकृतिके अनुसार चलो, प्रयोग और परिणामके द्वारा प्रत्येक बात सीखो, केवल रटकर न सीखो।

कमीनियस

जौन ऐमौस कमीनियस (१५९२-१६७१ ई०)का जन्म मोरावियाके निवनित्स नामक गाँवमें हुआ था। वह मोरावी चर्च (ईसाई धर्म-पद्धति) का प्रधान अनुगामी था। लातिन पाठशालामें शिक्षा पानेके पश्चात् वह हेरबोर्नके ल्यूथिरन कौलेज तथा हीडेलबर्ग विश्वविद्यालयमें दो वर्षतक शिक्षा पाता रहा। जीवनकी कुछ झंझटोंमें फँस जानेके कारण उसे बहुत इधर-उधर घूमना पड़ा और ऐसे बहुत प्रकारके लोगोंसे उसका सम्बन्ध हुआ जो उस समय शिक्षाके सुधार और संघटनमें दत्तचित्त होकर लगे हुए थे। यद्यपि उन सबकी शिक्षा-समस्याएँ भी कमीनियस जैसी ही थीं और उनका प्रभाव भी कमीनियसपर भरपूर पड़ा किन्तु कमीनीयसने उन सबको परास्त कर दिया। उसके शिक्षा-सम्बन्धी कार्य स्वानुभव-तथ्यवादसे ही प्रभावित थे। उसने तीन दिशाओंमें प्रमुख

स्वानुभव-तथ्यवाद से प्रभावित कमीनियसने पुस्तकमाला, शिक्षा-शास्त्र तथा ज्ञानको व्यवस्थित करनेके उपायकी रचना की।

रूपसे अपनी विशेषता प्रकट की—एक तो उसने लातिन सीखनेके लिये पुस्तकमाला (जानुआ लिंग्वारम रेसेराता) की रचना की, दूसरे उसने 'महा-शिक्षाशास्त्र' (दि ग्रेट डायडेक्टिक) रचा और तीसरे 'ज्ञानकी सर्वतोमुखी व्यवस्था करनेके उपाय' (पैनसोफ़िया) लिखा।

जानुआ लिंग्वारम रेसेराता (भाषाके द्वारका उद्घाटन)

सन् १६३१ में कमीनियसने "जानुआ लिंग्वारम रेसेराता" (भाषाके द्वारका उद्घाटन) नामक लातिन पुस्तकमाला प्रकाशित की जिसका उद्देश्य था लातिनके अध्ययनके लिये मार्ग खोलना। इस पुस्तक-मालामें क्रम यह था कि अत्यन्त परिचित वस्तुओं और विचारोंके लिये प्रयुक्त होनेवाले कई सहस्र लातिन शब्दोंको वाक्योंमें क्रमबद्ध कर दिया गया था। पृष्ठके दाहिनी ओर लातिन छपी रहती थी और बाईं ओर देशी भाषाओंमें उसका अर्थ छपा रहता था। इस प्रकार छात्रको साधारण विज्ञानका भी परिचय मिल जाता था और लातिन शब्द-भांडारका भी अच्छा ज्ञान हो जाता था। इस ग्रन्थमालाके लिखनेमें यद्यपि राटिख़का भी कुछ कम प्रभाव कमीनियसपर नहीं पड़ा था तथापि अपनी पद्धति तथा पुस्तकके नामकरणके सम्बन्धमें वह ऋणी था यीशुई बेतियसका जो इसी प्रकारका एक और ग्रन्थ पहले लिख चुका था। थोड़े ही दिनोंमें कमीनियसने अनुभव किया कि प्रारम्भिक छात्रोंके लिये यह पुस्तकमाला कठिन होगी। तब उसने एक परिचय-पुस्तिका वेस्तीबुलेन (ज्ञानकी दालान) लिखी जिसमें अत्यधिक साधारण तथा अति परिचित कुछ सौ शब्द थे। इसके पश्चात् इन पुस्तकमालाओंमें अनेक संशोधन और परिवर्द्धन हुए एवं इनकी अनेक आवृत्तियाँ हुईं। फिर इन्हींके सहायताके लिये व्याकरण, कोष और टिप्पणी भी लिखी गई। इसके पश्चात् उसने तीसरी लातिन पुस्तक प्रकाशित की 'आल्त्रीयम' (प्रवेश भवन) जो "जानुआ" से एक सीढ़ी और आगे ले जाती थी। कमीनियस उससे भी आगेकी एक पुस्तक लिखना चाहता था—सेपिएन्तिए पैलेतियम (ज्ञानप्रासाद) जिसमें लातिन ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंसे सुन्दर अंश संकलित किए गए थे। किन्तु यह ग्रन्थ पूरा नहीं हो पाया। फिर भी उसने "जानुआ" का एक अत्यन्त सरल, सुबोध तथा सचित्र संस्करण प्रकाशित किया जिसमें चित्रकी प्रत्येक वस्तुपर पाठमें आनेवाले शब्दकी संख्या

जानुआ लिंग्वारम रेसेरातामें परिचित वस्तुओं और विचारोंके लिये प्रयुक्त होनेवाले लातिन शब्दोंको वाक्योंमें क्रमबद्ध कर दिया था। उसे कठिन समझकर वेस्तीबुलेन लिखा और फिर उसके आगेकी पुस्तक आल्त्रीयम लिखी। जानुआ का सचित्र संस्करण।

दी रहती थी जैसे यदि पाठमें क्रमशः १ फूल, २ वृक्ष, ३ डाली, ४ पत्ते शब्द आते थे तो उस पाठके साथ दिए हुए फूलके पौधेके चित्रोंमें फूल, वृक्ष, डाली, पत्तेपर क्रमशः १, २, ३, ४ संख्या दी हुई होती थी जिससे शब्द और वस्तुका संबंध छात्रोंकी समझमें आ सके। इस पुस्तकका नाम था 'औबिस सेन्सुअलिअन पिक्टस (अनुभवगम्य पदार्थोंकी सचित्र सृष्टि)। भारत और चीनमें तो इस प्रकारके अनेक सचित्र ग्रन्थ लिखे जा चुके थे किन्तु योरोपमें यही पुस्तक सबसे पहली सचित्र पाठ्यपुस्तक समझी जाती है।

दि ग्रेट डाइडैक्टिक (शिक्षा-महाशास्त्र)

दि ग्रेट डाइडैक्टिकमें उसने शिक्षाके संबंधमें पूरा विवरण दिया था। उसके अनुसार सदाचार ही शिक्षाका आदर्श, सबके लिये शिक्षा आवश्यक, ६–६ वर्षकी चार शिक्षण-अवधि।

इस पुस्तकके अतिरिक्त कमीनियसके मस्तिष्कमें शिक्षाके उद्देश्यका भी एक निश्चित रूप था जिसे वह व्यवस्थित करना चाहता था और जिसकी विषय-सामग्री तथा शिक्षण-पद्धतिका रूप भी वह सुस्थिर करना चाहता था। शिक्षाके संबंधमें उसने अपना पूरा मत "महाशिक्षाशास्त्र" (दि ग्रेट डायडेक्टिक) में प्रतिपादित किया है जो सन् १६५७ ई० में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था। इसमें उसने तथ्यवादी आन्दोलनके भी सर्वश्रेष्ठ तत्त्वोंका समावेश कर लिया था और राटिख़, बेतिअस तथा अन्य शिक्षा-शास्त्रियोंके सिद्धान्तों और शिक्षण-विधानोंका ठीक रूप भी समुन्नत कर दिया था। इसके साथ उसने बेकनके 'ऐडवान्समेंट औफ़ लर्निंग' (विद्याकी समुन्नति) तथा अपने गुरु आस्टेडके विश्वकोष (एन्साइक्लोपीडिया) से भी सहायता ली थी। उसने ज्ञान, सदाचार और पवित्रताको ही शिक्षाका आदर्श माना था और बालक-बालिका, अच्छे-बुरे, धनी-निर्धन सबके लिये सार्वभौम शिक्षाका समर्थन किया था। छात्रकी शिक्षण-अवधिमें उसने छः-छः वर्षकी चार अवस्थाएँ सम्मिलित की थीं। पहली शिशु-शिक्षाकी अवधि जन्मसे लेकर छः वर्षतक थी जो माताकी गोदमें दी जानेको थी। इसके पश्चात् छः वर्षसे बारह वर्षकी अवस्थातक बालकोंको देशी-भाषाकी उन पाठशालाओंमें बालशिक्षा दी जानेको थी जो ग्राम-ग्राममें खोली जाय। बीससे अट्ठारह वर्षतक नगरोंके लातिन विद्यालयोंमें किशोर-शिक्षा दी जानेको थी और फिर प्रत्येक प्रान्त या राज्यके विश्वविद्यालयमें अट्ठारहसे चौबीस वर्षतक युवक-शिक्षाका विधान था। इस योजनाके साथ ऐसा प्रबन्ध भी किया गया था कि इस प्रकारकी शिक्षा सुलभतापूर्वक सबको प्राप्त हो।

पैनसोफ़िया (सर्वविषयक ज्ञान)

इनके अतिरिक्त कमीनियसने जो ग्रन्थ लिखे हैं वे इसी 'महाशिक्षाशास्त्र' के विस्तृत रूप समझने चाहिएँ। उसने 'पैनसोफ़िया' या सर्वविषयक ज्ञानके नामसे जो वास्तविक शिक्षाकी योजना बनाई थी वही उसका मूल ध्येय था। उसका विश्वास था कि सर्वतोमुखी शिक्षा चारों प्रकारके विद्यालयोंमें अर्थात् मातृ-कक्षा, ग्रामकी देशीभाषा-पाठशाला, नगरोंके लातिन विद्यालय और राज्यके विश्वविद्यालय सभीमें दी जाय और आगेके प्रत्येक विद्यालयमें ज्ञानकी परिधिका उत्तरोत्तर विकास होता चले अर्थात् शिशुशिक्षा-कालसे ही भूगोल, इतिहास, विज्ञान, व्याकरण, भाषणकला, संगीत, शास्त्रार्थकला, गणित, ज्यामिति, ज्यौतिष, अर्थशास्त्र, राजनीति, तत्त्वज्ञान और धर्म सबका थोड़ा-थोड़ा साधारण परिचयात्मक ज्ञान कराते रहना चाहिए और आगेकी श्रेणियोंमें क्रमशः उस ज्ञानका निरन्तर विस्तार कराते रहना चाहिए जिससे नये विषय लानेकी आगे कोई आवश्यकता ही न रह जाय। यही प्रणाली आगे चलकर कन्सेण्ट्रिक मैथड (परिधि-विस्तार-पद्धति) के नामसे प्रसिद्ध हुई। इन शिक्षा-विद्यालयोंके अतिरिक्त कमीनियसकी इच्छा थी कि संसारमें कहीं एक ऐसा शिक्षण-शास्त्रका विद्यालय खोला जाय जिसमें सब देशों और जातियोंके वैज्ञानिक एक साथ मिलकर वैज्ञानिक शोध कर सकें।

कमीनियसकी शिक्षण-पद्धति

शिक्षण-पद्धतिके सम्बन्धमें उसका सिद्धान्त था कि सम्पूर्ण ज्ञान स्वाभाविक पद्धतिसे ही दिया जाय। यद्यपि इसमें बहुतसी बातें सनकसे भरी थीं किन्तु फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं था। कमीनियस ही वह व्यक्ति था जिसने परिणाम-प्रणाली या इण्डक्टिव मैथडका शिक्षामें सर्वप्रथम प्रयोग किया था। पढ़ना, लिखना, संगीत, विज्ञान, भाषा, सदाचार और धर्मकी शिक्षाके लिये भी उसने बेकनकी परिणाम-प्रणालीका ही प्रयोग किया। उसका कहना है कि विज्ञान सिखाते समय यदि वास्तविक वस्तुएँ न मिल सकें तो उनकी प्रतिकृति और चित्र आदि बनाकर दिखाया जाय अर्थात् विद्यार्थीको प्रत्येक वस्तुका प्रत्यक्ष या स्वानुभवज्ञान मिलना ही चाहिए। इस प्रकार कमीनियसने स्वानुभव-तथ्यवादका आधार लेकर उसमें अनेक सुधार भी किए और बहुतसे नये तथ्य भी जोड़े। इसीलिये उसे सत्रहवीं शताब्दिके शिक्षाशास्त्रियोंमें सबसे बड़ा सिद्धान्ताचार्य और व्यावहारिक सुधारक कहा जा सकता है क्योंकि उसकी शिक्षाभावना केवल फ़्रांके, रूसो, बेसडो, पैस्तालौज़ी, हर्बार्ट तथा फ़्रोबेल आदि पीछेके शिक्षाचार्योंके विचारोंमें ही प्रस्फुरित नहीं हुई वरन् आगे आनेवाली शिक्षण-संस्थाओंके पाठ्यक्रम और उनकी शिक्षण-पद्धतियोंमें भी अभिव्यक्त

हुई। एक बार फिर विभिन्न प्रकारके विद्यालयोंमें विज्ञानका बोलबाला हो गया।

कमीनियसकी शिक्षण-पद्धतिका विश्लेषण

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कमीनियसने शिक्षाके सम्बन्धमें जो कुछ भी किया वह अभूतपूर्व था। उस समयतक एक भी ऐसा शिक्षाशास्त्री नहीं हुआ था जिसने इतने मनोयोगसे शिक्षाके सभी अंगोंपर सक्रिय विचार करके उसके लिये निश्चित तथा व्यावहारिक पद्धतिका निरूपण किया हो किन्तु इतना होनेपर भी उसने दो बातोंका विचार नहीं किया, एक तो यह कि जिस सदाचारको वह सम्पूर्ण शिक्षाका प्रधान उद्देश्य मानता है उसकी शिक्षा माताके पास, ग्रामकी पाठशाला, नगरके विद्यालय तथा विश्वविद्यालयमें कैसे सम्भव हो सकती है। उसने यह कैसे मान लिया कि प्रत्येक माता इतनी चतुर, सती, अवकाशयुक्त तथा विचक्षण होगी कि वह बालकोंकी प्रकृतिके अनुसार, समाजकी आवश्यकताके अनुकूल सभी विषयोंका प्रारम्भिक ज्ञान दे सकेगी। इसी प्रकार पाठशालाओं तथा विद्यालयोंमें ऐसे व्युत्पन्न अध्यापक कहाँ मिल सकेंगे जो प्रत्येक विषयकी सक्षम परिधिके अनुसार छात्रोंको सभी विषय भी सिखा सकें और साथ साथ उनके सम्मुख सदाचारका आदर्श भी उपस्थित कर सकें। इसके अतिरिक्त भूगोल, इतिहास, विज्ञान, व्याकरण, भाषणकला, संगीत, शास्त्रार्थकला, गणित, ज्यामिति, ज्यौतिष, अर्थशास्त्र, राजनीति, तत्त्वज्ञान और धर्मका एक साथ अध्ययन करने तथा उनके तत्त्व ग्रहण करनेकी शक्ति और प्रवृत्ति सब छात्रोंमें कैसे संभव थी। सभी अध्यापकोंका यह व्यापक अनुभव है कि अत्यन्त मेधावी छात्रकी भी सब विषयोंमें समान अभिरुचि और प्रवृत्ति नहीं होती और यदि हो भी तो वह उनमें कुशलता नहीं प्राप्त कर सकता। जो छात्र गणितमें अत्यन्त कुशल हो तो यह आवश्यक नहीं कि संगीतमें भी उसकी वैसी ही गति हो क्योंकि यदि उसका कण्ठ विस्वर हुआ तो संगीतकी सम्पूर्ण शास्त्रीय शिक्षा उसके लिये व्यर्थ होगी। कमीनियस इस बातको भूल गया कि संसारका समस्त ज्ञान दो प्रकारका होता है, एक बौद्धिक दूसरा व्यावहारिक। बौद्धिक ज्ञान तो कोई भी मेधावी सरलतासे ग्रहण कर लेता है किन्तु व्यावहारिक ज्ञानके लिये प्रत्येक व्यक्तिकी अलग प्रवृत्ति और अंग-स्थिति होती है। भर्राए हुए स्वरवाला व्यक्ति गायक नहीं हो सकता, मोटी उँगलियोंवाला चित्रकार नहीं हो सकता, पतली

कमीनियसने यह नहीं विचार किया कि सब विषयोंकी शिक्षाके लिये सब अवस्थाओंके अध्यापक कहाँ मिलेंगे और इतने विषयों को छात्र एक साथ ग्रहण कैसे कर सकेंगे।

उँगलियोंवाला बढ़ई नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति व्याख्याता, धार्मिक या वैयाकरण नहीं हो सकता। अतः सबको एक डंडेसे हाँकनेकी यह बात अत्यन्त दोषपूर्ण थी। कमीनियसको यह समझना चाहिए था कि सब विषयोंके कुछ मूल तत्त्व हैं। वे हैं—भाषा, गणित, प्रकृति-निरीक्षण, सदाचार और गीत। इन्हींसे क्रमशः अन्य विषयोंका उद्गम और विकास होता है। भाषासे व्याकरण, भाषणकला, शास्त्रार्थकला, इतिहास, अर्थशास्त्र तथा राजनीतिका ज्ञान हो सकता है। गणितसे ज्यामिति, ज्यौतिष, चित्रकला, मूर्त्तिकला तथा गणितसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य विज्ञान सीखे जा सकते हैं। प्रकृति-निरीक्षणसे भूगोल तथा विज्ञानके विभिन्न अंगोंका ज्ञान कराया जा सकता है। सदाचारसे वास्तविक धर्मका उद्‌बोधन होता है और गीतसे आगे चलकर संगीतके तत्त्व सिखाए जा सकते हैं। अतः पाठ्यक्रम निर्धारित करते समय पहले मूल विषयोंकी शिक्षासे प्रारम्भ करके फिर क्रमशः उनसे सम्बद्ध अन्य विषयोंका सन्निवेश करते रहना चाहिए था। किन्तु सम्भवतः कमीनियसका ध्यान इतनी सूक्ष्मतातक नहीं पहुँच पाया और उसने शिक्षाके विकासकी उदात्त भावनाके कारण अपने उत्साहमें आकर सबके लिये सब अवस्थाओंमें सब विषय अनिवार्य कर दिए। उसी उत्साहमें सम्भवतः उसे यह भी विचारनेका अवसर नहीं मिला कि ऐसे और इतने अध्यापक कहाँ मिलेंगे जो इतने विषयोंकी शिक्षा भी दे सकें और सदाचार भी सिखा सकें। कमीनियसके शिक्षणक्रममें एक बड़ा दोष यह भी था कि उसने शिक्षणकी अवधि चौबीस वर्षकी रख दी और यह स्पष्ट रूपसे निर्धारित नहीं किया कि इस शिक्षाकी किस अवस्थाको पार करके छात्र कितनी योग्यता संपादन कर सकेगा और जीवनके किस क्षेत्रमें सफलतासे प्रवेश पा सकेगा। इतना सब होते हुए भी कमीनियसने आगेके शिक्षा-शास्त्रियोंके विचार और व्यवहारके लिये प्रशस्त मार्ग खोल दिया इसमें कोई सन्देह नहीं है।

लौक

शिक्षा-शास्त्रियोंमें जौन लोक (१६३२–१७०४ ई०) ही ऐसा भाग्यवान् पुरुष है जिसे लोग तथ्यवादी, स्वानुभव-तथ्यवादी या प्रकृतिवादी कहते हैं। अपने "शिक्षा-संबंधी विचार" नामक ग्रन्थमें जो प्रवृत्ति उसने प्रकट की है उससे उसकी गणना पुराने खेवेके तथ्यवादियोंमें की जा सकती है। साथ ही उसमें कुछ ऐसे भी तत्त्व प्राप्त होते हैं जिनके कारण उसे स्वानुभव-तथ्यवादियोंकी श्रेणीमें भी रक्खा जा सकता है। उसके बहुतसे विचार तो रूसोसे इतने मिलते-जुलते हैं कि वह प्रकृतिवाद-तकका समर्थक कहा गया है। किन्तु सत्य बात तो यह है कि लौकने वास्तवमें सज्जनकी शिक्षाके लिये व्यावहारिक सुभाव

दिए हैं जो उसने अपने एक मित्रके पुत्रकी शिक्षाके संबंधमें उसे लिख भेजे थे। यदि लौक-द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक शिक्षाके तत्त्वोंका एक शब्दमें समास करें तो वह शब्द है—'विनय या आत्मसंयम'। यहाँ विनयका अर्थ न तो दीन प्रार्थना है न नम्रता ही। विनयका अर्थ है भली प्रकार विशिष्ट नियमके अनुसार अपना आचरण संयत रखना। यह शब्द अंग्रेज़ीके "डिसिप्लिन" शब्दका पर्यायवाची है और विद्या ददाति विनयम् (विद्यासे विनय प्राप्त होता है) का समर्थक है। लौकके विचारसे सम्पूर्ण ज्ञान-लाभ अनुभवसे ही होता है। उसका कहना है कि मस्तिष्क कोरे कागज या मोम-पट्टी (टेबुला राज़ा या तबुला रासा) के समान है जिसपर हमारी इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य संसारकी छाप पड़ती चलती है। अतः मनको विवेकशील बनानेके लिये अभ्यास तथा विनयकी बड़ी आवश्यकता है और मनके संयमके लिये सर्वगणित तथा विज्ञानकी शिक्षा आवश्यक है।

लौककी नैतिक शिक्षा

नैतिक शिक्षाके लिये भी लौकका यह आदर्श है कि मनुष्यको अपनी इच्छाओंका तिरस्कार करके अपनी रुचिकी उपेक्षा करके, मनकी वृत्तियोंका दमन करके उचित विवेक तथा तर्कके अनुसार सुमार्ग ग्रहण करना चाहिए और यह शक्ति नित्य व्यवहार और बचपनसे अभ्यास करनेसे प्राप्त हो सकती है। इससे भी अधिक निश्चित विनयपूर्ण उसका प्रसिद्ध कठोरीकरणका प्रयोग (हार्डनिंग प्रोसैस) है जिसकी व्यवस्था उसने शारीरिक शिक्षाके लिये की है। उसका कहना है कि "बच्चोंके संबंधमें, पहली ध्यान देनेकी बात यह है कि उन्हें जाड़े-पालेमें बहुत पहना-उढ़ाकर नहीं रखना चाहिए। जब हम उत्पन्न होते हैं तब हमारा मुख भी शरीरके अन्य अंगोंके समान ही कोमल होता है किन्तु सदा खुला रहनेसे उसे ऋतु-परिवर्तन सहनेका अभ्यास हो जाता है। इसी प्रकार शरीरके अन्य अंगोंको भी साधना चाहिए। बच्चोंके पैर नित्य ठंढे पानीसे धुलाए जायँ। उनके जूतोंके तल्ले इतने पतले हों कि यदि वे पानीमें चलें तो जूतोंमें पानी भर सके। उन्हें बिना टोपी उढ़ाए धूप और वायुमें खेलनेको छोड़ दिया जाय। उनकी खाटें भी कड़ी लकड़ीकी हों।" लौकके इस कठोर विनयके सिद्धान्तके कारण शिक्षा-शास्त्री लोग उसे 'नियमित विनय' (फ़ौर्मल डिसिप्लिन)-के शिक्षा-सिद्धान्तका सर्वप्रथम महान् प्रवर्तक मानते हैं। लौकके इस

लौकका नियमित विनय (फ़ौर्मल डिसिप्लिन) तथा कठोरीकरण अर्थात् बालकोंके शरीर-को ऐसा साध दिया जाय कि वे सब कष्ट सहन कर सकें। वैज्ञानिकोंने भी यह सिद्धान्त मान लिया।

सिद्धान्तका यह प्रभाव पड़ा कि उसके अनुयायियोंने यह नियम कर दिया कि चाहे बालककी रुचि, योग्यता और आकांक्षा हो या न हो किन्तु उसे लातिन, यूनानी और गणित अवश्य पढ़ाने ही चाहिएँ, क्योंकि गणितसे तर्क-बुद्धि बढ़ती है और भाषाओंसे स्मृति-शक्ति बढ़ती है। यह सिद्धान्त इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि वैज्ञानिकोंने भी यह "नियमित विनय" का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और प्रायः सभी प्रकारके विद्यालयोंमें इस "नियमित विनय" का प्रचार बढ़ने लगा।

लौकके सिद्धान्तका विवेचन

भारतीय शिक्षा-सिद्धान्तके अनुकूल ही लौकने एक बात ठीक समझी कि प्रत्येक छात्रको इतना सहनशील अवश्य बना देना चाहिए कि वह ऋतुका प्रभाव तो सहन करनेके योग्य हो ही जाय साथ ही वह इतना कष्ट-सहिष्णु भी बन जाय कि किसी प्रकारकी परिस्थितिमें भी वह न तो विचलित हो न मानसिक या शारीरिक असुविधाका अनुभव करे। किन्तु लौकने लातिन, यूनानी भाषा तथा गणितको अनिवार्य करके जो पाठ्यक्रम सुझाया वह अधिक विचार-पूर्ण नहीं रहा। लौकने भी अन्य पूर्ववर्त्ती शिक्षा-शास्त्रियोंके समान यह समझने और विचार करनेका कष्ट नहीं उठाया कि शिक्षा प्राप्त करनेवाले सभी छात्रोंकी आवश्यकताएँ, प्रवृत्तियाँ और परिस्थितियाँ समान नहीं होतीं, कुछ तो समाजकी अपनी अपेक्षा रहती है जो प्रत्येक नागरिकको एक विशेष नीति, संस्कार तथा रीतिसे युक्त समाजमें दूसरोंको सुविधापूर्वक रहनेके योग्य बनाना चाहता है। शिक्षाका यह अत्यन्त साधारण उद्देश्य है कि वह छात्रको जीविकोपार्जनके योग्य बना सके और यह उद्देश्य प्रायः उसके माता-पिताकी इच्छापर अवलंबित होता है। यद्यपि अधिकांश बालक किसी सुनिर्दिष्ट जीविकाके अनुकूल शिक्षा नहीं पाते। इसका परिणाम यह होता है कि आकांक्षा कुछ होती है, फल कुछ मिलता है। अतः लौकका यह विचार सर्वथा भ्रामक है कि लातिन, यूनानी और गणित पढ़ाकर वह छात्रको सब व्यवसायोंके लिये समर्थ बना सकेगा और यही कारण है कि लौकका सिद्धान्त व्यावहारिक न हो पाया।

बीसवीं शताब्दिके प्रारंभमें मनोवैज्ञानिकों तथा बुद्धिवादी शिक्षकोंने इस नियमित विनयका बड़ा विरोध किया। प्रायः व्यापक रूपसे अब वह विश्वास किया जाने लगा है कि विभिन्न प्रकारके अध्ययनसे व्यापक ज्ञान-शक्तिके बदले एक विशिष्ट ज्ञान-शक्तिका लाभ होता है। अतः यदि विद्यार्थीकी रुचि उदात्त साहित्य (क्लासिकल लिटरेचर) या सर्वगणितके अध्ययनमें नहीं होती तो वह शिक्षा

मनोवैज्ञानिकों और बुद्धिवादियों-द्वारा इसका विरोध, विभिन्न विषयों-के अध्ययनसे विशिष्ट

ज्ञान-शक्तिका लाभ। अतः पाठ्यक्रममें अनेक विषय जोड़े गए और छात्रको विषय चुननेकी छूट दे दी गई।

या जीवन-संस्कारके लिये अयोग्य नहीं समझा जाता, अन्य विषयोंमें कुशलता प्राप्त करके वह सुसंस्कृत हो सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान प्रदान करनेसे अधिक पाठ्य-विषयोंको महत्त्व दिया जाने लगा। अनेक प्रकारके पाठ्य-विषय बढ़ा दिए गए और विषयोंके चयन-स्वातंत्र्यका सिद्धान्त मूलतः स्वीकार कर लिया गया, प्रत्येक बालककी यह छूट दे दी गई कि वह जो विषय चाहे वही अपने अध्ययनके लिये ले ले। लौकने भी अपने लेखोंमें यह स्पष्ट कह दिया था कि लातिनके पन्ने घोखनेका केवल यही लक्ष्य नहीं है कि वह स्मरण रक्खा जा सके वरन् उसका उद्देश्य यह भी है कि उसका आधार लेकर अन्य प्रकारके ज्ञानकी प्राप्ति भी की जा सके। इसी प्रकार गणित-द्वारा जो तर्क-शक्ति बढ़ती है उसका प्रयोग केवल गणितका ज्ञान प्राप्त करनेमें नहीं वरन् अन्य प्रकारकी ज्ञान-प्राप्तिमें भी किया जा सकता है। इस प्रकार केवल नियमित विनयका पक्षपाती होते हुए भी लौक वर्तमान शिक्षा-सिद्धान्तोंसे असहमत नहीं था।

१०

शिक्षामें लोकतंत्रवाद और प्रकृतिवाद

वौल्तेया और रूसो

अठारहवीं शताब्दिमें यूरोप तथा अमेरिकामें पादरियोंके प्रभुत्व तथ व्यक्तित्वके बंधनके एवं एकाधिकारत्वके विरुद्ध भयंकर विद्रोह हुआ चारों ओर यह प्रयत्न होने लगा कि जो रूढ़ियाँ या संस्थाएँ अस्वाभाविक और अयुक्तियुक्त जान पड़ें उन्हें उखाड़ फेंका जाय और व्यक्तिको एकाधिकारियोंके चंगुलसे मुक्त कर दिया जाय। यह आन्दोलन इस शताब्दिके पूर्वार्द्धमें तो बौद्धिक दमनके विरुद्ध चला और उत्तरार्द्धमें राजनीतिक अधिकारोंके दमनके विरुद्ध। पहले आन्दोलनका नेता था वौल्तेया, जिसने कहा कि समाज और शिक्षाका आधार तर्क या विवेक होना चाहिए। दूसरे प्रकारके आन्दोलनका नेता था रूसो, जिसने तत्कालीन युगके मनोभावोंके अनुकूल प्रकृतिवादका प्रवर्तन किया।

पादरियोंके एकाधिकार-के विरुद्ध विद्रोह।

वौल्तेया (वौल्टेयर)

वौल्तेया (१६९४ से १७७८ ई०) ने तथा उसके सहकारी दिदेरो, कोंदिलाक दे' अलम्बे आदि फ्रांसीसी आचार्योंने रूढ़िगत संस्थाओंका विरोध करके विवेकवाद (रैशनलिज़्म) की स्थापना की। इनका मुख्य आखेट-लक्ष्य हुआ रोमन कैथोलिक चर्च, जिसके विरुद्ध इन्होंने पुकार लगाई—"मिटाओ इस अभद्र वस्तुको!" इस विवेकवादका उद्देश्य था एकतन्त्रवाद तथा अन्धविश्वासको मिटाना और उनके स्थानपर आचार-व्यवहारका स्वातंत्र्य, सामाजिक न्याय और धार्मिक सहिष्णुता स्थापित करना। परन्तु प्राचीनताका विरोध करनेमें ये लोग इतने आगे बढ़ गए कि चारों ओर एक प्रकारका विप्लव, उच्छृङ्खलत्व और नास्तिकवादका साम्राज्य फैल गया। इस प्रकार जहाँ एक ओर विवेकवादने मानव-बुद्धिको बंधन-मुक्त करनेका प्रयास किया वहीं दूसरी ओर उसने उस साधारण मानव-समाजकी स्थिति सुधारनेका कोई यत्न नहीं किया जो अभीतक दरिद्र, अपढ़ और चारों ओरसे पीड़ित था।

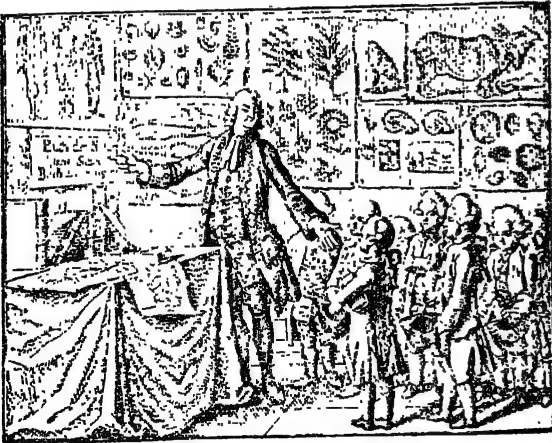
वौल्तेया और उसके साथियोंने विवेकवादकी स्थापना की।



रूसो (१७१२–१७७८)



वाल्टेयर



एक प्रकृतिवादी विद्यालय

रूसो

इस बुद्धिवादी और विवेकवादी प्रवृत्तिके विरुद्ध जीन जेक्स रूसो (१७१२–१७२८ ई०) ने अपना मनोवेगवाद और प्रकृतिवादका झंडा उठाया ।

२५ जून सन् १७१२ को इतालिया (इटली) के जिनेवा नगर में रूसोका जन्म हुआ । उसकी माता उसे बचपनमें ही छोड़कर चल बसी अतः उसका पालन-पोषण उसकी कोमल-हृदया बुआ और उसके फक्कड़ पिताने किया । जब वह केवल ६ वर्षका था, तभी उसके पिता रात-रात बैठकर अपनी स्त्री-द्वारा संकलित बड़ी भोंडी, अश्लील और उत्तेजक प्रेम-कथाएँ उसे सुनाया करते थे । इस प्रकार रूसोके भोलेभाले मस्तिष्कमें रसिकतापूर्ण और रोचक किन्तु कुरुचिपूर्ण साहित्य बचपनमें ही कूट-कूटकर भर दिया गया । बचपनमें ही उसने अपने पिताकी उपन्यासोंसे भरी आलमारी पढ़कर समाप्त कर दी । इसके पश्चात् वह अपने दादाके पुस्तक-संग्रहकी ओर आकृष्ट हुआ । इन पुस्तकोंमें उसे प्लुतार्कद्वारा लिखित 'महापुरुषोंका जीवन-चरित' (प्लुतार्क्स' लाइव्ज़ औफ़ ग्रेट मैन) और 'ईसाई-धर्म तथा साम्राज्यके इतिहास'का ज्ञान प्राप्त हुआ । रूसोके चरित्रपर इस साहित्यका अत्यन्त गम्भीर प्रभाव पड़ा और उसका कोमल हृदय वीरताके भावसे ओत-प्रोत हो गया ।

रूसोके फक्कड़ पिताने अश्लील कथाएँ सुना-सुनाकर रूसोका मन बिगाड़ दिया किन्तु महापुरुषोंके जीवन-चरित और इतिहासका प्रभाव अच्छा पड़ा ।

सन् १७२० में रूसोके पिताको कुछ कारणवश जिनेवा छोड़ देना पड़ा और उसने रूसोको उसके मामाके पास छोड़ दिया । उसके मामाने उसे अपने पुत्रके साथ जिनेवाके बाहर बोसी नामके गाँवमें दो वर्ष तक रख छोड़ा । यहाँपर इन दोनों भाइयोंकी घनिष्ठता और मित्रता बहुत बढ़ गई । लातिन घोखनेकी अपेक्षा उनका ध्यान बोसीके प्राकृतिक सौंदर्यकी ओर अधिक आकृष्ट हुआ और वे अपना अधिक समय इसीका आनन्द लेनेमें व्यतीत करने लगे । परिणाम यह हुआ कि दिन प्रतिदिन रूसोका प्रेम प्रकृतिसे बढ़ता ही चला गया । कुछ समयके पश्चात् उसके इस आनन्दमय जीवनमें सबसे पहला एक विचित्र कटु अनुभव हुआ । एक बार उसपर दुष्टता करनेका झूठा आरोप लगाया गया और

बोसी गाँवमें प्रकृति-प्रेम बढ़ा किन्तु एक बार झूठे आरोपपर दंड मिलनेसे उसके मनमें बड़ा विद्रोह हुआ और उसने यह परिणाम निकाला कि प्रकृतिसे दूर रहनेसे मनुष्यके मनमें विकार आता है ।

उसे दंड भी दिया गया। उसका बाल-हृदय उस कठोर दंडसे तिलमिला उठा। इस घटनासे उसके सम्पूर्ण आनन्द और उत्साहपर पानी फिर गया, यहाँतक कि अपने ग्राम्य-जीवनका आनन्द भी उसे पूर्णतः विषाक्त जान पड़ने लगा। रूसो जैसा जो मनस्वी और भावुक बालक, सामाजिक बन्धनों और दंडोंसे तनिक भी परिचित न हो, इस घटनासे इतना विक्षुब्ध हो गया कि उसने यह परिणाम निकाला कि "मनुष्यकी गतिमें नियम-बद्धता, बाह्याडम्बर, उपदेश और दण्डका प्रयोग करके जब उसे प्रकृतिसे दूर रक्खा जाता है तभी उसके स्वाभाविक पवित्र मनमें विकार उत्पन्न होता है और उसकी सरलता तथा स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है।" यही परिणाम आगे चलकर उसके जीवनका ही नहीं वरन् उसके राजनीतिक और सामाजिक सिद्धान्तोंका भी मुख्य आधार बन गया जो उसने अपने 'एमील' नामक पुस्तकमें उस प्रसंगपर स्पष्ट कर दिया है जहाँ वह कहता है—"प्रत्येक वस्तु प्रकृतिके हाथमें सुन्दर, स्वच्छ और पवित्र रहती है, किन्तु मनुष्यके हाथमें आते ही उसमें विकार आने लगता है।"

रूसोका निरंकुश तथा उद्दाम जीवन

बोसी छोड़नेके पश्चात् दोनों भाई एक साथ ही जिनेवामें जाकर रहने लगे, जहाँ उनका जीवन बड़े ही अनियमित ढंगसे बीता। वहाँ न तो वे किसी बच्चेसे ही मिल पाते थे न किसी विद्यालयमें ही पढ़ने जाते थे। घरपर बैठे-बैठे दोनों पतंग बाँधते, पिंजड़े बनाते, ढोल मढ़ते, मकान उठाते, घड़ी सुधारते और खिलौने गढ़ते थे। इस प्रकार अनिर्दिष्ट आमोद-प्रमोदमें ही ये दोनों अबाध छुट्टियोंका आनन्द ले रहे थे। रूसो कभी-कभी अपने पिताके पास चला जाया करता था जहाँ सब लोग, विशेषतः महिलाएँ, उसका बड़ा आदर करते थे। इसका कारण था उसका सुन्दर रूप। असंयत और उद्देश्यहीन जीवन होनेसे बारह वर्षकी अवस्थामें ही उसके मनमें उद्दाम काम-भावना उद्दीप्त हो गई और वह बिगड़ चला। रूसो चार वर्षतक एक शिल्पीके पास काम सीखता रहा जहाँ उसे इतनी बुरी संगति मिली कि उसने झूठ बोलना, चोरी करना आदि सब कुकर्म धीरे-धीरे सीख लिए।

अनिर्दिष्ट जीवन, स्त्रियोंके आदर और सौंदर्यके कारण वह बिगड़ चला और उसने सब कुकर्म बुरी संगतमें सीख लिए !

रूसोका स्वामी भी बड़ा कठोर था। उसकी कठोरतासे रूसो इतना ऊब गया कि उसने वहाँ काम करनेकी अपेक्षा निरर्थक घूमकर किसी भी प्रकारसे जीविका उपार्जन करना अच्छा समझा। निदान उसने काम छोड़ दिया और तीन वर्षतक सेवौय प्रान्तमें इधर-उधर घूमता

रहा। इस बीच बहुतसे स्थानोंके दृश्य-सौन्दर्य तथा प्रकृति-चमत्कारोंका उसके मनपर अत्यन्त अधिक प्रभाव पड़ा। इस घुमक्कड़ी जीवनमें वह बहुतसे ऐसे लोगोंके सम्पर्कमें भी आया जिनकी शिक्षासे वह जीवनके बहुतसे तत्त्व सीख सका। दुखी-पीड़ितोंसे सहानुभूति करना भी रूसोने इसी समय सीखा था। लोगोंकी कठिनाइयों और दुःखोंसे उसने यह जान लिया कि बाहरी बनावट-सजावट और टीम-टाम केवल आडम्बर ही नहीं वरन् मनुष्यकी वास्तविकताको कृत्रिम रूपसे ढक देता है। ग्रामीणोंके सरल देहाती जीवनमें जो निर्मलता, पवित्रता, नम्रता और सच्चाई पाई जाती है वह सभ्य, शिक्षित नागरिक कहलानेवाले व्यक्तियोंमें ढूँढ़नेपर भी नहीं पाई जा सकती। जीवनके इस अनुभवने रूसोको अपने सिद्धान्तपर और भी अधिक दृढ़ कर दिया कि मनुष्य प्रारम्भमें, प्रकृतिके हाथमें ही शुद्ध और पवित्र रहता है।

घुमक्कड़ी जीवनमें अनुभव—सहानुभूति।

उन्नीस वर्षकी अवस्थामें मैदम् दे वारेन् नामकी एक सामान्या दुश्चरित्रा स्त्रीके साथ वह सेवौयमें रहकर जीवन बिताने लगा। इसी समय उसने संगीत, दर्शन तथा अन्य विज्ञानोंका ज्ञान भी उपार्जित किया किन्तु थोड़े ही दिनों पीछे रूसो और मैदम् दे वारेन् दोनोंमें खटपट हो गई और रूसो सन् १७२४ में पैरिस चला गया। पैरिसमें जाकर भी वह एक मूर्ख, भद्दी नौकरानी थीरे लेवासे नामकी लड़कीके चंगुलमें फँसकर उसके साथ रहने लगा। अब अपने दोनोंकी जीविकाका प्रश्न उसके सामने आया और वह अपने उत्तर-दायित्वका अनुभव भी करने लगा।

दुश्चरित्राके साथ विवाह, खटपट और पैरिसको प्रस्थान। वहाँ भी एक नौकरानीसे प्रेम।

सन् १७४१ में वह वेनिसमें फ्रांसीसी राजदूतका आत्म-सचिव बन गया पर वहाँ भी उसका निर्वाह न हो पाया। साढ़े सात वर्षके पश्चात् रूसोने संगीत-शाला खोलकर संगीत सिखानेका काम आरम्भ किया। संगीत सिखानेके अतिरिक्त वह गीत भी लिखता था और गाने भी बनाता था, जिसका फल यह हुआ कि धीरे-धीरे साहित्यकारों और कलाविदोंमें उसका नाम होने लगा।

संगीतशालामें संगीत शिक्षण, गीतनिर्माण, कलाविदोंमें गणना।

रूसोका साहित्यिक जीवन

सन् १७५० से १७६५ तक रूसोने कई लेख प्रकाशित किए जिनसे साहित्यिक समाजमें उसका बड़ा आदर बढ़ा। उसका सर्वप्रथम लेख प्रकाशित

हुआ "विज्ञान और कलाओंकी उन्नतिने लोकचरित्रको बिगाड़नेमें योग दिया है या सुधारनेमें ?" उस लेखमें उसने लिखा था कि समाजकी वर्त्तमान दुरवस्था और उसकी बुराईका कारण सभ्यताकी अभिवृद्धि ही है। इस लेखकी शैलीपर उसे पुरस्कार मिला। सन् १७५५ में उसने "दि न्यू हैलौय" नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा। इस उपन्यासमें उसने प्राकृतिक जीवनकी सुन्दरता तथा सीधे-सादे गार्हस्थ्य जीवनके आदर्शोंका चित्रण किया। 'मनुष्योंमें असमानताका प्रादुर्भाव' शीर्षक लेखमें उसने सिद्ध किया कि प्रारम्भिक मानव-समाजमें शरीर और मस्तिष्ककी असमानता उतनी नहीं थी जितनी सभ्यताके विकासमें दिखाई पड़ने लगी है और ज्यों-ज्यों व्यक्तिगत सम्पत्तिकी भावना बढ़ने लगी यों-त्यों असमानता भी बढ़ने लगी। रूसोका कथन है कि व्यक्तिगत धनकी वृद्धिके साथ ही चोरी, डकैती आदि बढ़ने लगी और धनीके रक्षाके लिये ही दंड-विधान, रक्षा-विधान और सभ्यता आदिका निर्माण हुआ था। नियमसे चलाये हुए समाजने सदा दीनोंकी उपेक्षा करके धनियोंकी शक्ति ही बढ़ाई।

लेखोंसे आदर, पुरस्कार और प्रसिद्धि।

एमील और सामाजिक धर्म

सन् १७६२ में रूसोका प्रसिद्ध उपन्यास 'एमील' या 'एमिली' और 'सामाजिक धर्म' (सोशल कौन्ट्रेक्ट) निकला। 'सामाजिक धर्म' साम्राज्यवादका विरोधी था। धार्मिक अधिकारी उससे इतने चिढ़ गए कि पैरी (पेरिस) और जिनेवामें जहाँ कहीं वह पोथी पादरियोंके हाथ पड़ी, तुरन्त जला दी गई। यहाँतक कि रूसोको भी वहाँसे अपने प्राण लेकर भागना पड़ा। 'एमील' नामक उपन्यास में उसने एमील नामक बालकका चित्रण करके अपने सम्पूर्ण आदर्श स्पष्ट कर दिए हैं।

एमील और सोशल कौन्ट्रेक्टका प्रकाशन। सोशल कौन्ट्रेक्टसे धार्मिक अधिकारियोंकी चिढ़। रूसोका पलायन।

समाज और राज्यके सम्बन्धमें रूसोका मत

रूसोने अपने प्रथम लेखमें ही कहा है कि कला और विज्ञानकी उन्नतिने मनुष्यके आचार और नीतिको बड़ी क्षति पहुँचाई है। इसी प्रकार दूसरे लेखमें उसने निर्भीकतासे कहा है कि परस्पर असमानता और भेद उत्पन्न करनेका सारा दोष उस समाजपर है जो धन संग्रह करता है। संसारमें प्रत्येक बालक समान बल और बुद्धि लेकर आता है किन्तु समाज उसकी बुद्धिमें भेद-भाव उत्पन्न कर देता है। अपने

रूसोका मत—(१) कला और विज्ञानने मनुष्यके आचारको हानि पहुँचाई। (२)

धनसंग्रही समाजपर सामाजिक विषमताका दोष। (३) राजा-प्रजामें आत्मीयताका सम्बन्ध हो।

'हैलोय' शीर्षक लेखमें उसने जनतासे देशप्रेमका आवेश भरा और इसके पश्चात् 'सामाजिक धर्म' लिखकर लोकतन्त्र-शासनका महत्त्व प्रकट किया। उसका कहना है कि राजा-प्रजाका सम्बन्ध आत्मीयताका होना चाहिए। यदि राजा अपनी प्रजाके सुख-दुःख का ध्यान नहीं रखता तो जनताको भी उसे अपना स्वामी न माननेका पूर्ण अधिकार है। उसने जनतामें यह पुकार की कि संसारमें मनुष्य आता तो है स्वतन्त्र, किन्तु सर्वत्र वह दिखाई देता है बँधा हुआ। अतः इस लेखमें उसने मनुष्यके नैसर्गिक अधिकारकी घोषणा भी की है। रूसोकी इस पुकारका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस और अमेरिकामें स्वतन्त्र विचारकोंमें क्रान्ति मच गई और लोग नये ढंगसे सोचने-विचारने लगे।

रूसोका प्रकृतिवाद

रूसो केवल क्रांतिकारी ही नहीं था। वह शिक्षा-विधानमें भी सुधार करना चाहता था। वह 'एमील' में प्रकट किए हुए सिद्धान्तोंके अनुसार ही तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीमें सुधार करना चाहता था। उसका कथन है कि बच्चेके मन, मस्तिष्क और शरीरको स्वतन्त्रतापूर्वक समुन्नत होनेका अवसर देनेके लिये उसे कृत्रिमतासे हटाकर स्वाभाविकताकी ओर छोड़ देना चाहिए और स्वाभाविक रूपसे ही उसे शिक्षा देनी चाहिए। यही रूसोका प्रकृतिवाद है। रूसोका शुद्ध विश्वास है कि बालकको प्रकृतिसे जो कुछ शिक्षा प्राप्त हो सके उसीपर छोड़ दिया जाय जिससे उसके निर्मल मस्तिष्क, मन और शरीरके विकासमें पूर्ण स्वतन्त्रता रहे और समाजके विचारोंकी छाया उसके निर्मल मनपर न पड़ पावे। इसीलिये उसने घोषणा की थी—'प्रकृतिकी ओर लौट चलो।'

एमीलके द्वारा वह शिक्षा-प्रणालीमें सुधार करना चाहता था। उसके मतसे बालकको स्वाभाविक विकासके लिये स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये। यही रूसोका प्रकृतिवाद है।

रूसोका शिक्षा-सिद्धान्त

रूसोके पूर्ववर्त्ती शिक्षा-शास्त्रियोंका विचार था कि शिक्षाके द्वारा मनुष्यकी स्वाभाविक या मूल दुष्प्रवृत्तियोंका सुधार होता है क्योंकि बुराईको अच्छाईमें बदल देना ही शिक्षकका प्रधान काम है। भिन्न-भिन्न लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे यही विचार प्रकट किया है। यही कारण था कि तत्कालीन शिक्षकोंने मनुष्यके आन्तरिक भावोंको विकासका अवसर न

रूसोसे पहले बालकपर शिक्षकोंद्वारा बाह्य ज्ञान-भण्डारकी लदाई।

देकर उन्हें पुस्तक-सन्निविष्ट बाह्य ज्ञान-भंडारसे निरन्तर दबाए रखनेका प्रयत्न किया था। उन लोगोंने शिशुको युवकसे भिन्न न समझकर उसे युवकका ही प्रारम्भिक प्रतिरूप समझ लिया था और इसीलिये वे शिशुको स्वतः अपने विचारोंसे लादते चलते थे। इस प्रणालीका दुष्परिणाम यह होता था कि बच्चोंके व्यक्तिगत भावोंका विकास नहीं होने पाता था और वे सभी एकही साँचेमें ढाल दिए जाते थे। किन्तु रूसो प्रकृतिवादी तथा स्वाभाविकतावादी था। वह तत्कालीन आडम्बरपूर्ण तथा बनावटी शिक्षा-प्रणालीका घोर विरोधी था। इसलिये उसने अपनी 'एमील' नामक एक पुस्तक लिखी जिसके पढ़नेसे ही उसके शिक्षा-संबंधी विचार स्पष्ट हो जाते हैं।

रूसोके अनुसार जन्मके समय बालक निर्मल तथा विकारहीन। अतः समाजसे दूर रखनेपर उसका निर्मल विकास संभव।

रूसोके अनुसार प्रत्येक बालक, जन्मके समय निर्मल होता है। उस समय उसमें किसी प्रकारकी दुष्प्रवृत्ति या विकृति नहीं रहती। उस अवस्थामें बच्चेकी प्रकृति, उसका मन, उसकी इच्छाएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ सभी उच्च कोटिकी होती हैं इसलिये उनके संयोग तथा विकासमें किसी प्रकारकी बाधा न देकर यथासम्भव उसके विकासके लिये उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए। यह स्वतन्त्रता तबतक सम्भव नहीं है जबतक बालकको समाजसे दूर न कर दिया जाय। रूसोको इस बातका बड़ा क्षोभ है कि मनुष्य अपनी प्रभुतासे बालककी कोमल भावनाओंपर प्रभाव डालकर उन्हें नष्ट करनेकी मूर्खता और ढिठाई करता है। उसका कहना है कि शिक्षक तथा समाजकी आवश्यकताओं और भावोंके अनुसार बालकको शिक्षा नहीं देनी चाहिये वरन् बालककी आवश्यकता और उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको ही उसकी शिक्षाका पथ-प्रदर्शक होना चाहिए। ऐसा करनेसे प्रत्येक बच्चा अपनी योग्यता, आवश्यकता तथा समयके अनुसार अपने आप सरलतासे अपने आपको शिक्षित करता चल सकता है। शिक्षाके लिये यह अधिक उचित होगा कि शिक्षा देनेसे पूर्व, बच्चेकी योग्यता, उसकी आवश्यकता, बुद्धि तथा रुचिको भली प्रकार समझ-बूझ लिया जाय। अध्यापकको चाहिए कि वह शिक्षा-विधि तथा पाठ्य-विषय दोनोंकी अपेक्षा बालकको अधिक महत्त्वपूर्ण समझे और बालककी प्रवृत्ति तथा प्रकृतिके अनुसार ही उसे शिक्षा दे। अपने 'प्रकृतिका अनुसरण करो' के सिद्धान्तके अनुसार वह चाहता था कि प्रत्येक क्षेत्रमें बालकका विकास स्वतन्त्रतापूर्वक हो, उसमें किसी प्रकारका

शिक्षक तथा समाजकी आवश्यकताओंके अनुसार बालककी शिक्षा न हो वरन् बालककी आवश्यकता और उसकी प्रवृत्तिके अनुसार शिक्षा हो।

हस्तक्षेप न हो क्योंकि यदि किसी प्रकारकी भी बाह्य बाधा दी जायगी तो उस बाह्य शिक्षाके प्रभावसे शरीरकी भी वृद्धि ठीक-ठीक नहीं हो पायगी। रूसोका यह भी मत था कि बालकके बौद्धिक विकासको प्रबुद्ध करनेके लिये शिक्षकको उसकी बौद्धिक परिधि तथा स्वाभाविक कुतूहल-भावनाका सहारा लेकर चलना चाहिए। शिक्षकको चाहिए कि बालकको ऐसे अवसर प्रदान करें जिनमें वह स्वयं सोच-विचारकर अपने अनुभवका परिणाम निकाले। स्वयं कोई बात बतानेकी अपेक्षा बालकके मनमें ऐसी उत्सुकता जगा दी जाय कि वह स्वयं उसे ढूँढ निकाले क्योंकि इससे उसके मस्तिष्कका विकास भी भली प्रकार होता चलेगा। यही सिद्धान्त आगे चलकर स्वयंशोध (ह्यूरिस्टिक) प्रणालीका जनक भी सिद्ध हुआ।

रूसोके शिक्षा-सिद्धान्तोंका नैतिक पक्ष

उपदेश तथा शिक्षाकी अपेक्षा अपने अनुभवसे आचार – व्यवहारका अधिक सुधार सम्भव है।

रूसोका कहना है कि बालककी चालढाल तथा उसके आचार-व्यवहारमें शिक्षा तथा उपदेशसे इतना सुधार कभी नहीं हो सकता जितना वह स्वयं अपने अनुभवसे कर सकता है इसलिये उसे अपना अनुभव प्राप्त करके स्वयं विकसित होनेके लिये स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए। वह अपने कुकर्मोंके कटु अनुभवसे अपने दोष अधिक स्वाभाविक रूपसे देख सकता है। यदि बालक एक बार आगमें हाथ डालकर अपना हाथ जला लेगा तो वह दुबारा आगमें हाथ नहीं डालेगा। इसके अतिरिक्त बच्चेका मस्तिष्क कोरी पाटी नहीं है कि शिक्षक जो चाहे उसपर लिख दे। उसके मस्तिष्कमें उसका अपना व्यक्तिगत भी कुछ ज्ञान रहता है। अतएव यदि शिक्षकको उसीपर लिखना होगा तो उसे मिटाकर ही लिखना पड़ेगा। मिटाकर लिखनेके दुहरे कार्यसे अच्छा तो यही है कि बालककी रुचि, बुद्धि, योग्यता तथा समर्थताको समझकर ही उसके अनुसार उसे शिक्षा दी जाय। इसका यह अर्थ हुआ कि बालककी प्रवृत्तिके ही अनुरूप शिक्षा-विधि बनाई जाय न कि बालकको शिक्षा विधिके अनुरूप बनाया जाय।

रूसोकी स्वतःप्रवृत्त शिक्षा

बारह वर्षतक बालकको प्रकृतिके हाथमें स्वाभा-

रूसोके अनुसार बारह वर्षतकके बालकको प्रकृतिके हाथमें इस प्रकार स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए कि उसके घूमने-फिरने, कूदने-फाँदनेमें न तो किसी प्रकारकी बाधा पड़े न किसी प्रकारका हस्तक्षेप ही किया जाय। वह जैसे चाहे वैसे उठे-बैठे, खाए-पीए, और खेले-कूदे। उसकी स्वाभाविक गतिपर कोई

नियन्त्रण न लगाया जाय। इस प्रकारके स्वाभाविक और स्वतन्त्र विचरणसे बालककी ज्ञानेन्द्रियोंका विशेष संवर्धन और विकास होता है। यही नहीं, इस स्वतः-प्रवृत्त विचरण-द्वारा वह ऐसा नया ज्ञान अर्जित करता चलता है जो नियमित शिक्षा-द्वारा उस परिमाण-तक नहीं दिया जा सकता। बालकको फूलोंके विषयमें जितना ज्ञान अपनी फुलवारीमें खेलते-खेलते प्राप्त हो जाता है उतनी मात्रामें शिक्षक उसके मस्तिष्कमें कभी नहीं भर सकता और इसमें सन्देह नहीं कि अपने अनुभवसे अर्जित ज्ञान अधिक स्थायी और उपयोगी होता है। इसलिये यह आवश्यक है कि बारह वर्षतक उसे बलवत् शिक्षा नहीं देनी चाहिए।

विक और स्वतंत्र विचरणके लिये छोड़ दिया जाय जिससे उसकी ज्ञानेन्द्रियोंका संवर्धन और विकास हो।

नैतिक उपदेशकी आवश्यकता नहीं

रूसोका यह भी मत है कि बालकमें सोचने-विचारने और मत स्थिर करनेकी इतनी शक्ति नहीं होती कि उसे नैतिक या धार्मिक उपदेश दिए जायँ। उसके चरित्रका विकास उसके अपने अनुभवों द्वारा ही होता है। अतएव उसे इस प्रकार स्वाभाविक गतिपर छोड़ दिया जाय कि उसके भाव, उसकी रुचि और इच्छाओंकी स्वतःवृद्धिमें उसे पूरी स्वतन्त्रता मिलती रहे, क्योंकि उसके भाव और उसके मनके रूप प्रारम्भमें निर्मल और उच्च कोटिके होते हैं और समाजके प्रभावमें पड़कर ही उसमें विकार आने लगते हैं। अतएव उसकी स्वाभाविक वृद्धिमें समाजकी छायातक नहीं पड़ने देनी चाहिए।

बालकके चरित्रका विकास उसके अपने अनुभवोंसे होता है अतः इसके स्वाभाविक विकासमें समाजकी छायातक न पड़े।

बौद्धिक शिक्षाके लिये शारीरिक विकास आवश्यक

रूसो यह भी कहता था कि अधिक उपदेश देने और बालककी बुद्धिपर अधिक भार डालकर बौद्धिक शिक्षा देनेसे उसकी शारीरिक वृद्धि ठीक रूपसे नहीं हो पाती। अपने समयकी शिक्षापद्धतिका दोष दिखाते हुए वह कहता है कि विद्यालयोंमें बच्चेकी कोमल देहपर ज्ञानका इतना भार लाद दिया जाता है कि उस बोझके मारे उसका शरीर खुल ही नहीं पाता। शिक्षाशास्त्रियोंकी यह भ्रामक धारणा है कि बालकके विकासके लिये केवल ज्ञान ही अपेक्षित है। वे यह नहीं समझते कि शारीरिक वृद्धि भी बालकके लिये उतनी ही आवश्यक है जितनी बौद्धिक

उपदेश देने और बालककी बुद्धिपर भार डालनेसे उसके शारीरिक विकासमें बाधा पड़ती है। शारीरिक विकास भी बौद्धिक विकासके समान महत्वपूर्ण।

या मानसिक वृद्धि क्योंकि ज्ञानका आवश्यक संचय और मस्तिष्ककी वृद्धि स्वस्थ शरीरपर ही निर्भर है। जिस प्रकार लकड़ीमें हाथ लगानेके पहले बढ़ई अपने यंत्रोंको ठीक देख-भालकर उनका परीक्षण कर लेता है, उसी प्रकार शिक्षकको भी शिक्षा देनेसे पहले बालकके शारीरिक सामर्थ्यकी जाँच भी कर लेनी चाहिए। वह सामर्थ्य या क्षमत्व ही शिक्षकके यंत्र हैं। अतएव बालकके शरीरका स्वस्थ होना अधिक आवश्यक है क्योंकि उसकी सम्पूर्ण समर्थताओंका केन्द्र शरीर ही तो है।

रूसोके सिद्धान्तका विश्लेषण

रूसोका यह सिद्धान्त कुछ ठीक नहीं जँचता कि बालकको स्वाभाविक विचरणके लिये छोड़ दिया जाय, उसकी क्रियाओंपर न तो किसी प्रकारका नियंत्रण ही हो और न उसे किसी प्रकारका उपदेश ही दिया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि बालक अपने स्वतः अनुभवसे ज्ञान अर्जित कर सकता है किन्तु उन कार्यों और अनुभवोंको व्यवस्थित रूपसे अपनानेके लिये उसे उचित उपदेश, आदेश तथा निर्देशकी भी तो आवश्यकता है। यदि उचित रूपसे बालकका निरीक्षण न होगा तो उसकी योग्यता किसी बुरी धाराकी ओर भी प्रवृत्त होकर बह सकती है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि बालक अधिकतर अनुकरणसे सीखता है। वह बोलता है क्योंकि वह अपने आस-पासके लोगोंको बोलते हुए सुनता है। यदि कोई बालक जंगलमें पाला जाय तो उसके आचार-व्यवहार सब जंगली हो जायँगे। जन-संपर्कसे दूर एकान्तमें रहनेपर उसकी शक्तियाँ उन्नत और समृद्ध नहीं हो सकतीं इसलिये बच्चेकी उन्नतिके लिये उसे स्वतन्त्रता देनी चाहिए कि वह अपनी देख-रेखसे बाहर होकर कोई अहितकर काम न कर बैठे इसलिये उसे अनिवार्य रूपसे निर्देशनकी आवश्यकता है ही। सत्य तो यह है कि इस संबंधमें रूसो अपने विचार भली भाँति स्पष्ट रूपसे समझा नहीं पाया।

बालकोंको पूर्ण स्वतन्त्र छोड़ना ठीक नहीं। उन्हें कुशल देख-रेखमें ही स्वतन्त्रता देनी चाहिए।

एमील

एमीलकी रचना रूसोने इस उद्देश्यसे की है कि तत्कालीन रूढ़िवादी और नियमित शिक्षा-प्रणालीके बदले स्वाभाविक और स्वतःप्रवृत्त शिक्षा दी जाय। उन दिनोंके लड़के और लड़कियाँ, छैले पुरुषों और छबीली स्त्रियोंके समान बन-सँवरकर निकलते थे और उन्हें शिक्षा भी प्रायः सामाजिक शिष्टाचार और नृत्यकी ही दी जाती थी। उनकी

एमीलके अनुसार रूढ़िवादी और नियमित शिक्षा-प्रणालीके बदले

स्वाभाविक और स्वतः-प्रवृत्त शिक्षा दी जाय। मनुष्यके तीन गुरु—प्रकृति, मनुष्य और पदार्थ।

बौद्धिक शिक्षा भी वही रूढ़िगत ही थी जिसमें लातिन व्याकरण, थोड़ासा शब्द-ज्ञान और थोड़ा रटाईका काम था। रूसोने इन सबका घोर विरोध किया और अपने एमील नामक ग्रन्थमें उसने एक काल्पनिक शिष्य एमीलकी सृष्टि करके उसे अपने प्रकृतिवादी सिद्धान्तोंके अनुसार शिक्षा दिलाकर यह दिखलाया कि जन्मसे लेकर पूरे मनुष्य होनेतक वह किस प्रकार बिना शिक्षकके सब कुछ स्वयं सीख लेता है।

ग्रन्थके प्रारंभमें ही वह अपने मूल सिद्धान्तकी व्याख्या करता हुआ कहता है—"प्रकृतिकर्त्ताके हाथसे आई हुई प्रत्येक वस्तु अच्छी होती है किन्तु मनुष्यके हाथमें पड़कर भ्रष्ट हो जाती है"। इस सिद्धान्तकी विस्तृत व्याख्या करनेके उपरान्त वह कहता है कि हमारी शिक्षा तीन प्रकारके अध्यापकोंसे होती है—प्रकृति, मनुष्य और पदार्थ। हमारी पूर्णताके लिये इन तीनों शिक्षकों-के सहयोगकी आवश्यकता है। किन्तु प्रकृतिके ऊपर हमारा कोई वश नहीं है इसलिये हमें चाहिए कि मनुष्य और पदार्थोंको प्रकृतिकी ओर प्रेरित करें और अपनी शिक्षा-पद्धतिको शुद्ध प्राकृतिक बनावें।

एमीलके पहले चार खंडोंमें शैशव, बाल्यकाल, किशोरत्व और युवावस्था-की शिक्षाका विवरण, पाँचवें खंडमें भावी पत्नी सोफ़ीका वर्णन

एमीलके पाँच खण्ड

एमील पाँच खण्डोंमें विभक्त है। इनमेंसे चारमें तो क्रमशः एमीलके शैशव, बालकत्व, किशोरत्व और युवावस्थाकी शिक्षाका विवरण है और पाँचवें खंडमें उसकी भावी पत्नी सोफ़ीका विवरण है।

एमीलका पहला खंड–शिशु, पाँच वर्षतक

पहले खंडमें एमीलके जन्मसे लेकर पाँच वर्षकी अवस्था तकका वर्णन है जिसमें शिशुकी इच्छा केवल शारीरिक स्फूर्त्ति, खेलकूद और चलने-फिरनेकी होती है। इसीलिये एमीलको भी सीधे-सादे, स्वतंत्र और स्वस्थ वातावरणमें रखना चाहिए जिससे वह उस वातावरणका अधिकसे अधिक लाभ उठा सके। उसे गाँवोंमें ले जाना चाहिए जहाँ वह प्रकृतिके समीपतम रह सके और सभ्यता-के छुतहे कुप्रभावसे बहुत दूर रह सके। जबतक कि वह विशेष संकटमें ही न पड़ जाय तबतक उसे न औषधसे काम हो न वैद्यसे। उसकी शारीरिक वृद्धि और शिक्षा यथासंभव स्वतःप्रवृत्त होनी चाहिए। टोपी, पट्टी, फ़ीते, अथवा वस्त्रसे कसकर उसका स्वाभाविक विकास नहीं रोकना चाहिए। उसकी देखरेखका काम भी केवल उसकी माताको ही करना चाहिए। उसे ऐसा

अभ्यास डालना चाहिए कि वह गरम-ठंडे सब प्रकारके जलस्नानको सहन कर सके। तात्पर्य यह है कि उसे किसी भी विशेष प्रकारका अभ्यास नहीं डालना चाहिए क्योंकि अभ्यास और स्वतः-प्रवृत्तिका परस्पर विरोध है इसलिये किसी प्रकारकी इच्छा या बुरा अभ्यास अस्वाभाविक है। रूसो कहता है कि बच्चेको केवल एक ही बातका अभ्यास होना चाहिए कि उसे किसी प्रकारका अभ्यास न पड़ पावे। उसके खिलौने भी प्रकृति-जन्य होने चाहिएँ, जैसे फल-फूल लगी हुई शाखाएँ, या पोस्तेकी ढेंढ़ी जिसमें बीज खड़खड़ाते हों। बालकसे बातचीत भी अत्यन्त सरल, सीधी और स्वाभाविक भाषामें करनी चाहिए, उसे झटपट बोलना सिखानेके लिये बहुत हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए। जिन थोड़े-बहुत शब्दोंमें वह अपने मनका भाव प्रकट कर सके उतना ही बहुत समझना चाहिए।

शैशव कालमें ऐसा अभ्यास डालना चाहिए कि कोई अभ्यास न पड़े। शरीरका स्वाभाविक विकास हो।

इसलिये शैशव कालमें एमीलकी शिक्षा निर्बाध या अनिर्देशित (निगेटिव) और केवल शारीरिक होनी चाहिए क्योंकि इस शैशव कालमें उसकी शिक्षाका उद्देश्य यही है कि बालककी वे सहज-प्रवृत्तियाँ और स्वतःप्रवृत्तियाँ विकृत या अशुद्ध न होने पावें जो स्वभावतः शुद्ध होती हैं और उसे वह स्वाभाविक स्फूर्त्ति भी मिल सके जो वह इस अवस्थामें चाहता है।

एमीलका दूसरा खंड—बालक, ५ से १२ वर्षतक

बालकावस्थामें उसके अंगों और ज्ञानेन्द्रियों-को साध देना चाहिए। इन्हींके सहारे बौद्धिक शिक्षा भी प्रारम्भ हो। साधारण शिष्टाचार और सम्पत्तिका ज्ञान भी दिया जाय।

इसके पश्चात् दूसरे खण्डमें आता है पाँचसे बारह वर्षकी अवस्था तकका बालकपन। इस अवस्थामें एमील अपने हाथ-पाँवसे अधिक काम लेना चाहता है और अपने चारों ओरकी वस्तुओंको छूकर, देखकर, अर्थात् उस अवस्थामें वह अपनी ज्ञानेन्द्रियोंसे सब वस्तुओंका अनुभव करके, उनकी प्रकृति जानना चाहता है। अतः इस अवस्थामें जहाँतक सम्भव हो सके उसके अंगों और उसकी ज्ञानेन्द्रियोंको ठीक प्रकारसे साध देना चाहिए। रूसो कहता है—"मनुष्यकी समझमें जितनी बातें आती हैं वे सब ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ही आती हैं इसलिये मनुष्यका पहला विवेक ज्ञानेन्द्रिय-सिद्ध ही होता है अर्थात् वह किसी वस्तुको छूकर ही समझता है कि यह चिकना है या खुरदरा; चखकर ही समझता है कि यह खट्टा है या मीठा; देखकर ही समझता है कि यह काला है या गोरा, भद्दा है या सुन्दर; सुनकर ही समझता

है कि यह श्रुति-मधुर है या कर्णकटु; सूँघकर ही समझता है कि इसमें सुगन्ध है या दुर्गन्ध। इसलिये हमारे सर्वप्रथम दार्शनिक अध्यापक हैं हमारे पैर, हाथ, कान, नाक, मुख, आँख आदि। इसलिये विचारना सीखनेके लिये हमें अपने अंग, अपनी ज्ञानेन्द्रिय और अपने प्रत्यंगको काममें लाना चाहिए क्योंकि वे ही हमारे ज्ञान प्राप्त करनेके ठीक साधन हैं। इस प्रकारकी शिक्षाके लिए एमीलको ऊँचे, ढीले और थोड़े कपड़े पहनने चाहिएँ, नंगे सिर घूमना चाहिए और शरीरको जाड़ा-गरमी-बरसात सहनेके योग्य बनाना चाहिए अर्थात् उसे 'लौक' के विधानके अनुसार अपने शरीरका 'कठोरीकरण' करना चाहिए। तैरना, लम्बी और ऊँची कूदका अभ्यास करना, दीवारों और चट्टानोंपर चढ़ना भी उसे आना चाहिए। किन्तु इससे भी महत्त्वकी बात यह है कि उसे प्राकृतिक साधनों-द्वारा ठोस वस्तुको तौलने, ऊँचाई नापने और दूरीका ज्ञान करनेके लिये आँख और कान भी काममें लाने चाहिएँ। उसे रेखाचित्र और रचनात्मक ज्यामितिका भी ज्ञान कराना चाहिए जिससे वह सब वस्तुओंके आकार-प्रकारको ठीक-ठीक समझ और समझा सके। उसके कानको ताल और लयसे परिचित करानेके लिये उसे संगीत भी सिखाना चाहिए। इसी प्रकार शरीर और ज्ञानेन्द्रियोंकी शिक्षाके द्वारा ही इसी अवस्थामें उसे बौद्धिक शिक्षा भी देनी चाहिए।

अपनी इस 'निर्बाध शिक्षा'का समर्थन करते हुए वह भावावेशमें पूछता है—"क्या इस अवसरपर मैं शिक्षाके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अत्यन्त उपादेय नियम बताऊँ? तो सुनिए—वह है समयको काममें लाना नहीं, वरन् समय-को खो देना।" बालकपनमें एमील न भूगोल पढ़ता है, न इतिहास, न भाषा, जैसा अन्य शिक्षाशास्त्री लोग चाहते हैं। उसका एमील बारह वर्षकी अवस्था तक यह भी नहीं जानता कि पोथी किस चिड़ियाका नाम है यद्यपि पोथीमें आया हुआ बहुत-सा ज्ञान वह इस अवस्थातक पा चुकता है।

एमीलको समाजके योग्य बनानेके लिये यह भी आवश्यक है कि उसे संपत्तिके विषयमें भी कुछ बता दिया जाय और साधारण शिष्टाचारका भी ज्ञान करा दिया जाय क्योंकि ये बातें व्यावहारिक आवश्यकता की हैं। पर हाँ, उसे किसी प्रकारकी नैतिक शिक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि विवेककी अवस्थातक पहुँचनेतक उसे न तो नैतिक व्यक्तियोंका ही संपर्क प्राप्त होगा और न सामाजिक संबंधोंका, इसलिये इन नैतिक उपदेशोंका उसके लिये कोई महत्त्व नहीं है। स्वाभाविक रूपमें प्राकृतिक परिणामोंके द्वारा वह स्वयं नैतिकताकी शिक्षा प्राप्त करता चलेगा। यदि वह कुछ तोड़ता-फोड़ता है तो उसका दण्ड भोगकर और फल पाकर वह समझ लेगा कि वस्तुएँ तोड़नी-

फोड़नी नहीं चाहिए। यदि वह झूठ बोलता है तो न उसे उपदेश दिया जाय न दंड, वरन् जब वह आगे सत्य भी बोले तो उसका विश्वास ही न किया जाय। बस, वह स्वयं झूठ बोलनेका दोष समझ लेगा। यदि वह निरंकुशताके साथ मालीकी लगाई हुई तरबूज़की बेल खोदकर फेंकता है और वहाँ अपने सेमके बीज बो देता है तो मालीसे कह देना चाहिए कि तुम भी इसके बीज खोद फेंको। जब उसे अपनी हानिका अनुभव होगा तभी वह दूसरेकी सम्पत्तिका और उसकी हानिसे होनेवाली असुविधाका महत्त्व समझ जायगा। यह नैतिक शिक्षा भी यथावसर और यथाप्रसंग ही देनी चाहिए।

एमीलका तीसरा खंड—किशोर अवस्था, १२ से १५ वर्षतक

बारह और पन्द्रह वर्षकी किशोर अवस्थामें जब बच्चेकी शारीरिक स्फूर्ति और इन्द्रियानुभवकी वृत्ति मन्द पड़ जाती है तब एक ऐसी अवस्था आती है जब बालककी प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ उसकी इच्छाओंसे बलवत्तर हो जाती हैं और इस अवस्थामें वह निरन्तर प्राकृतिक दृश्योंकी ओर अधिक उन्मुख हो जाती हैं। इसी दशामें विवेकपूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेकी उसकी क्षुधा भी सजग हो जाती है।

किशोर अवस्थामें उसे प्राकृतिक विज्ञान सिखाया जाय

एमीलकी इस अवस्थाका विवरण तीसरे खंडमें दिया गया है। रूसोका कहना है कि प्रकृतिने ही यह अवस्था शिक्षाके लिये उपयुक्त ठहराई है। किन्तु केवल तीन वर्षमें वह बहुत कुछ तो सीख-पढ़ सकता नहीं, इसलिये उसे केवल उपादेय विषय ही सिखाने-पढ़ाने चाहिएँ और इधर-उधरके व्यर्थके विषय छोड़ देने चाहिएँ अर्थात् उसे केवल प्राकृतिक विज्ञान ही सिखाना चाहिए। इस खंडके अन्तमें एमीलको स्वतंत्र जीवन तथा आर्थिक आत्मनिर्भरताकी शिक्षा देनेके लिये रूसोने व्यावसायिक अनुभव प्राप्त करनेकी सम्मति देते हुए लकड़ीके डब्बे तथा तिजोरी बनानेकी शिक्षा भी जोड़ दी है। रूसोका कहना है कि शिक्षाका सबसे प्रभावशाली उपाय यह है कि प्रत्येक नवीन वस्तु, बालकके कुतूहल और उसकी रुचिको उत्साहित करे क्योंकि ये दोनों बातें इस अवस्थामें बालकमें विद्यमान होती हैं। रूसोने बताया है कि पृथ्वीका गोला, मानचित्र तथा अन्य असम्बद्ध साधनोंके द्वारा ज्यौतिषकी शिक्षा देना अत्यन्त हास्यास्पद है। इसके बदले विभिन्न ऋतुओंमें सूर्योदय और सूर्यास्त दिखाकर तथा पास-पड़ोसके ऊँचे-खालेका प्रत्यक्ष ज्ञान कराकर अत्यन्त स्वाभाविक रीतिसे प्रकृतिका ज्ञान कराया जा सकता है। एमील जंगलमें खो जाता है और निकलनेका मार्ग खोजकर वह इस स्वाभाविक विज्ञानका महत्त्व समझ लेता है। जब जादूगर, छिपे हुए चुम्बकसे बनावटी वतख़ खींचता है तो

बालक उसे देखकर बिजलीका तत्त्व समझने लगता है। अपने अनुभवसे ही वह समझ लेता है कि ठोस और द्रव पदार्थोंपर ठंढ और गरमीका क्या प्रभाव पड़ता है और इसी प्रकार वह तापमापक यन्त्र तथा अन्य यन्त्रोंका मर्म समझने लगता है। इसलिये रूसोका विचार है कि बिना पुस्तककी सहायताके वास्तविक महत्त्वका सब ज्ञान अत्यन्त स्पष्ट और स्वाभाविक रूपसे प्राप्त किया जा सकता है। संसारकी सब पुस्तकोंमें रूसोको केवल एक पोथी अच्छी लगी है, वह है—'रौबिन्सन क्रूसो', जिसमें मनुष्यकी सब प्राकृतिक आवश्यकताएँ इस प्रकार प्रकट की गई हैं कि बच्चा भी उन्हें समझ सके और जिसमें इन आवश्यकताओंकी पूर्तिके साधन भी उसी सरलतासे समझाए गए हैं।

एमीलका चौथा खण्ड—युवावस्था, १५ से २० वर्षतक

चौथे खण्डमें पन्द्रहसे २० वर्षतककी अवस्थाके एमीलका वर्णन है। इस अवस्थामें एमीलके हृदयमें काम-भावना प्रकट होने लगती है और यही भावना हमारे सम्पूर्ण सामाजिक और नैतिक संबंधोंका आधार है। इसलिये इस अवस्थामें बालकका ठीकसे नियन्त्रण और शिक्षण होना चाहिए। एमीलकी पहली इच्छा तो यह है कि वह अपने वर्गके बालकोंके साथ हिले-मिले। अब उसे औरोंके साथ रहना सीखना भी चाहिए। रूसो कहता है कि हमने उसका शरीर बना दिया, उसका इन्द्रिय-ज्ञान पक्का कर दिया, उसकी बुद्धि परिपक्व कर दी, अब उसमें हृदय डालना शेष है। अब उसे नैतिक, स्नेही और धार्मिक होना चाहिए। यहाँ भी रूसो धार्मिक उपदेश देनेके पक्षमें नहीं है। वह कहता है कि इस युवकको उसके साथियोंमें भेजकर उसके मनोवेगोंको शिक्षित होने दो, यही प्राकृतिक उपाय है।

युवावस्थामें काम-भावना प्रकट होनेके कारण ठीक नियन्त्रण और शिक्षण। उसे नैतिक, स्नेही और धार्मिक बनानेकी शिक्षा साथियों-द्वारा तथा मनोवेगोंके परिष्कारकी शिक्षा पंगुशाला, अस्पताल आदिमें भेजकर तथा मिथ्याभिमानसे मुक्त करनेके लिये धूर्तों, चापलूसों और अपव्ययियोंके संगमें भेजा जाय।

एमीलको पंगुशाला, चिकित्सालय, वन्दीगृह तथा अन्य ऐसे स्थानोंमें भेजा जाय जहाँ सब प्रकारके दीन, विकलांग, पीड़ित और अपराधी लोग रहते हैं किन्तु ऐसे स्थानोंपर उसे इतनी बार नहीं भेजना चाहिए कि बारबार उन्हें देखकर उनका हृदय कठोर हो जाय। कभी कभी इस प्रकार दुःख और पीड़ाको प्रत्यक्ष देखकर मनोभावों और मनोवेगोंका शिक्षण और परिष्कार होता है। एमीलको मिथ्याभिमानसे मुक्त करनेके लिये उसे कुछ दिन चापलूस, अपव्ययी और धूर्त्त लोगोंकी संगतिमें छोड़ देना

चाहिए जिससे वह उनकी कुसंगतिमें रहकर कुसंगका फल भोगकर अपने दोष सुधार ले। इस अवस्थामें उसे छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ सुनाकर हितोपदेश देना चाहिए क्योंकि अज्ञात पापीका पतन दिखाकर हम उसकी स्वतन्त्रतामें बाधा दिए बिना ही शिक्षा दे सकते हैं।

एमीलका पाँचवाँ खण्ड – सोफ़ी

अब एमील पूरा मनुष्य हो गया है। अब उसे एक जीवन-संगिनी भी चाहिए। किन्तु उसे ढूँढ़नेके पहले हमें उसकी परीक्षा भी कर लेनी चाहिए।

सोफीकी योग्यता। स्त्रीका अलग व्यक्तित्व नहीं। वह पुरुषकी पूरक मात्र। स्त्रियोंके लिये आत्मसमर्पण युक्त कठोर शिक्षाका विधान जिससे वे सौन्दर्य पढ़ाकर तेजस्वी पुत्र उत्पन्न कर सकें।

एमीलके अंतिम खण्डमें रूसोने आदर्श पत्नी सोफ़ी और स्त्रियोंकी शिक्षाका विवरण दिया है। यह रूसोकी अत्यन्त हीन तथा निकृष्ट कृति समझी जाती है क्योंकि इसमें उसने स्त्रियोंकी प्रवृत्तिका अत्यन्त कुटिल चित्रण किया है। वह स्त्रियोंका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व ही नहीं मानता है। वह कहता है कि स्त्रियाँ तो पुरुष-प्रकृतिकी पूरक मात्र हैं। रूसोका कहना है कि स्त्रियोंको भी पुरुषोंके समान शारीरिक शिक्षा देनी चाहिए किन्तु यह शिक्षा उसके अपने व्यक्तित्वके स्वतन्त्र विकासके लिये नहीं वरन् शारीरिक सौन्दर्य बढ़ाने और तेजस्वी सन्तान उत्पन्न करनेके लिये ही हो। सीना-पिरोना, बेल-बूटे काढ़ना, फ़ीता तथा कलाबत्तू आदिका काम उन्हें इसलिये सिखाना चाहिए कि वे सुन्दर वेश-भूषा धारण करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्तिद्वारा पुरुषको प्रसन्न कर सकें। उन्हें आज्ञा-कारिणी और परिश्रमी होना चाहिए और पुरुषको चाहिए कि उन्हें सब प्रकार अपने वशमें किए रक्खें। कन्याओंको नाचना, गाना तथा अन्य कलाएँ भी सिखानी चाहिए। उन्हें धर्मकी पक्की शिक्षा देनी चाहिए और कर्त्तव्याकर्त्तव्यके संबंधमें उन्हें समाजकी इच्छाके अनुसार चलना चाहिए। स्त्रीके लिये दर्शन, कला और विज्ञान सीखना आवश्यक नहीं है किन्तु उसे पुरुषोंका अध्ययन करना अवश्य सीखना चाहिए। रूसो कहता है–'स्त्रीको चाहिए कि वह पुरुषोंकी बातचीत, आचार-व्यवहार, दृष्टिनिक्षेप और भावभंगीसे पुरुषोंके मनके भाव भली भाँति समझ ले और जो भाव पुरुषको अच्छे लगें उनकी ठीक प्रतिक्रिया करे और यह जानने भी न दे कि उसने उनके मनोभाव ताड़ लिए हैं।'

रूसोकी शिक्षा-प्रणालीका विश्लेषण

इस प्रकार रूसोने एमीलमें पुरुषोंके लिये प्राकृतिक व्यक्तिवादी शिक्षा तथा स्त्रियोंके लिये आत्मत्याग तथा आत्म-समर्पणयुक्त कठोर शिक्षा

रूसोकी शिक्षा-प्रणाली अव्यावहारिक है।

निर्धारित की है और यह भी बताया है कि इस प्रकारकी शिक्षासे देशमें सुख और समृद्धिका विस्तार होगा। किन्तु वास्तवमें यह शिक्षा-पद्धति अत्यन्त अव्यावहारिक और मन-मोदक मात्र है।

रूसोके शिक्षा-सिद्धान्तका विवेचन करनेवालेको पहले उसका जीवनवृत्त भली भाँति समझ लेना चाहिए। रूसो उस युगमें उत्पन्न हुआ था जब कि सारा यूरोप सामन्तों और राजाओंके तले उनकी निर्दयतासे पिसा जा रहा था। उच्च वर्गमें इस अन्यायके प्रति असन्तोष तो सबके हृदयमें था किन्तु उस असन्तोषको सर्वसाधारणके असन्तोषके साथ मिलाकर उसका ज्वालामुखी बनाकर विस्फोट कर देनेवाला कोई व्यक्ति नहीं था। रूसोने वही कार्य किया। अपने असंयत जीवनमें उसने सामाजिक जीवनके निकृष्टतम पक्षका स्वयं अनुभव कर लिया था और भुक्तभोगी होनेके नाते उसका सुधार करनेकी भावना उसमें स्वाभाविक रूपसे उत्पन्न हो गई थी। संयोगसे रूसोका संस्कार केवल दुर्वृत्त, दुष्ट तथा निम्न कोटिके लोगोंकी संगतिमें हुआ। इससे उसने यही समझा कि सारा समाज ही दूषित, कुत्सित और निकम्मा है इसलिये उसमें पलनेवाला बालक भी अवश्य निकम्मा और समाज-शत्रु होगा। किन्तु उसने यह नहीं समझा कि उसके पूर्ववर्त्ती अनेक शिक्षार्थियोंने योरोपके विभिन्न प्रदेशोंमें ऐसे अनेक शिक्षाके केन्द्र खोल दिए थे जहाँ व्यवस्थित रूपसे मनुष्य बननेकी शिक्षा दी जा रही थी।

समाजसे चिढ़ होनेके कारण जहाँ उसने शिक्षाके लिये समाजका बहिष्कार उचित समझा वहीं उसने यह भी सम्मति दी कि युवावस्थामें पहुँचनेपर शिक्षार्थीको चापलूस, अपव्ययी और धूर्त्त लोगोंकी संगतिमें भेजकर शिक्षा दिलाई जाय। इस प्रकारकी परस्पर–विरोधी अनेक बातें उसके ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर मिलती हैं। वास्तवमें वह न तो शिक्षा-शास्त्री था, न दार्शनिक था और न मनोवैज्ञानिक था। उसके ग्रन्थोंके अनुशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह समाजसे अनादृत होनेके कारण समाजसे इतना रुष्ट और असन्तुष्ट था कि वह बालकको समाजकी छायाका स्पर्श करानेमें भी संकोच करता था। यही कारण है कि उसका प्रकृतिवाद अत्यन्त अतिरंजित, अव्यवहार्य प्रकृतिवाद था जिसके अनुसार आजतक एक भी बालक शिक्षित नहीं किया जा सका और न आगे भी शिक्षित किया जा सकता है। समाज और जातिके सम्पूर्ण संचित तथा अनुभूत ज्ञानकी उपेक्षा करके प्रत्येक व्यक्तिको नये सिरेसे मानव-विकास-की विभिन्न सीढ़ियोंपर चढ़ाकर ले चलना हास्यास्पद ही नहीं, अत्यन्त मूर्खतापूर्ण और अविवेकपूर्ण भी है।

रूसोने एक ओर तो यह कहा है कि व्यक्तिगत सम्पत्तिकी वृद्धिके साथ ही

चोरी-डकैती प्रारंभ हुई और दूसरी ओर वह एमीलको समाजके योग्य बनानेके लिये उसे सम्पत्तिके संबंधमें भी ज्ञान प्रदान करना आवश्यक समझता है। एक ओर वह कला और विज्ञानको मनुष्यके आचारका शत्रु बताता है, दूसरी ओर वह किशोर अवस्थामें एमीलको प्राकृतिक विज्ञान सिखानेकी और सोफ़ीको कला सीखनेकी सम्मति देता है। ऐसा असंबद्ध प्रलाप करनेवाला व्यक्ति योरोपके शिक्षाचार्योंमें कैसे मान्य समझा गया, यह अत्यंत आश्चर्यकी बात है। जो व्यक्ति अपने प्रकृतिवादमें यह आदेश देता है कि बालकको अपनी उँगली जलाकर यह सीखना चाहिए कि आग जलाती है, उसे यह भी समझ लेना चाहिए था कि पहाड़से गिरकर, गहरे पानीमें कूदकर, सर्पकी बाँबीमें हाथ डालकर और संखिया फाँककर यह नहीं सीखा जाता कि इनसे मृत्यु भी होती है। हमसे पूर्व इतने विशाल मानव-समाजने अपने चिन्तन, मनन, अनुभव तथा अध्ययनसे ज्ञान-विज्ञानका जो महासागर ला रक्खा है उसकी उपेक्षा करके नया ज्ञान-सागर बनानेकी कल्पना निरी जड़ता तथा दुराग्रह मात्र है। हमारे पूर्व-पुरुषोंने तो इसीलिये कहा था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ पितृऋण और देवऋणके साथ-साथ ऋषिऋण लेकर जन्म लेता है और उससे वह तभी उऋण होता है जब अपनेसे पूर्व ऋषियों और विद्वानोंके ग्रन्थोंका अध्ययन करके दूसरोंको उसका ज्ञान दे। अतः बालकको अपने मनसे सीखने और अध्ययन करनेके लिये स्वतन्त्र छोड़नेका रूसोका सिद्धान्त ही भ्रामक और दोषपूर्ण था।

रूसो यह मानता था कि बालक जन्मके समय निर्मल तथा विकारहीन होता है। हम लोग भारतीय सिद्धान्तसे यह बात नहीं मानते। हमारा सिद्धान्त है कि प्रत्येक जीव अपने साथ अपने पिछले जन्म या जन्मोंके संस्कार लेकर जन्म लेता है और उसे इस जन्ममें जैसी शिक्षा या संगति मिल जाती है वैसे ही उसके संस्कार अच्छे या बुरे हो जाते हैं। यदि हम रूसोकी बात ही मान लें तब इस बातका सामंजस्य कैसे बैठेगा कि बालककी शिक्षा, समाजकी आवश्यकताओंके अनुसार न होकर बालककी प्रवृत्ति और आवश्यकताके अनुसार हो। जब उसका मन निर्मल और विकारहीन है तब उसकी प्रवृत्ति और आवश्यकताका प्रश्न ही कहाँ उठता है।

एमीलके पाँचवें खंडमें सोफ़ीकी शिक्षाका विवेचन करते हुए उसने स्त्रियों-का जो चित्र खींचा है उसमें स्पष्ट रूपसे उसके जीवनानुभवोंकी छाया है जो उसने निम्न कोटिकी पुँश्चली स्त्रियोंके संसर्गसे अर्जन किए थे। प्रारंभिक जीवन-कालमें समाजकी जिन अनेक स्त्रियोंने उसका आदर और उससे स्नेह किया था उसके मूलमें भी वासना ही प्रधान थी इसलिये रूसोको अपने

जीवनमें सती, सुशील, गुणी तथा सद्‌गृहस्थ नारियोंके सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य नहीं मिला इसीलिये उसने स्त्रियोंको उनके गौरवपूर्ण अर्द्धांगिनी-पद, गृह-स्वामिनी पद और देवीपदसे नीचे ढकेलकर उसे पुरुषकी सेवाके लिये दासी, उसके विलासके लिये सौन्दर्यपूर्ण रमणी और उसकी कुल-वृद्धि करनेके लिये उत्पादन-यन्त्र मात्र बनानेकी सम्मति दी है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसे नारीकी प्रकृति, उसकी भावना और उसकी कोमल उदात्त प्रवृत्तियोंको समझनेके योग्य नारी-समाज नहीं मिल पाया और इसीलिये वह सोफ़ीको इस योग्य नहीं सिद्ध कर पाया जो एमीलकी योग्य सहधर्मिणी बन सके, हाँ, जाया अवश्य बन गई।

रूसोकी यह बात तो समझमें आती है कि उपदेश या शिक्षाकी अपेक्षा अपने अनुभवसे आचार-व्यवहारका ज्ञान हो। विचित्र बात तो यह है कि जो रूसो उपदेशका विरोधी है वही एमीलके लिये यह विधान करता है कि युवावस्थामें उसे चोर, डाकू, धूर्त्त, अपव्ययी और चापलूस लोगोंकी संगतिमें रहकर समाजका अध्ययन करना चाहिए किन्तु वह एक छोटीसी बात यह नहीं समझ पाया कि ऐसी संगतिमें पड़कर मनुष्य निवृत्तिकी शिक्षा नहीं ले सकता, प्रवृत्तिकी लेता है और फिर इस प्रकारकी निम्न कोटिकी संगति सब बालकोंको सब प्रदेशोंमें कहाँसे लाकर इकट्ठी की जा सकेगी। अतः रूसोका प्रकृतिवाद, स्वाभाविकतावाद तथा स्वतःप्रवृत्त शिक्षा-वाद अत्यन्त अव्यावहारिक आडम्बर-मात्र था जिसका उद्देश्य तत्कालीन समाजके असंतुष्ट व्यक्तियोंको उत्तेजित करके क्रान्तिके लिये संघटित करना मात्र था और इस उद्देश्यमें वह सफल भी हुआ। हाँ, एमीलसे एक बात अवश्य सीखी जा सकती है कि शिक्षा यथासंभव प्राकृतिक, अनुभव-जन्य और समाज-हितकारी अवश्य हो। एमीलका यह भी महत्त्व है कि वर्त्तमान शिक्षाके आन्दोलनोंमें समाजवादी, विज्ञानवादी और मनोविज्ञानवादी जो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ रही हैं उनका मूल स्रोत एमील ही है।

वर्त्तमान शिक्षामें समाजवादी आन्दोलन

रूसोकी शिक्षा-पद्धतिके जिस पक्षपर बहुत वाद-विवाद और आलोचना-प्रत्यालोचना हुई है वह है सभ्यता तथा सामाजिक नियन्त्रणके विरुद्ध तीव्र विद्रोह। रूसोने प्राकृतिक वातावरणको ही आदर्श माना है और सब प्रकारके सामाजिक संबंधोंको हीन और विकृत बताया है। रूसोके अनुसार बालकको पशुओंके समान सामाजिक शिक्षासे दूर एकान्तमें तबतक पोषित करना चाहिए जबतक वह पन्द्रह

वर्त्तमान शिक्षा-शास्त्रियोंकी समस्त योजनाओंका मूल तथा समाजवादी भाव एमीलमें प्राप्त

वर्षका सुबुद्ध किशोर न हो जाय। उसके पश्चात् भी उसे अपने साथियोंसे हिलने-मिलने देनेके लिये उसने एक विचित्र और बेढंगा विधान खड़ा किया है। रूसोके युगमें इस प्रकारके विद्रोहकी आवश्यकता भी थी और इसी प्रकारके एकान्त व्यक्तिवादसे ही प्राचीन रूढ़ियोंसे मुक्ति भी मिल सकती थी। अपने लेखोंमें अनेक प्रकारके अतिशयोक्तिपूर्ण उदाहरणोंसे उसने सिद्ध किया है कि मनुष्यको प्राकृतिक विधिसे ही पोषित होनेकी आवश्यकता है और शिक्षाकी तत्कालीन व्यवस्था, पाठ्यक्रम और शिक्षण-विधियोंकी सड़ी हुई रूढ़ि तोड़नेकी भी है। रूसोने अपनी पुस्तकोंमें केवल शिक्षा-पद्धतिका ही चित्रण नहीं किया वरन् उसने अनेक प्रकारके सामाजिक आन्दोलन करनेकी बात भी सुझाई थी। उसका कहना था कि समाजके प्रत्येक व्यक्तिको बौद्धिक ही नहीं, व्यावसायिक शिक्षा भी मिलनी चाहिए जिससे वह अपना पालन-पोषण भी कर सके और अपने देशवासियोंके प्रति उदारता और सहानुभूतिके साथ व्यवहार भी कर सके। इस प्रकार रूसोने मानवीय हितके साथ शिक्षाका अधिक गहरा संबंध स्थापित कर दिया। पैस्तालौज़ी और फ़ालेनबुर्गकी व्यावसायिक योजना, हरबार्ट-द्वारा शिक्षाका नैतिक उद्देश्य, फ्रोबेलके शिक्षा-भ्यासमें "सामाजिक सहयोग" और वर्त्तमान व्यावसायिक-शिक्षा, नैतिक-शिक्षा, विकलांगोंकी शिक्षा तथा अन्य विशिष्ट प्रकारकी शिक्षाओंपर जो आज इतना ध्यान दिया जा रहा है उन सबका मूल स्रोत एमीलमें ही प्राप्त होता है।

वर्त्तमान शिक्षामें वैज्ञानिक आंदोलन

ऊपर बताया जा चुका है कि रूसोने संपूर्ण सामाजिक रूढ़ियोंका बहिष्कार करके और प्रकृतिको ही एक मात्र पथ-प्रदर्शक मानकर पोथी-रटन्तका तीव्र विरोध किया और स्वयं-निरीक्षण-द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेका अधिक महत्त्व बताया। उसने पिछले समस्त संचित ज्ञानकी इतनी घोर अपेक्षा की कि यदि उसका वश चलता तो छात्रोंका समस्त पिछला ज्ञान छीन लेता किन्तु इतना होनेपर भी उसने अपने पाठ्यक्रममें प्राकृतिक वस्तुओंके प्रयोगका पर्याप्त विधान किया है और प्रकृति-अध्ययन तथा निरीक्षणको पाठ्यक्रममें इतने विस्तारसे इतना स्थान दिया है जितना पहले कभी नहीं दिया गया था। इसी प्रभावके परिणाम-स्वरूप विद्यालयों और महाविद्यालयोंने अपने पाठ्यक्रममें भौतिक शक्ति, प्राकृतिक वातावरण, जीव-जन्तु और वनस्पतिका अध्ययन भी सम्मिलित कर लिया। इस विधानके द्वारा उसने केवल पैस्तालौज़ी, बेसडो, साल्त्समान और रिट्टरमें प्रकृति-अध्ययन और भूगोल-अध्ययनका ही नेतृत्व नहीं किया वरन् स्पेंसर और हक्सलेका नेतृत्व करते हुए शिक्षामें वर्त्तमान वैज्ञानिक आन्दोलनका भी दर्शन करा दिया।

वर्त्तमान शिक्षामें मनोवैज्ञानिक आन्दोलन

रूसोके शिक्षा-सिद्धान्तमें सबसे महत्त्वकी बात यह है कि बच्चेकी शिक्ष उसकी स्वाभाविक रुचिके अनुसार हो । यद्यपि रूसो स्वयं बालकोंके मनोवृत्ति भली प्रकार नहीं पहचान सका और इस सम्बन्धमें उसने जो विचार व्यक्त किए हैं, वे भी अनगढ़ हैं, फिर भी उसने यह बात अवश्य समझ ली थी कि शिक्षाका एक मात्र आधार बालकका अध्ययन है । एमीलकी भूमिकामें उसने कहा है—"हम लोगोंमें जो सबसे अधिक बुद्धिमान हैं, वे बालकोंको ऐसी बातें सिखानेके फेरमें है जो सयाने लोगोंको जाननी चाहिएँ और यह नहीं समझ पाते कि बालक क्या ग्रहण कर सकते हैं । हम सदा बालकमें सयाने मनुष्यकी छाया देखते हैं और यह नहीं सोचते हैं कि मनुष्य होनेके पहले भी वह कुछ है या नहीं ?"

रूसोके इस सिद्धान्तका परिणाम यह हुआ कि आजकलकी शिक्षाका केन्द्र बालक बन गया । इस सम्बन्धमें बालकके विकासकी विभिन्न अवस्थाओंका सिद्धान्त जो रूसोने निश्चित किया है, उसपर भी विचार कर लेना चाहिए । उसने बालकके विकासको ऐसे निश्चित विभागोंमें बाँट दिया है जिनका एक दूसरेसे कोई सन्बन्ध नहीं है और प्रत्येक विभागके लिये उसने एक विशेष प्रकारकी शिक्षाका प्रतिपादन किया है क्योंकि वह चाहता है कि एमील उदार और धर्मात्मा हो और वह भी उस अवस्थामें जब कि वह पन्द्रह वर्षकी अवस्था-तक आत्मरुचि और संदेहके वातावरणमें पला हो । इसीको शिक्षा-शास्त्रियोंने "देरमें सयान बनानेका सिद्धान्त" (थीयरी औफ़ डीलेड मैच्योरिंग) कहा है । रूसोने दिखलाया है कि बालकके जीवनकी विभिन्न अवस्थाओंमें कुछ विशेष अन्तर होते हैं और विभिन्न अवस्थाओंमें यदि उसे उचित क्रियाएँ करनेको दी जायँ तभी उसकी पूर्णता हो सकती है और उसका ठीक-ठीक विकास हो सकता है । इसलिये वर्तमान युगमें जो यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि बालकके सोचने, अनुभव करने और काम करनेके सम्बन्धमें किसी निश्चित प्रणालीका प्रयोग न किया जाय, इसका सम्पूर्ण श्रेय रूसोको ही दिया जा सकता है । रूसोने यह भी कहा है कि अध्ययनके लिये उत्सुकता और रुचिको भी प्रधानता देनी चाहिए । इस दृष्टिसे वह हरबार्ट और उसके अनुयायियोंका भी पथ-प्रदर्शक है । रूसोके द्वारा ही हमने यह भी सीखा है कि शारीरिक स्फूर्त्ति और इन्द्रियोंकी शिक्षा भी बालकोंके लिये उनके भावी विकासमें अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी । पैस्तालौज़ीने जो प्रकृति-निरीक्षणकी प्रणाली चलाई और फ्रोबेलने जो गतिशील क्रियाकी प्रणाली चलाई उन सबके मूल स्रोत रूसोके सिद्धान्तोंमें ही प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रकार

रूसोने क्रियाशीलता उत्पन्न करनेका, बालकके लिये समस्या उत्पन्न करनेका, बालकके अंगों और उनकी स्फूर्त्तियोंका प्रयोग करनेका महत्त्व दिखाकर शिक्षा-प्रणालीके संवर्धनमें बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया और इस दृष्टिसे हम उसे वर्तमान मनोवैज्ञानिक आन्दोलनोंका भी जनक कह सकते हैं। यद्यपि उसके समयमें इस प्रकारके मनोविज्ञानका विकास नहीं हुआ था जैसा आजकल हो गया है फिर भी उसने बालकका सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करके ही अपने शिक्षा-सिद्धान्त सिद्ध कर लिए थे और इस प्रकार उसने अपनेको बालककी स्थितिमें रखकर सम्पूर्ण विश्वको बालककी आँखोंसे देखनेका योरपमें प्रथम प्रयास किया।

रूसोकी शिक्षा–पद्धतिके प्रयोग

बेसडो और लंकास्टर

यद्यपि रूसोको वर्त्तमान शिक्षा-पद्धतियोंका जनक बताया तो जाता है किन्तु अपने समयमें उसका कोई प्रभाव तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली या विश्व-विद्यालयोंपर नहीं पड़ सका। उसका कारण यही था कि रूसोने लेखकके रूपमें जो ख्याति प्राप्त की उसने तत्कालीन समाजके मनमें तो क्रान्ति उत्पन्न की किन्तु वह क्रान्ति रूसोके मतका समर्थन करनेवाली न होकर केवल तत्कालीन विधानमें परिवर्त्तन मात्रकी इच्छुक हो पाई। रूसोका उच्छृङ्खल जीवन और उसके विचारोंकी अव्यवहार्यता इतनी स्पष्ट थी कि जो लोग परिवर्त्तन चाहते भी थे वे भी अपने बालकोंको अपनी देखरेखसे दूर वनमें छोड़नेके पक्षपाती नहीं थे। यही कारण था कि रूसोको अपने समयमें जनताका समर्थन नहीं प्राप्त हो सका किन्तु पीछे कुछ ऐसे विचारक अवश्य हुए जिन्होंने रूसोकी शिक्षा-योजनाका सार्वजनिक प्रयोग करनेका संकल्प किया।

रूसोके समयमें उसके विचारोंका प्रभाव समाज या शिक्षा-प्रणालीपर कोई नहीं पड़ सका।

बेसडो और मानव-संस्थाएँ

रूसोकी इस प्राकृतिक शिक्षाका निश्चित रूपमें प्रथम प्रयोग बेसडोने जर्मनीमें किया और वहाँ इस प्रयोगके लिये फ़िलैन्थ्रोपिनम (मानव-संस्था) नामक शिक्षा-संस्थाओंकी स्थापना की गई। जोहन्न बर्नहार्ड बेसडो (१७२३-१७९०) स्वभावसे ही ऐसा विचित्र भावुक व्यक्ति था कि रूसोके सिद्धान्तोंने उसे तत्काल मुग्ध कर लिया। बेसडो था तो बड़ा प्रतिभाशाली किन्तु साथ ही बड़ा अव्यवस्थित, रूढ़िवादी, विवेकहीन और अनियमित भी था। प्रारंभमें उसे यूथरल धर्मसेवा-के लिये लीपज़ीग विश्वविद्यालयमें शिक्षा दिलाई गई थी, किन्तु न जाने कैसे उसका विश्वास ईश्वरसे उठ गया और फलतः उसने धर्मप्रचारके कार्यको तिलांजलि दी और हौल्सटाईनमें जाकर हेर फ़ौन क्वालेंडके बच्चोंको शिक्षा देने लगा। इस धनी परिवारके बच्चोंको पढ़ाते समय उसने पहले आस-पासकी

बेसडोने पहले-पहल रूसो की शिक्षा-पद्धतिका प्रयोग किया।

वस्तुओंके संबंधमें प्रश्न करके तथा उन वस्तुओंमें खेल-कूदकर उनके संबंधकी सब बातें सिखा दीं। इसके कुछ ही दिन पश्चात् सन् १७६३ में उसे 'एमील' पोथी हाथ लग गई। उससे बेसडो इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपने देशके शिक्षा-सुधारका व्रत ही ले लिया। जैसे रूसोने तत्कालीन फ्रांसकी शिक्षा-का विरोध करके उसमें परिवर्त्तन करनेका सुझाव दिया था उसी प्रकार बेसडोने जर्मनीकी शिक्षा-प्रणालीमें क्रान्तिका शंख फूँक दिया। उन दिनों जर्मनीके विद्यालयोंमें अँधेरी और गंदी कोठरियोंमें कक्षाएँ लगती थीं, पढ़ाई भी दो कौड़ीकी होती थी, शारीरिक शिक्षाका भी कोई प्रबंध नहीं था, नियंत्रण भी बड़ा कठोर था, संपूर्ण वातावरणमें विचित्र कृत्रिमता भी व्याप्त थी, पाठ्यक्रम में भी साहित्यका ही प्रभुत्व था और वह भी नीरस व्याकरण-प्रणालीसे पढ़ाया जाता था। इस दूषित, संकीर्ण प्रणालीसे लोग इतने ऊब उठे थे कि बेसडोने शिक्षा-सुधारके लिये जो-जो सुझाव रक्खे वे तत्काल सर्वमान्य किए जाने लगे और इनके आधारपर धड़ाधड़ मानवीय विद्यालय (फ़िलैन्थ्रौपिनम) नामक नए ढंगकी संस्थाएँ खोली जाने लगीं जिनमें बेसडोके सिद्धान्तोंके अनुसार शिक्षा दी जाने लगी। उसने तत्कालीन राजाओं, सरकारों और पादरियोंसे भी सहायता माँगी और यह प्रस्ताव किया कि तत्कालीन संकुचित और नीरस शिक्षाके बदले पाठ्यविषय अधिक व्यावहारिक कर दिए जायँ और पाठन-प्रणाली ऐसी कर दी जाय कि खेल-कूदसे ही बालक सीख-पढ़ लें। सभी वर्गोंने इस प्रस्तावका सहर्ष समर्थन किया और इस योजनाके लिये शीघ्र ही दस हजार डालर एकत्र भी हो गए।

बेसडोके सुझावसे मानवीय विद्यालय (फ़िलेन्थ्रोपिनम) खुले। पाठ्यविषयोंको व्यावहारिक और पाठन-प्रणाली खेलपूर्ण बनानेका प्रस्ताव किया।

एलेमेंटार वेर्क और मेथोडेनबुख

छः वर्ष पश्चात् बेसडोने बालकोंके लिये 'एलेमैंटारवेर्क' नामक पाठ्य-पुस्तक और अध्यापकों तथा अभिभावकोंके लिये सहायक पुस्तक 'मेथोडेनबुख' तैयार कर डाली। इस पहली पुस्तक एलेमैंटारवेर्कके साथ पाठ्यपुस्तकके विषयोंसे संबद्ध ९६ चित्र भी छापे गए थे जिसमें बेसडोने कुछ तो रूसोके प्रकृतिवादी विचारोंका आधार लिया और कुछ अन्य सुधारकों और अपने अनुभवों का।

'एलेमेंटारवेर्क' के सम्पादनमें कम्मीनियस और रूसो दोनोंके सिद्धांतोंका सम्मिश्रण है इसीलिये बहुतसे लोग इसे अठारहवीं शताब्दिका 'औरबिस पिक्टस' भी कहते हैं। इस पुस्तकमें बातचीतके रूपमें अनेक वस्तुओं

एलेमेंटारवेर्कमें कमीनि-यस और रूसोके सिद्धान्तोंका सम्मिश्रण। बातचीतके रूपमें वस्तुओं और शब्दोंका परिचय। मेथोडेनबुख़में अपनी ओरसे भी शिक्षकके सम्बन्धमें सुझाव। अन्य समर्थकोंके सहयोगसे कहानी-संग्रहोंका प्रकाशन।

और शब्दोंका परिचय कराया गया है। मेथोडेनबुख़में उसने रूसोका पूर्ण अनुसरण नहीं किया वरन् अपनी ओरसे भी स्वाभाविक शिक्षकके विषयमें कुछ सुझाव दिए हैं। बच्चोंके स्वभावके सम्बन्धमें उसका कहना है कि बच्चोंको फुर्तीले कामों धन्धोंमें बड़ी रुचि होती है। सबसे विचित्र बात बेसडोने यह कही है कि विद्यार्थियोंकी रुचिका प्रयोग लातिन भाषाकी शिक्षामें किया जाना चाहिए। इसके पश्चात् बेसडोने काम्पे, साल्त्समान तथा अन्य समर्थकोंके सहयोगसे बच्चोंकी रुचि और उनकी आवश्यकताओंके आधारपर कुछ लोकप्रिय कहानियाँ लिखीं जिनमें नीति, धर्म, उपदेश तथा साधारण विज्ञानकी अनेक बातें भरी हुई थी। इन कहानी-संग्रहोंमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है 'रौबिन्सन डेर युंगेरे' (कनिष्ठ रौबिन्सन) जो १७७९ में काम्पेने प्रकाशित कराया था।

डेस्साउका फ़िलैन्थ्रोपिनम—मानवीय विद्यालय

डेस्साउके राजा लियोपोल्डने बेसडोको अच्छा वेतन, भवन, भूमि और जागीर देकर फ़िलैन्थ्रौपिनम (मानवीय विद्यालय) खोलनेकी सुविधा दे दी थी। इस विद्यालयमें काम्पे और साल्त्समान जैसे विचक्षण विद्वान् अध्यापक बुला लिए गए थे। इस विद्यालयका सिद्धान्त यह था कि सम्पूर्ण शिक्षा प्रकृतिके अनुकूल हो, शिक्षा-क्रममें बच्चोंकी सहज प्रवृत्तियों और रुचियोंको प्रोत्साहन और निर्देश दिया जाय, सीखनेकी विधियाँ भी बालकोंकी मानसिक अवस्थाके अनुकूल हो, तत्कालीन सम्पूर्ण आचार-विचार और कृत्रिमताएँ समाप्त कर दी जायँ और बालकोंको सादे कपड़े पहननेको दिए जायँ यद्यपि ये लोग सर्व-शिक्षामें विश्वास करते थे और धनी-निर्धन सभीको शिक्षित करना चाहते थे, किन्तु फिर भी इनका विश्वास था कि एक वर्गको तो सामाजिक-संरक्षण और नेतृत्वके लिये प्राकृतिक शिक्षा दी जाय और दूसरे वर्गको अध्यापन करनेके लिये। इस भेदका परिणाम यह हुआ कि धनी छात्रोंको

फ़िलैन्थ्रोपिनम (मानवीय विद्यालय) में बालकोंकी प्रकृति, प्रवृत्ति और रुचिके अनुसार शिक्षा। दो प्रकारका वर्ग। एकमें समाज - संरक्षण और नेतृत्वकी शिक्षा, दूसरेमें अध्यापन की। हस्त-कौशल, खेल और व्यायाम अनिवार्य। लातिनके साथ देश भाषा और फ्रांसीसी। एलेमेंटारवेर्कके साथ

व्यावहारिक विषयोंकी शिक्षा भी।

छः घण्टे विद्यालयमें और दो घण्टे हाथका काम करनेमें लगाने पड़ते थे और निर्धन परिवारोंके बालकोंको छः घण्टे शारीरिक कामोंमें और दो घण्टे पढ़नेमें लगाने होते थे। इस भेदके होते हुए भी हस्तकौशलकी शिक्षा सभीको दी जाती थी और शारीरिक व्यायाम तथा खेल सबके लिये अनिवार्य थे। बौद्धिक शिक्षा-क्रममें लातिनके साथ देशभाषा और फ्रांसीसी भाषाकी शिक्षा भी बालकोंको दी जाती थी। 'एलेमेंटारवेर्क' के साथ कुछ व्यावहारिक बातें भी सिखाई जाती थीं जिनमें मानव-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, पशुपालन तथा उनका व्यवसाय, पेड़-पौधोंको उगाने और पोषण करनेकी विधि, धातु और रसायन, गणित और भौतिक विज्ञानके यंत्र, व्यवसाय तथा इतिहास आदि विषय सम्मिलित थे। किन्तु थोड़े ही दिनोंमें बेसडो यह समझने लगा कि मैं बहुत आगे बढ़ गया हूँ इसलिये उसने इन विषयोंका विस्तार कम कर दिया।

फ़िलैन्थ्रौपिनममें शिक्षण-विधि

बोल-पढ़कर भाषा, बातचीत तथा नाटक आदिसे लातिन, मौखिक विधिसे गणित, शुद्ध रेखा-चित्रसे ज्यामिति और पासप-ड़ोससे लेकर महाद्वीप तकके क्रमसे भूगोल।

इस विद्यालयमें बोलकर और पढ़कर भाषाएँ सिखाई जाती थी। व्याकरण, बहुत पीछे उस समय पढ़ाया जाता था जब भाषामें बोलनेकी अच्छी गति हो चुकती थी। बातचीत, खेल, चित्र, नाटक तथा व्यावहारिक और रोचक विषयोंपर पुस्तक पढ़ाकर लातिनमें कुशलता प्राप्त कराई जाती थी। गणितकी शिक्षा मौखिक ही होती थी। ज्यामितिकी शिक्षा ठीक और शुद्ध रेखा-चित्रके द्वारा दी जाती थी। इसी प्रकार घर, पड़ोस, नगर, देश और महाद्वीपके क्रमसे भूगोलका ज्ञान कराया जाता था।

डेस्साउके विद्यालयका अवसान

डेस्साउका विद्यालय समाप्त। वहाँके अध्यापकोंने अनेक वैसे विद्यालय खुले। अनधिकारी लोगों-द्वारा उस नामके विद्यालय

इस मानव-विद्यालय (फ़िलैन्थ्रौपिनम) का योरोपमें बड़ा यश फैला। प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी कान्टने यहाँतक कहा कि इस विद्यालयकी शिक्षाका उद्देश्य "मन्द सुधार नहीं, वरन् सत्वर क्रान्ति है।" यह विद्यालय बड़े विद्यार्थियोंके लिये बड़ा प्रिय हुआ। यद्यपि १७९३ में डेस्साउका फ़िलैन्थ्रौपिनम सदाके लिये बन्द हो गया किन्तु उसके अध्यापकोंने सारे यूरोपमें फैलकर इस प्रकारके बहुतसे विद्यालय स्थान-स्थानपर खोल

खुल जानेसे बदनामी । दिए । यद्यपि इन विद्यालयोंने नवीन शिक्षाको बड़ा प्रोत्साहन दिया, किन्तु इनकी देखा-देखी बहुतसे अन्यथासिद्ध लोगोंने भी इसी नामसे विद्यालय खोलकर इस प्रणालीका बड़ा दुर्नाम कराया । जो भी हो, इस पद्धतिने शिक्षण—पद्धति और व्यावसायिक शिक्षाके संबंधमें बहुतसी ऐसी नई प्रेरणाएँ दी जिन्हें पीछे पैस्तालौज़ी, फ्रोबेल और हरबार्टने पल्लवित और विकसित किया ।

शिक्षामें उदारता—खीस्ती शिक्षा-समुन्नति-कारिणी-सभा

अठारहवीं शताब्दिमें कुछ उदार सज्जनोंने दीनों और निर्धनोंको शिक्षा देनेके लिये बहुतसे धर्मार्थ विद्यालय खोल दिए। इन प्रयत्नोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण क्रियाशील संस्था थी एस्० बी० के० (सोसाइटी फौर दि प्रमोशन औफ़ क्रिश्चियन नौलेज) अर्थात् खीस्ती-शिक्षा-समुन्नति-कारिणी-सभा। सन् १६९८ में रेवेरेंड टौमस् बेने इस सभा-की स्थापना की थी। यों तो इन विद्यालयोंकी स्थापना, इनका पोषण और इनका प्रबन्ध सब तत्तस्थानीय जनता ही करती थी, किन्तु इस समितिने ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि जिस विद्यालयमें पैसा घटे, उसे समितिकी ओरसे सहायता देकर पूरा कर दिया जाय। यह समिति केवल आर्थिक सहायता ही नहीं देती थी वरन् इन धर्मार्थ विद्यालयोंका निरीक्षण भी करती थी, उनके प्रबन्धकोंको सम्मति और आदेश भी देती थी, सस्ते मूल्यमें बाइबिल, प्रार्थना-पुस्तक और धार्मिक-प्रश्नोत्तरी भी देती थी और अध्यापकोंकी नियुक्ति-के संबंधमें भी धार्मिक, नैतिक, शैक्षणिक तथा अवस्था-संबंधी परीक्षण करती थी। इन विद्यालयोंमें अध्यापकोंका कार्य यह था कि धार्मिक प्रश्नोत्तरी पढ़ानेके साथ बालकोंके मनसे सब अवगुण और दुराचरण निकाल दें तथा उन्हें प-लिग अर्थात् पढ़ना, लिखना और गणित सिखावें। इन विद्यालयोंमें केवल पढ़ने-मात्रकी ही नहीं वरन् छात्रोंके लिये भोजन, वस्त्र, और निवासकी भी व्यवस्था थी।

खीस्ती शिक्षा समुन्नति कारिणी सभा द्वारा धर्मार्थ विद्यालयोंके सहायता और उनकी व्यवस्थामें सहयोग। अध्यापकगण धार्मिक प्रश्नोत्तरी पाठनके साथ बालकोंके मनसे अवगुण निकलते और पढना, लिखना और गणित सिखाते।

धार्मिक विद्यालयोंका विस्तार

थोड़े ही दिनोंमें ऐसे विद्यालयोंकी संख्या केवल इंगलैंड और वेल्समें ही दो दो सहस्रतक पहुँच गई थी जिनमें लगभग पचास सहस्र बालक-बालिकाओंको शिक्षा मिल रही थी। धनी लोगोंको इन निर्धनोंकी धार्मिक विद्यालयोंके पढ़ाई बहुत अखरी और उन लोगोंने बड़ा तीव्र

प्रचारसे धनी भड़के किन्तु लेखकोंने समर्थ किया। कुछ समयमें इन विद्यालयोंकी आर्थिक सहायता बन्द। नैशनल सोसाइटीने अपने ऊपर इन विद्यालयोंका भार लिया।

विरोध भी किया, किन्तु एडिसन जैसे समर्थ लेखकों और साहित्यकारोंने यह कहकर इन विद्यालयोंका समर्थन किया कि इस व्यापक शिक्षासे राष्ट्रका सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि अगली पीढ़ीमें ऐसा कोई नहीं बचा रह जायगा जिसे पढ़ना-लिखना न आता हो और जिसे अपने धर्मका थोड़ा-बहुत ज्ञान न हो। किन्तु आगे चलकर सहायक लोगोंने इन विद्यालयोंकी सहायता बन्द कर दी, निरीक्षण और शिक्षणका कार्य भी ढीला पड़ गया और इन संस्थाओंकी वृद्धि रुक गई। किन्तु इन संस्थाओंने लोगोंके मनमें यह बात अवश्य बैठा दी कि राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धतिकी स्थापना धार्मिक आधारपर की ही जानी चाहिए। अन्तमें हुआ भी यही कि नैशनल सोसाइटी (राष्ट्र-समिति) ने इनका उपयोग देखकर इन बहुतसे विद्यालयोंका भार स्वयं सँभाल लिया।

चलते-फिरते विद्यालय (सर्कुलेटिंग स्कूल्स)

चलते-फिरते विद्यालय, एक स्थानपर बाइबिल सिखाकर दूसरे स्थानपर चले जाते थे।

इनके अतिरिक्त नौनूकनफ़र्मिस्टों (स्वतंत्रतावादी ईसाईयों) ने भी कुछ इस प्रकारके विद्यालय खोले और वेल्समें एक विचित्र प्रकारके धर्मार्थ विद्यालय खुल गए थे जिन्हें चलते-फिरते विद्यालय (सरक्युलेटिंग स्कूल्स्) कहते हैं। इन विद्यालयोंकी व्यवस्था यह थी कि ये एक स्थानपर जाकर वहाँके लोगोंको बाइबिल पढ़ा-लिखा देते थे और फिर वहाँ काम हो चुकनेपर दूसरे स्थानपर चले जाते थे।

धर्मप्रचार सभा—एस. पी. जे.

अमेरिकामें धर्मार्थ विद्यालयोंके आदर्शपर विद्यालय खुले। 'धर्म-प्रचार सभाने इन्हें पोथी, कागज, दावात, प्रार्थना-पुस्तक, बाइबिल आदि दीं।

खीस्ती शिक्षा-समुन्नति-कारिणी सभामेंसे एक दूसरी सभा डाक्टर ब्रेने शाखा रूपसे स्थापित की जो एस. पी. जे. (धर्म-प्रचार सभा) के नामसे प्रसिद्ध हुई। प्रारंभमें तो बहुत दिनोंतक इसकी ओरसे कोई विद्यालय नहीं खोला गया, किन्तु सन् १७०९ में अमेरिकाके न्यूयार्क नगरमें विलियम हडल्स्टनने इन्हीं धर्मार्थ विद्यालयोंके आदर्शपर नये विद्यालय खोल दिए। उसकी देखा-देखी और भी बहुतसे प्रान्तोंमें ऐसे विद्यालय खुलते गए। धर्म-प्रचार-सभाने इन विद्यालयोंके लिये सींगके पुट्ठोंसे मढ़ी हुई पुस्तकें, पाठ्य-पुस्तकें, कागज, मसीपात्र,

प्रश्नोत्तरी, प्रार्थना-पुस्तकें, बाइबिल तथा धर्मगीत आदिकी अनेक प्रकारकी पोथियाँ बाँध-बाँधकर भेजनेकी व्यवस्था की थी। बहुतसे लोगोंने इस सभाका भी विरोध किया क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं इँगलिस्तानका ईसाई धर्म यहाँ भी अड्डा न जमा ले, किन्तु ये विद्यालय अमेरिकामें चलते ही रहे।

रविवारी विद्यालय—संडे स्कूल्स

निरक्षरता दूर करनेके लिये रविवारी विद्यालय

इन्हीं धर्मार्थ-विद्यालयोंके समान योरोपमें रविवारी विद्यालय (संडे स्कूल्स) चले जिनमें सर्वसाधारणकी निरक्षरता दूर करनेके लिये रविवारको शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि विरोध तो इसका भी बहुत हुआ, किन्तु ये भी अपनी ओरसे विद्या-प्रसार करते ही रहे। उन्हींके प्रभावसे अमेरिकामें भी रविवारी विद्यालय खोले गए और उनका बड़ा प्रचार भी होता रहा। यद्यपि इन विद्यालयोंका कोई स्थायित्व नहीं था, किन्तु इन विद्यालयोंने सार्वभौम शिक्षाका सूत्रपात अवश्य कर दिया।

शिष्याध्यापक-प्रणाली (मौनीटोरियल सिस्टम)

शिष्याध्यापक प्रणालीका प्रचार लंकास्टरने किया जिसमें ऊपरके कुछ छात्रोंको गुरु पढ़ाते थे, और फिर वे ही छात्र अन्य छात्रोंको पढ़ाते थे।

जिन दिनों एक ओर धर्मार्थ विद्यालय बड़े वेगसे चल रहे थे, उन्हीं दिनों लन्दनके साउथवर्क प्रदेशमें लंकास्टरने १७९८ ई० में दीन बालकोंके लिये शिष्याध्यापक-प्रणाली या गुरुकुल-प्रणालीका एक विद्यालय खोल दिया। वहाँके बालक इतने दीन थे कि न उनके पैरोंमें जूते थे न तनपर कपड़े। लंकास्टरने यह प्रणाली निकाली कि उन बालकोंमेंसे ही कुछको चुनकर स्वयं पढ़ावें और फिर वे विद्यार्थी अन्य सब विद्यार्थियोंको पढ़ावें। यह प्रयोग बहुत सफल तो हुआ किन्तु जब लंकास्टरने इसका विस्तार करना आरम्भ किया तब उसपर इतना ऋण हो गया कि उसे अपना हाथ खींच लेना पड़ा। किन्तु ब्रिटिश ऐण्ड फ़ौरेन सोसाइटी (ब्रिटिश तथा विदेशी सभा) ने इस विद्यालयका भार अपने ऊपर ले लिया। यह प्रणाली इतनी सफल हुई कि इँगलैण्डके ईसाई चर्चमें डाक्टर एन्ड्रू बेलके अधीन ऐसे अनेक विद्यालय खोले गये। यह प्रणाली वास्तवमें भारतकी गुरुकुल-प्रणाली थी जिसका प्रचार लंकास्टर और बेलने किया क्योंकि डाक्टर बेल भारतमें रहकर इस प्रणालीका अध्ययन कर चुके थे और इसकी उपयोगिता भी समझ चुके थे। आगे चलकर यह शिक्षा बड़ी संकुचित और यंत्रवत् हो गई फिर भी उसने इँगलैण्डकी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणालीका स्थान ले लिया और फिर संयुक्तराष्ट्र अमेरिकातक

फैलकर इसने राजकीय सहायता प्राप्त करके शिक्षा-पद्धतिमें भी बहुत उन्नति की।

निर्धन बच्चोंके लिये उन्नीसवीं शताब्दिमें फ्रांस, इँगलैण्ड तथा संयुक्तराष्ट्र अमेरिकामें शिशु-विद्यालय भी खोले गए, जिनका राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणालीमें महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु ये विद्यालय भी बहुत थोड़े दिनोंमें यंत्रवत् हो गए। कुछ भी हो, इस धर्मार्थ शिक्षा-पद्धतिने सार्वभौम और राष्ट्रीय शिक्षाके लिये मार्ग अवश्य खोल दिया।

१२

शिक्षामें संप्रेक्षणवाद और व्यावसायिक साधना

पेस्टालौज़ी तथा हैरिस मान

धर्मार्थ शिक्षाकी विवेचना कर चुकनेपर हमें उन आन्दोलनोंका भी भली-भाँति परीक्षण कर लेना चाहिए जो रूसोके उस प्रकृतिवादसे उत्पन्न हुए थे जिसमें कृत्रिम समाज और बनावटी शिक्षाके लिये कोई स्थान नहीं था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि समाजको नष्ट करके शताब्दियोंके अनुभवसे अर्जित सभ्यताका विनाश कर दिया जाय। उसका तात्पर्य केवल इतना ही था कि समाजमें जो अनेक प्रकारकी कृत्रिम रूढ़ियाँ उत्पन्न हो गई हैं उन्हें बदलकर उनके स्थानपर ऐसा नया समाज बना दिया जाय जिसमें प्रत्येक व्यक्तिको स्वतः विकसित होने और ज्ञानार्जन करनेकी निर्बाध सुविधा हो। इसीलिये यद्यपि रूसोने एमीलको निर्बाध शिक्षा देनेकी बात कही है, किन्तु उसे बीच-बीचमें उचित आदेश देते रहनेकी आवश्यकता भी रूसोने समझी है। यद्यपि रूसोने जैसे आदेश देनेका संकेत किया है वे प्रायः अव्यावहारिक और असंगत ही थे किन्तु फिर भी इसका परिणाम यह हुआ कि अन्य आचार्यों-ने उसपर गंभीरता-पूर्वक विचार करके प्रकृतिवादको व्यवस्थित कर दिया। इस प्रकारका सर्वप्रथम प्रयास पेस्टालौज़ीने किया और इस उद्देश्यसे किया कि उचित शिक्षाके द्वारा तत्कालीन निकृत समाजको सुधारा जा सके और एक नई प्रणालीका निर्माण किया जा सके।

उचित शिक्षाके द्वारा तत्कालीन समाजको सुधारनेके लक्ष्यसे पेस्टा-लौज़ीने रूसोके प्रकृति-वादको व्यवस्थित करके नई शिक्षा-प्रणालीका निर्माण किया।

पेस्टालौज़ी और उसका प्रारंभिक जीवन

जौह्न हेनरिख़ पेस्टालौज़ीका जन्म सन् १७४६ में स्विट्सरलैण्डके ज़्सूरिख़ नगरमें हुआ। वह पाँच वर्षका हो भी नहीं पाया था कि उसके पिता चल बसे इस-लिये उसका लालन-पालन उसकी उदार और धार्मिक माताने ही किया। उसके दादा जीवित थे अतः बाल्यकालमें उसपर माता और दादाका अधिक प्रभाव पड़ा। उसके दादा पड़ोसके गाँवमें पादरी थे। अपने

धार्मिक माताके द्वारा लालन-पालन, माता और दादाका सात्विक

प्रभाव, प्रारंभमें पादरी, फिर वकालत, एमील और सोशल कौंट्रैक्टका अध्ययन, राज्यक्रान्तिमें योग, किसानोंको खेती-के नये उपाय, विर्रमें नई खेती, असफलता।

इन दो अभिभावकोंके उदार सदाचरणको देखकर उसके मनमें भी यह भावना जागरित हुई कि मैं भी अपने आस-पासके दलित और असंस्कृत देहाती भाइयोंकी सेवा करके तथा पढ़ा-सिखाकर उन्हें ऊपर उठाऊँ। इसलिये पहले तो उसने पादरीका काम प्रारंभ किया क्योंकि पादरीके संयत जीवनमें उसे सेवाके अवसर अधिक मिल सकते थे किन्तु उसे वहाँ सफलता न मिल सकी। तब उसने दण्डनीति (कानून)का अध्ययन प्रारंभ किया, जिससे जनताके अधिकारोंकी रक्षा की जा सके और दीन, दुर्बल तथा अपढ़ लोगोंको जो लोग दबाते और पीड़ा देते चले आ रहे थे उनके हाथसे दीनोंको मुक्त कराया जा सके। पर इस व्यवसायमें भी उसे सफलता न मिल सकी। उन्हीं दिनों रूसोका 'एमील' तथा 'सामाजिक धर्म' (सोशल कौन्ट्रैक्ट) कहींसे उसके हाथ लग गए। इन दोनों ग्रन्थोंने उसके मनमें ऐसी उथल-पुथल मचा दी कि उसने राज्य-क्रान्तिमें भाग लेकर सरकारके विरुद्ध विद्रोह करना प्रारंभ किया और पकड़ा गया। वहाँसे छूटनेपर सन् १७६९ में उसने किसानोंको खेतीके नये उपाय बताने प्रारंभ किए और स्वयं बिर्र प्रदेशमें थोड़ी सी भूमि लेकर वहाँ न्यू हौफ़ (नया खेत) चलाया। किन्तु पाँच वर्षमें यह प्रयोग भी असफल सिद्ध हुआ।

रूसोकी पद्धतिपर पुत्रकी शिक्षा

इसी बीच पेस्टालौज़ीके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम उसने रूसोके नामपर 'जेक्स' रक्खा और जिसे उसने रूसोके 'एमील'के समान पालन करना प्रारंभ किया। इस बालकके पालन-पोषणके समय उसे जो जो अनुभव होते चलते थे उन्हें वह लिखता चलता था और देखता चलता था कि रूसोने जो सुझाव दिए हैं उनका कहाँतक समर्थन हो सकता है और उनमें कहाँ-कहाँ किस-किस प्रकारकी बाधाएँ पड़ती हैं। इस प्रयोगसे पैस्टालौज़ी इस परिणामपर पहुँचा कि रूसोके सिद्धान्तोंका आँख मूदकर प्रयोग करनेसे पहले उनमें आवश्यक संशोधन कर लेने चाहिएँ। अतः सबसे पहले उससे यह विचार किया कि बालकके लिये प्राकृतिक स्थान कौन-सा है। उसका यह अनुमान पूर्णतः ठीक था कि बच्चेका स्वाभाविक या

अपने पुत्रका नाम जेक्स रखकर एमीलके अनुसार उसकी शिक्षा। उसकी शिक्षाके समय नये अनुभव लिखता था। रूसोके सिद्धान्तमें संशोधनकी आवश्यकता-का अनुभव। बच्चेका स्वाभाविक वातावरण घर। पुस्तकोंके आधार पर शिक्षा अनुचित।

उचित पढ़ाईसे जीविका और चरित्रका विकास संभव।

प्राकृतिक वातावरण उसका घर ही है जहाँ शासन कुछ कठोर भले ही हो किन्तु जो निरन्तर माता-पिता-के स्नेहसे भी ओत-प्रोत रहता है। इस भावनाकी पुष्टिसे उसे साधारण जनताके पुनरुद्धारके लिये नये विचार और नये शिक्षा-सिद्धांत प्राप्त हुए। पैस्टालौज़ीको यह विश्वास हो गया कि पुस्तकोंके आधारपर समुचित शिक्षा नहीं दी जा सकती। यदि शिक्षाकी ठीक योजना बन जाय तो जो निर्धन लोग जीविकामें बाधा पड़नेके कारण नहीं पढ़ते-लिखते वे लोग, अपनी जीविका कमानेके साथ ही अपनी बुद्धि और अपना नैतिक आचार भी समुन्नत कर सकते हैं।

वर्धा-शिक्षा-योजना और पेस्टालौज़ी

महात्मा गांधीने सन् १७३७ में भारतके लिये वर्धा-शिक्षा-योजनाके नामसे जो प्रणाली सुझाई थी उसका आधार पेस्टालौज़ीका यही सिद्धान्त है। गांधीजी भी यही चाहते थे कि हमारे देशकी नब्बे प्रतिशत अशिक्षित तथा दरिद्र जनताको इस प्रकार किसी उद्योग कौशलपर अवलम्बित और केन्द्रित शिक्षा दी जाय कि वह उसीके सहारे अन्य विषयोंका ज्ञान प्राप्त करती हुई उस हस्तकौशलके द्वारा अपनी जीविका भी कमा सके। पेस्टालौज़ीका भी उद्देश्य था ठीक यही, किन्तु अन्तर यही था कि जहाँ पेस्टा-लौज़ीने नैतिक विकासके लिये भी विधान किया था, वहाँ गांधीजीने अपनी योजनामें नैतिक शिक्षाकी पूर्णतः उपेक्षा की क्योंकि उनका विश्वास था कि मनोयोगपूर्वक सचाई और निष्ठासे अपना-अपना व्यवसाय करनेसे लोगोंमें सात्विकता और नैतिकता आ ही जायगी। किन्तु संसार वास्तवमें स्वयं इतना भला नहीं है जितना वे समझते थे।

वर्धा-शिक्षा-योजनाका आधार पेस्टालौज़ीका सिद्धान्त है। किन्तु पेस्टालौज़ीने नैतिक विकासका भी विधान किया, गांधीजीने नहीं किया।

न्यू हौफ़ (नया खेत) पाठशाला—नया प्रयोग १७७४-८०

खेतीमें असफल होनेके पश्चात् सन् १७७४ में उसने वहीं न्यू हौफ़ (नया खेत) में ही बीस दरिद्र बच्चोंको अपने साथ रखकर और उन्हें भोजन-वस्त्र देकर भारतीय गुरु-भावनासे पाठशाला खोलकर पढ़ाना प्रारम्भ किया। उसने वहाँ इस प्रकारसे छात्रोंका दैनिक कार्यक्रम बनाया कि वे पढ़ने-लिखनेके साथ-साथ अपने आप अपने परिश्रमसे अपनी जीविका चला सकें। इसलिये उसने उन सबको

न्यू हौफ़में २० बालकों-को भोजन-वस्त्र देकर शिक्षाका प्रयोग जिसमें लिखना, पढ़ना

गणित और परिश्रमका काम। बालकोंको खेती-बारी, कन्याओंको घरेलू काम और सिलाई। लिखना-पढ़ना सिखानेसे पहले बात-चीत, बाइबिल कण्ठाग्र। छात्रोंकी संख्या बढ़ानेके कारण पाठशाला बन्द।

सदाचारपूर्ण धार्मिक तथा नैतिक वातावरणमें रखकर लिखने, पढ़ने, गणित सीखने तथा परिश्रमका काम करनेकी शिक्षा दी। उसकी पाठशालामें बालकोंको तो खेती और फल-फूल उगानेकी शिक्षा दी जाती थी; बालिकाओंको घरेलू काम-काज और सिलाई-बुनाई सिखाई जाती थी, जाड़े-पाले और बरसातके दिनोंमें जब बाहरका काम कम रह जाता था तब सूत कातना और कपड़ा बुनना सिखाया जाता था। उसका शिक्षा-क्रम यह था कि लिखना-पढ़ना सिखानेके पहले बच्चोंको बात-चीत करना भली प्रकार सिखला दिया जाता था और बाइबिल कंठस्थ करा दी जाती थी। थोड़े ही दिनोंमें पैस्टालौज़ी-ने देखा कि उस शिक्षा-क्रमसे बच्चोंका स्वास्थ्य भी बढ़ रहा है, उनकी बुद्धि भी उन्नत हो रही है और वे सदाचारी भी बन रहे हैं। इसलिये अपनी सफलतासे उत्साहित होकर उसने अपने छात्रोंकी संख्या और भी अधिक बढ़ा दी। उसके पास पैसा तो था नहीं, अतः सन् १७८० में उसका दीवाला निकल गया और धनकी कमीसे शिक्षाका इतना बड़ा, सुन्दर, सफल प्रयोग सदाके लिये समाप्त हो गया। इस प्रयोगमें एक बात तो स्पष्ट हो गई कि हाथका काम करनेके साथ-साथ दूसरे विषयोंका ज्ञान भी भली प्रकार दिया जा सकता है। यद्यपि उस समयतक पैस्टालौज़ी बौद्धिक शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षाका ठीक प्रकारसे सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाया था किन्तु इस सामंजस्यकी संभावनाएँ उसकी योजनामें निश्चित रूपसे स्पष्ट हो गई थीं।

पैस्टालौज़ीका शिक्षा-संबंधी ग्रंथ—'लिओनार्ड उंड गेर्ट्रयूड'

असफल होनेपर भी उसने शिक्षाके द्वारा सामाजिक सुधार करनेका जो उदार उद्देश्य स्थिर किया था, वह न्यू हौफ़की पाठशाला बन्द होनेसे नष्ट तो नहीं हो पाया किन्तु उस उद्देश्यके प्रचारका साधन भी उसके पास कुछ नहीं था। संयोगसे उसके एक मित्रने उसे प्रेरणा दी कि तुम अपने विचार पुस्तक रूपमें प्रकाशित कर डालो। इतने बड़े संसारमें कोई तो ऐसा माईका लाल निकलेगा जो इसका महत्व समझेगा। अतः सर्वप्रथम उसने 'एक साधुका संध्याकाल' (दि ईविनिंग आवर औफ् ए हरमिट) प्रकाशित किया जिसमें उसके सभी शिक्षण-सिद्धांतोंका समावेश था। किन्तु वह ग्रन्थ कुछ दुर्बोध

'एक साधुका संध्याकाल' में शिक्षा—सिद्धान्तोंकी व्याख्या। उसके दुर्बोध होनेके कारण 'लियोनार्ड उंड गेर्ट्रयूड' लिखा जिसमें एक किसान-नारीके द्वारा गाँवके सुधारका वर्णन है।

तथा अस्पष्ट हो गया, इसलिये लोगोंने कहा कि इसे सर्वसुबोध रूपमें लिख डालिए। तदनुसार उसने अपना प्रसिद्ध, सफल और लोकप्रिय ग्रन्थ 'लियोनार्ड उंड गेर्ट्रयूड' (१७८१) लिखा। इस कथामें स्विसरलैंडके बोनाल नामक गाँवकी हीन सामाजिक दशाका वर्णन करके यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार एक साधारण किसान-नारी गेर्ट्रयूड अपने मधुरके व्यवहार तथा परिश्रमसे उस गाँवकी दशा बदल देती है। श्रीमती गेर्ट्रयूड अपने मद्यप पतिको सुधारती है, अपने बच्चोंको शिक्षा देती है और अपने सदाचरणसे ग्रामीण समाजपर ऐसा प्रभाव डालती है कि सब लोग प्रभावित होकर उसके बताए हुए सुझाव स्वीकार कर लेते हैं। इसके पश्चात् एक कुशल अध्यापक गाँवमें आता है, गेर्ट्रयूडसे पाठशाला चलानेकी विधि सीखता है और प्रार्थना करता है कि आप निरन्तर इसी प्रकार सहयोग देती रहें। धीरे-धीरे देशकी सरकारका भी ध्यान इस ओर जाता है, वहाँके सुधारोंका अध्ययन किया जाता है और अन्तमें यह परिणाम निकलता है कि देशका सुधार केवल बोनाल गाँवकी शिक्षण पद्धतिका अनुसरण करनेपर ही हो सकता है।

आन्श्वांग या अनुभवाश्रित शिक्षण-विधि

इन अठारह वर्षोंमें उसके जो विचार सिद्धान्त रूपमें थे उन्हें व्यावहारिक बनानेका अवसर सहसा प्राप्त हो गया। सन् १७९८ में स्वित्सरलैंडमें फ्रांसीसियोंकी हत्या हुई, युद्ध हुआ और स्तांस नगरमें एक अनाथालय स्थापित किया गया जिसके प्रबन्धका भार मिला पैस्टालौज़ीको। वह तो ऐसे अवसरकी ताकमें ही था किन्तु वहाँ पहुँचनेपर उसने देखा कि वहाँ न तो कोई सहायक अध्यापक है, न पुस्तकें हैं, न कुछ और सामग्री ही है। फिर भी वह विचलित नहीं हुआ। उसने अस्सी बच्चोंके शिक्षणकी एक नई विधि निकाली। इसी विधिका नाम था आन्श्वाङ्ग (अनुभवाश्रित शिक्षण-विधि)। वह विधि यह थी कि बच्चोंको अपनी ओरसे कुछ बताया या सिखाया न जाय, बच्चे स्वयं अपने अनुभव और संप्रेक्षणसे बाहरका ज्ञान प्राप्त करें। यही उसकी संप्रेक्षण-प्रणालीका वास्तविक श्रीगणेश था। यद्यपि स्तांसमें उसने बौद्धिक और शारीरिक शिक्षाका संयोग सुचारु रूपसे सिद्ध कर लिया था, किन्तु उसकी संप्रेक्षण-

स्तांसके अनाथालयमें आन्श्वांग या अनुभवाश्रित शिक्षण-विधिका आविष्कार जिसमें बालक स्वयं अपने अनुभव और संप्रेक्षणसे बाह्य ज्ञान प्राप्त करें। मौखिक शिक्षणकी प्रधानता। उसका उद्देश्य शिक्षाको इतना सरल करना था कि विद्यालयकी आवश्यकता ही न रह जाय।

प्रणाली ही पीछे अधिक महत्त्वपूर्ण समझी जाने लगी। इस विद्यालयमें धर्म और नीतिके उपदेश नहीं दिए जाते थे प्रत्युत बच्चोंके व्यवहारमें जैसे-जैसे नई-नई घटनाएँ होती चलती थीं वैसे-वैसे उन्हें आत्मसंयम, सच्चरित्रता, सहानुभूति और कृतज्ञताका महत्त्व समझाते चलते थे। इसी प्रकार प्रत्यक्ष उदाहरणों-द्वारा छात्रोंको वस्तुएँ दिखलाकर गणित और भाषाका ज्ञान कराया जाता था और बातचीतमें ही सारा इतिहास और भूगोल पढ़ा दिया जाता था। यद्यपि बच्चोंने प्रकृतिके सहारे प्राकृतिक इतिहास नहीं पढ़ा था किन्तु उन्होंने यह अवश्य सीख लिया था कि जो कुछ अपने प्रत्यक्ष ज्ञानसे अनुभव किया है उसकी संगति सीखे हुए ज्ञानसे बैठाते रहे। इस प्रकार उसकी शिक्षा-पद्धतिमें मौखिक शिक्षाकी ही प्रधानता थी। ज्ञानकी आवृत्ति या पढ़ी हुई बातको दुहरानेको वह अधिक महत्त्व देता था। उसकी कक्षामें सभी वर्गों और अवस्थाओंके बच्चे थे इसलिये वह सबसे निम्नतम वर्ग या अवस्थाके बालककी दृष्टिसे ज्ञान देनेका प्रयत्न करता था, क्योंकि उसकी शिक्षाका उद्देश्य भी यही था कि शिक्षा इतनी सरल कर दी जाय कि विद्यालयकी आवश्यकता ही न रह जाय, माता ही अपने बच्चोंको अपने-आप शिक्षा दे सके।

अनुभवाश्रित विधि

पैस्टालौज़ीके इस स्नेहमय तथा सहानुभूतिमय संरक्षणमें रहकर बच्चोंकी शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक उन्नति तो स्पष्ट दिखाई देने लगी, किन्तु छः मासमें ही उसका प्रयोग समाप्त हो गया क्योंकि सरकारने उसके विद्यालयका भवन सैनिक कार्योंके लिये हथिया लिया। एक दृष्टिसे यह भी अच्छा ही हुआ क्योंकि इस विद्यालयके पीछे वह जितना घोर परिश्रम कर रहा था उससे उसका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा था और इन छः महीनोंमें उसकी रुचि भी परिश्रमयुक्त शिक्षाकी ओरसे हटकर प्रारम्भिक विद्यालयके साधारण विषयोंकी शिक्षा-विधियोंके सुधारमें लग गई थी।

सेनाके लिये भवन ले लिए जानेसे विद्यालय बन्द। उसकी रुचि साधारण विषयोंकी शिक्षाविधिके सुधारमें लग गई।

ए बी सी औफ़ औब्ज़र्वेशन तथा सिलेबरीज़

अपनी संप्रेक्षण-प्रणालीके सम्बन्धमें उसने यह प्रयत्न किया कि जितना भी कुछ बाह्य अनुभव है उस सबको बालकके अध्ययनके लिये सरलतम बना दिया जाय। इस सरलीकरण विधिको उसने संप्रेक्षण-का क, ख, ग (दि ए बी सी औफ़ औब्ज़र्वेशन) कहा है। इसके अतिरिक्त स्तांत्समें ही उसने

स्वरोंके आगे-पीछे व्यंजन लगाकर एकस्वरी

ध्वनियों (सिलेबरीज़) का निर्माण। संप्रेक्षणका क, ख, ग या अनुभूत ज्ञानको सरलतम बनाने की विधि।

'सिलेबरीज़' अर्थात् एकस्वरी ध्वनियोंके अभ्यासों द्वारा पुस्तक पढ़ाना प्रारम्भ किया था। इनमें यह व्यवस्था थी कि पाँचों स्वरों (ए, ई, आइ, ओ, यू या अ, ए, इ, ओ, उ,) के साथ क्रमशः सब व्यंजन आगे या पीछे लगाए जायँ जैसे ए बी अब, ई बी एब, ओ बी औब, तथा यू बी उब और इसी प्रकार अन्य व्यंजनोंको भी स्वरोंके साथ आगे-पीछे जोड़कर समस्त संभव उच्चारणों-का अभ्यास कराया जाय। जर्मन उच्चारणोंकी ध्वन्यनुकूल प्रकृतिके कारण ये अभ्यास इतने उपयोगी सिद्ध हुए कि मौखिक ध्वनियोंके उच्चारणमें अत्यन्त सरलता आ गई। उसने यह प्रयोग केवल भाषाकी शिक्षाके लिये ही नहीं वरन् अन्य विषयोंकी शिक्षा सरलतम बनानेके लिये भी उसी प्रकारकी विधि निकाल ली।

बुर्गडोर्फ़में एकस्वरी ध्वनियोंका क्रमिक विस्तार

जिन दिनों वह अपना प्रयोग चला रहा था उन्हीं दिनों कुछ घटनाचक्र ऐसा हुआ कि उसे स्तांत्स छोड़कर बुर्गडोर्फ़ चला आना पड़ा। यहाँ उसके

अनुभव और भाषाका सहयोग।

बहुतसे शिष्य अच्छे-अच्छे पदोंपर प्रतिष्ठित होकर उसकी शिक्षा-योजना चला रहे थे इसलिये उसने बौद्धिक और व्यावसायिक शिक्षाके प्रयोगको तो स्थगित कर रक्खा क्योंकि उसका शिष्य फ़ालेनबुर्ग वह काम कर ही रहा था। निदान उसने अपने 'संप्रेक्षणके क ख ग' पर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया और अपनी एकस्वरी ध्वनियोंका भी फिरसे क्रमिक विस्तार किया। वहाँ विद्यालयकी दीवारपर लगे हुए कागजोंपर बने हुए चित्रों, छेदों और चीरोंकी संख्या, आकार, स्थान और रंगका परीक्षण कराकर भाषाका इस प्रकार अभ्यास कराया जाता था कि बालक अपने-अपने संप्रेक्षणको लम्बे-लम्बे वाक्योंमें व्यक्त करते थे जिन्हें पेस्टालौज़्ज़ी शुद्ध करता चलता था और छात्रगण उसकी आवृत्ति करते चलते थे।

टेबिल औफ़ यूनिटसे गणितकी शिक्षा : अन्य विषयोंकी शिक्षा-योजना

छात्रोंको गणित सिखानेके लिये उसने कुछ फट्टे बनाए थे जिनपर सौ

गणितकी शिक्षाके लिये इकाईका फट्टा तथा ज्यामितिकी शिक्षा लिये कोण, रेखा, वृत्त

तककी गणनाके लिये बिन्दु या रेखाएँ बनी रहती थीं। इस टेबिल औफ़ यूनिट (इकाईके फट्टे) के सहारे विद्यार्थियोंको अंकोंका अर्थ भी ज्ञात हो जाता था और गणितके आगेके क्रम भी समझमें आ जाते थे। ज्यामितिकी शिक्षाके लिये बच्चोंसे कोण, रेखा, वृत्त

आदि खींचनेका अभ्यास ।

आदि ज्यामितिके रूप खिंचवाए जाते थे और इसी संप्रेक्षण-प्रणालीसे इतिहास, भूगोल तथा प्राकृतिक इतिहासका भी ज्ञान कराया जाता था ।

संप्रेक्षण-प्रणालीकी धूम और उसके सिद्धान्त

यद्यपि यह प्रणाली अभीतक पूर्ण रूपसे व्यवस्थित नहीं हुई थी फिर भी वह इतनी लोकप्रिय हो गई कि झुण्डके झुण्ड विद्यार्थी वहाँ आने लगे। बहुतसे उदारचेता अध्यापक भी सहयोग देने पहुँच गए अनेक प्रतिष्ठित लोग आ-आकर विद्यालयकी प्रशंसा कर गए और लगभग साढ़े तीन वर्षोंमें पेस्टा-लौज़ीके शिक्षा-सम्बन्धी विचार व्यवस्थित होकर, उन्नत होकर सर्वसाधारणकी शिक्षाके प्रयोगमें आने लगे । बुर्गडोर्फ़में रहते हुए उसने सन् १८०१ में अपनी पुस्तक 'हाउ गेट्र्यूड टीचेज़ हर चिल्ड्रेन' (गेट्र्यूड अपने बच्चोंको कैसे पढ़ाती है) प्रकाशित करके अपनी प्रणालीकी विस्तृत व्याख्या की । इस पुस्तकमें गेट्र्यूडका कहीं नाम नहीं है । इसमें तो केवल उन पंद्रह पत्रोंका संकलन है जो उसने अपने मित्र गैस-नेरको लिखे थे । पेस्टालौज़ीके अन्य ग्रन्थोंके समान इसमें भी संगति, क्रम तथा विस्तारके औचित्यकी कमी है । पूरी पोथी असंगत बातों और पुनरावृत्तियोंसे भरी पड़ी है इसलिये पेस्टालौज़ीके जीवनी-लेखकने उसके शिक्षण-सिद्धान्तोंका जो संक्षिप्त ब्यौरा संकलन कर छोड़ा है वही हमारे लिये पर्याप्त होगा । उसके अनुसार पेस्टालौज़ीके शिक्षण-सिद्धान्त ये थे—

छात्रों, अध्यापकों और प्रतिष्ठित लोगोंका सहयोग । 'हाउ गर्ट्रूड टीचेज़ हर चिल्ड्रेनका प्रकाशन । उसके सिद्धान्त — संप्रेक्षण सीखते समय निर्णय तथा आलोचनाका निषेध, अगले पिछले ज्ञानका सम्बन्ध, प्रत्येक अवस्थामें पर्याप्त समय, बालकके विकास-क्रमके अनुसार शिक्षण ।

१—शिक्षाका आधार संप्रेक्षण अर्थात् प्रत्येक वस्तुको ध्यानपूर्वक देख-समझकर उसके संबंधका पूरा ज्ञान प्राप्त करना होना चाहिए ।

२—भाषाका सम्बन्ध संप्रेक्षणसे ही होना चाहिए ।

३—शिक्षा प्राप्त करनेके समय न तो आँख मूँदकर कोई निर्णय कर लेना चाहिए और न निरर्थक आलोचना ही करने लग जाना चाहिए ।

४—शिक्षाकी प्रत्येक शाखाका प्रारम्भ सरलतम तत्त्वोंसे होना चाहिए और बालकके विकासके साथ विकसित होना चाहिए अर्थात् संपूर्ण ज्ञान [illegible]की क्रमसे दिया जाय कि अगले और पिछले ज्ञानका परस्पर मनोवै[illegible] प्रकार सम्बन्ध हो ।

५—शिक्षाकी प्रत्येक अवस्थामें बालकको इतना पर्याप्त समय देना चाहिए कि वह नई सामग्रीको पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर ले, मुट्ठीमें कर ले।

६—शिक्षण-कार्य भी विकास-क्रमसे ही चलाया जाय, बलपूर्वक गुरुत्वकी भावनासे छात्रपर कुछ न लादा जाय।

इवरडूनमें विद्यालय — टेबिल औफ़ फ़्रैक्शन्सकी रचना

राजनीतिक उथल-पुथलके कारण सन् १८०५ में पेस्टालौज़ीको अपना विद्यालय बुर्गडोर्फ़से हटाकर इवरडून ले जाना पड़ा। थोड़े ही दिनोंमें दूर-दूरसे विद्यार्थी आने लगे और पेस्टालौज़ीको अवसर मिल गया कि स्तांस तथा बुर्गडोर्फ़में जिन संप्रेक्षणात्मक प्रणालियोंका प्रारम्भ किया था उन्हें यहाँ पूर्ण करे। फलतः उसने एकस्वरी ध्वनियाँ (सिलेबरीज़) तथा इकाईके फट्टे (टेबिल औफ़ यूनिट) का सुधार किया और एक नई भिन्नोंकी सरणि (टेबिल औफ़ फ़्रैक्शन्स) भी तैयार कर डाली। इस सरणिमें बहुतसे वर्ग बने हुए थे जिन्हें असंख्य प्रकारसे बाँटा जा सकता था। इनमेंसे कुछ वर्ग तो पूरे थे और कुछ दो, तीन या यहाँतक कि दस बराबर भागोंमें आड़े-आड़े बाँटे हुए थे। इसके अतिरिक्त उसने भिन्नके भिन्नकी सरणि या मिश्र-भिन्नकी सरणि बनाई जिसके वर्ग आड़े बाँटनेके बदले इस प्रकार खड़े बाँटे गए थे कि दो भिन्नोंको एक ही भाजक-द्वारा विभक्त करनेकी क्रिया भली भाँति सरलतासे स्पष्ट हो जाती थी।

इवरडूनमें भिन्नोंकी 'सरणि' का निर्माण।

चित्र और लेखनकी शिक्षाके लिये अभिनव प्रयोग

लिखना और चित्ररेखा (ड्राइङ्ग) खींचना सिखानेके लिये पहले छात्रोंको सब प्रकारके आकारोंके साधारण मौलिक तत्त्व सिखा दिए जाते थे। छड़ी या अंजनी (पेंसिल) आदि वस्तुओंको भिन्न-भिन्न रूपसे आड़े, सीधे, खड़े, पड़े, बैंड़े, तिरछे रखकर श्यामपट्ट या पथर-पाटीपर उन्हींके समान रेखाएँ खिंचवाई जाती थीं और यह क्रम तबतक चलता रहता था जबतक बालक सभी प्रकारके सीधे और वतुलाकार रूप न सीख लें। इन रूपोंका अभ्यास कर चुकनेपर छात्रोंको समरूप और सुन्दर आकृतियाँ बनानेके लिए प्रोत्साहन दिया जाता था। इन्हीं सब अभ्यासोंसे छात्रोंको लिखनेका ढंग भी आ जाता था।

लिखना या चित्ररेखा सिखानेके लिये छड़ी या पेंसिलको आड़े, सीधे रखकर रेखाएँ खिंचवाते। लिखनेका अभ्यास पहले स्लेट फिर कागजपर। इसी लिये ज्यामिति आदि

विषयोंमें संप्रेक्षण-प्रणालीका प्रयोग।

लिखना सिखानेका श्रेय यह था कि पहले तो बच्चे सरलतम सीधी रेखाओंवाले अक्षरोंसे प्रारम्भ करके अक्षरोंकी मिलावटसे बनी हुई शब्द-योजनातक अपनी पथरपाटियों (स्लेटों) पर लिखते थे किन्तु जब भली भाँति अभ्यास हो चुकता था तब कलमसे कागजपर लिखनेका अभ्यास करने लगते थे। यों तो पढ़नेके साथ-साथ ही लिखना भी सिखाया जाता था किन्तु नियमित रूपसे लिखनेकी बारी पढ़नेके बहुत पीछे आती थी। केवल लिखना ही नहीं, रचनात्मक ज्यामिति भी रेखाचित्रोंके द्वारा ही सीखी जाती थी। इसके लिये पहले तो बच्चोंको यह अभ्यास कराया जाता था कि वे खड़ी, पड़ी, तिरछी और समानान्तर रेखाओंका भेद समझें और फिर समकोण, लघुकोण, विषमकोण, विभिन्न प्रकारके त्रिभुज, चतुर्भुज तथा अन्य ज्यामितिक रूप पहचानें। इस प्रकार धीरे-धीरे वे स्वयं जान लेते थे कि कुछ निश्चित रेखाएँ एक दूसरेको कितने बिन्दुओंपर काटती हैं और उनसे कितने प्रकारके कोण, त्रिभुज और चतुर्भुज बन सकते हैं। इस विषयको और भी अधिक स्पष्ट करनेके लिये कागजके मोटे गत्ते विभिन्न रूपोंमें काट लिए जाते थे या उनकी प्रतिमूर्त्ति (मौडल) बनवा ली जाती थी। इस संप्रेक्षण-प्रणालीका प्रयोग प्रकृति-अध्ययन, भूगोल और इतिहासके शिक्षणमें निरन्तर चलता रहा। इसके अनन्तर वृक्षों, फूलों और पक्षियोंको देखकर उनके चित्र खींचे जाने लगे और फिर उनके सम्बन्धमें जमकर बातचीत, शंका-समाधान तथा शास्त्रार्थ किया जाने लगा जिससे उन सभी वस्तुओंके सम्बन्धकी सभी ज्ञातव्य बातें सब भली प्रकार जान लें। इतना ही नहीं, पड़ोसमें स्थित बुरौनकी घाटीकी प्रतिमूर्त्ति बड़ी-बड़ी चौकियोंपर पूरे ब्यौरेके साथ बनाकर रख दी गई, जिसे देखकर छात्रोंको अपने पड़ोसकी उस प्रसिद्ध घाटीका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाय।

भूगोल और संगीतकी शिक्षाके लिये पेस्टालौज़ीके सिद्धांतोंका प्रयोग

कार्ल रिट्टरके द्वारा भूगोल-शिक्षणमें और नैगेली-द्वारा संगीत-शिक्षणमें इस प्रणालीका प्रयोग।

पेस्टालौज़ीके इन सिद्धान्तों और प्रयोगोंका फल यह हुआ कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक कार्ल रिट्टरने उसके भूगोल-शिक्षण-संबंधी विचारोंको समुन्नत किया और पेस्टालौज़ीके संगीतज्ञ मित्र नैगेलीने संगीत-शिक्षाके लिये इस प्रणालीका प्रयोग करना आरम्भ किया। हमारे यहाँ जैसे गीतोंकी स्वरलिपिके लिये स र ग म प्रणाली है, उसी प्रकार पहले उसने स्वरोंके साधारण सप्तकोंका परिचय कराया और फिर उनके संयोगसे जटिल रागोंका

शिक्षण प्रारंभ किया। इस प्रकार इवरडूनमें बीस वर्षोंतक यह शिक्षाका केन्द्र वर्त्तमान शिक्षा-पद्धतियोंकी सभी समुन्नत प्रणालियोंपर प्रयोग करता रहा। वहाँका मूलमंत्र था संप्रेक्षण और इस संप्रेक्षणका भाषाके साथ इस प्रकार संयोग कर दिया गया कि बालक अपने संप्रेक्षणसे जो कुछ सीखते-समझते चलें उन्हें अपनी भाषामें व्यक्त कर सकनेमें भी समर्थ होते चलें।

पेस्टालौज़ीके शिक्षा-संबंधी उद्देश्य और उनकी व्याख्या

पेस्टालौज़ीके अनुसार 'मनुष्यका स्वाभाविक विकास और उसकी सब शक्तियों, समर्थताओं और योग्यताओं-का साथ-साथ संवर्धन ही शिक्षाका अर्थ। स्वाभाविक विकासका आधार संप्रेक्षण। बालककी रुचिके अनुसार उसे ज्ञान दिया जाय।

पैस्टालौज़ीने शिक्षाकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि शिक्षाका अर्थ है 'मनुष्यका स्वाभाविक विकास और उसकी सब शक्तियों, समर्थताओं और योग्यताओंका साथ-साथ संवर्धन!' उसने अपने पहले लेख 'एक साधुका संध्याकाल' में लिखा था कि मनुष्यको किसी कौशल या आकस्मिक संयोगसे सब उदात्त शक्तियाँ नहीं प्राप्त हो जाती हैं। उनका विकास तो अत्यन्त स्वाभाविक रूपसे होता है और इसलिये सब प्रकारकी शिक्षा स्वाभाविक ढंगसे ही दी जानी चाहिए। उसने बताया है कि बालककी वृद्धि भी वृक्षकी वृद्धिके समान होती है। जैसे किसी वृक्षके बीज और उसके मूलमें स्थित अंग ही अनेक अबाध संबंधोंके द्वारा पूर्ण वृक्षका रूप धारण करते हैं, वैसे ही मनुष्य भी बालकपनमें अपने अंग या उपांग-का जो संस्कार पाता है उसीके अनुसार वह विकसित रूप बन जाता है। इसलिये पेस्टालौज़ीने शिक्षाकी परिभाषा देते हुए लिखा है कि 'मनुष्यकी सब शक्तियों और समर्थताओंके स्वाभाविक और सर्वाङ्ग विकासात्मक संवर्धनको ही शिक्षा कहते हैं।' यह विश्वास रूसोके उस प्रकृतिवादसे पूर्णतः मिलता-जुलता है जिसमें कहा गया है कि मनुष्यका अपने भीतरसे ही स्वयं संवर्धन होना चाहिए, बाहरी शिक्षासे नहीं। किन्तु रूसोने इस सिद्धान्तको इस पक्ष-से देखा था कि बालकको पूर्णतः स्वतंत्र और निर्बाध छोड़ दिया जाय, किन्तु उसने अपने इस शिक्षा-सिद्धान्तको स्पष्ट और व्यवस्थित करके किसी विद्या-लयमें उसका प्रयोग नहीं किया। पेस्टालौज़ीने रूसोके इस सिद्धांतको कुछ घटा-बढ़ाकर सब परिस्थितियों और योग्यताओंके बालकोंपर उसका प्रयोग किया। रूसोने तो एमील नामके एक धनी परिवारके बालकको शिक्षित करने-की योजना बनाई थी किन्तु पेस्टालौज़ीने यह सोचा कि मानसिक और नैतिक

विकासके द्वारा समाजका सुधार भी किया जा सकता है और उसकी दरिद्रता भी दूर की जा सकती है।

संप्रेक्षण (औब्ज़र्वेशन)के सिद्धान्तकी व्याख्या

उसकी शिक्षाका मुख्य सिद्धान्त था संप्रेक्षण। वह सुग्गा-रटंतका बड़ा विरोधी था। उसने अपनी शिक्षाका आधार बनाया मनोविज्ञानको। इसका तात्पर्य यह था कि बालककी रुचि जिस वस्तुमें हो वही वस्तु बालकको दी जाय जिससे वह उस वस्तुको भली प्रकार देख-समझकर उससे संबद्धमें सब बातें जान ले। क्योंकि इस प्रकारका प्रत्यक्ष ज्ञान या स्वानुभूत ज्ञान ही सबसे अधिक स्पष्ट, उपयोगी और टिकाऊ होता है। इस संप्रेक्षणीय ज्ञानके वितरणार्थ उसने यह प्रणाली निकाली कि पहले प्रत्येक विषयको सरलतम तत्त्वोंमें विश्लेषित कर दिया जाय और फिर क्रमिक अभ्यासोंके द्वारा इस प्रकार पूर्ण किया जाय कि केवल शब्दज्ञानकी अपेक्षा वस्तुओंका अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय। किन्तु पेस्टालौज़ी साथ-साथ वह यह भी समझता था कि बालकको जो भी अनुभव प्राप्त हों उन्हें स्पष्ट और व्यवस्थित शब्दोंमें व्यक्त करनेकी शक्ति भी उसमें आनी चाहिए नहीं तो उस ज्ञानसे उसे लाभ ही क्या होगा। इसीलिये उसने अपने संप्रेक्षणके साथ अनिवार्य रूपसे भाषाका ज्ञान भी जोड़ दिया।

बालक स्वयं प्रत्येक वस्तुको देखकर, समझकर उसकी छानबीन करके, उसके संबंधकी सब बातें जान ले, यही संप्रेक्षण है। उसमें भाषाकी इतनी योग्यता हो कि वह अपने अनुगत ज्ञानको शब्दोंमें व्यक्त कर सके।

पेस्टालौज़ीके प्रयोगोंका प्रभाव

यद्यपि रूसोकी ही भाँति पेस्टालौज़ी भी अपनी प्रणालीको सक्रिय रूप नहीं दे पाया किन्तु उसने इतना अवश्य किया कि रूसोकी स्वतन्त्र, निर्देशहीन, निर्बाध शिक्षा-पद्धतिको व्यवस्थित रूप देकर सँवार-सुधार कर पाठशालाओंमें उसका प्रयोग किया। चाहे पेस्टालौज़ीको इसमें पूरी सफलता भले ही न मिल पाई हो किन्तु उसके कारण समाजका बड़ा कल्याण हुआ और शिक्षाके क्षेत्रमें नये ढंगसे सोचने-विचारने, तथा प्रयोग करनेकी परिपाटी चल निकली। सारांश यह है कि पेस्टालौज़ीने शिक्षाको सार्वजनिक बनाया, मनोविज्ञानके आधारपर उसका विकास किया और अभिनव प्रयोगोंके द्वारा नई-नई शिक्षा-प्रणालियोंका आविष्कार किया। इतना ही नहीं, उसने दूसरोंके लिये भी शिक्षाके क्षेत्रमें नये अनुसन्धान और प्रयोग करनेके लिये

पेस्टालौज़ीने नये प्रयोगोंके लिये द्वार खोल दिया

द्वार खोल दिया और इस बातको व्यवहारतः सिद्ध कर दिया कि शिक्षा देनेसे पहले बालकका अध्ययन किया जाय। इसके साथ-साथ उसने अपने पूर्ववर्ती फक्कड़ शिक्षा-शास्त्री रूसोकी निर्बाध शिक्षा-प्रणालीको जोड़-तोड़ तथा काट-छाँट करके उसे व्यवस्थित और व्यावहारिक स्वरूप दे दिया।

अन्य देशोंमें पेस्टालौज़ीके प्रयोग

संप्रेक्षण - प्रणालीके आधारपर अमेरिका तथा यूरोपमें होरेस मान और शैल्डन-द्वारा औस्वेगो प्रणालीकी स्थापना।

थोड़े ही दिनोंमें पेस्टालौज़ीकी यह संप्रेक्षण-प्रणाली सम्पूर्ण योरप तथा संयुक्तराष्ट्र अमेरिकामें फैल गई जिसका प्रचार एक ओर हौरेस मान (१७९६ से १८५९) और डा० एडवर्ड ए० शैल्डनने औस्वेगो प्रणाणियोंकी स्थापनाके द्वारा किया और दूसरी ओर उसकी व्यावसायिक शिक्षाका प्रचार फ़ोलेनबुर्गने किया। ये सब व्यावसायिक संस्थाएँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि चारों ओर उनकी देखा-देखी न जाने कितने व्यावसायिक विद्यालय योरप तथा अमेरिकामें फैल गए।

पेस्टालौज़ीकी शिक्षा-पद्धतिका विश्लेषण

जिस असन्तोषमय भावावेशसे प्रेरित होकर रूसोने स्वाभाविक और प्राकृतिक शिक्षाके नामसे अस्वाभाविक, अप्राकृतिक और अव्यावहारिक शिक्षा-प्रणालीका निरूपण और प्रतिपादन किया था उसकी वृत्तिसे पूर्णतः प्रभावित होनेपर भी पेस्टालौज़ीने रूसोके विचारोंका अन्धानुकरण तथा अन्धानुसरण नहीं किया। वह भली प्रकार समझ रहा था कि जर्मनीमें जो शिक्षा-प्रणाली चल रही है वह निश्चयतः बालकके सर्वांगीण विकासमें साधक होनेके बदले बाधक हो रही है। वह यह भी समझता था कि केवल आदर्शवादके मोहक चाकचिक्यमें फँसकर अव्यावहारिक सिद्धान्तोंकी हास्यास्पद दुहाई देना भी ठीक नहीं है। इसलिये उसने रूसोके प्रकृतिवादके साँचेमें ढले हुए एमीलकी शिक्षण-योजनाका प्रयोग अपने पुत्रपर करना प्रारम्भ किया। व्यावहारिक और वैज्ञानिक दोनों दृष्टियोंसे इस प्रकारका प्रयोग साधु समझा जाता है क्योंकि लोक-व्यवहारमें प्रयुक्त किए जानेवाले सिद्धान्तोंका जबतक स्वयं प्रयोगात्मक परीक्षण न कर लिया जाय तबतक न तो प्रयोग करनेवालेकी ही आत्मतुष्टि होती है, न वह दूसरोंको ही उसके गुणोंका प्रमाण देकर सहमत और तुष्ट कर सकता है। पेस्टालौज़ीने अपने पुत्रपर रूसोके प्रकृतिवादका जो प्रयोग किया उसमें उसे समय समयपर जो विशेष अनुभव हुए उनके आधारपर सद्वृत्त या सच्चे वैज्ञानिककी भाँति उसने यह परिणाम निकाला कि रूसोकी योजना ज्योंकी त्यों प्रयोगमें नहीं लाई जा सकती, उसमें संशोधन

करना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार उसीने पहले-पहल रूसोकी शिक्षा-योजनाको सुव्यावहारिक और उपयोगी बनानेका वैज्ञानिक प्रयास किया।

इसी अनुभवमें उसने यह भी ठीक सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि यदि बालकको स्वाभाविक वातावरणमें छोड़ना अभीष्ट और आवश्यक ही है तो उसे घरमें माताके पास छोड़ना चाहिए, क्योंकि बालकको घरपर ही स्वाभाविक वातावरण मिल सकता है, और कहीं नहीं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि जहाँ बालक खेल-कूदमें किसीका हस्तक्षेप या वाणिक्षेप नहीं चाहता वहाँ वह स्नेह, दुलार, प्रोत्साहन और पोषण भी चाहता है। रूसोके प्रकृतिवादमें बालकको तितली पकड़ने, गिलहरीके साथ आँख-मिचौनी खेलने, कोयलकी कुहू-कुहूपर उसीका स्वरानुकरण करके उसे चिढ़ाने तथा वृक्षों और लताओंके हरे-भरे हँसते हुए संसारमें आत्मीयताका अनुभव करनेकी स्वतन्त्रता भले ही रहती हो किन्तु उसकी कोमल मति और प्रकृतिके स्वाभाविक विकासके लिये जिस प्रकारकी मातृ-पोषणा अपेक्षित है, उसका सर्वथा अभाव था। इसीलिये पेस्टालौज़ीने अत्यन्त कौशल तथा सूक्ष्मदर्शितासे बालकके प्राकृतिक क्षेत्रका केन्द्र उसके घरमें ढूँढ़ लिया।

पेस्टालौज़ीका यह प्रस्ताव अनुचित नहीं कहा जा सकता कि पुस्तकोंके आधारपर शिक्षा ठीक नहीं हो सकती। संसारमें इस विषयपर सभी शिक्षा-शास्त्री एकमत हैं कि प्रारम्भिक शिक्षामें पुस्तकका संपर्क बालकको कमसे कम देना चाहिए क्योंकि पुस्तकमें जो ज्ञान या विवरण दिया हुआ रहता है उसकी व्याख्याके लिये भी तो एक निर्देशक अपेक्षित है ही। इसलिये शिक्षा-शास्त्रियोंने पुस्तकको तो 'अर्जित ज्ञानका पोषण करने, उसकी आवृत्ति करने तथा स्मृतिको सहायता देनेका साधन' मात्र माना है। अतः पुस्तकको शुक-रीतिसे विना समझाए रटवानेका विरोध करना अत्यन्त उचित और स्वाभाविक था किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि शिक्षा-क्षेत्रसे पुस्तकका पूर्ण बहिष्कार कर दिया जाय। पेस्टालौज़ी तो संप्रेक्षण अर्थात् स्वयं प्रत्येक वस्तुका प्रत्यक्ष ज्ञान करके शिक्षित होनेका सिद्धान्त माननेवाला था। अतः यह आवश्यक था। कि जहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान ही शिक्षाका आधार हो वहाँ पुस्तकको दाल-भातमें मूसरचन्द बनाकर न लाया जाय। किन्तु संसारके सभी ज्ञातव्य विषय प्रत्यक्ष ज्ञानसे बोधगम्य नहीं होते, उनके लिये पुस्तकका आश्रय लेनेके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही कौन-सा रह जाता है। अतः पेस्टालौज़ीको अपने पुस्तक-बहिष्कारके सिद्धान्तके साथ यह प्रतिबन्ध जोड़ देना चाहिए था कि 'जो भावात्मक तथा कल्पनात्मक विषय प्रत्यक्षतः बोधगम्य न हो सकते हों केवल उन्हींके लिये पुस्तकोंका प्रयोग किया जाय, शेष विषयोंके लिये नहीं।'

पढ़नेके साथ-साथ शारीरिक श्रमसे जीविकोपार्जन करनेकी सूझ भी पेस्टालौज़ीकी अपनी नहीं है। इससे पहले ईसाई मठीय विद्यालयोंमें अध्ययनके साथ इतने शारीरिक श्रमका विधान कर दिया गया था जितनेसे अपनी जीविका चलाई जा सके। अन्तर केवल इतना हुआ कि उन विद्यालयोंमें इस प्रकारकी योजना केवल साधुओंके लिये थी, सर्वसाधारणके लिये नहीं। किन्तु पेस्टालौज़ी-ने तो व्यापक रूपसे प्रत्येक शिक्षार्थीके लिये जीविकोपार्जन-योग्य श्रम अनिवार्य कर दिया। इस प्रकार अध्ययन तथा जीविकोपार्जनका गठबन्धन करनेका सबसे अधिक तथा एकमात्र श्रेय पेस्टालौज़ीको ही है। हम ऊपर बता आए हैं कि गाँधीजीने भी भारतकी शिक्षा-योजनामें शिक्षाको स्वावलम्बी बनानेकी बात कही थी किन्तु वह नीति सर्वमान्य नहीं हो पाई क्योंकि उससे अध्ययन अर्थात् ज्ञानार्जनकी सात्विक निष्ठा नष्ट हो जाती है, लोभ व्याप्त हो जाता है, अध्ययन भी व्यवसाय बन जाता है, व्यवसाय बन जानेपर जितने प्रलोभन और दोष सम्भव हैं, सब प्रविष्ट हो जाते हैं, अस्वस्थ प्रतिद्वन्द्विता तथा ईर्ष्या-का भाव जाग उठता है और परस्पर सौहार्द कम हो जाता है। इसलिये जहाँ तक शारीरिक श्रम, पारस्परिक स्नेह तथा सेवा-भावका प्रश्न है वहाँतक तो ठीक है जैसा प्राचीन गुरुकुलोंमें था, किन्तु जब उसमें व्यावसायिकता पैठ जायगी तब वह अध्ययन-प्रणाली देशव्यापी रूपसे चलानेपर अवश्य असफल तथा हानिकारक होगी।

पेस्टालौज़ीका सबसे अधिक क्रान्तिकारी तथा उपादेय प्रस्ताव यह था कि बालककी रुचि और उसकी इच्छा ही प्रधान समझी जाय और जिस ओर उसकी प्रवृत्ति हो उसीका अनुसरण करके उसे शिक्षा दी जाय। इसका सबसे सुखद परिणाम यह हुआ कि जो बालक पाठशाला जाते हुए घबराते थे, अध्यापकके दंडसे डरकर पेटकी पीड़ाका बहाना करके पाठशाला जानेसे जी चुराते थे, जिस विषयमें रुचि नहीं होती थी उसे भी अनिच्छासे पढ़ते थे, वे बालक पाठशाला जानेमें उत्सुकता दिखाने लगे, अध्यापकमें शास्ताके बदले मित्रकी मूर्त्ति देखने लगे, अपने मनके अनुकूल शिक्षण-विषय पाकर रुचिपूर्वक उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ने-सीखने लगे और जिज्ञासा व्यक्त करनेकी स्वतन्त्रता मिल जानेसे अपने कुतूहलका संवर्धन और समाधान भी करने लगे।

इतना होनेपर भी पेस्टालौज़ीकी पद्धतिमें अनेक स्वतःविरोधी प्रवृत्तियाँ भी थीं। एक ओर जहाँ वह स्वाभाविकताकी दुहाई देता है, वहीं दूसरी ओर वह एकस्वरी (सिलेबरीज़) की सृष्टि भी करता था जो पूर्णतः अस्वाभाविक थीं। गेरट्रूयूडके द्वारा उसने जो समाज-सुधारका विधान सुझाया है वह कोरी कल्पनामात्र है। जब हम एक ओर यह मान रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्तिका

स्वभाव भिन्न होता है तब हम यह कैसे माननेको बाध्य किए जा सकते हैं कि समाजकी प्रत्येक नारी गेट्रूड्के समान उदार, सेवावती और शीलवती होगी। सम्पूर्ण नारि-समाजको एक प्रकारसे सुशिक्षित कर लेनेपर भी हम ऐसा पूर्वधारणा कैसे कर सकते हैं कि वे सभी देवियाँ ही निकलेंगी, उनके व्यक्तिगत स्वभाव और चरित्र कहाँ जायँगे।

पेस्टालौज़ीकी आन्श्वांग या अनुभवाश्रित शिक्षाकी योजना देखनेमें बड़ी सरल और लुभावनी लगती है किन्तु यदि उसका अन्तर्विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि हमारे जिस ज्ञानका संपूर्ण भांडार इतनी सहस्राब्दियोंसे हमारे पूर्वजोंने संचित कर रक्खा है उसका प्रयोग न करके ज्ञानार्जनकी प्रत्येक परिस्थितिका प्रत्येक व्यक्ति-द्वारा आवृत्ति कराना नितान्त मूर्खता ही है। हमारे चारों ओर नदी-नाले, ताल-तलैया, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, फल-फूल, बादल-पानी, धूप छाँह, गर्मी-सर्दी, प्रातः सन्ध्या आदि अनेक ऐसे पदार्थ और अनुभव हैं जो प्रत्येक व्यक्ति अपने संप्रेक्षण या स्वानुभवसे सीख और जान सकता है, किन्तु पृथ्वीका सूर्यके चारों ओर घूमना, सूर्य और चन्द्रग्रहणका रहस्य, काव्य, आयुर्वेद, यन्त्र-विज्ञान आदि न जाने ऐसे कितने रहस्य हैं जिनका महाभांडार संप्रेक्षण-प्रणालीसे सौ जन्मोंमें भी बुद्धिगत नहीं हो सकता। सत्य तो यह है कि पेस्टालौज़ीने इस संप्रेक्षणको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देकर उसे व्यावहारिक और उपादेय बनानेके बदले उसे उसी प्रकार हास्यास्पद और अव्यवहार्य बना दिया जैसे वर्त्तमान वर्धा-शिक्षण-प्रणालीमें चरखे और तकलीको अनावश्यक महत्त्व दे कर सम्पूर्ण शिक्षा-पद्धति ही अस्वाभाविक बना डाली गई।

पेस्टालौज़ीकी सबसे अधिक विचित्र घोषणा यह थी कि शिक्षाको इतना सरल बना दिया जाय कि विद्यालयकी आवश्यकता ही न रह जाय। इसीलिये उसने 'संप्रेक्षणका क ख ग' (ए बी सी औफ़ औब्ज़र्वेशन) की सृष्टि की। किन्तु उस शिक्षा-शास्त्रीने न जाने कैसे कल्पना कर ली कि सारी विद्या थोड़ेसे ऐसे सूत्रोंमें बाँध ली जा सकती है कि फिर विद्यालयकी आवश्यकता ही न रह जाय। इस प्रकारकी सनक होनेपर भी पेस्टालौज़ीने जो प्रयोग किए वे जिज्ञासु और सच्चे लोकहितैषीके थे और उस दृष्टिसे वह अवश्य आदरणीय था और रहेगा, भले ही उसकी शिक्षा-पद्धति अस्पष्ट तथा अव्यवस्थित रही हो।

हौरेस मान

विद्यालयोद्धार आन्दोलन

उन्नीसवीं शताब्दिके मध्यमें अमेरिकाके विद्यालयोंका पुनरुद्धार आन्दोलन चला। इस आन्दोलनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि पाई हौरेस मानने। शिक्षा-समितिका अध्यक्ष बनकर उसने अपने देशमें शिक्षाके क्षेत्रमें जो

हौरेस मानके अनुसार शिक्षा अनिवार्य, निःशुल्क हो, बालक-बालिकाकी समान शिक्षा, धनी-निर्धनको उन्नतिका समान अवसर, शिक्षाका उद्देश्य नैतिक विकास तथा सामाजिक योग्यताका संवर्धन । विद्यालयके भवन स्वस्थ और सुघर हों । वैज्ञानिक आधार-पर शिक्षा हो । अध्यापकोंके लिये शिक्षाशास्त्र-का ज्ञान आवश्यक ।

विशिष्ट सुधार किए वे सभी देशोंमें अत्यन्त प्रशंसनीय समझे जाते हैं। उसका विचार था कि शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क होनी चाहिए, बालिकाओंको भी बालकके समान शिक्षा मिलनी चाहिए, निर्धनोंको भी धनिकोंके समान जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उन्नतिका अवसर दिया जाना चाहिए, सार्वजनिक विद्यालयोंमें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि धनी लोग वर्गीय विद्यालयोंको उत्कृष्ट न समझें और इस शिक्षामें केवल पढ़ने-लिखनेके या अन्य कौशलोंकी ही शिक्षा न दी जाय वरन् उसका उद्देश्य नैतिक चरित्रका विकास और सामाजिक योग्यताका संवर्धन हो। हौरेस मानने शिक्षाके बाह्य पक्षके संबंधमें भी विशेष ध्यान दिया और बताया कि 'विद्यालयके भवन स्वस्थ और सुघर हों जिनमें वायु, प्रकाश और पीठासनोंकी ठीक व्यवस्था हो।' उसका मत था कि 'संपूर्ण शिक्षा वैज्ञानिक सिद्धान्तोंके आधारपर ही दी जानी चाहिए, केवल गुरुवचन और रूढ़िके आधारपर नहीं; अर्थात् जो बात छात्रोंसे कही जाय उसका ऐसा प्रमाण छात्रोंके सम्मुख उपस्थित किया जाय कि वे स्वयं यह अनुभव करें कि जो बात कही जा रही है वह किसी प्रकार भी सन्देहात्मक अथवा असत्य नहीं है और उस प्रमाणके आधारपर वे दूसरोंको भी उसी अधिकारके साथ उस ज्ञानकी तथ्यताका परिचय दे सकें जिस अधिकारके साथ अध्यापकने उन्हें सिखाया है। वर्णमाला या अक्षर-पद्धतिसे पढ़ना सीखनेकी अपेक्षा शब्द-पद्धतिसे पढ़नेका अभ्यास कराना चाहिए; अर्थात् अक्षर सिखानेके बदले व्यवहारमें आनेवाले शब्द ही सिखाने चाहिए।' उसने यह भी कहा कि 'प्रत्येक अध्यापकको शिक्षा-शास्त्रका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उनका कर्त्तव्य है कि वे बालकके स्वभावको भली भाँति समझकर स्नेह और सहानुभूतिसे उसे शिक्षा दें।' अपने इन सिद्धान्तोंके साथ-साथ उसने पेस्टालौज़ीकी संप्रेक्षण-प्रणालीका भी जहाँ-तहाँ प्रचलन किया। पाठ्य-विषयोंमें बीजगणित तथा बही-खातेकी शिक्षा देना वह निरर्थक समझता था। इस सम्पूर्ण परिवर्त्तनका प्रभाव यह हुआ कि विद्यालयोंकी शिक्षा-व्यवस्था सब दृष्टियोंसे सुरूप और सुसम्बद्ध हो गई।

हौरेस मानके सिद्धान्तोंका विश्लेषण

हौरेस मानके युगमें चारों ओर एक व्यापक असन्तोष जन्म ले चुका था।

मानवताका निम्नतम वर्ग अँगड़ाई लेकर कहीं धीरेसे और कहीं झटकेसे जाग उठा था । अतः प्राचीन क्रमसे दी जानेवाली शिक्षा-पद्धतिमें परिवर्त्तन करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया । किन्तु इस परिवर्त्तनके आवेशमें हौरेस मान यह ठीक-ठीक नहीं समझ पाया कि उस परिवर्त्तनकी सीमा क्या होनी चाहिए । इसीलिये उसने अन्य उपयोगी परिवर्त्तनके साथ यह भी जोड़ दिया कि बालिकाओंको भी बालकोंके समान शिक्षा दी जाय तथा अक्षर-पद्धति (एल्फ़ेबेटिक मेथड) से न पढ़ाकर शब्दबोध-पद्धति या 'देखो और कहो पद्धति' (वर्ड फ़ौर्म मेथड या लुक एँड से मेथड) से पढ़ाया जाय । जहाँ एक ओर बालककी रुचि और उसकी समर्थताको ध्यानमें रखकर उसका शिक्षा-क्रम निर्णय करनेकी बात कही जाती हो वहीं उसके साथ यह भी कहना कि भिन्न प्रकृति, भिन्न रुचि, भिन्न समर्थता, भिन्न प्रकृति तथा भिन्न प्रवृत्तिवाले बालक और बालिकाओंको एक ढंगकी शिक्षा दी जाय, कितना असंगत और अव्यवहार्य है । संसारका कोई भी विचारशील व्यक्ति यह कभी माननेको उद्यत नहीं होगा कि बालक-बालिका दोनोंके लिये समान पाठ्यक्रम निर्धारित करनेकी भूल जाय ।

इसी प्रकार अक्षर-पद्धतिसे भाषा सिखानेके बदले शब्द-बोध-पद्धतिसे भाषा सिखानेसे सबसे बड़ी हानि यह होगी कि शब्दके अक्षरोंका विलग परिचय न होनेसे शब्दोंके शुद्ध रूप बालकको कभी नहीं आ सकते । हौरेस मानने यदि ये दो बातें न कही होतीं तो उसके शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्त निश्चित रूपसे इस युगके लिये सर्वमान्य हो जाते ।

१३

शिक्षाशास्त्रका विकास

हरबार्ट

पेस्टालौज़ीने शिक्षणके संबंधमें जो सुधार किए और जिनका व्यवहार भी उसने अपने विद्यालयोंमें किया, वे यद्यपि केवल बालकोंके प्रति सहानुभूतिकी भावनापर ही अवलंबित थे और वैज्ञानिक सिद्धांतोंपर भी आधृत नहीं थे फिर भी उनमें इतना आकर्षण था कि वे भावी शिक्षाशास्त्री हरबार्ट और फ्रोबेलकी सुव्यवस्थित शिक्षा-प्रणालियोंके आधार बन गए। ये दोनों शिक्षा-शास्त्री पेस्टालौज़ीके समकालीन उसके शिष्य थे और उसकी शिक्षा-प्रणालीका प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्राप्त कर चुके थे। इन्होंने पेस्टालौज़ीके विद्यालयोंमें जो कुछ देखा या समझा उसका इन्होंने अलग-अलग अपनी-अपनी भावनाके अनुसार विस्तार और विकास किया।

वैज्ञानिक आधार न होने पर भी पेस्टालौज़ीके सुधारोंने हरबार्ट और फ्रोबेलको प्रेरणा दी। दोनों उसके शिष्य थे और प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर चुके थे।

पेस्टालौज़ीके शिक्षाक्रममें विरोधाभास

पीछे कहा जा चुका है कि पेस्टालौज़ीके शिक्षाक्रममें दो निश्चित पंथ थे जो विरोधीसे लगते थे, किन्तु थे वास्तवमें विरोधाभास मात्र ही। एक ओर तो पेस्टालौज़ी यह मानता हुआ दिखाई पड़ता है कि बालकके भीतरसे जो ज्ञानका स्वाभाविक स्फुरण और विकास हो वही वास्तविक शिक्षा है, दूसरी ओर वह यह भी कहता है कि बालकको बाहरी संसारके अनुभवसे ज्ञान संचित करके भी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। पहली बात तो उसने अपने 'शिक्षाके उद्देश्य और परिभाषा'में कह ही दी है और उसका तात्पर्य भी यही है कि जन्मके समय ही बालकमें सब गुण अपने वास्तविक रूपमें उपस्थित रहते हैं, केवल उनका विकास भर करना रह जाता है। इसलिये अध्यापकका काम अधिकसे अधिक

पेस्टालौज़ीके अनुसार (१) जन्मके समय ही बालकमें सब गुणोंकी उपस्थिति। अध्यापकका काम केवल उन्हें उद्दीप्त करना। (२) बाहरके अनुभवसे मनपर पड़े हुए प्रभाव ही हमारे ज्ञानके वास्तविक आधार हैं।

इतना ही रह जाता है कि वह अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर इस बातमें बालककी सहायता करे कि बालककी प्रकृति अपने विकासके प्रयत्नमें सफल होती चले। यह बात पेस्टालौज़ीकी अपनी नहीं थी। यह तो उसने रूसोके प्रकृतिवादमें निहित मनोविज्ञानसे ली थी। पेस्टालौज़ीका दूसरा पक्ष है स्वानुभूति या प्रत्यक्ष इंद्रियानुभूति जो उसकी संप्रेक्षण—प्रणालीमें स्पष्ट प्रकट होती है। इस स्वानुभूति या प्रत्यक्ष इंद्रियानुभूतिका मूल सिद्धांत यह है कि बाहरी संसारके अनुभवसे हमपर जो तात्कालिक और सीधे प्रभाव पड़ते रहते हैं वे ही हमारे ज्ञानके वास्तविक आधार हैं। इस संबंधमें पैस्टालौज़ीका यह भी विचार है कि बालकके मस्तिष्कमें पहुँचाई जानेवाली संपूर्ण सामग्री अध्यापक-द्वारा ही स्थिर तथा निर्मित की जानी चाहिए।

पेस्टालौज़ीके शिष्य हरबार्ट और फ़्रोबेल

फ़्रोबेलने पेस्टालौज़ीके प्रथम पक्षको लिया और बालकके स्वतःविकास और उसकी स्फूर्तिमयी क्रियाओंको अधिक महत्त्व दिया। उधर हरबार्टने दूसरा पक्ष ग्रहण करके पाठन-प्रणाली और अध्यापन-शैलीको महत्त्व दिया। इन दोनोंमें हरबार्टको बड़ी व्यवस्थित और नियमित शिक्षा मिली थी। अपनी सूक्ष्म दार्शनिक अंतर्वृत्तिके कारण उसने पैस्टालौज़ीकी संप्रेक्षण-प्रणाली तथा शिक्षण-विधिको अत्यंत स्पष्ट और निश्चित रूप देकर सुव्यवस्थित कर दिया। उसका कहना है कि शिक्षाकी गतिका विचार अध्यापककी दृष्टिसे करना चाहिए। हरबार्ट ही वास्तवमें सर्वप्रथम आचार्य है जिसने दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वैज्ञानिक आधार लेकर शिक्षाके सब पक्षोंकी व्यापक रूपसे व्यवस्था की। यद्यपि फ़्रोबेल भी पेस्टालौज़ीका शिष्य और सहकारी रह चुका था किन्तु न तो उसमें हरबार्टकी प्रतिभा थी, न हरबार्ट जैसी विद्वत्ता थी और न उसके जैसी सूक्ष्म दार्शनिक अंतर्दृष्टि। इसीलिये न तो फ़्रोबेलकी शिक्षा-पद्धति ही स्पष्ट और व्यवस्थित हो पाई और न वह अध्यापन-प्रणालीपर विशेष ध्यान दे पाया।

फ़्रोबेलने पेस्टालौज़ीका प्रथम पक्ष लिया और बालकके स्वतःविकास तथा स्फूर्तिमयी क्रियाओंको महत्त्व दिया। हरबार्टने अध्यायन-शैलीको महत्त्व दिया। हरबार्टने ही सर्व प्रथम दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वैज्ञानिक आधारपर शिक्षाकी व्याख्या की।

हरबार्ट

यौहान फ़्रीडरिख़ हरबार्ट (१७७६–१८४१) का जन्म ओल्डनबुर्ग नगरके

एक प्रतिष्ठित विद्वत्परिवारमें ४ मई सन् १७७६ को हुआ था। उसके दादा भी ओल्डनबुर्ग महाविद्यालयके प्रधानाचार्य रह चुके थे। उसके पिता भी वकील और प्रिवी कौंसिलके सदस्य थे। उसकी माता भी विलक्षण प्रतिभा-संपन्न महिला थी, जिन्होंने हरबार्टको यूनानी भाषा, सर्व-गणित और दर्शन शास्त्र पढ़नेमें भरपूर सहायता दी। हरबार्ट भी जन्मसे ही बड़ा बुद्धिमान था। उचित शिक्षाने उसकी प्रतिभा तथा योग्यता और भी संवर्धित कर दी। उसी प्रतिभाके सदुपयोगसे वह पूर्ण शिक्षा-शास्त्री और शिक्षा-तत्त्वज्ञ हुआ। संभवतः इन्हीं सुविधाओंके कारण हरबार्टने और भी अधिक योग्यताके साथ अपनी विद्वत्ताका उपयोग किया। बचपनसे ही वह अपने विद्यालयमें प्रसिद्ध हो गया था। उसने नैतिक स्वतंत्रता और आध्यात्मिक विषयोंपर लेख लिखकर बड़ी प्रसिद्धि पा ली थी। स्नातक (ग्रेजुएट) होनेके पूर्व ही (१७९७) उसने विश्वविद्यालय छोड़ दिया और वह इन्टरलाकिन (स्वित्सरलैंड) के शासकके तीन पुत्रोंका गृहाध्यापक हो गया। वहाँ रहते हुए तीन वर्षोंमें उसे पढ़ानेका बड़ा अनुभव हुआ। अपने शिष्योंको उसने जिस पद्धतिसे पढ़ाया और जिस क्रमसे उन शिष्योंके ज्ञानका विकास हुआ

ओल्डेनबुर्गके विद्वत्परिवारमें हरबार्टका जन्म। माताकी सहायतासे अनेक विषयोंका अध्ययन। बचपनमें ही प्रसिद्ध। नैतिक स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मिक विषयोंपर लेख लिख कर प्रसिद्धि। ग्रेजुएट हुए बिना ही स्वित्सरलैंडमें गृहाध्यापक हो गया। वहीं उसे शिक्षासंबंधी अनुभव हुए। उसका यह मत हुआ कि कुछ बच्चोंको लेकर उनके विकासका अध्ययन ही शिक्षक बननेकी तैयारी है।

उसका जो विवरण उसने दिया है उससे ज्ञात होता है कि उसकी व्यवस्थित शिक्षा-प्रणालीका बीज उसमें निहित था। इस युवक शिक्षकने समझ लिया कि प्रत्येक बच्चेमें कुछ व्यक्तिगत भिन्नता होती है और इसलिये उसने बच्चोंकी विभिन्न अवस्थाओंके प्रति उचित ध्यान भी दिया। अपने प्रिय ग्रंथ ओडिस्सीमें उसने उन सब उपायोंका परिचय दिया है जिनके सहारे बालकोंमें नैतिकता और बहुमुखी रुचियोंका संवर्धन किया जा सकता है। यही प्रारंभिक अनुभव उसके संपूर्ण शिक्षा-शास्त्रका आधार था। अपने पीछेके ग्रंथोंमें उसने बालकोंकी जिन विशेषताओं और व्यक्तिगत प्रवृत्तियोंके उद्धरण दिए हैं वे भी उसे यहींसे प्राप्त हुए थे। उसका बराबर यही मत रहा कि कुछ बच्चोंको लेकर उनके विकासका ध्यानपूर्वक अध्ययन करना ही शिक्षक बननेकी वास्तविक तैयारी है और इसीलिये उसने अध्यापकोंके शिक्षणकी व्यवस्थामें इस प्रकारके अध्ययनको प्रधानता भी दी है।

पेस्टालौज़ीके सिद्धान्तका प्रचार

स्विट्सरलैंडमें रहते हुए ही वह पेस्टालौज़ीसे मिलकर उसके शिक्षा-सिद्धांतोंसे बड़ा प्रभावित हुआ था और सन् १७९९ में बुर्गडोर्फ़की संस्थाका निरीक्षण करनेके पश्चात् जब वह ब्रेमेनमें अपना बचा हुआ विश्वविद्यालयका पाठ्यक्रम पूरा कर रहा था उसी समय उसने पेस्टालौज़ीके विचारोंका प्रचार करना और उन्हें वैज्ञानिक रूप देना प्रारंभ कर दिया था। यहींपर उसने पेस्टालौज़ीके मतका समर्थक निबन्ध लिखा था—'पैस्टालौज़ीके अंतिम लेख—श्रीमती गैरट्रूड उने अपने बच्चोंको कैसे शिक्षा दी—पर।" साथ ही 'संप्रेक्षणके क, ख ग (ए बी सी औफ़ औब्ज़र्वेशन पर पेस्टालौज़ीके विचार' की उसने व्याख्या भी की और ग्वेटिंगेन विश्वविद्यालयमें शिक्षा-शास्त्रपर व्याख्यान भी दिए। वहाँ उसने जो लेख लिखे उनमें उसने पेस्टालौज़ीकी शिक्षा-प्रणालीकी निष्पक्ष खरी आलोचना की और यह बताया कि पेस्टालौजीकी शिक्षा-प्रणाली अस्पष्ट और अव्यवस्थित है। पेस्टालौज़ीके समान ही उसका भी यह विश्वास है कि प्रत्यक्ष इंद्रियानुभवसे ज्ञानके प्रारंभिक तत्त्व तो मिल जाते हैं किन्तु शिक्षाके व्यापक उद्देश्यकी दृष्टिसे विद्यालयकी पाठ्ययोजना निश्चित रूपसे क्रमबद्ध होनी चाहिए। शिक्षाके व्यापक उद्देश्यकी इस भावनाका उसने अपने 'दि साइन्सऔफ़ एजुकेशन' (१८०६) में स्पष्ट और पूर्ण रूपसे वर्णन कर दिया है।

पेस्टालौज़ीकी शिक्षा-पद्धतिको अस्पष्ट और अव्यवस्थित बताते हुए उसकी पाठ्य-योजना को क्रमबद्ध बनानेका प्रस्ताव किया।

क्वेनिग्ज़बुर्ग विश्वविद्यालयमें हरबार्टके शिक्षा-प्रयोग

सन् १८०९ में क्वेनिग्ज़बुर्गके विश्वविद्यालयमें हरबार्टको इमानुअल कांटके स्थानपर दर्शन-शास्त्रका आचार्य बनाकर बुलाया गया। यहींपर हरबार्टने अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंका संवर्धन किया और अबतक उसने शिक्षा-संबंधी कल्पनाओं और विचारोंमें जो समय लगाया था वह समय उसने यहाँ आकर उन कल्पनाओंको व्यावहारिक रूप देनेमें लगाया। क्वेनिग्ज़बुर्गमें उसे केवल दर्शनशास्त्र ही नहीं पढ़ाना पड़ता था वरन् शिक्षा-शास्त्रका भी अध्यापन करना पड़ता था इसलिये उसने सबसे पहले एक प्रकारकी अभ्यासार्थ प्रयोग-शाला बनानेकी व्यवस्था की क्योंकि शिक्षाके संबंधमें

क्वेनिग्ज़बुर्गमें उसने शिक्षाशास्त्रका अध्यापन किया और उसने अभ्यासार्थ प्रयोगशाला बनवाई। अपने ग्रंथों और लेखोंमें उसने शिक्षाशास्त्रकी आधार-भूत मनोवैज्ञानिक

पद्धतिका निरूपण किया।

जो वह शास्त्रीय भाषण देता था उसका व्यावहारिक पक्ष दिखाना भी आवश्यक था, अन्यथा कोरे सिद्धांतोंका प्रयोजन ही क्या था। यहींपर हरबार्टने वर्त्तमान प्रसिद्ध शिक्षा-संबंधी संस्था प्रारम्भ की और उसके साथ एक विद्यालय खोल दिया जिसमें जाकर अध्यापकगण सीखे हुए सिद्धांतोंका व्यावहारिक प्रयोग करते थे। इस अभ्यास-विद्यालयमें शिक्षा पानेवाले छात्रगण, विद्यालयोंके आचार्य या निरीक्षक बननेकी शिक्षा प्राप्त करते थे। यहाँपर जो शिक्षक होते थे वे इन छात्रोंका निरीक्षण और आलोचन करते रहते थे। हरबार्टके इन शिष्योंके परिश्रम और प्रभावसे, प्रशा तथा जर्मनीके अन्य राज्योंमें शिक्षाका अधिक प्रसार हुआ। क्वेनिग्ज़बुर्गमें जो उसने बहुतसे ग्रन्थ और लेख प्रकाशित किए उनमें विशेषतः वे ही रचनाएँ थीं जिनमें उस मनोवैज्ञानिक पद्धतिका निरूपण था जो शिक्षा-शास्त्रका आधार बन सकती थी। पर लगभग पच्चीस वर्ष सेवा करनेके पश्चात् वह ग्वेटिंगेनमें दर्शनशास्त्रका आचार्य होकर चला गया। अपने जीवनके अंतिम आठ वर्ष उसने अपने शिक्षा-सिद्धांतोंको विस्तृत और व्यवस्थित करनेमें लगाए। यहींपर उसने 'शिक्षा-सिद्धांतकी रूपरेखा' (आउटलाइन्स औफ़ एजुकेशनल डौक्ट्रिन, १८३५) नामक ग्रंथका पहला संस्करण प्रकाशित किया जिसमें उसने अपनी पूर्ण परिपक्व शिक्षा-पद्धतिकी विस्तृत व्याख्या की है। यद्यपि इससे उसके 'यंत्रवत तत्त्वज्ञान और मनोविज्ञान' (मिकैनिकल मैटाफिज़िक्स ऐण्ड साइकोलौजी) के सम्बन्धमें भी संक्षिप्त प्रासंगिक उद्धरण थे किन्तु फिर भी यह ग्रन्थ शिक्षा-क्रमपर सबसे अधिक व्यावहारिक और सुव्यवस्थित ग्रन्थ माना जाता है। यह ग्रन्थ उसकी अन्तिम कृति है क्योंकि इसका संस्करण प्रकाशित होते होते वह अपार यश और कीर्ति छोड़कर इस संसारसे महाप्रयाण कर गया।

हरबार्टकी शिक्षा-पद्धतिका मनोवैज्ञानिक आधार

उसके मतसे हमारे मनकी रचना बाहरी अनुभवोंसे होती है तथा विचार तो चेतनाके तत्त्व हैं जो अपनी विस्फोटक

हरबार्टके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेपर ऐसा जान पड़ता है कि हरबार्टने अपने शिष्योंको घरपर शिक्षा देनेके समय और पेस्टालौज़ीके विद्यालयका निरीक्षण करते समय मनोविज्ञानको शिक्षा-प्रणालीका आधार बनानेका विचार किया होगा। किन्तु इस व्यवस्थित मनोविज्ञानकी व्याख्या करनेसे पूर्व उसके शिक्षण-सिद्धान्तोंको स्पष्ट करना आवश्यक जान पड़ता है। प्रायः उसका यह विचार है कि हमारे मनकी रचना बाहरी संसारके अनुभवोंसे होती



पेस्तालात्सी (१७४६–१८२७)



हरबार्ट (१७७६–१८४१)



फ्रोयबेल (१७८२–१८५२)

शक्तिसे स्वयं सत् बन जाते हैं। नये विचार तो हमारी चेतनामें विद्यमान पूर्व विचारोंके अनुसार ही ग्राह्य या अग्राह्य होते हैं। यही हरबार्टका पूर्वज्ञान (एपरसेप्शन) का सिद्धान्त है।

है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि हरबार्ट सहज भावनाओं और प्रवृत्तियोंका अस्तित्व मानता ही नहीं था। उसके अनुसार चेतनाके सरलतम तत्त्व 'विचार' हैं जो मानसिक सामग्रीके वे परमाणु हैं जो आत्माने बाहरी प्रभावोंसे मुक्त होनेके यत्नमें छोड़ फेंके हैं। आत्मा और परिस्थितिके संपर्कसे एक बार उत्पन्न होकर ये विचार स्वयं अपनी विस्फोटक शक्तिके द्वारा स्वयं सत् या अस्तित्वयुक्त बन जाते हैं और निरंतर अपना संरक्षण करनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं। ये विचार सदा चेतनाकी ऊँचाईके निकटतम पहुँचनेका प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक विचार स्वयं चेतनाके भीतर प्रकट होनेका, अपने सहयोगी विचारोंको ऊपर उठानेका तथा असहयोगी विचारोंको नीचे गिराने या निकाल बाहर करनेका यत्न करता रहता है। प्रत्येक नया विचार या विचारोंका समूह पूर्वस्थित विचारोंके मेल या विरोधके अनुसार ऊपर उठता, सुधरता या हटता चलता है। दूसरे शब्दोंमें यह कह सकते हैं कि सभी नए विचार उन विचारोंके अनुसार ग्राह्य या अग्राह्य होते हैं जो पहलेसे हमारी चेतनामें विद्यमान हैं। हरबार्टके इस 'पूर्व-ज्ञान' (एपर्सेप्शन) के सिद्धांतके अनुसार कोई भी अध्यापक बालकके पूर्व-संचित ज्ञानका सहारा लेकर नये विचार या विचार-समूहमें विद्यार्थीकी रुचि और एकाग्रता उत्पन्न करके उन विचारोंको स्थिर करानेमें सफल हो सकता है। अतः शिक्षाकी समस्या यह रह गई कि नई पाठ्य-सामग्री ऐसी किस विधिसे दी जाय कि वह 'पूर्व-ज्ञान'से संबद्ध हो जाय अर्थात् छात्रके पूर्व-संचित ज्ञानसे मेल खा जाय। छात्रका मस्तिष्क तो प्रधानतः शिक्षकके ही हाथमें है, क्योंकि वह बालकके पूर्व-संचित ज्ञान या विचार-धाराओंको बना भी सकताहै और सुधार भी सकता है।

शिक्षाका उद्देश्य, उपादान और शिक्षा-प्रणाली

हरबार्टके मतसे शिक्षाका उद्देश्य है नैतिक और धार्मिक आचरणकी व्यवस्था। इसके

ऊपर कहे हुए सिद्धान्तोंके अनुसार हरबार्टके मतसे शिक्षाका उद्देश्य है 'नैतिक और धार्मिक आचरणकी व्यवस्था'। उसका विश्वास है कि यह उद्देश्य शिक्षाके द्वारा सिद्ध किया जा सकता है और इसके लिये प्रत्येक बालकके विचार-समूह, स्वभाव और मानसिक सामर्थ्यका ध्यानपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। यह समझ रखना चाहिए कि जो शिक्षा बालक की विचारधाराको अच्छी नहीं लगेगी और जिसकी

लिये बालकके विचार, स्वभाव और मानसिक योग्यताका अध्ययन आवश्यक। प्रत्येक शिक्षाको बालकके पूर्व-ज्ञानसे सम्बन्ध करना आवश्यक। शिक्षाके द्वारा ऐसा व्यापक रुचि-समूह बना दिया जाय जो जीवनको प्रभावित कर सके।

ओरसे वह उदासीन और उपेक्षा-युक्त रहेगा उसमेंसे वह कभी सदाचरणके उन विचारोंको ग्रहण नहीं कर सकता जो आगे चलकर हमारे आचरणके समुज्वल आदर्श बन सकें। इन शिक्षाओंको बालकके पूर्वज्ञानसे मेल खाना ही चाहिए क्योंकि तभी वे उसके जीवनको स्पर्श कर सकती हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि हरबार्टने रुचिको कुछ इने-गिने विद्यालयके कार्योंकी पूर्तिके लिये अस्थायी उद्दीपन मात्र नहीं माना। उसका तो कहना है कि शिक्षाके द्वारा ऐसा कुछ व्यापक रुचि-समूह बना दिया जाय जो स्थायी रूपसे जीवनको प्रभावित कर सके और पाठ्य-विषय इस प्रकार चुने और क्रमबद्ध किए जायँ कि वे छात्रके पूर्व अनुभवसे ही केवल संबद्ध न हों, वरन् वे ऐसे भी हों कि पूर्ण रूपसे जीवन और आचरणके सब संबंधोंको प्रकाशित और व्यवस्थित करते रहें।

बहुमुखी रुचि (मैनी-साइडेड इंटेरेस्ट)

इस 'बहुमुखी रुचि' (मैनी-साइडेड इन्टेरेस्ट) का विश्लेषण करते हुए हरबार्टने कहा है कि विचार और रुचि दोनोंकी उत्पत्ति दो मूल स्रोतोंसे होती है—इनमेंसे एक है अनुभव, जो हमें प्रकृतिका ज्ञान कराता है और दूसरा है सामाजिक संपर्क, जिसके द्वारा हमें अपने साथी मनुष्योंके प्रति अनेक प्रकारके भाव और मनोवेग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हम दो प्रकारकी रुचि कह सकते हैं—एक तो ज्ञानजन्य या अनुभवजन्य और दूसरी संपर्कजन्य। इन दो श्रेणियोंकी रुचियोंको हरबार्टने तीन-तीन समूहोंमें बाँटा है। ज्ञानजन्य रुचियोंके तीन समूह हुए—(१) इन्द्रिय-भावी (ऐम्पिरिकल) रुचि, जो हमारी इन्द्रियोंको सीधे प्रभावित करती हैं; (२) जिज्ञासाभावी (स्पेक्यूलेटिव) रुचि, जो कार्य-कारण संबंध जाननेकी अपेक्षा रखती है; और (३) सौंदर्यभावी (ऐस्थेटिक) रुचि, जो आनन्द और मननको प्रभावित करती है। संपर्कजन्य रुचियोंको भी तीन समूहोंमें विभक्त किया गया है—(१) नैतिक या सहानुभूतिमय (सिम्पैथैटिक), जिसमें अन्य व्यक्तियोंसे संबंधका

बहुमुखी रुचिके दो स्रोत—अनुभव और सामाजिक संपर्क। ज्ञान-जन्य या अनुभवजन्य रुचिके तीन समूह—इन्द्रियभावी, जिज्ञासा-भावी तथा सौन्दर्य-भावी। संपर्कजन्यके तीन समूह—नैतिक या सहा-नुभूतिमय, सामाजिक तथा धार्मिक। अनुभव और संपर्कसे दो अध्य-यन-शाखाएँ—ऐतिहा-सिक तथा वैज्ञानिक।

विचार होता है, (२) सामाजिक (सोशल), जिसमें समूची जाति या राष्ट्रके साथ हमारे संबंधका विचार होता है और (३) धार्मिक (रिलिजस), जिसमें दैवी सत्ताके साथ व्यक्तिके सम्बन्धपर विचार होता है। इसलिये हरबार्टके मतसे शिक्षाके द्वारा इन सब रुचियोंका विकास होना ही चाहिए। रुचिके दो प्रधान समूहोंसे मेल खानेवाली दो अध्ययन-शाखाओंका भी हरबार्टने निर्धारण किया है—(१) एक है ऐतिहासिक शाखा, जिसमें इतिहास, साहित्य और भाषाका सन्निवेश किया गया है और (२) दूसरी है वैज्ञानिक, जिसमें सर्वगणित तथा प्राकृतिक विज्ञानोंका समावेश है। यद्यपि हरबार्टने दोनों हो समूहोंका महत्त्व स्वीकार किया है किन्तु ऐतिहासिक समूहोंको इस आधारपर उसने प्रधानता दी है कि नैतिक विचारों और भावोंके संवर्धनके लिये इतिहास और साहित्यमें अधिक सामग्री उपलब्ध हो सकती है।

ऐतिहासिक और वैज्ञानिक पाठ्यक्रममें एकरूपता आवश्यक

यद्यपि बहुमुखी रुचिके लिये ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दोनों प्रकारके विषय आवश्यक हैं किन्तु हरबार्टके मतसे पाठ्यक्रममें उन्हें इस प्रकारसे रखना चाहिए कि वे सब मिलकर एकरूप हो जायँ क्योंकि जबतक यह एकरूपता नहीं होगी तबतक बालककी चेतना भी एकरूप नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि हरबार्टने पाठ्य-विषयोंकी पारस्परिक सम्बद्धताका भी पूर्ण निरूपण कर दिया था जो पीछे उसके अनुयायियोंने व्यापक रूपसे ग्रहण किया। इस प्रतिसंबद्धता (कौरिलेशन) के सिद्धांतको पीछेके हरबार्टवादियोंने एकाग्रीकरण (कन्सेन्ट्रेशन)के नामसे उन्नत किया जिसका अर्थ यह था कि जितने पाठ्य विषय हों वे सब साहित्य और इतिहास जैसे एक या दो व्यापक विषयोंसे संबद्ध कर दिए जायँ किन्तु विषय-सामग्रीका चुनाव और उनका परस्पर संबंध इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय कि वह बहुमुखी रुचिको उद्दीप्त करे। इस विषयमें हरबार्टने बहुत विस्तारसे नहीं कहा है। उसने विशेष रूपसे यही कहा है कि सबसे पहले हमेरस (होमर)का ओदेसी महाकाव्य पढ़ना चाहिए क्योंकि उसमें योरोपीय जातिके यौवनकालकी रुचियों और प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधित्व है। इसके पश्चात् यूनानी काव्योंमें जो वर्धमान

उसके मतसे जबतक ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विषयोंमें एकरूपता नहीं आवेगी तबतक बालककी चेतनामें एकरूपता नहीं आवेगी। इन विषयोंकी पारस्परिक प्रतिसम्बद्धताके सिद्धान्तको पीछेके हरबार्टके अनुयायियोंने एकाग्रीकरणके नामसे उन्नत किया। संस्कारावृत्तिका सिद्धान्त (कल्चर ईपौक थ्योरी)।

जातीय रुचियोंकी जटिलता भरी हुई हैं उनका अध्ययन किया जाना चाहिए। जातिके उन्नतिके साथ-साथ व्यक्तिकी समान उन्नति करानेकी भावनासे जिस अध्ययन-सामग्रीके चुनावके लिये हरबार्टने यह चलता-सा प्रयत्न किया था उसे उसके शिष्योंने आगे बढ़ाया और उसका विस्तार किया। त्सिल्लर आदि शिक्षा-शास्त्रियोंने इस सिद्धांतको अपने संस्कारावृत्ति (कल्चर-ईपौक) के सिद्धांतका रूप देकर स्थिर और निश्चित कर दिया।

हरबार्टकी शिक्षा-पंचपदी

यह विस्तृत पाठन-सामग्री लेकर, उनको परस्पर प्रतिसंबद्ध करके उन्हें व्यवस्थित करनेके संबंधमें हरबार्टने यह अनुभव किया कि बच्चेको शिक्षा देनेके लिये एक निश्चित क्रम होना चाहिए। वह चाहता था कि यह शिक्षाक्रम मानव-मस्तिष्कके विकास और क्रियासे मेल खाता हुआ होना चाहिए। इसी मानसिक क्रियाके आधारपर उसने चार संगत पदोंका निर्धारण किया—(१) स्पष्टता (क्लीअरनेस्), अर्थात् शिक्षणीय वस्तुओं और तत्त्वोंको प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट रूपसे उपस्थित करना, (२) संयोग (एसोसिएशन) अर्थात् इन उपस्थित की हुई वस्तुओं और तत्त्वोंको बालकके पूर्वार्जित ज्ञानसे भली प्रकार जोड़ देना, (३) व्यवस्था (सिस्टम), अर्थात् जो ज्ञान इस प्रकार जोड़ा गया है उसका युक्ति-युक्त और संगत क्रम स्थापित कर देना और (४) रीति या प्रयोग (मैथड) अर्थात् छात्र-द्वारा नवीन परिस्थितियोंमें उपर्युक्त व्यवस्थाका व्यावहारिक प्रयोग।

मानव-मस्तिष्कके विकासके साथ मेल खाती हुई शिक्षाविधि स्थापित करनेके लिये उसने चार पदोंका निर्धारण किया जो पीछे उसके शिष्यों-द्वारा समुन्नत होकर पाँच पदोंमें बँट गए—प्रस्तावना, वस्तु-प्रस्थापन, तुलना और तत्त्वनिरूपण, परिणमन तथा प्रयोग।

हरबार्टने तो इस क्रमको केवल सिद्धांत रूपमें प्रतिष्ठित किया था किन्तु उसके पश्चात् उसके शिष्योंने इसे सुधारकर विशेष रूपसे समुन्नत कर दिया। इन शिष्योंने अनुभव किया कि पूर्वज्ञानके सिद्धांतपर चलते हुए यह आवश्यक है कि बालकको जो नया ज्ञान दिया जानेवाला है उससे समता रखनेवाले उसके पूर्वसंचित ज्ञानका भाव तो उसमें होना ही चाहिए। यह काम पिछले पाठोंकी आवृत्ति करके या नये पाठकी, रूपरेखा बताकर या दोनों उपायोंसे पूरा किया जा सकता है। इसलिये हरबार्टके प्रसिद्ध शिष्य त्सिल्लरने स्पष्टतावाले पदको दो भागोंमें विभक्त किया (१) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन) और (२) वस्तु-प्रस्थापन (प्रेज़ेण्टेशन)। हरबार्टके दूसरे शिष्य राइनने

'प्रस्तावना' में एक और उपपद 'उद्देश्य' भी जोड़ दिया। अन्य तीन पदोंको भी अधिक स्पष्ट करनेके लिये पीछेके हरबार्टियोंने उनका नाम बदल दिया और शिक्षाके 'पाँच नियमित पद' इस प्रकार कर दिए—(१) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन), (२) वस्तुप्रस्थापन (प्रेजेंटेशन), (३) तुलना और तत्त्व-निरूपण (कम्पेरिज़न एण्ड एब्स्ट्रैक्शन), (४) परिणमन (जनरलाइज़ेशन), और (५) प्रयोग (एप्लीकेशन)। इन्हें स्पष्ट रूपसे इस प्रकार समझाया जा सकता है—

सिद्धान्त चतुष्पदी	शिक्षा-पंचपदी
१—स्पष्टता (क्लीअरनेस्)—	१—(अ) प्रस्तावना या उद्बोधन (प्रिपेरेशन)। (आ) उद्देश्य (एम) २—वस्तु-प्रस्थापन (प्रेज़ेंटेशन)।
२—संयोग (एसोसिएशन)—	३—तुलना और तत्त्वनिरूपण (कम्पैरिज़न एण्ड ऐब्स्ट्रैक्शन)।
३—व्यवस्था (सिस्टम)—	४—परिणमन (जनरलाइज़ेशन)।
४—रीति या प्रयोग (मेथड)—	५—प्रयोग (एप्लिकेशन)।

हरबार्टके सिद्धांतोंका महत्त्व और प्रभाव

पैस्टालौज़ीकी अपेक्षा हरबार्ट अधिक विवेक-शील तथा सुबोध। उसके अनुसार उपदेशसे विचार तथा शिक्षासे आचार बनता है। किंतु अपनी पंचपदीसे उसने शिक्षाको संकुचित कर दिया।

प्रायः सभी दृष्टियोंसे पैस्टालौज़ीकी अपेक्षा हरबार्ट अधिक विवेकशील और सुबोध था। उसने पैस्टालौज़ीके संप्रेक्षण-संबंधी अस्पष्ट सिद्धांतको अपने मनोविज्ञानसे पुष्ट करके वैज्ञानिक तथा सर्वबोध बना दिया। हरबार्टके सिद्धान्तोंकी सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि उसे उसने पाँच पदोंके रूपमें बहुत संकुचित कर दिया था। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि हरबार्टने शिक्षाके सम्बन्धमें बहुत विचार और व्यवस्थित बुद्धिसे काम लिया। अपनी शिक्षा-पद्धतिका सारांश बतलाते हुए उसने कहा था कि 'उपदेशसे विचार-चक्र बनता है और शिक्षासे चरित्र या आचार। विचारके बिना आचार कुछ नहीं है, यही मेरे शिक्षाशास्त्रका तत्त्व है।'

हरबार्टके शिक्षण-सिद्धान्तोंका विश्लेषण

हरबार्टके दार्शनिक शिक्षण-सिद्धान्तोंकी विवेचना करनेके पश्चात् उसके कुछ शिक्षा-तत्त्वोंपर भी विचार करनेकी आवश्यकता है। उसने छात्रमें बहु-

बहुमुखी रुचि (मैनी-साइडेड इन्टेरेस्ट)

मुखी रुचि उत्पन्न करनेकी आवश्यकताको बहुत महत्त्व दिया है। यह बहुमुखी रुचि तभी उत्पन्न हो सकती है जब पहले पाठ्यक्रमके लिये उचित विषयों-का चुनाव करके उन्हें ऐसे क्रममें बाँध दिया जाय कि वे एक दूसरेके अंग होकर परस्पर मिल जायँ और अन्योन्याश्रित हो जायँ। यह प्रतिसम्बद्धता दो ही प्रकारसे संभव है— (१) एक तो यह कि छात्रोंके मन तथा उनके विकासकी अवस्थाको समझकर उनके अनुकूल शिक्षा-सामग्री उनके मस्तिष्कमें पहुँचाई जाय। इसे यों कह सकते हैं कि छात्रोंके मस्तिष्कके विकासके अनुसार ही उन्हें शिक्षा दी जाय और यह शिक्षाकी सामग्री अर्थात् विषय भी उनके मानसिक विकासकी अवस्थाके अनुकूल हों। (२) दूसरा विधान यह है कि शिक्षाके सभी विषयोंको साहित्य तथा विज्ञानके दो भागोंमें क्रमसे बाँध दिया जाय और सभी पाठ्यविषय इन्हीं दो विभागोंके अंतर्गत करके परस्पर संबद्ध कर दिए जायँ।

संस्कारावृत्तिका सिद्धान्त (कल्चर ईपौक थ्योरी)

इस संबंधमें हमारा ध्यान स्वभावतः हरबार्टके संस्कारावृत्तिके सिद्धांतकी ओर जाता है। हम ऊपर कह आए हैं कि हरबार्टके इस सिद्धान्तका विकास और विस्तार उसके शिष्य त्सिल्लेरने ही किया था।

संस्कारावृत्तिका सिद्धान्त (कल्चर ईपौक थ्योरी)

हरबार्टका विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मस्तिष्क-की उन्नति तथा मानसिक विकासके साथ-साथ अपनी जातिकी सांस्कृतिक समुन्नतिकी प्रत्येक अवस्थाको समझता चलता है और उसीके अनुसार उनकी पुनरावृत्ति करता चलता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने मानसिक विकासके साथ-साथ अपने जातीय विकासकी विभिन्न अवस्थाएँ भी प्राप्त करता चलता है। इसलिये बालककी जातिके सांस्कृतिक विकासकी विभिन्न अवस्थाओंके द्योतक शिक्षा-साधनोंको एकत्र करके पाठ्यक्रममें व्यवस्थित करना आवश्यक है।

हरबार्टका यह सिद्धान्त अत्यन्त गूढ़, दार्शनिक, अस्पष्ट और अव्यावहारिक था क्योंकि प्रत्येक जातिका सांस्कृतिक विकास भिन्न-भिन्न रीतिसे हुआ है

इस सिद्धांतकी अस्पष्टता और अव्यावहारिकता

और जब हम किसी एक विद्यालयमें विभिन्न जातिके बालकोंकी शिक्षाका विधान करेंगे तब वहाँ सब जातियोंके लिये अलग-अलग पाठ्यक्रम बनाना असंभव हो जायगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक युगके कुछ अपने संस्कार होते हैं जिन्हें उस युगके व्यक्ति अपने

अतीतके साँचेमें ढालकर ऐसा बना देते हैं कि वह अपनी परंपरासे अविच्छिन्न रहता हुआ युग-धर्मसे सामंजस्य स्थापित कर ले। इस संस्कारके लिये यह सचमुच आवश्यक है कि हम अपने प्राचीन साहित्यिक और सांस्कृतिक ग्रन्थोंका अध्ययन अपने बालकोंको करावें। इसके अतिरिक्त जहाँतक सार्वभौम नैतिकता, सदाचार और पारस्परिक सद्भावनाकी बात है वह तो सब देशों और सब कालोंके लिये एक समान है। अतः उसके लिये प्रत्येक जातिके अनुकूल अलग-अलग शिक्षा-व्यवस्था करना उचित नहीं है। हरबार्टका यह कहना अत्यंत असंगत और निरर्थक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवनके क्रममें अपने जातीय विकासकी पुनरावृत्ति करता है। यूरोपीय संस्कृतिके विकासका इतिहास यदि हम अपना सहायक मानें तो इसका अर्थ यह हुआ कि बालक प्रारम्भमें अत्यंत मूढ़ और जंगली होता है और निरंतर अनुभव तथा ज्ञानसे यूरोपकी सभ्यताके अनुसार समुन्नत होता चलता है। इसका यह अर्थ हुआ कि माता-पिताके और कुलके संस्कारका बालकके जीवनमें कोई महत्त्व नहीं है। भारतकी दृष्टिसे तो यह सिद्धांत अत्यंत निर्मूल है क्योंकि हमारे यहाँ तो मानवी सृष्टिका विकास उन प्रजापतियोंसे हुआ जिनकी मानसी सृष्टि हुई थी। यदि हम अपनी संस्कृतिके विकासक्रमको देखें तो वैदिक कालमें हमारा आध्यात्मिक और बौद्धिक विकास जितना हो चुका था उसकी अपेक्षा तो उसके परवर्त्ती कालमें अबतक हमारी अवनति ही हुई है, उन्नति नहीं। तो क्या इसका यह अर्थ समझा जाय कि अपनी संस्कृतिके विकास-क्रमके अनुसार हम ज्यों-ज्यों बड़े हो रहे हैं, त्यों-त्यों हम मूर्ख होते जा रहे हैं। वास्तवमें हरबार्टका यह संस्कारावृत्तिवाला सिद्धांत अत्यंत अस्पष्ट, भ्रामक और अमान्य है। हरबार्ट स्वयं उसका भली भाँति निरूपण नहीं कर सका और त्सिल्लेरने भी जिस प्रकार उसकी व्याख्या की वह भी बहुत बुद्धिसंगत, तर्कसंगत और बोधगम्य नहीं है।

किन्तु हरबार्टने विषयोंकी पारस्परिक प्रतिसंबद्धताका जो सिद्धांत स्थिर किया है वह अवश्य विचारणीय है। इस सिद्धांतसे उसका तात्पर्य यह है कि छात्रोंको जो विभिन्न विषय पढ़ाए जायँ उन्हें इस प्रकार परस्पर संबद्ध करके पढ़ाया जाय कि छात्रोंके मनपर उनके संयुक्त रूपकी ही छाप पड़े। जैसे इतिहास पढ़ाते समय उसे भूगोल, साहित्य आदि विषयोंसे इस प्रकार संबद्ध कर दे कि छात्रोंको इतिहासके साथ-साथ भूगोल और साहित्यमें भी रुचि हो और उन्हें इस प्रकारके सह-संबंधसे इतिहासका भी सांगोपांग ज्ञान हो जाय।

विभिन्न पाठ्य विषयोंकी पारस्परिक प्रतिसंबद्धताका सिद्धांत (थ्योरी औफ़ कौरिलेशन औफ़ सब्जैक्ट्स)

एकाग्रीकरण या कन्सट्रेशनका अर्थ यह है कि किसी एक विषयको ही शिक्षाका केन्द्र बनाकर अन्य सब विषय उसीके आधारपर सिखाए जायँ। उदाहरणके लिये जब हम चौथी कक्षाके बच्चेको गांधीजीका पाठ पढ़ाएँ तो उसके साथ गांधीजीका चित्र बनाने, कातने, बुनने, भारतका इतिहास जानने, आदि अनेक विषयोंकी शिक्षा दे सकें। इससे एक तो लाभ यह होता है कि बालकमें बहुमुखी रुचि उत्पन्न होती है, क्योंकि जब वह देखता है कि कोई दूसरा विषय उसके प्रिय विषयसे संबद्ध है तो वह दूसरे विषयमें भी रस लेने लगता है और उस एक मूल विषयसे जितने भी अधिक विषय संबद्ध होंगे उतनी ही बहुमुखी रुचि छात्रोंकी होगी। दूसरी बात यह है कि उससे बालकके मानसिक जीवनमें एकता और संगति उत्पन्न होगी। पर इस एकाग्रीकरणका सबसे बड़ा दोष यह भी है कि एक ही विषयको सब विषयोंका केन्द्र बनानेसे अन्य विषयोंकी शिक्षा प्रायः अस्वभाविक रूपसे संबद्ध करनी पड़ती है और शिक्षण-प्रणाली भी नीरस हो जाती है।

एकाग्रीकरण (कन्सेन्ट्रेशन) के सिद्धांतसे लाभ और हानि

धारण और मनन (एब्सौर्प्शन ऐण्ड रिफ़्लेक्शन)

शिक्षा-विषयोंके विस्तृत क्षेत्रोंपर अधिकार करनेके लिये और उन्हें एक विशिष्ट क्रमसे परस्पर संबद्ध करनेके लिये जो उसने पंचपदीय-विधि निकाली उसका एक और सिद्धांत बनाया 'धारणा और मनन'। उसका कहना है कि प्रत्येक नये ज्ञानका संचय और ग्रहण करनेके लिये इस दुहरी मानसिक क्रियाकी आवश्यकता होती है और इन दोनों क्रियाओंके क्रमशः आने-जानेको प्रायः 'मस्तिष्ककी श्वास-क्रिया' भी कहते हैं। धारणाका अर्थ है मस्तिष्कको नये विचार और सत्य विवरण प्राप्त करने और उनपर मनन करने योग्य बनाना। धारणा-द्वारा प्राप्त किए हुए अनेक प्रकारके ज्ञानोंमें अनुकूलता उत्पन्न करते हुए उन्हें एक रूप दे देना मनन कहलाता है। इसी सिद्धांतके आधारपर हरबार्टकी 'नियमित पंचपदी' (फ़्रौर्मल फ़ाइव स्टेप्स) का निर्माण हुआ है।

नियमित पंचपदीय-विधि (फ़ौर्मल फ़ाइव स्टेप्स) का सिद्धान्त 'धारणा और मनन'।

यह नियमित पंचपदीय-विधि प्रारम्भिक शिक्षण-संस्कारके लिये तो उचित कही जा सकती है किन्तु व्यावहारिक शिक्षणमें उसका प्रयोग अत्यन्त निरर्थक हो जाता है क्योंकि प्रत्येक छात्र नियमित विद्यालयमें आगेके पाठसे और उस पाठके विभिन्न अंगोंकी प्रकृतिसे भली भाँति परिचित रहता है अतः इस नियमित

पंचपदीय-विधिके प्रारम्भिक शिक्षण-पद अर्थात् प्रस्तावना, उद्देश्य-कथन तथा वस्तुप्रस्थापनकी तो आवश्यकता ही नहीं रह जाती। शिक्षणके नित्य कार्यकी अधिकतासे और उचित सहायक सामग्री तथा पुस्तकोंके अभावमें तुलना तथा आत्मीकरणकी विभिन्न विधियोंका भी निर्वाह नहीं हो पाता और इसके अंतिम पद—'प्रयोग'की तो जो दुर्दशा शिक्षण-पीठों (ट्रेनिंग कालेजों)में होती है उसे देखकर तो हरबार्टपर दया आती है। इस समय योरोप और अमरीकाके शिक्षग-पीठोंमें तो हरबार्टके नियमित पंचपदीय पदोंके बदले कुछ अधिक व्यावहारिक शिक्षण-प्रयोगोंका विधान होने लगा है किन्तु हमारे देशके सभी प्रकारके शिक्षणपीठ अभीतक वही पुरानी लकीर पीट रहे हैं और शिष्याध्यापकों-पर अनावश्यक भार डालकर शिक्षणकलाको हास्यास्पद और अव्यावहारिक बनानेमें योग दे रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब कोई पूर्णतः ऐसा नया पाठ पढ़ाना हो जिसके सम्बन्धमें छात्रोंको किसी स्रोतसे किसी प्रकारका संस्कार न हो और अध्यापकके पास उचित परिमाणमें पाठ-सम्बन्धी सब प्रकारकी सामग्री उपलब्ध हो तब तो हरबार्टके पंचपदीय पद निश्चित रूपसे सहायक हो सकते हैं किन्तु नित्यके पाठ-शिक्षणके लिये हरबार्टकी पंचपदीका प्रयोग करना केवल समय और शक्तिकी नियमित हत्या करना मात्र ही है और अध्यापकोंकी अपनी मौलिक शिक्षण-पद्धतिके प्रयोगमें बाधा पहुँचाकर उन्हें बलपूर्वक अनिच्छित तथा नीरस पद्धतिका अनुसरण करनेके लिये बाध्य करना है।

हरबार्टने जहाँ एक ओर प्रतिसंबद्धता अथवा पाठ्यविषयोंको परस्पर संबद्ध करनेका सिद्धांत प्रतिपादित किया वहाँ उसने छात्रोंकी स्वाभाविक स्फूर्ति तथा उनकी स्वतःप्रेरित कर्मठताको उत्तेजित करनेका कोई साधन या उपाय नहीं सुझाया। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि बालकोंमें न तो जीवनको सुसंस्कृत, सुन्दर तथा उदात्त बननेकी प्रेरणाका कोई संस्कार रह गया, न अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाको पुष्ट, सिद्ध तथा तृप्त करनेका ही किसी प्रकारका प्रोत्साहन मिला। दार्शनिक होनेपर भी उसने न जाने यह कैसे समझ लिया कि बालकका मस्तिष्क नितान्त शून्य होता है और केवल शिक्षाके द्वारा ही मस्तिष्क समृद्ध तथा शिक्षित हो पाता है। अपनी इस धारणाके कारण उसने कुल-संस्कार तथा संगति-संस्कार दोनोंकी एक साथ निवृत्ति करके अत्यंत साधारण शिक्षा-सिद्धांत तथा मानव-अनुभूतिका विरोध स्थापित कर दिया। हरबार्टने बालकमें सद्वृत्ति, सत्यशीलता, आचार-शीलता, जीवन-सौन्दर्य और आध्यात्मिक नैतिकता अथवा धार्मिकताकी निष्ठा उत्पन्न कराने और उसे पुष्ट करनेका संकल्प तो किया है किन्तु यह नहीं निर्देश किया कि इतनी उदात्त

भावनाओंकी परिपुष्टि और उनका शिवसंकल्प किन अनुकूल तथा रुचिकर प्रयोगों से सिद्ध हो सकता है। हरबार्टने ज्ञानवितरणको इतना अनावश्यक महत्त्व दे डाला कि बालकोंके कोमल मनकी कोमल वृत्तियोंको उकसाने और बढ़ानेके साधनोंकी उसने कल्पना तक नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि शिक्षाके सम्बन्धमें उसका सम्पूर्ण प्रयास केवल दार्शनिक और बौद्धिक रह गया जिससे उसका व्यावहारिक पक्ष इतना नीरस और अप्रिय हो गया कि सर्व-साधारणके मानसको प्रभावित और संतुष्ट करनेका सामर्थ्य उसमें नहीं रह पाया। किन्तु फिर भी उसने अपने पूर्ववर्त्ती शिक्षा-शास्त्रियोंके काल्पनिक शिक्षा-निर्देशोंका दार्शनिक दृष्टिसे परीक्षण करके जो सिद्धान्त स्थापित किए उनका प्रभाव परवर्त्ती शिक्षा-शास्त्रियोंके विचारोंपर इतना पड़ा कि उनमेंसे प्रायः प्रत्येकने हरबार्टके शिक्षण-सिद्धान्तोंको वेदवाक्य मानकर स्वीकार कर लिया और अपने सभी प्रयोग हरबार्टके शिक्षा-दर्शनकी छायामें पुष्पित और पल्लवित किए। जैसा हम ऊपर कह आए हैं, योरोपके सभी शिक्षण-पीठों (ट्रेनिंग कालेजों) में विशेषतः येना, लीपत्सीग, और हाल विश्वविद्यालयोंमें हरबार्टकी शिक्षा-विधिका ही प्रयोग होने लगा।

तुइस्कोन त्सिल्लर (१८१७–१८४२)

यद्यपि प्रारम्भमें तो हरबार्टके सिद्धान्तोंका बहुत प्रचार नहीं हुआ किन्तु उसकी मृत्युके लगभग पचीस वर्ष पीछे हरबार्टवादियोंके दो समवर्त्ती विद्यालय खुले। स्टौयने अपने विद्यालयमें हरबार्टके सिद्धान्त ज्योंके त्यों प्रयुक्त किए थे किन्तु तुइस्कोन त्सिल्लेरने उनमें आवश्यक सुधार करके लीपत्सीगमें उनका व्यापक तथा व्यवस्थित प्रचार किया। त्सिल्लेर ने ही प्रतिसम्बद्धता और एकाग्रीकरण (कौरिलेशन ऐण्ड कन्सन्ट्रेशन)के सिद्धांतोंको व्यवस्थित और विस्तृत रूप दिया और उसीने संस्कारावृत्ति (कल्चर ईपौक) के सिद्धांतका निश्चित स्वरूप स्थिर किया। वह लिखता है कि 'प्रत्येक छात्रको अपने विकासकी अवस्थाके अनुकूल, मानव समाजके साधारण मानसिक विकासके प्रत्येक विशिष्ट युगमेंसे होकर निकलना चाहिए। इसलिये बालककी शिक्षाकी सामग्री जातीय संस्कृतिके ऐतिहासिक विकासकी उस अवस्थाकी विचार-सामग्रीसे लेनी चाहिए जो छात्रकी वर्तमान मानसिक अवस्थाके समभाव हो।' इसका अर्थ यह है कि यदि बालक कुमार अवस्थामें हो तो उसे मानवीय विकासके कुमार-युगकी सामग्री पढ़नेको देनी

हरबार्ट-वादियोंके दो विद्यालय—एक स्टौयने चलाया दूसरा त्सिल्लरने कुछ सुधारके साथ चलाया और प्रति-संबद्धता, एकाग्रीकरण तथा संस्कारावृत्तिके सिद्धान्तोंको व्यवस्थित रूप दिया।

चाहिए और यदि वह युवक है तो उसे मानव-सभ्यता और संस्कृतिके विकास-के युवाकालीन युगका इतिहास और उस युगकी विचारधारा पढ़नेको देनी चाहिए। रिसल्लेरने इन सिद्धान्तोंके अनुसार प्रारम्भिक पाठशालाओंका आठ वर्षोंका एक पाठ्यक्रम ही बना डाला था। यह हम ऊपर ही कह आए हैं कि उसीने हरबार्ट-द्वारा निर्धारित शिक्षा-पंचपदीके प्रथम पदको दो भागोंमें विभाजित किया और अन्तिम पदको बदल दिया था।

कार्ल फ़ोल्क मार्क स्टौय (१८१५–८५)

हरबार्टका दूसरा शिष्य था स्टौय जिसने शुद्ध रूपसे हरबार्टके सिद्धांतोंका प्रयोग किया और येनामें एक पाठशाला और शिक्षणाभ्यास-विद्यालय भी खोल दिया। इसीके विद्यालयमें आचार्य रेन भी स्टौयके साथ हरबार्टके प्रयोगोंका प्रचार करने लगे।

हरबार्टके इन सुधरे हुए सिद्धान्तोंका बड़ा प्रचार हुआ और जर्मनीके अतिरिक्त योरप तथा अमेरिकाके अन्य देशोंमें भी ये अधिक लोकप्रिय हुए।

स्वतःशिक्षाका अभिनव प्रयोग

़फ्रोबेल और उसका बालोद्यान (किंडरगार्टेन)

पैस्टालौफ़्ज़ीके शिष्योंकी चर्चा करते हुए हमने हरबार्टके साथ ़फ्रोबेलका भी नाम लिया था जिसने अपने गुरु पैस्टालौज़ीके 'स्वाभाविक विकास'के सिद्धान्तको विस्तृत रूपसे समुन्नत किया।

़फ्रोबेलका प्रारंभिक जीवन

़फ्रीडरिख़ विलहेम आउगुस्ट ़फ्रोबेल (१७२८ से १८५२) का जन्म थूरिंगी जंगलके ओबेड्वोइसबाख़ नामक गाँवमें हुआ था। उसके घरका वातावरण पूर्णतः धार्मिक था। उसके पिता ल्यूथरी मतके पादरी थे। किन्तु वे अपने काममें ही इतने व्यस्त रहते थे कि ़फ्रोबेलकी शिक्षा-दीक्षाकी ओर उनका बहुत कम ध्यान गया। उधर उसकी सौतेली माँ भी अपने ही बच्चेके प्यार-दुलारमें इतनी मग्न रहती कि वह भी ़फ्रोबेलकी शिक्षाके लिये समय न दे पाई। परिणाम यह हुआ कि ़फ्रोबेल स्वयं अपने ही घरमें उपेक्षित रहा, फिर भी घरके धार्मिक वातावरणका उसपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह जीवन भर उससे भावित रहा। माता-पिताकी इस उपेक्षाके कारण ़फ्रोबेल दिन-रात घने जंगलोंमें घूमने तथा जंगली पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, फल-फूलों और विभिन्न प्राकृतिक दृश्योंके निरीक्षणमें समय बिताने लगा। इससे उसके मनमें एक विचित्र रहस्यकी भावना और सारे विश्वकी परस्पर अप्रत्यक्ष तथा अखंड अभिन्नताके लिये खोजकी प्रवृत्ति जाग उठी और उसने अनुभव किया कि सब वस्तुओंमें एक विचित्र प्रकारका ऐसा संबंध है जिससे जान पड़ता है कि प्रकृतिके सभी पदार्थ एक दूसरेसे संबद्ध हैं और सबमें एक व्यापक अभिन्नता और आत्मीयता विद्यमान है।

फ्रोबेलका घरेलू वातावरण धार्मिक—किन्तु पिताकी व्यस्तताके कारण उसकी शिक्षा-दीक्षा उपेक्षित रही। फ्रोबेलने प्रकृतिका गंभीर निरीक्षण किया जिससे उसने संसारके सब पदार्थोंमें व्यापक अभिन्नताका आभास पाया।

येना विश्वविद्यालयमें ़फ्रोबेलकी शिक्षा

उसका पढ़ना-लिखना तो तेरह-बाईस ही रहा। पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें वह एक वनरक्षकके पास काम सीखनेके लिये भेज दिया गया। वहाँ उसे ठीक

प्रकारकी नियमित शिक्षा तो नहीं मिल पाई, किन्तु उसने वहाँ प्रकृतिके साथ एक प्रकारका आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया और साथ ही वनस्पति तथा वनसे व्यावहारिक परिचय भी बढ़ा लिया। निदान, उसके मनमें प्राकृतिक विज्ञानके अध्ययनकी जो पिपासा जागरित हुई थी उसने उसे येना विश्वविद्यालयमें नाम लिखाने को बाध्य किया। इस विश्वविद्यालयका वायुमण्डल आदर्शवादी दर्शन, कल्पनावादी आंदोलन और प्रगतिवादी विज्ञानसे ओत-प्रोत था। उन दिनों फ़िख्टेके नवीन दर्शनकी धूम थी। फ्रोबेल भी फ़िख्टीय दर्शनके उन शास्त्रार्थोंके प्रभावसे कैसे बचा रह सकता था जो राजपथपर, भोजनालयमें, गोष्ठियोंमें तथा प्रत्येक समाजमें प्रचलित थे। उन्हीं दिनों फ़िख्टेके शिष्य और साथी शेलिंगका भी बड़ा नामथा। उसकी तर्क-शक्ति तथा विद्वत्तासे उसका जो नाम हुआ उस यश-वृद्धिका अनुभव भी फ्रोबेलने अवश्य किया होगा। येना विश्वविद्यालयके श्लेगेल-पंथियों, टीक, तोवलिस़ तथा उनके मित्र-संरक्षक प्रसिद्ध कवि गेटे और शिलेरका भी प्रभाव फ्रोबेलपर पड़ा ही होगा। इसके साथ-साथ विज्ञानके प्रति जो वर्धमान रुचि वहाँ विद्यमान थी उसकी भी छाप उसपर अवश्य पड़ी होगी। यद्यपि विज्ञानकी शिक्षासे उसे विश्वके प्रत्येक पदार्थकी वह आन्तरिक संवद्धता और रहस्यमय अभिन्नता तो स्पष्ट नहीं हो पाई होगी जिसे वह खोजने निकला था, किन्तु येना विश्वविद्यालयके अध्यापकोंके व्याख्यानोंमें उसका कुछ न कुछ आभास उसे अवश्य मिला होगा। दुर्भाग्यवश आर्थिक संकटने उसके इस ज्ञानका द्वार बन्द कर दिया और उसे घर लौट जाना पड़ा।

पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें वनरक्षकके पास वनस्पति जगत्से संबद्ध। येना विश्वविद्यालयमें फिख्टेके दर्शन तथा तत्कालीन वैज्ञानिकोंका प्रभाव। आर्थिक संकटके कारण विश्वविद्यालयकी शिक्षा समाप्त।

विश्वव्यापी अभिन्नता या एकताके सिद्धांतका मूर्त्तीकरण

येना विश्वविद्यालय छोड़नेके पश्चात् चार वर्षतक वह अपनी जीविकाके लिये इधर-उधर भटकता फिरता रहा। संयोगसे सन् १८०५ में जब वह फ्रांकफ़ोर्टमें वास्तुकलाका अध्ययन आरंभ कर रहा था तभी पैस्टालौज़ीय आदर्श विद्यालय (पैस्टालौज़ियन मौडेल स्कूल) के आचार्य आन्टोन ग्र्यूनरसे उसकी भेंट हो गई और उन्होंने फ्रोबेलको शिक्षक पदके योग्य समझकर उसे अपने विद्यालयमें नियुक्त कर

आरंभमें भटकता फिरा। आन्टोन ग्र्यूनरसे भेंट। वहाँ पैस्टालौज़ीके सिद्धान्तोंका अध्ययन।

कागज, पुट्ठे और लकड़ीके कामसे क्रियात्मक अभिव्यक्तिको शिक्षाका साधन बनानेकी भावना पुष्ट ।

लिया। यहाँ उसने ग्र्यूनरकी देखरेखमें पैस्टालौज़ीके सिद्धांतोंका नियमित अध्ययन किया तथा अपने सिद्धांतों और विधियोंका प्रयोग भी आरंभ कर दिया। कुछ विद्यार्थियोंसे कागज, पुट्ठे और लकड़ीकी अनेक प्रतिकृतियाँ और प्रतिमूर्त्तियाँ बनवाकर वह इस परिणामपर पहुँचा कि यदि बालकोंको क्रियात्मक तथा रचनात्मक अभिव्यक्तिके अवसर दिए जायँ तो वह भी शिक्षाका महत्त्वपूर्ण साधन बन सकती है। यहाँके अनुभवके विषयमें फ़्रोबेलने लिखा है—'यहाँ पहुँचकर पहले ही दिन मैं समझ गया मानो मुझे वह वस्तु मिल गई हो जिसके लिये मैं तरसता था, मानो मैंने अपने जीवनका सत्य पा लिया हो। यहाँ मुझे ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे पानीमें मछलीको।"

ईवर्डूनमें अध्ययन और प्रयोग

तीन वर्षतक फ़्रांकफ़ोर्टमें रहनेपर वह ईवरडूनमें अध्ययन और प्रयोगके लिये चला गया और वहाँ जो दो वर्ष उसने बिताए वे उसके लिये बड़े लाभदायक सिद्ध हुए। यहाँ उसने भौतिक विज्ञान और प्रकृति-निरीक्षणकी जो शिक्षा अपने शिष्योंको अपने पर्यटनोंके द्वारा दी उससे उसके अनुभवमें बड़ी वृद्धि हुई। यहाँ उसे यह भी अनुभव प्राप्त हुआ कि बच्चोंकी बौद्धिक और शारीरिक उन्नतिमें बच्चोंके खेलका क्या प्रभाव पड़ता है। यहीं उसने बाल-शिक्षणका यह महत्त्वपूर्ण तत्त्व निकाला कि बालककी प्रारंभिक शिक्षा माताके द्वारा ही दी जानी चाहिए। यहींपर उसने अपना संगीतका ज्ञान बढ़ाया जिसका आगे चलकर उसकी प्रणालीमें विशेष प्रयोग हुआ। ईवरडूनमें रहनेसे उसने यह भी अनुभव किया कि यदि शिक्षाको सुसंघटित तथा सुनियोजित करना है तो और भी अधिक विद्या ग्रहण करनी चाहिए। इसलिये उसने यथाशीघ्र फ़्रांकफ़ोर्टका काम छोड़कर फिरसे विश्वविद्यालयमें अध्ययन करना निश्चित किया क्योंकि वह चाहता था कि पैस्टालौज़ीकी प्रणालीमें जो अव्यवस्था, अनैक्य, विषयोंकी असंबद्धता और शिक्षण-विधिकी अनियमितता दिखाई पड़ती है वह मेरी शिक्षा-प्रणालीमें न हो। फलतः वह सन् १८११ में ग्वेटिंगेन गया किन्तु अगले ही वर्ष धातुशास्त्रके

ईवरडूनमें अनुभव किया कि बालकोंकी बौद्धिक और शारीरिक उन्नतिमें खेलका बड़ा महत्त्व है और प्रारम्भिक शिक्षा माताके द्वारा दी जानी चाहिए। बर्लिन विश्वविद्यालयमें उसने यह अनुभव किया कि संसारकी प्रत्येक वस्तुमें परस्पर एक तात्त्विक अभिन्नता है।

आचार्य श्री वोइससे प्रभावित होकर वह बर्लिन विश्वविद्यालयमें चला गया और उनके संसर्गमें उसे विश्वास हो गया कि सृष्टिके पदार्थोंके विकासका परस्पर संबंध सिद्ध किया जा सकता है। उसने कहा कि उस दिनसे पत्थर और स्फटिक मेरे लिये ऐसे दर्पण बन गए जिनमें मैं मनुष्य जाति तथा मनुष्यके विकास तथा इतिहासका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकूँ। इस प्रकार उसने अपने अभिन्नता या "एकता" के रहस्यमय नियमको मूर्त्त रूप दे दिया।

कोइलहाउमें सार्वभौम विद्यालय

एक वर्षके लिये वह नैपोलियनके आक्रमणका प्रतिरोध करनेवाली प्रशियाई सेनामें भी रहा और यहींपर उसके आजीवन सहायक लांगेथान और मिडेन-डोर्फ़से उसकी मित्रता हो गई जो बर्लिनमें धर्मशास्त्र पढ़ते थे। वहाँसे लौटकर वह फिर आचार्य वोइसका सहायक होकर बर्लिन विश्वविद्यालयमें लौट आया और थोड़े दिनोंमें पूर्ण रूपसे यही सिद्धांत मानता रहा कि सृष्टिके संघटनमें कोई न कोई तात्त्विक एकता अवश्य है। किन्तु इन सबके होते हुए भी उसने अपने शिक्षा-सुधारके मूल उद्देश्यमें कोई अन्तर नहीं आने दिया। विश्वविद्यालयमें रहते समय भी वह प्लामानके पैस्टालौज़ीय विद्यालयमें पढ़ाते हुए बाल-प्रकृतिका निरीक्षण बराबर करता रहा। सन् १८१६ में उसने अपने शिक्षाके सिद्धांतोंका प्रत्यक्ष प्रयोग करनेके लिये अपने पाँच छोटे-छोटे भतीजोंको शिक्षा देनेका भार ले लिया। शिक्षाके प्रचारकी इस भावना-में उसके मित्र मिडेनडोर्फ़ और लांगेथानने भी बड़ी सहायता की और इन लोगोंने मिलकर थूरिंगी गाँव कोइलहाउमें शिक्षाका सार्वभौम जर्मन विद्यालय खोल दिया। इस विद्यालयमें शिक्षाका उद्देश्य यह था कि जिन विषयोंका परस्पर एक दूसरेसे तथा जीवनसे भली प्रकार संबंध समझा जा चुका है उन विषयोंमें छात्रोंकी स्वतःक्रियाके अभ्यास-द्वारा छात्रोंकी सब शक्तियोंका एक साथ समान रूपसे संवर्धन कराया जाय। आत्माभिव्यक्ति, स्वतःविकास और सामाजिक मेल-जोल ही इस विद्यालयके मूल सिद्धांत थे। अधिकांश शिक्षा खेलके द्वारा दी जाती थी। बालोद्यान (किंडेरगार्टेन) की मूल भावना भी यही भासमान हुई। खुले वायुमें, विद्यालय-भवनके आसपासवाले

अपने शिक्षा-सिद्धान्तोंका प्रयोग भतीजोंपर किया। कोइलहाउमें सार्वभौम जर्मन विद्यालय, जिसका उद्देश्य था कि जिन विषयोंका पारस्परिक तथा जीवनसे संबंध समझा जा चुका है उनमें स्वतःक्रियाके अभ्यास-द्वारा छात्रोंकी शक्तियोंका समान संवर्धन कराया जाय। आत्माभिव्यक्ति, स्वतः-विकास तथा सामाजिक सम्पर्क ही मूल सिद्धान्त।

उपवनमें और भवनमें बहुत-सा रचनात्मक अथवा प्रयोगात्मक काम होने लगा। वहाँ बैठकर बच्चे नदियोंके बाँध, पनचक्की, दुर्ग, प्रासाद इत्यादि बनाते थे और जंगलमें जाकर पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े और फूल-पत्तियोंकी खोज करते थे। व्यावहारिक समस्याओंका समाधान करके वे रूप और संख्याका ज्ञान प्राप्त करते थे तथा कहानियों, गीतों और कड़खोंके द्वारा कल्पना तथा भावुकताका द्वार उनके लिये खोल दिया जाता था।

फ्रोबेलका ग्रन्थ 'मनुष्यकी शिक्षा'

'मनुष्यकी शिक्षा' में सृष्टि, मानव-जीवन, शिक्षाके उद्देश्य, जीवन तथा विद्यालयके मुख्य विषयोंका वर्णन। लोगोंके सन्देहके कारण वह स्विट्सरलैंड चला गया।

इस संस्थाको लोकप्रिय बनानेके उद्देश्यसे फ्रोबेलने सन् १८१६ में अपने 'मनुष्यकी शिक्षा' नामक ग्रन्थमें सविस्तर वर्णन किया कि किस प्रकार उसने कोइलहाउमें अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग किए। यद्यपि ग्रन्थ अत्यन्त संक्षिप्त, आवृत्तियोंसे पूर्ण और अस्पष्ट है और स्वयं फ्रोबेलने पीछे अनुभवसे इन सिद्धांतोंमें सुधार भी बहुत किए किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि फ्रोबेलने अपने शिक्षा-सम्बन्धी दर्शनपर जितना कुछ कहा और लिखा है उन सबमें यह ग्रन्थ सबसे अधिक सुव्यवस्थित है। इसमें फ्रोबेलने बताया है कि यह सृष्टि क्या है, मानव-जीवनका क्या अर्थ है, शिक्षाके मुख्य उद्देश्य क्या हैं और जीवनके तथा विद्यालयके मुख्य विषयोंकी विभिन्न अवस्थाओंपर उसका किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए। किन्तु समय अनुकूल नहीं था। लोगों को न जाने क्यों यह सन्देह होने लगा था कि कहींसे उसमें समाजवादी प्रवृत्ति प्रविष्ट हो गई है। अतः सरकारकी ओरसे नियुक्त निरीक्षक-मण्डलने इस बातकी जाँच की किन्तु निरीक्षक महोदयने जाँच करके इस विद्यालयकी बड़ी प्रशंसा करते हुए लोगोंके सन्देहको निराधार बताया।

किंडेरगार्टेनका जन्म

स्विट्सरलैंडमें पाँच वर्ष-तक प्रयोग। बुर्गडोर्फ़ विद्यालय चलाते हुए

यह सब हो जानेपर भी लोकापवाद चलता रहा और फ्रोबेलने यह समझ लिया कि यहाँ रहनेमें कल्याण नहीं है। फलतः वह स्विट्सरलैंड चला गया और वहाँ पाँच वर्षतक (१८१३-१७) उसने विभिन्न केन्द्रोंमें अपने शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग किए। सहसा सन् १८३७ में बुर्गडोर्फ़का आदर्श विद्यालय चलाते हुए उसे यह बात सूझी कि जबतक शिशु-शिक्षाका

मातामों-द्वारा शिक्षा दिलानेकी बात सूझी। ब्लांकेन्बुर्गमें शिशु-विद्यालय या किंडेर-गार्टेन (बालोद्यान) की स्थापना।

सुधार नहीं हो जाता तबतक विद्यालयकी संपूर्ण शिक्षा निरर्थक और निराधार है। उन्हीं दिनों उसने कॉमिनियसका लिखा हुआ 'शिशुत्वका विद्यालय' नामक ग्रन्थ देखा और उसके मनमें भी यह भावना लहरें लेने लगी कि बालकोंकी शिक्षा सुन्दर बनानेके लिये योग्य और प्रतिभाशाली माताओंको शिक्षित करना आवश्यक है। इसीके साथ-साथ खेलके द्वारा शिक्षा देनेकी बात भी उसके मनमें प्रबल होती जा रही थी इसलिये उसने ऐसे खिलौनों, खेलों, गीतों और शारीरिक गतियोंका अध्ययन और निर्माण करना प्रारम्भ किया जो बालकोंकी उन्नतिमें सहायक हो सकें यद्यपि प्रारंभमें इन सामग्रियोंको वह किसी प्रणालीके अनुसार व्यवस्थित नहीं कर पाया था। दो वर्ष पश्चात् जब उसकी पत्नीकी बीमारी बढ़ती गई तब वह जर्मनी लौट आया और वहाँ उसने तीनसे सात वर्ष तकके बच्चोंके लिये थूरिंगी जंगलके अत्यंत रमणीय स्थल ब्लांकेन्बुर्गमें एक शिशु-विद्यालय खोल दिया जिसका थोड़े ही दिनोंमें उसने बड़ा लम्बा-चौड़ा श्रुतिकटु नाम रक्खा किन्तु फिर उसे बदल कर किंडेरगार्टेन (बालोद्यान या बच्चोंकी फुलवारी) कर दिया।

बालोद्यान-विद्यालयोंका अन्त

इस बालोद्यानकी इतनी धूम मची कि दूर-दूरसे अनेक अध्यापकगण उसे देखने आने लगे किन्तु आर्थिक कठिनाई इतनी बढ़ गई कि सात वर्षमें यह

आर्थिक कठिनाईसे सात वर्षमें विद्यालय बना। जर्मनीमें घूमघूमकर अपनी प्रणालीका प्रचार। फिर लीवेन्स्टाइनमें किंडेर-गार्टेनकी स्थापना। बारोनैस बैरथेसे भेंट। फ्रोबेलके भतीजे कार्ल मार्क्सके समाजवादी सिद्धान्तोंसे सरकार भड़क गई और किंडेरगार्टेन बन्द करा दिए गए। इसी धक्केने उसके प्राण लिए।

विद्यालय बंद कर देना पड़ा। किन्तु इससे फ्रोबेल विचलित नहीं हुआ। अगले पाँच वर्षोंमें वह अपनी प्रणालीपर व्याख्यान देता हुआ सारी जर्मनीमें घूमता फिरा। जर्मनीकी माताओं तथा महिला-शिक्षकोंको जो उसने व्याख्यान दिए उसमें उसे बड़ी सफलता मिली। इस व्याख्यान-यात्राके पश्चात् सन् १८४९ में उसने साक्से माइनिंगेनमें लीबेन्स्टाइनके गंधकके स्रोतोंके पास अड्डा जमाया और अपने प्रिय किंडेरगार्टेन विद्यालयकी स्थापना की। इसी बीच संयोगसे बारोनेस बैरथे फ्रौन मारेन्होल्स-ब्यूलोसे उसकी भेंट हो गई। उस महिलाने इस विद्यालयमें इतनी उत्सुकता दिखाई कि वह बहुत बड़े-बड़े लोगोंको उसका विद्यालय दिखाने ले आई और थोड़े ही दिन पीछे उसने प्रयत्न करके

मारिएन्थाल राजकी सुन्दर भूमिमें उसके विद्यालयकी स्थापना करा दी। उस देवीने फ़्रोबेलके अन्तिम तेरह वर्षकी प्रवृत्तियोंपर बड़ा रोचक विवरण लिखा है जिसमें फ़्रोबेलकी सात्विक निष्ठाका बड़ा भव्य वर्णन दिया हुआ है। फ़्रोबेलकी मृत्युके पश्चात् उस देवीने यूरोप भरमें उसके सिद्धांतोंका व्यापक प्रचार किया। यद्यपि उसके अन्तिम दिन बड़े हर्षमय और सफल थे किन्तु सन् १८५१ में लोगोंने उसके सिद्धांतोंको और उसके भतीजे कार्ल मार्क्सके समाजवादी सिद्धांतोंको एक समझ लिया जिससे इतना भ्रम फैल गया कि प्रशियाके शिक्षा-मंत्रीने आदेश निकालकर सभी किंडेरगार्टेन विद्यालय बंद करा दिए। इस अन्यायपूर्ण अपमानका उसे इतना गहरा धक्का लगा कि एक वर्षके भीतर ही वह संसारसे चल बसा।

फ़्रोबेलका 'एकता'-संबंधी मूल सिद्धांत

यद्यपि फ़्रोबेलके सिद्धांतोंमें पैस्टालौज़ीके विकास-क्रम और रूसोके प्रकृति-वादके तत्त्व प्राप्त होते हैं किन्तु वस्तुतः उनपर तत्कालीन आदर्शवादी दर्शन, कल्पनावादी आंदोलन और वैज्ञानिक प्रवृत्तिका अधिक प्रभाव पड़ा था और जान पड़ता है कि जब वह येना और बर्लिनमें रहता था उसी समय इन प्रवृत्तियोंको उसने आत्मसात् कर लिया था। फ़्रोबेल-की शिक्षा-पद्धतिमें उसका अध्यात्मवाद भी सन्निविष्ट था जिसकी संक्षिप्त मीमांसा कर लेना अनुचित न होगा। वह मानव तथा शेष प्रकृति दोनोंका चेतन कारण 'पूर्ण' अर्थात् ईश्वरको मानता था और इसीलिये वह सृष्टि और जीवात्मामें अभेद सम्बन्ध समझता था। अपने इस अभिन्नता-सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए वह कहता है—"सृष्टिके सभी पदार्थोंमें एक शाश्वत नियम व्याप्त होकर शासन करता है। यह सर्वशासक नियम निश्चयतः किसी सर्वव्यापक, स्फूर्तिमान, सजीव, चेतन तथा सार्वभौम अभिन्नता या 'एकता' पर अवलंबित है। यह एकता ही ईश्वर है। सब पदार्थ उसी विराट् दैवी एकतासे प्रादुर्भूत हुए हैं और उसीमें उनका मूल है। सब पदार्थ इसी दैवी एकता या ईश्वरमें और उसके द्वारा जीते हैं और रहते हैं। प्रत्येक पदार्थमें जो दैवी स्फुरण होता है वही उस पदार्थका चेतन तत्त्व है।" इसी मूल रहस्यात्मक सिद्धांतको बार-बार फ़्रोबेलने दुहराया है किन्तु शिक्षाके व्यावहारिक पक्ष अर्थात् प्रयोगसे इसका कोई अधिक संबंध नहीं है। इसलिये इस विषयमें इतना ही पर्याप्त होगा।

सृष्टिके सभी पदार्थोंमें एक शाश्वत नियम व्याप्त है जो चेतन तथा सार्व-भौम अभिन्नतापर अव-लंबित है और यही ईश्वर है। प्रत्येक पदार्थ-में होनेवाला दैवी स्फुरण ही उसका चेतन तत्त्व है। यही फ़्रोबेलका आध्यात्मिक सिद्धांत है

क्रियात्मक अभिव्यक्ति ही उसकी प्रणाली

सब पदार्थोंकी दैवी एकतामें अखण्ड विश्वास रखते हुए भी फ्रोबेल कहता है कि यद्यपि प्रत्येक मनुष्यमें मानवता होती ही है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष, अपने ही निराले ढंगसे उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति करता है। उसका यह भी कहना है कि जन्मके समय प्रत्येक प्राणीमें उसके विकसित चरित्रकी सुसंबद्ध तथा संयुक्त योजना विद्यमान रहती है और यदि वह योजना बीचमें कुण्ठित या बाधित न की जाय तो वह स्वतः सहज रूपसे विकसित और समुन्नत होती रहेगी। यद्यपि फ्रोबेल इस सिद्धांतपर आद्यन्त स्थिर नहीं रहा और कभी-कभी बीच-बीचमें कहता भी रहा कि इस सहज विकासको ठीक पथपर ले ही चलना चाहिए, उसको सुमूर्त्त करना ही चाहिए, किन्तु मुख्य रूपसे वह रूसोके सिद्धांतका ही समर्थन करता हुआ कहता है कि 'प्रकृति ही ठीक है' और इसीलिये वह वृत्तियों और आत्मप्रेरणाओंकी पूर्ण तथा स्वतन्त्र अभिव्यक्तिका स्पष्ट समर्थक है। उसका आग्रह है कि 'जो बात सिखानी हो या अभ्यस्त करानी हो उसकी शिक्षा आवश्यक रूपसे निर्बाध तथा सक्रम हो, सुझाई हुई, बताई हुई या या बाधित न हो'। किन्तु इस विकास-को प्राप्त करनेकी उचित विधिका निर्देश करते हुए वह कहता है कि यह विकास अन्धानुकरणके बदले सजीव, आत्म-प्रेरित स्वतःक्रिया द्वारा होना चाहिए। इस स्वतःक्रियाके सिद्धांतको शिक्षा-प्रणालीका रूप देनेका यह तात्पर्य नहीं है कि अध्यापक या माता-पिता जैसा कहें, बतावें या सुझावें उसके अनुसार ही क्रिया की जाय। उसका अर्थ यह है कि—"अपनी स्वतः प्रेरणाओं और भावनाओंको पूर्ण करनेके लिये बालक स्वयं अपने मनसे सक्रिय होकर काम करे।" इसी प्रकारकी क्रियासे व्यक्तित्वका विकास होना चाहिए और शिक्षा-प्राप्तिके समय बालककी शक्तियोंको इस स्वीयत्व द्वारा ही पथ-निर्देशन मिलना चाहिए। इसी 'स्वतःक्रिया' द्वारा समुन्नत होनेकी भावनाके साथ ही 'रचनात्मिकता'का भाव जुड़ा हुआ है जिसके द्वारा नए रूप और रूपोंके मेलकी सृष्टि होती है तथा नवीन भावों और विचारोंकी अभिव्यक्ति होती है। उसका कहना है कि भावोंके मौखिक विवरणकी अपेक्षा यदि

उसके मनसे प्रत्येक प्राणीमें चरित्रकी सुसंबद्ध तथा संयुक्त योजना रहती है और उसमें बाधा न दी जाय तो वह स्वतः विकसित हो जाती है। वह वास्तवमें रूसोका समर्थक है इसलिये कहता है कि जो कुछ सिखाना हो उसकी शिक्षा निर्बाध तथा सत्य हो, बताई या सुझाई हुई न हो। यह विकास स्वतः क्रिया (आउटो एक्टिविटी) द्वारा हो।

विचार और वाणीके साथ मोम, मिट्टी आदि लुजलुजे पदार्थोंसे स्वयं निर्माण करके जीवनकी अभिव्यक्ति कराई जाय तो वह अधिक उन्नतिकारी और प्रभावशाली सिद्ध होगी।

शिक्षाका सामाजिक पक्ष

यही 'स्वतःक्रिया' और 'रचनात्मिकता' (क्रिएटिवनस्) वाला क्रियात्मक अभिव्यक्तिका मनोवैज्ञानिक सिद्धांत ही फ्रौबेलकी शिक्षा-प्रणालीका मूल आधार है। यद्यपिरूसोने भी इस क्रियात्मिकताको प्रधानता दी है किन्तु वह अपने ऐमीलको निर्जन, सामाजिकताहीन, निर्देशहीन, निर्बाध शिक्षा देना चाहता है। इधर फ्रौबेल आत्माभिव्यक्तिको जितना महत्त्वपूर्ण समझता है उससे कम महत्त्वका सामाजिक पक्षको नहीं समझता। उसका स्पष्ट मत है कि स्वतःक्रिय-द्वारा जो आत्मानुभूति या व्यक्ति-निर्मिति संवर्द्धित होती है वह सामाजिकताके द्वारा ही होनी चाहिए क्योंकि सामाजिकता ही मूल मानवीय प्रवृत्ति है। इसलिये वास्तविक शिक्षा मनुष्योंमें रहकर ही प्राप्त की जा सकती है क्योंकि मनुष्यको पढ़-लिखकर उसी सामाजिक जीवनमें प्रविष्ट होना पड़ेगा जिसमें उसे घर, विद्यालय, धर्मस्थान, व्यवसाय-केन्द्र तथा राष्ट्र सभीसे कुछ-न-कुछ काम पड़ेगा और जिसके कुछ-न-कुछ नियम और बन्धन उसे अपने जीवनमें मानने ही पड़ेंगे। इसी प्रकार खेल-कूदकी सामूहिक क्रियाओंसे उसे केवल शारीरिक स्फूर्त्ति ही नहीं प्राप्त होगी प्रत्युत बौद्धिक शिक्षा भी मिलेगी। फ्रौबेलने कोइलहाउमें बोझ उठाने, खींचने, ले जाने, खोदने, फाड़ने आदि घरेलू परिश्रमके काम कराकर तथा लकड़ीके टुकड़ोंको जोड़-तोड़कर उनसे गिरजाघर, दुर्ग, प्रासाद तथा गाँवके अन्य दृश्य आदि बनवाकर इसी नैतिक और बौद्धिक वातावरणका निर्माण करनेका प्रयत्न किया था। उसके किंडेरगार्टेनका अर्थ ही यह था कि 'बच्चोंके लिये ऐसा 'छोटा-सा राज्य' स्थापित कर दिया जाय जिसमें वह शिशु-नागरिक अपने अन्य साथियोंकी सुविधाका ध्यान रखते हुए स्वतन्त्रताके साथ विचरण करना सीखे।

स्वतःक्रिया और रचनात्मिकतावाला क्रियात्मक अभिव्यक्तिका मनोवैज्ञानिक सिद्धांत ही उसकी शिक्षा-प्रणालीका आधार, किन्तु फ्रौबेल समाजको भी महत्त्व देता है।

किंडेरगार्टेन या बालोद्यान

क्रियात्मक अभिव्यक्ति तथा सामाजिक आचरणके अतिरिक्त फ्रौबेलने व्यावहारिक शिक्षामें एक और नवीन योग दिया है, वह है ऐसे विद्यालयकी योजना, जिसमें न तो पुस्तक हों और न बँधे हुए बौद्धिक पाठ ही हों प्रत्युत इनके बदले जिसमें

किंडेरगार्टेनमें खेलकूद,

स्वतन्त्र विचरण और उल्लास। गीत, गति और रचनाकी प्रधानता।

आद्यन्त खेल-कूद, स्वतन्त्र विचरण और उल्लास भरा हो। किंडेरगार्टेनमें 'स्वतः क्रिया' तथा 'रचनात्मिकता' ने सामाजिक सहयोगका आश्रय लेकर अपनी पूर्ण और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कर डाली। इस पद्धतिमें अभिव्यक्तिके तीन परस्पर-संबद्ध रूप हैं—(१) गीत, (२) गति, तथा (३) रचना। बच्चेकी भाषा भी इन्हींके साथ घुलती-मिलती बढ़ती चलती है। किन्तु ये साधन अलग रहकर भी प्रायः एक दूसरेसे सहयोग करते तथा एक दूसरेका भावनिरूपण करते चलते हैं और वह सारा क्रम मिलकर साङ्ग पूर्णताको प्राप्त हो जाता है। मान लीजिए, एक कहानी कही या पढ़कर सुनाई गई। तब उसका गीत बनाकर सुनाया गया, या उसमें बीच बीचमें गीतोंका समावेश किया गया, फिर गति और भावभंगीका समावेश करनेके लिये उसे या उसके एक अंगको नाटकके रूपमें उपस्थित किया गया और फिर उस कथामें आए हुए पात्रों, वस्तुओं, जीवों और स्थानोंकी मूर्त्तियाँ लकड़ी, कागज़, मिट्टी तथा अन्य किसी लुजलुजे पदार्थसे बनाई गईं। इस प्रकार सब साधनोंके पारस्परिक सहयोगसे स्वतःक्रिया और रचनात्मिकताका आश्रय लेकर शिक्षा पूर्ण कर दी गई।

मातृखेल और शिशु-गीत

शिशुके अंगों, इन्द्रियों, और पुट्ठोंको सक्रिय तथा स्फूर्त्तिमान करनेके लिये मातृखेलों और शिशु-गीतोंकी व्यवस्था की गई। साथ ही माता और शिशुकी प्यारभरी एकात्मताके द्वारा आसपासकी वस्तुओंसे उचित और यथार्थ सम्बन्ध भी स्थापित किया गया।

बालकके अंगोंको ठीक साधने और फुर्त्तीला बनानेके लिये मातृखेल और शिशु-गीत बनाए गए। ५० खेल-गीतोंका निर्माण, जो किसी न किसी नैतिक भाव तथा व्यवसायसे संबद्ध हैं।

फ्रोबेलने जो पचास 'खेल-गीत' निकाले हैं वे सभी किसी न किसी शिशु-खेल या बढ़ई, लुहार आदिके व्यवसायसे संबद्ध हैं और बालककी किसी विशेष शारीरिक, मानसिक या नैतिक आवश्यकतासे मेल खाते हैं। इन गीतोंका चुनाव और क्रम, बालकके विकासके अनुकूल रक्खा गया जिनमें बालकोंकी सहज गतियोंसे लेकर नैतिक भावनासे युक्त अनुभवोंको चित्रके द्वारा प्रदर्शन करनेकी योग्यता तकके गीत सम्मिलित हैं। प्रत्येक गीतमें तीन भाग हैं, (१) माताके निदर्शनके लिये कोई उद्देश्य-वाक्य (२) बालकको सुनानेके लिये संगीतयुक्त पद्य, और (३) पद्यका भाव अभिव्यक्त करनेवाला चित्र।

फ्रोबेलके उपहार और व्यापारमें अन्तर

फ्रोबेलने जिन 'उपहारों' (गिफ़्ट्स) और 'व्यापारों' (औकुपेशन्स) का विधान किया है उकना वास्तविक उद्देश्य तो यह है कि बालकोंकी क्रियात्मक अभिव्यक्तिको प्रोत्साहन देकर उत्तेजित किया जाय। दोनोंमें अन्तर यह है कि 'उपहारों-द्वारा' तो बिना उनका आकार बदले ही कुछ निश्चित सामग्रीको मिलाने और पुनः क्रमबद्ध करनेकी क्रिया हो सकती है किन्तु 'व्यापारों'-द्वारा सामग्रियोंका आकार बदलने, सुधारने और दूसरा रूप देनेकी क्रिया भी हो सकती है। आजकल किंडेरगार्टेनमें उपहारोंके बदले 'व्यापारों' को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है और उनकी संख्या तथा परिधि बहुत बढ़ा भी दी गई है।

उपहार-द्वारा बिना उसका आकार बदले निश्चित सामग्री मिलाने और क्रमबद्ध करनेकी क्रिया। व्यापारों-द्वारा सामग्रीका आकार बदलने, सुधारने और दूसरा रूप देनेकी क्रिया

उपहार

पहले उपहारमें विभिन्न रंगोंकी छः ऊनी गेंदोंका डब्बा है। इन गेंदोंको लुढ़काकर रंग, सामग्री, आकार, गति, दिशा और अवयवोंके संचालनकी क्रिया जानी जा सकती है। दूसरे उपहारमें कड़ी लकड़ीका गोला, घनवर्ग (क्यूब) और नलढोल (सिलिंडर) हैं। इसके द्वारा गोलेकी गतिशीलता और घनवर्गका स्थायित्व जाना जाता है। नलढोलमें इन दोनों-का समन्वय मिलता है क्योंकि उसमें एक पक्ष गोल होता है और ऊपर नीचेका पक्ष सपाट होता है। सपाट पक्षकी ओरसे रखकर उसका स्थायित्व दिखाया जा सकता है और गोलपक्षकी ओरसे उसे लिटाकर और लुढ़काकर उसकी गतिशीलता बताई जा सकती है। तीसरा 'उपहार' है, एक बड़ा-सा लकड़ीका घनवर्ग जो आठ समान घनवर्गोंमें विभक्त होता है। इसके द्वारा भागोंका संबंध पूर्णसे तथा भागोंका परस्पर संबंध समझाया जा सकता है। उसीके द्वारा पीठासन, चौकी, सिंहासन, द्वार या सीढ़ी आदिके मौलिक रूपोंका निर्माण किया जा सकता है। इसके आगेके तीन उपहारोंमें घनवर्गको विभिन्न प्रकारसे ऐसे विभाजित कर दिया है कि विभिन्न आकार-प्रकारके

पहले उपहारमें छः गेंदों-का डब्बा, दूसरेमें गोला, घनवर्ग और नलढोल, तीसरेमें आठ समान घनवर्गोंमें विभक्त होने-वाला बड़ा-सा घनवर्ग, चौथे, पाँचवें और छठेमें घनवर्गको ऐसे विभा-जित कर दिया गया कि विभिन्न आकारके ठोस रूप बनाए जा सकें। सातसे नौ तकके उप-हारोंमें पाटियाँ, छड़ियाँ और छल्ले।

ठोस रूप बनाए जा सकें और संख्या, संबंध और रूपके विषयमें बालकोंकी रुचि जागरित की जा सके। उनके द्वारा बालकोंको ज्यामितीय आकार, सौन्दर्यपूर्ण रूप तथा कलात्मक रेखाचित्र बनानेकी प्रेरणा मिलती है। इन छः उपहारोंके अतिरिक्त फ्रोबेलने कुछ पाटियाँ, छड़ियाँ और छल्ले भी जोड़ दिए हैं जिन्हें 'सातसे नौ तकके उपहार' कहते हैं। इस सामग्रीमें समतल, रेखा और बिन्दुओंकी प्रधानता है जिनके द्वारा वर्गफल, रूपरेखा और परिधिका सम्बन्ध घनसे व्यक्त किया जा सकता है।

व्यापार

व्यापारोंमें कागज, बालू, लकड़ी तथा अन्य ऐसी सामग्रियोंसे अनेक वस्तुओंका निर्माण

'व्यापारों'के अन्तर्गत कागज, बालू, मिट्टी, लकड़ी तथा अन्य लुजलुजी सामग्रियोंसे विभिन्न वस्तु निर्माण करनेके कर्मोंकी एक लम्बी सूची है। घन रूपोंवाले 'उपहारों'के साथ मिट्टीके खिलौने बनाना, पुट्ठे काटना, कागज मोड़ना और लकड़ी खोदना आदि 'व्यापारों'का संबंध मेल खाता है और समतल आदिके उपहारोंके साथ चटाई बुनना, छड़ी सीधी करना, सीना, पिरोना, कागज छेदना तथा चित्र बनानेका संबंध ठीक बैठता है।

फ़्रोबेलकी शिक्षा-प्रणालीका विश्लेषण

फ़्रोबेलने जहाँ स्वतन्त्रताकी इतनी दुहाई दी है वहाँ निश्चित 'उपहारों' और 'व्यापारों'में लाकर शिक्षाको ऐसा बाँध दिया कि वह शिक्षा न होकर क्रीड़ा मात्र बन गई। प्रायः बहुतसे शिक्षाशास्त्री यह समझनेकी भूल करते रहते हैं कि बालक खेलसे अपने-आप शिक्षा ग्रहण करता है किन्तु वे यह समझनेका कष्ट नहीं करते कि बालक खेलको खेल ही समझते हैं और उसके भीतरकी प्रत्येक साभिप्राय क्रियाको भी वे खेलकी भाँति अगम्भीर ही समझते हैं। हौकी, फुट-बाल आदि खेल दल-भावना (टीम स्पिरिट) या संघ-भावना बनानेके लिये ही खेलाए जाते हैं किन्तु यह देखा गया है कि एक प्रतिशत खेलाड़ियोंमें भी वह भावना नहीं आती, सभी प्रायः स्वार्थी और स्व-हित-भावना वाले होते हैं। अतः यह कहना और सोचना ठीक नहीं है कि खेलसे कोई शिक्षा मिलती है।

फ़्रोबेलने एक और बातपर ध्यान नहीं दिया कि बालक अपने स्वाभाविक जीवनमें, अपने घरेलू रहन-सहनमें बाहर और भीतर भी अनेक प्रकारकी आकृतियों, रंगों, रूपों और पदार्थोंसे परिचित होता चलता है। घरमें भी वह अनेक प्रकारके पदार्थोंका प्रयोग कर लेता है, अतः उसका इन्द्रियज्ञान इतना जड़

नहीं होता कि केवल उपहारोंसे ही उसकी इन्द्रियों और अंगोंका विकास हो। और फिर जीवनमें खेलका एक विशेष प्रयोजन होता है—मनको गंभीर बातोंसे हटाना और इस प्रकार उसपर पड़े हुए चिन्तन, मनन, एकाग्र-बन्धनके भारसे मुक्त कर उसके तनाव और खिचावको ढीला कर देना जिससे उसकी गंभीरता-से शरीरपर पड़नेवाला कुप्रभाव दूर हो सके और मनकी स्वतन्त्रता तथा उसके उल्लाससे शरीरकी अन्य इन्द्रियाँ भी सक्रिय, चेतन तथा स्वस्थ रह सकें। अतः खेलको जिन शिक्षा-शास्त्रियोंने शिक्षाका साधन बनानेकी बात कही है उन्होंने मनोविज्ञान तथा शरीर-विज्ञानसे नितान्त भिन्न बात कहकर बालकके मानसको खेल-द्वारा स्वतन्त्र तथा उल्लसित करनेके बदले उसे नियन्त्रित तथा नीरस बनानेका उपाय सुझाया है।

फ्रोबेलकी शिक्षा-पद्धतिके इस बाहरी रूपको छोड़कर हमें उसके दार्शनिक मूल सिद्धांतोंका विश्लेषण भी कर लेना चाहिए। उसने अपने ग्रन्थोंमें और लेखोंमें स्थान-स्थानपर एक विश्वव्यापी पारस्परिक अभिन्नताकी बात कही है जिसका मूल तात्पर्य यह है कि संसारका प्रत्येक पदार्थ एक दूसरेसे मूलतः संपृक्त है और इस कारण हमें एक वस्तुको ठीक समझनेके लिये उससे संबद्ध दूसरी वस्तुओंको भी ठीक-ठीक समझना चाहिए और जबतक यह समझना पूर्ण नहीं हो जाता तबतक हम जिस वस्तुका अध्ययन करना चाहते हैं उसका अध्ययन पूर्ण नहीं समझा जा सकता। देखनेमें तो यह दार्शनिक सिद्धांत शुद्ध रूपसे भारतीय अद्वैतवाद या ब्रह्मवादसे मिलता-जुलता है किन्तु 'नेह नानास्ति किंचन' के भीतर जो प्रत्येक पदार्थकी नाम-रूप-क्रियात्मकताका निषेध करके एक शुद्ध सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप ब्रह्मकी भावना स्थिर की गई है वह फ्रोबेलके एकतावाले सिद्धांतमें प्राप्त नहीं होती। वह तो अनेक पदार्थोंको सत् मानता हुआ उन सबमें अखंड अभिन्नताकी कल्पना करता है। संभवतः फ्रोबेलकी यह कल्पना किसी शुद्ध दार्शनिक या वैज्ञानिक आधारपर अवलंबित नहीं थी अन्यथा संसारके सब पदार्थोंमें मौलिक तथा अखंड अभिन्नता और एकताकी कल्पना करनेवाला व्यक्ति रूसोके समान ही बालकके लिये प्रकृतिके द्वार खोल देता, वह ज्ञान-तन्तुओंके सक्रम विकासके लिये जड़ उपहारों और व्यापारोंका सर्जन न करता। इससे यह सिद्ध है कि या तो फ्रोबेलने सृष्टिकी एकात्मताको ठीक समझा नहीं या समझकर वह उसे न तो समझा पाया और न उसे व्यावहारिक स्वरूप प्रदान कर पाया।

स्वतःक्रिया या स्वयं-शिक्षाका सिद्धांत भी कुछ ऐसी ही अर्द्धयोजित कल्पनाका परिणाम है। यों तो रूसोने भी कह डाला था कि बालकको खुला छोड़ दो, वह निश्चिन्त होकर प्रकृतिमें विचरण करे और नया ज्ञान अर्जित

करता चले। किन्तु हम पहले ही विवेचन कर आए हैं कि इस प्रकारकी निर्बाध स्वयंशिक्षामें कई प्रकारके ऐसे संकट हैं जिनमें बालकको प्राणसंकट भी हो सकता है और मूर्ख बने रहनेका संकट तो सदा ही बना रह सकता है। ठीक वही संकट फ़्रोबेलकी स्वतःक्रियामें भी सन्निहित है। हम चाहे बालकको उपहार दें या व्यापार-सामग्री दें किन्तु जबतक हम उसे निश्चित रूपसे उसके प्रयोगकी कला उसे नहीं समझावेंगे तबतक स्थिति यही होगी कि 'विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरम्' बनाने चले गणेश, पर बना डाला बन्दर। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि उसके जिन विद्यालयों और प्रयोगोंका वर्णन बारोनेस बैरथेने किया है उसमें स्पष्ट रूपसे लिखा है कि फ़्रोबेल अपने सब छात्रोंकी प्रत्येक क्रियाकी बड़ी सावधानीसे परीक्षा करता रहता था और जहाँ तनिक भी शिथिलता या अव्यवस्था दिखाई देती थी वहाँ आवश्यक निर्देश, सुधार और समाधान करता चलता था। यदि निर्देश, सुधार और समाधानकी आवश्यकता बनी ही रह गई तो वह प्रणाली कहाँतक स्वतःक्रिया बनी रह सकती है यह अत्यन्त विचारणीय विषय है।

फ़्रोबेलने कमसे कम एक भूल नहीं की और वह यह कि उसने अपनी शिक्षा-पद्धतिमें समाजकी उपेक्षा नहीं की, क्योंकि उसने बहुत पहले यह समझ लिया था कि मनुष्य सर्पके समान स्वच्छन्द होकर किसी चूहेके बिलमें घुसकर उन सबको पचाकर वहाँ घर बनाकर एकाकी नहीं रह सकता। उसे अपने पास-पड़ोस, जाति-धर्म, देश-राष्ट्र सबके साथ जीवन निर्वाह करना है अतः उसकी शिक्षामें जीवनके उन तत्त्वोंका प्रवेश अवश्य हो ही जाना चाहिए जो उसे सफल मानव बननेमें योग दे सकें और संभवतः यही एक ऐसा तत्त्व था जिसके कारण फ़्रोबेल अपने पूर्ववर्त्ती शिक्षाचार्योंकी अपेक्षा कहीं अधिक सफल और लोकप्रिय हो पाया।

व्यापक रूपसे फ़्रोबेलके सिद्धान्त और प्रयोग देखनेपर यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अन्य पूर्ववर्त्ती शिक्षाशास्त्रियोंके समान उसने भी शिक्षाके व्यापक महत्त्वकी उपेक्षा की और अध्यापककी आवश्यकता और उसकी महत्ता-का तिरस्कार किया। उसने भी यही समझा कि रँगी हुई गेंदें, लकड़ीके भिन्न आकारके टुकड़े, कुछ गिने-चुने गीत तथा कागज़, मिट्टी और लकड़ीकी मूर्त्तियोंका निर्माण करके मनुष्य अपने भावी ज्ञानका—उस व्यापक ज्ञानका आधार समझ लेगा जिसमें फ्रोबेलके मतसे भी संसारका प्रत्येक पदार्थ परस्पर तात्त्विक रूपसे संपृक्त है। यही कारण है कि लोकप्रिय होते हुए फ़्रोबेलने मानवके चेतन या दैवी तत्त्वको भासमान और उद्दीप्त करनेके आधार—अध्यापकको, परित्यक्त करके अपना पक्ष शिथिल कर दिया। इतना होनेपर भी फ़्रोबेलने पाठशालाओं

की नीरसता तथा अध्यापकोंके कठोर दण्डविधानमें जो अभूतपूर्व परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया वही बालकों और माता-पिताओंके लिये कम आह्लादकी बात नहीं थी और यही कारण है कि जब उसने जर्मनीमें घूम-घूमकर माताओं और अध्यापिकाओंके सम्मुख अपनी शिक्षा-प्रणालीके प्रदर्शन किए तो वे प्रसन्न हो गईं और चारों ओरसे उसकी पद्धतिका स्वागत होने लगा। अध्यापिकाओं-ने जो उसका समर्थन किया उसका एक विशेष कारण यह भी था कि उसकी शिक्षा-प्रणालीमें अध्यापिकाका काम हलका हो गया है। वे बैठकर अपना काम भी करती रह सकती थीं और बच्चोंकी स्वतःक्रियाका निरीक्षण भी करती रह सकती थीं।

ये ही सब कारण थे जिन्होंने फ्रोबेलको और उसके किंडेरगार्टेन्को लोक-प्रसिद्ध कर दिया। फ्रोबेलने जो यह उपकार किया कि विद्यालयोंमें जो नीरसता और शासनकी कठोरता विद्यमान थी उसमें सरसता लाकर भर दी, इससे सभी देशोंमें फ्रोबेलका बड़ा प्रचार हुआ और आज प्रायः सभी देशोंमें उसके आधारपर किंडेरगार्टेन स्कूल खुल गए हैं। भारतमें भुवालीके पण्डित देवीदत्तने तो एक नया लकड़ीका किंडेरगार्टेन डब्बा ही बना डाला है जिसमें विभिन्न आकारके २५ लकड़ीके टुकड़े हैं जिनसे संसार भरकी सब भाषाओंके अक्षर तथा अनेक प्रकारके जीव, जन्तु, वस्तु, भवन आदि बनाए जा सकते हैं। यह बच्चोंका मन-बहलानेका तो साधन अच्छा है किन्तु इससे केवल मन ही बहलता है, शिक्षा नहीं होती। इन लकड़ीके टुकड़ोंसे बालक, साँप, बिच्छू, मन्दिर, चौखट तो बनाते हैं पर वर्णमाला नहीं सीखते। वास्तवमें सजीव चेतन बालकके लिये सजीव चेतन अध्यापककी आवश्यकता है जो अपने ज्ञान, चरित्र और व्यवहारसे बालकके भीतर बैठे हुए देवत्वको उद्बुद्ध करे, उसमें मानवताके संपूर्ण उदात्त भाव भरे और उसे तेजस्वी नागरिक बनावे। लकड़ी और मिट्टीसे खेलनेवाले बालक वह तेज नहीं प्राप्त कर सकते जो चरित्र और विद्याका तेज प्राप्त किए हुए अध्यापकके सम्पर्कसे प्राप्त होता है।

पैस्टालौज़ी, हरबार्ट और फ्रोबेलका तुलनात्मक प्रभाव

ऊपरके विवरणसे स्पष्ट हो गया होगा कि वर्तमान व्यावहारिक शिक्षा-पद्धतिके विकासमें हरबार्ट और फ्रोबेलका कितना बड़ा हाथ था। वर्तमान विद्यालयोंके पाठ्यक्रम और शिक्षा-प्रणालीमें कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं जिसका मूल हरबार्ट और फ्रोबेल तथा उनके गुरु पैस्टालौज़ीमें न पाया जा सके, किन्तु इन तीनोंके शिक्षा-सुधारोंका मूल वास्तवमें रूसोके प्रकृतिवादमें ही है। रूसोके 'प्रकृतिवाद' का ही निखरा हुआ रूप हमें पैस्टालौज़ीके विकास और संप्रेक्षणमें

मिलता है और इन दोनोंका विस्तृत और व्यवस्थित रूप दिखाई पड़ता है फ्रोबेल और हरबार्टमें। अपनी संप्रेक्षण-प्रणालीके द्वारा पैस्टालौज़ीने गणित, भाषा, भूगोल, प्रारंभिक विज्ञान, रेखाचित्र, लेखन, वाचन और संगीतको अत्यंत समुन्नत किया और फ़ालेनबुर्गके प्रयोगोंके द्वारा व्यावसायिक और धर्मार्थ शिक्षाका विकास हुआ। हरबार्टके नैतिक और धार्मिक उपदेशके फलस्वरूप इतिहास और साहित्यकी शिक्षामें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उन्नति हुई और उसके सुविचारपूर्ण शिक्षा-सिद्धांतोंके द्वारा शिक्षा-पद्धतिमें क्रम और व्यवस्था स्थापित की गई। फ्रोबेलने 'स्वाभाविक विकास' की रहस्यात्मक व्याख्या करके मानव-जीवनकी उस अवस्थाके लिये किंडेरगार्टेन शिक्षाका विधान किया जिसकी ओर अभीतक किसीका ध्यान नहीं गया था। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा हमें 'निर्बाध व्यापार', श्रमिक शिक्षा तथा क्रियात्मक अभिव्यक्ति जैसे अन्य विषय प्राप्त हुए। साथ ही शिक्षाकी प्रत्येक अवस्थाके मूलभूत मनोवैज्ञानिक और सामाजिक सिद्धांतोंका भी विकास हुआ। पैस्टालौज़ीके सुधारोंका प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें बहुत हुआ, किन्तु अमेरिकामें औस्वेगो आन्दोलनके कारण १८६० के लगभग ही उसकी चर्चा होने लगी। फ्रोबेलका प्रभाव यूरोपमें उन्नीसवीं सदीमें अपवादसे प्रारम्भ हुआ था और अमेरिकामें सन् १८८०के लगभग वह अत्यन्त प्रिय हो गया। हरबार्टके सिद्धांत और प्रयोग १८६५ से १८८५ तक जर्मनीमें बड़े लोकप्रिय हुए और अमेरिकामें १८९० के लगभग प्रचारित हुए। इसलिये यह कहनेमें कोई आपत्ति और संकोच नहीं है कि शिक्षाके बड़े-बड़े सुधार उन्नीसव शताब्दीमें ही हुए।

१५

शिक्षामें लोकवाद और विज्ञान

हरबर्ट स्पेन्सर और हक्सले

पिछली दो शताब्दियोंमें विज्ञानने अत्यन्त द्रुत गतिसे उन्नति की। कौपर-निकस, न्यूटन और हार्वे जैसे वैज्ञानिकोंने यूनानियोंके ज्योतिष-संबंधी तथा आयुर्वेद-संबंधी सिद्धान्तोंको उखाड़ फेंका। इसके पश्चात् अठारहवीं शताब्दिमें ज्योतिष, भूगर्भ शास्त्र, धरणी-आयु-विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, जीव-शास्त्र, शरीरशास्त्र, गर्भ-शास्त्र, रसायन-शास्त्र और भौतिक विज्ञान आदि अनेक प्रकारके विज्ञानोंकी अभिवृद्धि हुई। ये सब वैज्ञानिक अनुसंधान व्यक्तिगत प्रयासोंसे विश्व-विद्यालयोंसे बाहर उन्नत होते रहे, व्यावहारिक जीवन से उनका कुछ भी संपर्क नहीं था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दिमें इन वैज्ञानिक अनुसंधानोंके साथ नवीन आविष्कार और व्यावहारिक कलाओंका संबंध स्थापित हो गया और विज्ञानने मानव-जीवनको बड़े वेगसे प्रभावित करना आरम्भ कर दिया। विनौले निकालने-की ओटनी, सीनेकी मशीन, आटेकी चक्की, छापेकी कल, टपलेखक, गैसकी वत्ती, अगिनबोट, रेलगाड़ी, तार, टेलीफोन, बेतारका तार और न जाने कितनी वस्तुएँ मनुष्यके व्यवहार और सुखके लिए बनती चली गईं। किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि जहाँ एक ओर विज्ञानके द्वारा मनुष्यको सुख और सुविधा देनेका प्रयास हो रहा था वहीं दूसरी ओर संसारके सत्तालोलुप अधिनायकों और साम्राज्य-वादियोंकी राज्य-लिप्साको संतुष्ट और प्रवर्धित करनेके लिये वैज्ञा-निकोंने अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र और विस्फोटक पदार्थ भी बनाए जिनका भयानक रूप आजका परमाणु बम और हाइड्रोजन बम है। इस विज्ञानके ही प्रभावसे हमारे वेगमें भी इतनी उन्नति हुई कि आज रौकेट विमानके द्वारा २५०० मील प्रति घंटेकी गतिसे उड़कर साढ़े तीन दिनमें चन्द्रमातक और सात दिनमें मंगलतक पहुँच जानेकी योजना भी बनाई जा रही है।

अठारहवीं शताब्दीमें विज्ञानका विकास। व्यक्तिगत रूपसे वैज्ञा-निक प्रयोग जिन्होंने धीरे धीरे मनुष्य-जीवन को प्रभावित करना आरम्भ किया।

विज्ञानका वर्धमान प्रभाव

हरबार्टने शिक्षामें जिस प्रकारके परिवर्तन सुझाए थे उनमें विशेष रूप-से पाठन-विधिको मनोवैज्ञानिक बनानेकी भावना ही अधिक थी। उसने यही

पाठ्य-विषयोंको परिवर्तित करने और उनमें वैज्ञानिक विषय प्रविष्ट करनेके लिये आग्रह ।

प्रयत्न किया कि जो विषय साधारणतः विद्यालयोंमें पढ़ाए जा रहे हैं, वे किस प्रकार अत्यन्त सरलता और सुगमताके साथ विद्यार्थी आत्मसात् कर सकें । किन्तु अठारहवीं शताब्दिके अन्तमें और उन्नीसवीं शताब्दि-में जिस वेगसे विज्ञानने अपने पैर बढ़ाए उसी वेगसे साधारण जनताके मनमें भी यह भावना उत्पन्न होने लगी कि पाठ्य विषयोंमें भी ऐसे नए विषय जोड़े जायँ जिनसे बालकमें स्वयं शोध करने, तथ्य खोजने, उसका निरूपण करने और उसकी प्रतिष्ठा करनेकी शक्ति प्राप्त हो । उन्नीसवीं शताब्दिके प्रारम्भमें इस सम्बन्धमें लोकमत इतना प्रबल हो चला कि अनेक शिक्षा-शास्त्रियोंने बल देकर इस बातकी घोषणा की कि जहाँ पाठन-विधिको मनोवैज्ञानिक बनाना आवश्यक है, वहाँ पाठन-विषयोंमें भी परिवर्तन और अभिवर्धन अनिवार्यतः अपेक्षित है। इतिहास जाननेवाले भली प्रकार समझते हैं कि जिस उन्नीसवीं शताब्दिके मध्यमें विज्ञानके आश्रयसे चारों ओर भयंकर व्यावसायिक और औद्योगिक क्रान्ति हुई हो उसमें लोग भाषा, इतिहास, गणित आदि गिनेचुने परम्परागत विषयोंकी निरर्थक परिधि-में घुटकर अपना जीवन निरर्थक करनेके पक्षमें नहीं हो सकते थे । डारविनने बाइबिलकी समस्त भावनाओंको एक साथ चुनौती देते हुए यह घोषणा कर दी कि मनुष्य एक कोषवाले प्राणियोंसे बढ़ते-बढ़ते बन्दरकी अवस्थासे उभरकर मनुष्य बन पाया । इस विकास-सिद्धान्तने जहाँ पुरातन-पन्थी पोपोंको क्षुब्ध और उद्विग्न किया वहाँ नए प्रकारके विचारकों और उदार जिज्ञासुओंको उसकी ओर प्रवृत्त होनेके लिये उत्कंठित भी किया । मैण्डेलने कुल-संस्कारके नियम (लौ औफ़ इनहैरिटेन्स)की स्थापना करके यह सिद्ध कर दिया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राचीन पूर्वजोंके दैहिक, बौद्धिक और मानसिक संस्कार लेकर जन्म लेता है और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अनेक प्रकारके वैज्ञानिकोंने मानव-जीवनके व्यावहारिक क्षेत्रमें भाप, तेल, बिजली, आदिकी शक्तिको संघटित करके ऐसे यंत्र और साधन उत्पन्न कर दिए थे कि आध्यात्मिक जगत्में उलझा हुआ लोक, विज्ञानके प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर भौतिक जगत्में उतरने लगा, और यहाँ तक उतर आया कि थोथे अध्यात्मवादमें उसकी घोर अनास्था हो गई और शिक्षाका क्षेत्र भी इस प्रभावसे अछूता न रह पाया ।

जौर्ज कौम्बे और व्यावहारिक शिक्षाका आन्दोलन

इन सम्पूर्ण आन्दोलनों, आविष्कारों और शोधोंका परिणाम यह हुआ कि लोगोंने लातिन और यूनानी भाषाके व्याकरण रटवाने तथा गणितके नीरस

गुरोंमें बालकोंकी बुद्धि व्यर्थ उलझानेके बदले शिक्षाको अधिक अर्थकर और व्यावहारिक बनानेका आन्दोलन प्रारम्भ किया। इसका एक दूसरा कारण यह भी था कि समाजमें इतनी अधिक आर्थिक विषमता आ गई थी कि साधारण परिवार बिना किसी प्रकारका व्यवसाय ग्रहण किए अपना योगक्षेम नहीं चला सकता था। उधर विद्यालयोंमें जो शिक्षा दी जा रही थी वह वह इतनी अव्यावहारिक और एकांगी थी कि जीवनसे उसका किसी प्रकारका सम्पर्क नहीं था इसलिये उसकी ओरसे विरक्त होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर वैज्ञानिक शोधोंने जीवनके व्यावहारिक पक्षको समुन्नत और सम्पन्न करनेके लिये इतने साधन एक साथ संगृहीत कर डाले कि उसकी ओर जन-मानस सहसा अनुरक्त हो गया और उन्हें यह समझनेमें तनिक भी विलंब नहीं हुआ कि पाठ्यक्रमको बिना बदले समाज और राष्ट्रका कल्याण असम्भव है, फलतः जौर्ज कौम्बे (१७८८–१८५८)ने यह आन्दोलन ही प्रारम्भ कर दिया कि विद्यालयोंके पाठ्यविषयोंमें अन्य विषयोंके साथ-साथ विज्ञान भी सिखाया जाय। यद्यपि अठारहवीं शताब्दिमें वैज्ञानिक प्रयोग व्यक्तिगत प्रयासों-द्वारा ही हो रहे थे किन्तु उन्नीसवीं शताब्दिमें आकर इन सब वैज्ञानिक प्रयोगोंके सिद्धान्त पूर्ण रूपसे व्यवस्थित और तर्कसिद्ध कर दिए जाते थे औ इससे बहुत पहले बेकनने जो परिणाम-प्रणाली (इन्डक्टिव मैथड) निकाली थी उसका उपयोग भी वैज्ञानिक विवेचनाकी सिद्धिमें किया जाने लगा था किन्तु फिर भी विद्यालय चलानेवाले लोग अपनी परंपरागत सुस्थिर परिपाटीमें किसी प्रकारका परिवर्तन करनेके लिये सहमत नहीं हुए। उसका सीधा परिणाम यह हुआ कि सभी विद्यालय-संचालकोंने सामूहिक रूपसे जौर्ज कौम्बेके आन्दोलनका विरोध प्रारम्भ कर दिया।

शिक्षाको व्यावहारिक और अर्थकरी बनानेका आन्दोलन जौर्ज कौम्बेके नेतृत्वमें किन्तु तत्कालीन विद्यालयों-द्वारा विरोध।

विज्ञानवादियोंका उद्देश्य

प्रचलित विद्यालयोंके पाठ्य-विषयोंमें विज्ञानका प्रवेश करनेका अर्थ लोगोंने यह समझ लिया कि भाषा, व्याकरण साहित्य और गणित आदि विषयोंको निकालकर विज्ञानकी शिक्षा दी जायगी अथवा विज्ञान ही एकमात्र प्रधान विषय रह जायगा, अन्य सब विषय गौण हो जायँगे। इसलिये जब बार-बार इन विज्ञानवादियोंके सम्मुख लोगोंकी आशंकाएँ और उनके भय उपस्थित किए जाने लगे तब उन लोगोंने स्वभावतः उनका उत्तर देना अपना धर्म समझा

विज्ञानवादी प्राचीन विषयोंको "— भाषा, व्याकरण, गणितको— हटाना नहीं चाहते थे। वे नये व्यावहारिक

विषय जोड़ना चाहते थे।

और इसीलिये विज्ञानवादियोंमेंसे प्रमुख व्यक्तियोंने इन सभी आशंकाओं और भ्रमोंका निराकरण करते हुए अपनी नीति अत्यन्त स्पष्ट कर दी। विज्ञानवादियोंने स्पष्ट रूपसे बताया कि नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विषयोंके परि-ज्ञान तथा व्यवहारके लिये भाषा, साहित्य, व्याकरण और गणितकी आवश्यकता है। किन्तु आर्थिक विषमताके युगमें अपना और अपने परिवारका सुखसे जीवन-यापन करानेके लिये जिस प्रकारका व्यावहारिक ज्ञान अपेक्षित है वह इन उपर्युक्त विषयोंसे सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिये आवश्यकता है कि मनुष्यकी मानसिक और शारीरिक शक्तियोंका विकास करके उन्हें इस प्रकार संघटित करा दिया जाय कि उनके सहारे मनुष्य अपने जीवनकी अनेक जटिलताओंको पार करता हुआ विभिन्न प्रकारके कर्तव्योंका निर्वाह कर सके और उन कर्तव्योंके निर्वाहसे सफलतापूर्वक अपनी जीविका चला सके। इसके अतिरिक्त उन्नीसवीं शताब्दि-तक जर्मन, फ्रान्सीसी, स्पेनी और अँग्रेजी भाषाएँ इतनी सम्पन्न हो चुकी थीं कि अब उन्हें छोड़कर लातिन और यूनानीमें माथा खपाना अधिक उपयोगी नहीं रह गया था इसलिये जिन विषयोंको लोग उदार शिक्षा (लिबरल एजुकेशन) का आधार मानते थे, उन्हें बदलना सभी दृष्टियोंसे आवश्यक हो गया। फलतः प्रत्येक विषयकी उपयोगिता इस बातसे आँकी जाने लगी कि वह जीवनके लिये कितना उपयोगी और अनिवार्य है। उदार शिक्षा की परिभाषा-ही यह बना ली गई कि वही शिक्षा उदार समझी जायगी जो किसी व्यक्तिको नागरिकके पूरे कर्तव्योंका ज्ञान करा सके। पूरे कर्तव्योंका तात्पर्य यह था कि मनुष्य अपने परिवार, समाज, तथा राष्ट्रका भली प्रकार योग्यताके साथ समाराधन कर सके अर्थात् वह अपनी व्यक्तिगत रुचि प्रवृत्ति, आकांक्षा और इच्छाकी तृप्ति करता हुआ अपने परिवार, समाज और राष्ट्रके लिये हितकर सिद्ध हो सके। इस उद्देश्योंकी पूर्तिमें विज्ञानका त्याग करना सम्भव नहीं था इसलिये विज्ञान भी इस उदार शिक्षामें सन्निविष्ट कर लिया गया और साधारण भौतिक विज्ञानके साथ-साथ समाज, राज-नीति तथा अर्थ-शास्त्रका भी वैज्ञानिक दृष्टिसे अध्ययन और विवेचन होने लगा। वैज्ञानिक और व्यावसायिक विषयोंका गठबन्धन तो हो ही चुका था, अन्य सार्वदैशिक या उदार विषयोंका भी उसके साथ मेल हो गया। अतः व्यापक रूपसे शिक्षाका यह तत्त्व स्वीकार कर लिया गया कि जो छात्र इस प्रकारकी नई व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करें उन्हें अन्य विषयोंका भी ज्ञान अनिवार्य रूपसे करा दिया जाय अन्यथा उनकी बुद्धि और उनके मन अनुदार रह जाएँगे। इस प्रकारके विचारोंको निश्चित तथा व्यवस्थित रूपसे प्रचार

करनेवाले व्यक्तियोंमें हरबर्ट स्पेन्सर और हक्सले प्रमुख समझे जाते हैं।

हरबर्ट स्पेन्सर (१८२०–१९०३)

हरबर्ट स्पेन्सरका जन्म डरबी नगरके अत्यन्त कुलीन, साहित्यिक और शिक्षित परिवारमें हुआ था। उसके पिता एक विद्यालयमें अध्यापक थे और आसपास दूर-दूरतक रसायन-शास्त्र तथा भौतिक विज्ञानके अच्छे पंडित माने जाते थे। उनका विश्वास था कि बालक स्वयं अपनी रुचि और शक्तिको संवर्धित करके अपनी शिक्षा अपने आप पूर्ण कर सकता है इसलिये उन्होंने अपने पुत्र हरबर्ट स्पेन्सरके लिये घरपर ही शिक्षाके सब साधन एकत्र कर दिए और स्वयं बड़े मनोयोग-से उसकी शिक्षा-दीक्षामें सहायता दी। इसका परिणाम यह हुआ कि बचपनसे ही उसे साहित्य तथा विज्ञानका जो समन्वित संस्कार प्राप्त हुआ उसने स्पेन्सरके मनमें सब प्रकारकी विद्या प्राप्त करनेकी लालसा उद्दीप्त कर दी। दिनरात पढ़ने-लिखने और वैज्ञानिक प्रयोग करनेके वातावरणमें पलते हुए सत्रह वर्षकी छोटी अवस्थामें ही उसने अनेक विद्याओं और विषयोंका बहुमुखी ज्ञान संचित कर लिया। साहित्य और विज्ञानके अध्ययनसे उसमें व्यवस्थित चिन्तन और संयत विश्लेषणकी भावना विशेष रूपसे पुष्ट हो गई थी इसलिये प्रारम्भसे ही उसने बड़ी सफलतासे प्रकृति-विज्ञान तथा गणित जैसे विषयोंमें प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। मनन और चिन्तनके साथ प्रयोग करते-करते उसके विचार इतने परिपक्क और निश्चित हो चुके थे कि लगभग बाईस वर्षकी अवस्थासे ही वह "दि नौनकन्फ़रमिस्ट" नामक पत्रिकामें धारावाहित रूपसे सामाजिक और आर्थिक विषयोंपर लेख लिखने लगा और सन् १८४८ में अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें "दि इकौनोमिस्ट" पत्रका सहायक सम्पादक बना दिया गया। निरन्तर अध्ययन और अभ्याससे अगले दस वर्षोंमें उसकी लेखनी इतनी मँज गई कि सहायक सम्पादकत्व-का कार्य छोड़कर वह स्वयं स्वतन्त्र पत्रकार और लेखक बन गया। सन् १८५० में उसकी 'सामाजिक स्थैर्य' (सोशल स्टैटिक्स) नामकी पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें उसने विस्तारसे यह समझानेकी चेष्टा की कि प्राकृतिक धर्मोंका पालन करते हुए किस प्रकार समाजकी उन्नति और अभिवृद्धि की जा सकती है। इसके अतिरिक्त उसने जन्तु-विज्ञान, चित्त-विज्ञान, व्यवहार-

डरबीके शिक्षित परिवारमें स्पेन्सरका जन्म। विज्ञान और गणितके अध्ययनसे व्यवस्थित बुद्धि। शीघ्र ही अच्छा लेखक होकर कई पत्रोंका सम्पादक हुआ। उसने अनेक विषयोंपर अनेक ग्रंथ लिखे और शिक्षाके सम्बन्धमें 'एजुकेशन' नामक ग्रन्थ लिखा।

नीति, राजनीति, और समाज-विज्ञानकी गंभीर व्याख्यात्मक विवेचना करके इनमेंसे प्रत्येक शास्त्रपर एक-एक ग्रन्थ लिखा और इस प्रकार वह जीवन भर अत्यन्त संयत, सुस्थिर तथा व्यवस्थित रूपसे अपने विचारोंको संगत तथा सक्रम रूपसे ग्रन्थबद्ध करता रहा। सन् १८६१ में उसने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारोंको भली प्रकार क्रमबद्ध करके और उनका विश्लेषण करके अपना 'एजूकेशन' नामक ग्रन्थ लोकके समक्ष उपस्थित किया जिसमें पहली बार वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक ढंगसे बालककी शिक्षाके सब पक्षोंका विस्तारसे विवेचन किया गया।

स्पेन्सर और शिक्षाके उद्देश्य

स्पेन्सरके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य यह था कि बालकको ऐसी शिक्षा दे कि वह स्वयं अपनेको शिक्षित करता चल सके और जीवनको पूर्ण सफल बना सके। यह सफलता विज्ञानके अध्ययनके द्वारा ही संभव है।

यद्यपि स्पेन्सरने शारीरिक अस्वस्थताके कारण किसी विश्वविद्यालयकी शिक्षा प्राप्त नहीं की किन्तु घर बैठकर उसने प्रकृति-विज्ञान और गणितके अभ्याससे अनेक ऐसे आविष्कार किए जो संभवतः वह विश्वविद्यालयमें न कर पाता। उसने फ्रोबेलकी भाँति शिक्षाशास्त्रका भी कोई अभ्यास नहीं किया था किन्तु अपने व्यापक अनुभव, देशकालकी परिस्थिति, तथा तत्कालीन शिक्षा-योजनाको देख और समझकर उसने एक नए ढंगसे शिक्षाके उद्देश्यकी समस्याका समाधान करते हुए कहा कि शिक्षाका उद्देश्य है—'पूर्ण रूपसे जीनेके लिये तैयार करना।' उसका विश्वास था कि इस उद्देश्यकी पूर्ति तभी हो सकती है जब हम बालकोंको साहित्य पढ़ानेके बदले विज्ञान पढ़ाना प्रारम्भ करें क्योंकि पाठ्यक्रममें ऐसी सामग्री होनी चाहिए जो बालकके आचरणको समुन्नत करे और उसका जीवन अत्यन्त सुखी, उदात्त और प्रभावशाली बना सके। इसके लिये विज्ञान ही एक ऐसा साधन और ज्ञान है जो हमारे जीवनके लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। स्पेन्सर पुरानी चली आई हुई परिपाटियोंका अंधानुकरण करना राष्ट्र और समाजके लिये श्रेयस्कर नहीं समझता था। वह चाहता था कि बालकको कुछ परिमित विषयोंकी कूपमंडूकतासे निकालकर उनकी रुचियोंका इतना अधिक विकास कर दें कि वे स्वयं अपने जीवनका उद्देश्य ऊँचा स्थिर कर सकें और अपनी महत्वाकांक्षाका पोषण कर सकें। इसीलिये उसने कहा था, "बालकको केवल शिक्षा ही नहीं देनी है, उसे इतना समर्थ बनाना है कि वह स्वयं अपनेको

शिक्षित करता चल सके। इस उद्देश्यको नियमित रूपसे व्यावहारिक बनानेके लिये उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मनुष्यकी सम्पूर्ण शक्तियाँ और समर्थताएँ एक विशेष क्रमसे विकसित और समुन्नत होती हैं, इसलिये उनकी समुन्नति और उनका विकास करनेके लिये एक सक्रम योजना अपेक्षित है। स्पेन्सरसे पहले रूसो तक जितने भी शिक्षा-विचारक या शिक्षाशास्त्री हुए, सभीने स्वकालीन पाठ्य-पुस्तकोंकी नीरसता और अव्यवहारिकताकी जी खोल कर निंदा की थी। स्पेन्सरने भी इस पक्षको अछूता नहीं छोड़ा और जी भरकर अपने समयके पाठ्य विषयोंको बहुत कुछ बुरा-भला कहा क्योंकि जीवन और उसकी व्यावहारिकतासे उन विषयोंका कोई संबंध नहीं था। यही कारण था कि विद्यालयोंकी पूरी शिक्षा प्राप्त कर लेनेपर भी जब छात्र जीवनमें प्रविष्ट होने लगते थे तब उन्हें एक नया अपरिचित-सा संसार दिखाई देने लगता था। इसीलिये उसने यह घोषणा की कि शिक्षाका उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह बालकमें इतना सामर्थ्य उत्पन्न कर दे कि वह अपना जीवन पूर्णतः सफल बना सके। इस पूर्णतः सफल जीवनके लिये बालकको यह जानना चाहिए कि किस प्रकार अपने शरीर और अपनी बुद्धिका विकास करके वह अपने जीवनके सब कार्य किस ढंगसे सुन्दर बनाए, कैसे अपने कुटुम्बका भरण-पोषण करे, कैसे भले नागरिकके समान आचरण करे, प्रकृतिने हमारे चारों ओर जो समृद्धि बिखेर दी है उसका किस प्रकार ठीक-ठीक उपयोग करे और किस प्रकार अपनी और समाजकी उन्नतिमें अपनी सारी शक्ति लगावे। यह तभी संभव है जब हम विज्ञानका अध्ययन करें, क्योंकि विज्ञान ही एक मात्र ऐसा साधन है जो हमें इस कार्यमें सहायता दे सकता है। स्पेन्सरका विश्वास है कि केवल पाँच प्रकारके कार्य ही मनुष्य करता है और उन पाँचों प्रकारके कार्योंमें केवल विज्ञान ही उसका सहायक हो सकता है। स्पेन्सरके अनुसार वे पाँच कार्य ये हैं—

१—वे कार्य, जिनके द्वारा मनुष्य स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रूपसे अपने प्राणोंकी रक्षा करता या कर सकता है।

२—वे कार्य, जो अनजानमें या अप्रत्यक्ष रूपसे मनुष्यकी रक्षामें सहायता देते हैं।

३—वे कार्य, जिनके द्वारा मनुष्य अपनी संतानको पालता-पोसता और शिक्षा देता है।

४—वे कार्य, जिनके द्वारा मनुष्य अपने समाज और राष्ट्रकी उचित व्यवस्था करता है।

५—वे कार्य, जिनसे मनुष्यका मनोरंजन होता है।

स्पेन्सरके शिक्षा-सिद्धान्त—१. प्राण-रक्षाके लिये विज्ञानका अध्ययन

हम ऊपर कह आए हैं कि स्पेन्सरने मानव-जीवनको शुद्ध, स्वस्थ, संयत, व्यवस्थित और सुन्दर बनानेके लिये विज्ञानका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक बताया है। उसका विश्वास है कि "अपनी रक्षाके लिये मनुष्यको जितनी सामग्री चाहिए वह सब उसके लिये प्रकृति अपने आप जुटाती रहती है। वह यह प्रतीक्षा नहीं करती कि हम कुछ काम मनुष्यके लिये छोड़ दें तो वह उसको पूरा करे। इसके साथ-साथ प्रकृति यह भी चाहती है कि मनुष्यकी जो स्वाभाविक गति है उसमें वह किसी प्रकारका अड़ंगा न डाले, उसे कृत्रिम बनानेका उद्योग न करे, वरन् जहाँतक संभव हो वह प्रकृतिके कार्यमें अपनी शक्ति-भर सहायक बना रहे।" अपने इस सिद्धान्तको सुचारु रूपसे शिक्षाके क्षेत्रमें प्रयुक्त करनेके लिये स्पेन्सरने शरीर-विज्ञान (फ़िज़ियोलौजी) पढ़नेकी सम्मति दी। उसका कथन है कि शरीर-विज्ञानके अध्ययनसे मनुष्य यह समझने लगता है कि शरीरके लिये किस प्रकारका आचार-व्यवहार, भोजन और विहार आवश्यक है और उसमें किन-किन कारणोंसे रोग या दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इन विषयोंका परिचय प्राप्त कर लेनेपर मनुष्य निश्चित रूपसे अपना शरीर स्वस्थ रखनेका स्वयं उपाय करने लगेगा। इसलिये यह आवश्यक है कि बालकोंको शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञानकी समुचित शिक्षा दी जाय। स्पेन्सरका यह कथन इस दृष्टिसे मान्य हो सकता है कि शरीरसे मनुष्यकी सबसे पहली आत्मीयता बन जाती है और इसीलिये मनुष्यको स्वयं शरीरके प्रति प्रेम होता है। आत्मरक्षाकी भावनाको सिद्ध करनेके लिये किसी शिक्षाकी आवश्यकता नहीं होती। वह तो मनुष्यकी स्वतः प्रकृति और स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और केवल मनुष्यमें ही नहीं, अन्य जीवोंमें भी यह प्रवृत्ति नैसर्गिक ही होती है। घातक, हानिकारक तथा अन्य कष्टकारक वस्तुओं, जीवों और परिस्थितियोंसे सावधान रहने, भड़कने, भयभीत होने और दूर रहनेकी भावना प्रत्येक जीवमें सामान्य रूपसे व्याप्त है। साधारणतः मनुष्योंको जो रोग हो जाते हैं वे उसकी असावधानी या अज्ञानतासे नहीं होते, वे प्रायः उसकी विवशतासे होते हैं। सहसा तापमान कम या अधिक होनेसे शरीर ज्वरग्रस्त हो जाता है। आकस्मिक रूपसे भीग जाने या सर्दी खा जानेसे भी मनुष्य रोगी हो जाता है। इसी प्रकार निर्वस्त्र और बुभुक्षित प्राणी भी जलवायुके विषम प्रभावसे रोगाक्रान्त हो सकता है। हाँ, शरीर-विज्ञानके अध्ययनसे वह इतना अवश्य जान सकता है कि किस ऋतुमें किस प्रकारकी ऋतुचर्यासे शरीर स्वस्थ रह सकता है, किन्तु उस ऋतुचर्याके लिये साधन-संपन्न होना तो उसकी शक्ति, समर्थता, योग्यता और परिस्थितिपर अवलंबित है। आज भी हमारे सभी

विद्यालयोंमें स्वास्थ्य-रक्षा विषय अनिवार्य रूपसे पढ़ाया जाता है किन्तु बालकोंका स्वास्थ्य जितना दयनीय आज है उतना पहले कभी नहीं था क्योंकि बालक यह तो जानता है कि—'आयुर्वै घृतम्' अर्थात् घी ही आयु है, वह यह भी जानता है कि मनुष्यका सर्वोत्तम भोजन दूध है, किन्तु न आज शुद्ध घी ही मिल रहा है न दूध ही, ऐसी स्थितिमें शरीर-विज्ञान और स्वास्थ्य-विज्ञान उसकी क्या सहायता कर सकते हैं। अतः स्पेन्सरका यह मत अत्यन्त भ्रामक है कि मनुष्यको अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये शरीर-विज्ञान पढ़ना चाहिए। उल्टे यही संभव है कि वह पग-पगपर शंकित और भीत होकर काम करने लगे, उसकी स्वाभाविक स्फूर्त्ति समाप्त हो जाय।

२. जीविका चलानेके लिये विज्ञानका योग

मनुष्यके दूसरे कार्य अर्थात् अप्रत्यक्ष ढंगसे या कोई वृत्ति धारण करके अथवा व्यवसायके द्वारा अपनी जीविका चलानेके सम्बन्धमें स्पेन्सरका मत है कि मनुष्य अपना और अपने परिवारका पेट पालनेके लिये जितने प्रकारके कार्य करता है और करेगा उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जिसमें विज्ञानसे सहायता न ली जाती हो। अन्न उगाने, भोजन बनाने, मछली मारने, गाड़ी या नावके सहारे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर आने-जानेके लिये, खेतीके लिये उचित समयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, दिशा जाननेके लिये, वस्त्र बनानेके लिये, भवन-निर्माण करनेके लिये अर्थात् मानव-जीवनके अत्यन्त आवश्यक कार्य पूर्ण करनेके लिये जो जीविकाएँ लोग ग्रहण करते हैं उनमें भी विज्ञानकी आवश्यकता पड़ती है, किन्तु हमें विज्ञान शब्दका प्रयोग उस विशेष अर्थमें करना चाहिये जिनमें आजकल हो रहा है अर्थात् विज्ञानका वह सैद्धान्तिक पक्ष, जिसके द्वारा जड़ अथवा चेतन प्रकृतिके सब अंगोंके मूल तत्त्व, उनके स्वरूप, उनके अंग-प्रत्यंग और उनके प्रभाव ठीक-ठीक जाने जाते हैं। मनुष्यके जीवनकी उपयोगिताका इस प्रकारके विज्ञानसे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। एक व्यक्ति मोटर-गाड़ी चला सकता है, भले ही वह यह न जानता हो कि किस प्रकार पेट्रोल, गैसके रूपमें परिणत होता है और उस गैसकी शक्तिसे ही मोटर-गाड़ीका अंजन उसके पहिएमें वेग भरता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आवश्यकताके अनुसार मनुष्य अपनी बुद्धिसे और अनुभवसे अपने जीवनके लिये उपयोगी साधन एकत्र करता है। उसमें मनुष्यकी बुद्धि और उसकी आवश्यकता ही प्रधान रही है कि उत्पादित वस्तुकी उपयोगिताके कारण ही मनुष्य उसे अपने काममें लाता रहा। इसके पश्चात् उन सब उत्पादित वस्तुओं-के सम्बन्धमें क्यों, कैसे, कब, कहाँ इत्यादि जो जिज्ञासाएँ हुईं उनका उत्तर मनुष्य सोचने लगा। इस चिन्तनके परिणाम-स्वरूप हमारा ज्ञान दो भागोंमें

बँट गया—एक दर्शन, दूसरा विज्ञान। जिस चिन्तनका परिणाम अनिश्चित और कल्पनात्मक रहा वह तो दर्शन बन गया और जिस चिन्तनका परिणाम प्रयोग और अनुभूतिके द्वारा प्रत्यक्ष और निश्चित होता गया वह विज्ञान बन गया। स्पेन्सरने इस विषयमें अत्यन्त भ्रामक रीतिसे मनुष्यके स्वाभाविक जीवनोपयोगी प्रयासोंको भी विज्ञान ही समझ लिया इसीलिये उसने कहा—"बालक विज्ञानका अध्ययन करें क्योंकि विज्ञानके बिना हमारा जीवन व्यर्थ है। विज्ञान ही हमें जीवनके योग्य बनाता है।" यदि हम स्पेन्सरकी ही बात मान लें तब भी यह निश्चित है कि कोई भी बालक अपने संपूर्ण जीवनमें अपने जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त विषयोंके विज्ञानको न सीख सकता है न उसे कोई सिखा ही सकता है। अतः स्पेन्सरका यह मत उचित नहीं जान पड़ता कि हम बालकको समस्त विज्ञान पढ़ा ही दें। किन्तु एक बात अवश्य है कि बालकमें वैज्ञानिक संप्रेक्षण (साइन्टिफिक औब्ज़र्वेशन) की वृत्ति अवश्य उत्पन्न करनी चाहिए जिससे वह अपने अनुभवमें आ पड़नेवाले प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक जीव और प्रत्येक परिस्थितिके सम्बन्धमें यह जाननेकी जिज्ञासा संवर्धित करता रहे कि यह क्या है, कहाँ से उत्पन्न हुआ है, कैसे उत्पन्न हुआ है, इसका क्या प्रयोजन है, दूसरोंसे इसका क्या सम्बन्ध है, इसका क्या कार्य है, इन कार्योंके क्या परिणाम हैं। इत्यादि, क्योंकि जबतक यह जिज्ञासा-वृत्ति उत्पन्न नहीं होती तबतक ज्ञानकी पिपासा-वृत्ति भी स्थिर और संयत नहीं हो पाती, मनुष्य केवल पुस्तकमें दी हुई सूचनाको ही ज्ञानकी इति समझनेकी भूल कर बैठता है।

३. सन्तान-पालनार्थ विज्ञानका अध्ययन

मनुष्यके तीसरे कार्य अर्थात् सन्तानके पालन-पोषण और शिक्षणके सम्बन्धमें भी स्पेन्सरका मत है और बड़ा विचित्र मत है कि बालकोंको विद्यालयमें ही इन सब कार्योंकी शिक्षा दे देनी चाहिए। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि स्पेन्सरके समान ज्ञानी व्यक्तिको यह बात नहीं सूझी कि जिन्हें स्वयं पालन-पोषणकी आवश्यकता है और जिन्हें स्वयं शिक्षा दी जा रही हो वे पालन-पोषण और शिक्षाकी बात समझ कैसे सकते हैं। पालन-पोषणका कार्य माता-पिताके लिये अत्यन्त जटिल और समस्यापूर्ण होता है जिसके लिये बालकोंके मन और उनकी रुचियोंका अध्ययन अधिक अपेक्षित रहता है। जिनके मन और रुचियोंका अध्ययन करना स्वयं अभीष्ट है, उनको उन्हींकी शिक्षा देना कहाँतक अभीष्ट होगा, यह प्रत्येक विवेकशील पुरुष समझ सकता है। इसके बदले स्पेन्सरको सीधे-सीधे यह कहना चाहिए था कि बालकको नियमित अभ्यास, सदाचार और शिष्टाचारकी शिक्षा देकर इतना संयत कर देना चाहिए कि वह

भविष्यमें मंगलमय जीवन-यापन कर सके और उसी अभ्याससे सिद्ध होकर जब बड़ा हो तो उसी प्रकार अपनी संतानका पालन-पोषण कर सके।

४. नागरिकताके लिये विज्ञानका अध्ययन

मनुष्यका चौथा कार्य स्पेन्सरके अनुसार यह होना चाहिए कि वह समाज और राष्ट्रके नियमोंकी व्यवस्था समझता हुआ योग्य नागरिक बन सके। इसके लिये उसने इतिहास पढ़ानेकी सम्मति दी है और कहा है—"इतिहासके जो ग्रन्थ पढ़ाए जा रहे हैं वे सब अत्यन्त अनुपयुक्त हैं। उनमें राजनीतिक गतिका ठीक-ठीक विश्लेषण नहीं रहता। इसका परिणाम यह होता है कि हम इतिहासको केवल मनोरंजनके लिये पढ़ते हैं, उससे आचार-विचारके सार्वभौम सिद्धान्त निकालकर शिक्षा नहीं देते। इतिहासको पढ़कर मनुष्य अपने लिये योग्य प्रतिनिधि चुननेकी योग्यता प्राप्त कर सकता है। इसलिये मनुष्यको विज्ञानके अनुरूप ही इतिहासका अध्ययन करना चाहिए।"

इतिहासकी आवश्यकता

इतिहासका ज्ञान नागरिकताके लिये आवश्यक बताकर स्पेन्सरने विस्तारके साथ समझाया है कि इतिहासकी पुस्तकें कैसे लिखी जानी चाहिएँ, किस क्रम और शैलीसे किन-किन घटनाओंका वर्णन करना चाहिए।

मानव-जीवनको संपन्न और उदात्त बनानेके लिये इतिहास आवश्यक

वास्तवमें मानव-जीवनको संपन्न और उदात्त बनानेके लिये इतिहासका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि मनुष्य उसीके विचारों और कार्योंसे प्रभावित होता है जिसमें उसकी श्रद्धा और निष्ठा हो। यह श्रद्धा और निष्ठा अपनेसे योग्य, समर्थ, पराक्रमी अथवा चतुर व्यक्तिमें होती है। इतिहासमें सहसा उसे एक साथ श्रद्धाके सब आलम्बन एकत्र मिल जाते हैं जिससे उसे अपना संस्कार ठीक करने और आदर्श ढूँढनेमें बड़ी सुगमता होती है। इसलिये इसमें कोई संदेह नहीं कि इतिहास मनुष्यके लिये अत्यन्त उपयोगी तथा अनिवार्य विषय है किन्तु विज्ञानके साथ उसके गठबन्धनकी बात बहुत युक्तियुक्त और संगत नहीं जान पड़ती।

अवकाशका उपयोग

ऊपर हमने स्पेन्सरके संबन्धमें जो वर्णन दिया है उससे यह समझनेमें कठिनाई न होगी कि स्पेन्सर घोर विज्ञानवादी था और इस सम्बन्धमें वह अत्यंत उदार भी था।

अवकाशमें चित्र, संगीत, मूर्तिकला तथा

यदि ऐसा न होता तो छुट्टीके समय भी मनुष्यको शिक्षा देनेकी बात वह न सोचता। उसने बताया है कि बालकको अपने

प्रकृति-दर्शनके लिये प्रेरणा की जाय।

अवकाशके समयका सदुपयोग करनेके लिये चित्रकला, संगीत-कला, मूर्त्ति-कला, कविता तथा प्रकृति-दर्शनके द्वारा शिक्षित करनेको प्रवृत्त करना चाहिए, किन्तु साथ ही स्पेन्सर यह भी मानता है कि साहित्य और ये कलाएँ विज्ञानकी अपेक्षा अत्यन्त कम महत्त्वकी हैं। इससे जान पड़ता है कि स्पेन्सरके हृदय और मस्तिष्कको विज्ञानने इतना पराभूत कर लिया था कि कलाओंको भी वह विज्ञानका आश्रित मानता था और समझता था कि जबतक विज्ञानका भलीभाँति अध्ययन नहीं कर लिया जाता तबतक इन कलाओंका रस भी नहीं लिया जा सकता। स्पेन्सरका विचार है कि मूर्तिकलामें भी जबतक कलाकारको मनुष्यके अवयवोंका ठीक अनुपात और उनकी आकृतिका ज्ञान नहीं हो जाता तबतक मूर्तिमें जीवन-तत्त्व प्रविष्ट नहीं हो सकता क्योंकि जबतक कलाकार अपनी बनाई हुई मूर्तिमें उसके विभिन्न आङ्गिक अनुपातोंके साथ-साथ उसमें भावकी सृष्टि नहीं करता तबतक उस मूर्तिमें और उस मूर्तिकी मूल सामग्री—पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, या धातु—सब निरर्थक ही हैं। इसी प्रकार स्पेन्सरका कविताके संबंधमें भी मत है कि जबतक कवि अपने आलंबन अर्थात् काव्यमें वर्ण्य पात्रोंके सम्पूर्ण मनोगत भावों और उनसे प्रेरित चेष्टाओंका ठीक-ठीक परिचय नहीं प्राप्त कर लेता तबतक कविता रसमयी नहीं हो सकती। उसी झोंकमें उसने यह भी कह दिया है कि विज्ञानको काव्यका मूल ही नहीं स्वतः काव्य समझना चाहिए। इन सम्पूर्ण उक्तियों और युक्तियोंसे यह समझनेमें तनिक भी भ्रान्ति नहीं होगी कि विज्ञानका भूत स्पेन्सरके सिरपर इस प्रबलताके साथ चढ़ा हुआ था कि वह विज्ञानसे विच्छिन्न किसी अस्तित्वकी कल्पना ही नहीं कर पा रहा था। साधारण मनुष्य भी यह जानता है कि हमारी आँखोंके सामने जो रूप उपस्थित होते हैं उनके आकारका प्रतिरूप उन्हींके सहारे भली प्रकार बनाया जा सकता है, केवल दृष्टिकी सूक्ष्मता और रेखा बनानेका कौशलमात्र उसके लिये अपेक्षित है। यह निर्विवाद बात है कि जिन प्राचीन पुरुषोंने अल्टामीराकी गुफामें लगभग ३५ सहस्र वर्ष पूर्व बहुतसे जीवोंके चित्र बनाए हैं, उन्होंने मनुष्यके अंगोंका न तो सानुपातिक अध्ययन किया होगा और न वैज्ञानिक दृष्टिसे उन्होंने उन चित्रोंका विवेचन ही किया होगा। इसी प्रकार हर्षोल्लासमें आकर मनुष्यने अपने भावोंको शब्दोंके वस्त्रोंमें सजाकर जब कविताके रूपमें पहले पहल उतारा होगा उस समय उसके सम्मुख न तो मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मनुष्यके चरित्रका विश्लेषण उपस्थित रहा और न भावोंका विवेचनात्मक अध्ययन ही। किन्तु वह स्वयं मनुष्य है, उसका मन और उसका हृदय स्वयं

उसके लिये सुन्दर प्रयोगशाला है जिसमें प्रतिक्षण वह प्रयोग और प्रयोग-सामग्री दोनों बनकर अपना अनुभव और ज्ञान सिद्ध करता है। यही बात चित्रकार और मूर्तिकारके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। अतः हरबर्ट स्पेन्सरका यह कथन सर्वथा निर्मूल है कि चित्र, संगीत और मूर्तिकलाके लिये भी विज्ञानका ज्ञान अपेक्षित है।

भाषाकी अपेक्षा विज्ञान महत्त्वपूर्ण

इससे भी अधिक विचित्र बात स्पेन्सरने यह कही है कि मनुष्यको भाषाका अध्ययन करनेकी अपेक्षा विज्ञानका अध्ययन करना चाहिए क्योंकि "विज्ञान सीखनेसे केवल मनुष्यकी धारणा-शक्ति ही अभिवर्धित नहीं होती, उससे विवेक भी उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, प्रकृतिके विभिन्न आश्चर्यजनक तत्त्वोंको देखकर उसके मनमें उन सबके विराट् स्रष्टाके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है जिससे वह नास्तिक होनेसे बच जाता है। उसके विचार, भावनाशक्ति, विश्लेषण-शक्ति और निश्चयात्मिका-शक्ति पुष्ट और सम्पन्न होती है जिससे मनुष्यमें आत्मविश्वास और आत्मावलंबन तथा शक्तिके प्रति निष्ठा उत्पन्न हो जाती है और निष्ठासे उसका सदाचार और उसका नैतिक बल प्रबल हो जाता है।" विज्ञानकी प्रशंसामें स्पेन्सरने जो बहुत सी बातें कही हैं उनमेंसे अधिकांश ठीक मान भी ली जा सकती हैं। किन्तु विज्ञान सीखनेका आधार तो भाषा ही है। यदि वह आधार ही दुर्बल या उपेक्षित रह गया तो मनुष्यकी ज्ञान-संचय-वृत्तिका अवलंब ही नष्ट हो जायगा। अतः यह उसकी नितान्त भ्रामक धारणा है कि मनुष्य भाषाको छोड़कर विज्ञानका अध्ययन करे।

मनुष्यकी संपूर्ण वृत्तियों और शक्तियोंका विकास विज्ञानसे संभव है, भाषासे नहीं। अतः भाषाकी अपेक्षा विज्ञान-पर अधिक ध्यान दिया जाय।

शिक्षाके गुर (मैक्सिम्स)—१. सरलसे कठिनकी ओर

किस प्रकार शिक्षा देनी चाहिए इस सम्बन्धमें स्पेन्सरने जो अनुभव किए और उसके अनुसार जो सिद्धान्त स्थिर किए हैं उनमें अध्यापकोंके लिये उसने कुछ मोटे-मोटे गुर (मैक्सिम) बना लिए थे जिनके आधारपर शिक्षा देनेसे बालक सुविधाके साथ नया ज्ञान भी प्राप्त करता जाय और उसका मन भी लगा रहे। संसार भरके, विशेषतः भारतीय आचार्योंके स्वरमें स्वर मिलाते हुए स्पेन्सर यह घोषणा करता है कि यदि बालककी बुद्धि विकसित करनी हो, यदि उसे ज्ञानकी ओर स्वभावतः प्रवृत्त करना हो तो

१. सरलसे कठिनकी ओर चलो।

उसे निरंतर उत्साहित करते रहना चाहिए और जैसी उसकी मानसिक समर्थता तथा धारणा-योग्यता हो उसीके अनुसार उसे नया ज्ञान देते चलना चाहिए। इस सिद्धान्तका सबसे पहला गुर है—१. सरलसे कठिनकी ओर चलो (फ्रॉम सिम्पल टु कॉम्प्लैक्स), अर्थात् जो विषय छात्रको सिखलाना हो, अथवा जिस विधिसे वह सिखाना हो उसका प्रारम्भ छात्रके लिये सरल और बोधगम्य हो और फिर जैसे-जैसे विद्यार्थीकी समझ बढ़ती जाय, समझनेकी शक्ति समुन्नत होती जाय, वैसे-वैसे पाठ्य विषयको क्लिष्टतर और क्लिष्टतम बनाते चला जाय। सरलका अर्थ यही है कि विषयका रूप बालक ठीक-ठीक निर्बाध रूपसे समझ सकता हो अर्थात् जो बातें अध्यापक बताना चाहता है उसका मौलिक संस्कार बालककी बुद्धिमें जितना हो उसीको आधार मानकर इस प्रकार शिक्षा दी जाय और इस गतिसे उसे क्रमशः कठिन और कठिनतर बनाते चला जाय कि बालक निरंतर यही समझता रहे कि जो कुछ सिखाया जा रहा है वह मेरे पूर्व ज्ञानसे भिन्न नहीं है। इस क्रमसे चलनेमें पाठमें विद्यार्थीकी रुचि बनी रहती है, उसका चित्त न उससे विरक्त होता है न उचटता है। इसके विपरीत यदि बलपूर्वक अध्यापक अपने दंडके बलपर कुछ सिखा भी दे तो वह ज्ञान बालकके स्वयं अर्जित ज्ञानका ठीक अंग नहीं बन पाता।

ज्ञातसे अज्ञातकी ओर

दूसरा गुर है 'ज्ञातसे अज्ञातकी ओर'। बच्चोंका ज्ञान धुँधला, अक्रम और अधूरा होता है। वह एक दूसरेके विचारोंको ठीक ठीक न जानता है, न परख पाता है। वास्तवमें बालक जो भी नया ज्ञान सीखता है वह अपने पुराने ज्ञानके आधारपर ही तो सीखता है, अतः अध्यापकको यह जान लेना चाहिए कि वह जो कुछ बालकके लिये अज्ञात विषय सिखाना चाहता है उसके सम्बन्धका कितना विषय बालकको ज्ञात है। इस ज्ञात विषयके आधारपर ही युक्ति तथा तर्क-द्वारा अज्ञात विषयका इस प्रकार ज्ञात विषयसे सम्बन्ध स्थापित करना अध्यापकका कर्तव्य है कि बिना किसी श्रमके स्वाभाविक रूपसे बालक नया ज्ञान आत्मसात् कर ले। जैसे, बच्चोंने देखा है कि दाल पकते समय भापके कारण पतीलीका ढक्कन ऊपर-नीचे होता है, उसीके आधारपर यह बताया जा सकता है कि जब यही भाप अधिक मात्रामें उत्पन्न कर ली जाय तो उसमें इतनी शक्ति उत्पन्न की जा सकती है कि वह मालसे लदी हुई सौ मालगाड़ियाँ खींचनेवाले अंजनको चला सकता है।

२. ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो।

अनिश्चितसे निश्चितकी ओर

तीसरा सिद्धान्त है 'निश्चितसे अनिश्चितकी ओर' (फ्रॉम इनडेफ़िनिट

टु डेफ़िनिट)। प्रत्येक बालक अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें प्रत्येक वस्तुके संबंधमें अपनी सुविधा, आवश्यकता और रुचिके अनुसार एक निश्चित धारणा या विचार स्थिर कर लेता है और यह विचार प्रायः अस्पष्ट, एकांगी, अक्रम और अनिश्चित होता है। इसी अस्पष्टता, अक्रमता, और अनिश्चितताको दूर करके वास्तविकता और निश्चितताकी ओर प्रवृत्त करना अध्यापकका मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। यों भी प्रत्येक मनुष्यके कुछ संस्कार बचपनमें ही कुछ वस्तुओंके संबंधमें ऐसे दृढ़ हो जाते हैं कि यदि वे प्रारंभमें ही ज्ञान अथवा अभ्याससे दूर न किए गए तो जीवन भर भ्रामक संस्कार पड़ जानेकी संभावना बनी रहती है। 'कुत्ता काटता है', यह संस्कार बचपनमें पड़ जानेपर मनुष्य जीवन-भर कुत्तेसे डरता रह सकता है, इसलिये कुत्तेके भोंकने और काटनेके अवगुणके साथ-साथ उसकी स्वामिभक्ति, शक्ति, स्वभाव तथा आवश्यकताके विषयमें निश्चित ज्ञान देकर उसके प्रति उत्पन्न भ्रामक तथा अनिश्चित धारणाका निराकरण किया जा सकता है। यह निश्चितता प्रत्यक्ष अनुभव, तर्क, युक्ति, व्यवहार, तथा उदाहरणसे भली प्रकार पुष्ट की जा सकती है।

निश्चितसे अनिश्चितकी ओर चलो।

प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्षकी ओर

चौथा सिद्धान्त है 'प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष या भावात्मकताकी ओर (फ़्रौम कौंक्रीट टु ऐब्स्ट्रैक्ट) चलो। इसीको दूसरे प्रकारसे हम कह सकते हैं कि अध्यापकको उदाहरणसे नियमकी ओर चलना चाहिए। साधारणतः अध्यापकोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि वे सीधे नियम रटवानेका प्रयत्न करते हैं किन्तु इस प्रकारके प्रयोगसे विद्यार्थियोंकी न तो उसमें प्रवृत्ति होती है न रुचि। यदि उदाहरण देकर उन्हें समझा दिया जाय तो उनकी समझमें सरलतासे आ सकता है। उदाहरण देनेसे यह भी सुविधा होती है कि बालक स्वयं अपने मनसे सिद्धान्त या नियम निकाल सकते हैं और इस प्रकार उनमें स्वतः विवेचन करनेकी शक्ति जागरित की जा सकती है।

४. प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष या भावात्मकताकी ओर चलो।

शिक्षामें संस्कारावृत्ति

स्पेन्सरका पाँचवाँ सिद्धान्त यह है कि जिस क्रम और ढंगसे मानव जातिने शिक्षा प्राप्त की है और अपनेको ज्ञानसंपन्न किया है उसी क्रम और ढंगसे बालकोंको शिक्षित किया जाय अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करके मनुष्यने

५. संसारने जिस क्रमसे

शिक्षा पाकर सभ्यताका विकास किया है उस क्रमसे बालककी शिक्षा हो—संस्कारावृतिका सिद्धान्त

प्रत्येक पदार्थके आकार-प्रकार और प्रवृत्तिका परिचय प्राप्त किया है उसी प्रकार बालकको भी स्वयं अपने अनुभवसे अपनी शिक्षाका प्रारम्भ करना चाहिए। उसे प्रत्येक वस्तुका वर्णन देकर पढ़ाना अस्वाभाविक और असंगत है। इस सिद्धान्तको 'कल्चर इपौक थियरी' या 'संस्कारावृत्तिका सिद्धान्त' कहते हैं। इस सम्बन्धमें हम पीछे हरबार्टके प्रकरणमें विस्तारसे समझा आए हैं। इस सिद्धान्तके प्रतिपादकोंका यह विश्वास है कि मानव जातिकी सभ्यता और संस्कृतिने विकासके जिन जिन युगोंके द्वारा अपना संस्कार किया है उन उन संस्कारोंके द्वारा बालकके विकासकी विभिन्न अवस्थाओंमें शिक्षा दी जानी चाहिए। स्पेन्सर-के अनुयायियोंने इसी सिद्धान्तके अनुसार विभिन्न अवस्थाके बालकोंके लिये कुछ पाठ्य विषय निर्धारित किए हैं किन्तु उन्होंने केवल बाल्य जीवनके कुछ युगों-तक ही अपनी शिक्षाका क्रम परिमित रक्खा, पूर्ण मानवके विकासकी शिक्षा-योजना उन्होंने नहीं बनाई। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने स्वयं संस्कारावृत्तिके जिस सिद्धान्तकी इतनी दुहाई दी, उसीके सर्वांगीण स्वरूपको वे सिद्ध न कर पाए। हम पहले ही विवेचन कर आए हैं कि यह सिद्धान्त अत्यन्त अपूर्ण और भ्रामक है। प्रत्येक समाज अपने युगके बालकोंको एक विशेष प्रकारसे शिक्षित करना चाहता है। उस योजनाका इस सिद्धान्तसे किसी प्रकार समन्वय नहीं हो सकता। संसारकी प्रत्येक जातिने विभिन्न क्रमों और ढंगोंसे अपना विकास किया है जिनमेंसे बहुतोंका तो आजतक भी ठीक ठीक विवरण नहीं प्राप्त हो सका इसलिये विभिन्न जातियों और वर्गोंकी भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंमें पले हुए लोगोंकी शिक्षाका क्रम बनाना कठिन है। और फिर विश्व भरकी मानव जातिके व्यापक आदर्शोंकी दृष्टिसे व्यापक शिक्षाक्रम और सिद्धान्त स्थिर करना तो और भी असम्भव कार्य है।

प्रयोगात्मक ज्ञानसे युक्तियुक्त ज्ञानकी ओर

इस उपर्युक्त सिद्धान्तको व्यावहारिक बनानेके लिये छठा सिद्धान्त यह स्थिर किया गया कि प्रयुक्त या अनुभूतसे युक्तियुक्त ज्ञानकी ओर (फ्रौम इम्पिरिकल टु रैशनल नौलेज) चलो। उसका कहना है कि

६. प्रयोगात्मक या अनुभवात्मक ज्ञानसे युक्तियुक्त ज्ञानकी ओर बढ़ो।

बालक जबतक किसीकी बातको प्रत्यक्ष अनुभव, प्रयोग या बुद्धिगम्य तर्क-द्वारा नहीं समझ लेता तबतक वह उसके लिये ग्राह्य नहीं होता। किन्तु संसार-में ऐसे अनेक सिद्धान्त और तत्त्व हैं जिनके लिये किसी प्रकारका प्रत्यक्ष प्रयोग सम्भव नहीं है।

स्वतः प्रयोगद्वारा परिणाम निकालनेको प्रोत्साहन

स्पेंसरका सातवाँ सिद्धान्त यह है कि बालकको स्वतः कोई सिद्धांत नहीं बताना चाहिए। उसे इस प्रकार उत्साहित करना चाहिए कि वह स्वतः प्रयोग करके उसका परिणाम या तत्त्व निकाल ले। प्रायः अध्यापकोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि वे धैर्य खोकर समय बचानेकी वृत्तिसे सब कुछ झटपट बता देना चाहते हैं, किन्तु वे यह नहीं अनुभव करते कि उनकी इस उदारतासे बालककी बुद्धि संकुचित हो जाती है, आत्मविश्वास शिथिल हो जाता है और स्वावलम्बनकी भावना जाती रहती है। अतः बालकोंको इस रीतिसे शिक्षा देनी चाहिए कि उसमें स्वतः जानने, समझने, परखने और परखकर परिणाम निकालनेकी वृत्ति जागरित हो। इसी झोंकमें स्पेंसरने यह भी कह दिया कि जबतक बालक स्वयं अपनी बुद्धि और अध्यवसायसे अपने चारों ओरके पदार्थोंसे परिचित नहीं हो जाता तबतक उसे पुस्तक नहीं देनी चाहिए। किन्तु यह सिद्धान्त अत्यन्त अव्यावहारिक और समयघातक है। वास्तवमें सब पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान और पुस्तक-अध्ययन दोनों साथ-साथ चलाए जा सकते हैं।

७. बालकको स्वतः प्रयोग करके परिणाम निकालनेको उत्साहित करना चाहिए।

पाठन-विधि मनोरंजक हो

स्पेन्सरका आठवा सिद्धान्त यह है कि पढ़ानेका ढंग मनोरंजक, विनोद-पूर्ण तथा रुचिकर होना चाहिए क्योंकि जबतक पाठ रुचिकर नहीं बनाया जायगा और बालक मनोयोगपूर्वक उसका अध्ययन नहीं करेगा तबतक वह ज्ञान उसके लिये निरर्थक ही होगा अतः यह आवश्यक है कि जो कुछ पढ़ाया जाय वह अत्यन्त रुचिकर ढंगसे बालकोंके मनका और उनकी रुचिका ध्यान रखते हुए होना चाहिए जिससे वे मन लगाकर शिक्षा प्राप्त कर सकें।

८. पढ़ानेका ढंग रुचिकर हो।

बालकोंको नैतिक शिक्षा कैसे दी जाय ?

स्पेन्सरने बालकोंकी शिक्षाके संबंधमें विवेचन करते हुए अपने समयके माता-पिताओंको भी कुछ विशेष आदेश और सम्मतियाँ दी हैं। उसे यह बात अच्छी नहीं लगती कि माता-पिता अपने बालकोंके नैतिक शिक्षा देनेके साथ ठीक व्यवहार नहीं करते। उसे यह बात अत्यन्त

लिये माता-पिताको सत्यशील, निष्कपट, स्वच्छ और नियमित होना चाहिए और बालकोंसे स्नेहपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

असंगत लगती है कि एक ही प्रकारके अपराधके लिये बालकोंके माता-पिता उन्हें विभिन्न प्रकारके दण्ड देते हैं और कभी-कभी तो दण्ड देनेकी घोषणा करके भी या तो दंड देना भूल जाते हैं या टाल जाते हैं। स्पेन्सरकी दृष्टिमें यह व्यवहार बालकके मनपर ठीक प्रभाव नहीं डाल पाता। उसका मत है कि बालकोंकी शिक्षा व्यवस्थित करनेके लिये यह आवश्यक है कि पारिवारिक व्यवस्था ठीक रक्खी जाय क्योंकि अध्यापक तो गिने-चुने कुछ घंटोंतक ही बालकके साथ रहकर उसे ज्ञान देता है या अपना प्रभाव डालता है, शेष समयमें तो उसे अपने घरवालोंके आचरणके प्रभावमें ही पलना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि बालकका व्यक्तित्व और स्वभाव अध्यापकके आचरणके अनुसार न बनकर घरवालोंके आचरणके अनुसार बनता है। इसलिये यदि किसी प्रकार समाज और कुटुंबका संस्कार कर दिया जाय तो उसका परिणाम सामूहिक रूपसे श्रेयस्कर होगा क्योंकि जैसे जैसे पारिवारिक दशा सुधरती जायगी, वैसे वैसे बालकोंकी दशा भी समुन्नत होती जायगी। इस संबंधमें स्पेन्सरका मत है कि अभिभावकों तथा घरवालोंको बच्चोंके साथ अत्यन्त शुद्ध तथा नियमित आचरण करना चाहिए। अपने खान-पान, आचार-व्यवहारमें उन्हें सत्यशील, निष्कपट, नियमित और स्वच्छ रहना चाहिए जिससे बालकोंपर भी उनका स्वस्थ प्रभाव पड़ सके और वे भी अपने आचरणमें सत्यशील, निष्कपट, नियमित और स्वच्छ बन सकें। दंड या पुरस्कार देनेमें भी घरवालोंको उसी प्रकार नियमित होना चाहिए जैसे प्रकृति देती है। जैसे यदि हम शीतमें नंगे घूमें तो अवश्य ठंड लग जायगी वैसे ही यदि हम अपने बालकोंको दण्ड या पुरस्कार देनेको कहें तो उसे अवश्य दें, उसकी उपेक्षा न करें क्योंकि उपेक्षा करनेसे बालकोंका विश्वास नष्ट हो जायगा और वे भी दूसरेके साथ इसी प्रकार अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढंगसे विश्वास-हीनताका व्यवहार करेंगे। माता-पिताको यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि जिन बातोंको हम जीवनमें उपेक्षित या महत्त्वहीन समझकर टाल देते हैं वे ही बातें आगे चलकर बालकके जीवनमें अनेक प्रकारकी समस्याएँ उत्पन्न कर देती हैं और उसका जीवन विषमय हो जाता है।

स्पेंसरकी दण्ड-नीति

स्पेन्सरका विचार है कि बालकको अस्वाभाविक दंड न दिया जाय। उसको इस प्रकार स्वाभाविक रूपसे दंड दिया जाय कि स्वयं अपराधकी गुरुता और अपराधसे दूसरोंको होनेवाले कष्ट या असुविधाका उसे स्वयं

दंड-विधान स्वाभाविक हो जिससे छात्र अपराधके परिणामसे उत्पन्न असुविधाका अनुभव करे।

अनुभव हो। यदि वह काँचका पात्र तोड़ दे तो उसे या तो अपने जलपान-द्रव्यके पैसेसे पात्र लानेको बाध्य किया जाय अथवा उस समयतक उसे ओकसे जल पिलाया जाय जबतक वह यह न समझ ले कि पात्र तोड़नेसे क्या असुविधा होती है। इसी प्रकार जो बालक ईख चूसकर, आम खाकर या कागज फाड़कर इधर-उधर छितराकर कूड़ा कर दे तो उसका दंड यही है कि स्वयं बालकसे उसकी शुद्धि कराई जाय। स्पेन्सरका यह भी मत है कि बालकके साथ कभी कठोर व्यवहार नहीं करना चाहिए, उसे अपना विश्वासपात्र बनाकर उसके साथ मित्रके समान व्यवहार करना चाहिए। किन्तु आवश्यकतावश यदि डाँटना भी हो तो उसमें भी संकोच नहीं करना चाहिए। जहाँतक सम्भव हो बालकोंको अपना प्रबन्ध और अपना संरक्षण अपने आप करनेको उत्साहित करना चाहिए। इन सब वक्तव्योंसे जान पड़ता है कि स्पेन्सरको बालकोंकी प्रवृत्तिका ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो पाया था। बालकोंकी शिक्षासे सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका यह व्यापक अनुभव है कि बालकसे सहानुभूति तो होनी चाहिए किन्तु यदि अध्यापकने उसके प्रति अपने व्यवहारमें तनिक सी शिथिलता दिखलाई और उसे यह आभास दिया कि अध्यापक महोदय अत्यन्त सज्जन हैं, सरल हैं, कुछ नहीं कहते, तो चञ्चल और नटखट बालक उस व्यवहारसे लाभ उठाकर उद्दण्ड हो जायँगे और यदि माता-पिता भी उस प्रकारका व्यवहार करेंगे तो बच्चे निश्चित रूपसे विनय-हीन, उद्दण्ड, दुराग्रही और ढीठ हो जायँगे। इस सम्बन्धमें भारतीय आचार्योंका मत अत्यन्त समीचीन जान पड़ता है—

लालयेत् पंच वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

[पाँच वर्षतक बालकका लाड़ करना चाहिए, उसके पश्चात् दस वर्षतक उसे ताड़न करना चाहिए अर्थात् उसे ठीक-ठीक नियंत्रणमें रखना चाहिए और सोलह वर्षका हो जानेपर उसके साथ मित्र जैसा व्यवहार करना चाहिए।] इसका कारण यह है कि हमारे यहाँके आचार्योंने बालकोंकी प्रकृति ठीक समझ ली थी। वे जानते थे कि यदि बालकोंपर नियंत्रण न होगा तो वे हाथसे निकल जायँगे और उनका ठीक संस्कार नहीं हो पावेगा।

शारीरिक विकास कैसे हो ?

स्पेन्सरने माता-पिता तथा अभिभावकोंको इस बातपर भी बहुत जो

भरकर कोसा है कि वे अपने बालकोंके स्वास्थ्यपर तथा उनके शारीरिक विकासपर तनिक भी ध्यान नहीं देते। उसका कथन है कि हम लोग जब कोई जीव पालते हैं तब इस बातका ध्यान रखते हैं कि वह दुर्बल न हो, भली प्रकार भोजन करे और शरीर बनाए रक्खे किन्तु अपने बच्चोंके संबंधमें हम इतना ही बहुत समझते हैं कि उन्हें खिला-पिला दें और उतनेसे अपना काम पूरा समझ लेते हैं। वास्तवमें बालकोंके शारीरिक विकास और स्वास्थ्यका ध्यान शिक्षाकी अपेक्षा अधिक रखना चाहिए क्योंकि 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्', शरीर ही सब धर्मके काम करनेका श्रेष्ठतम साधन है।

बालकके स्वास्थ्यपर शिक्षाकी अपेक्षा अधिक ध्यान देना चाहिए।

स्पेन्सरके शिक्षा-सिद्धान्तोंका विश्लेषण

स्पेन्सरने शिक्षाके क्षेत्रमें अत्यन्त आकस्मिक रूपसे प्रवेश किया। वह मूलतः वैज्ञानिक था और अपना संपूर्ण आरंभिक जीवन उसने विज्ञानकी विभिन्न शाखाओंके विश्लेषण और अध्ययनमें लगाया। शिक्षाके सम्बन्धमें उसने यों ही प्रसंगवश ही अपनी लेखनी चलाई और जैसे किसी एक विशेष रुचि, प्रवृत्ति अथवा मतके लोग सारे विश्वको उसी दृष्टिसे देखना चाहते हैं और प्रत्येक बातमें अपनी टाँग अड़ाकर अपनी रुचि और अपने मतके अनुसार सारी सृष्टिको ढालना चाहते हैं उसी प्रकार स्पेन्सरने भी शिक्षाको विज्ञानित करनेका बीड़ा उठाया। उसने अपनी 'एजुकेशन' नामक पुस्तकमें पग-पगपर केवल विज्ञानकी प्रशंसाके गीत गाए हैं और संसारकी समस्त विद्याओं और कलाओंमें केवल विज्ञानको ही सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। यदि उसमें वास्तविक शिक्षा-दृष्टि होती, यदि उसने पूर्ववर्त्ती शिक्षाशास्त्रियोंके समान शिक्षाके क्षेत्रमें व्यक्तिगत प्रयोग या अनुभव किए होते अथवा कोई विद्यालय चलाकर अपने स्वतः अनुभवसे पुष्ट करके कोई सिद्धान्त निरूपित किया होता या परिणाम निकाला होता तब तो ठीक था, किन्तु इसके अभावमें उसने केवल अपनी सनकको संसार भरपर लादनेका उपक्रम मात्र किया। यही कारण है कि उसने पाठन-विधिके संबंधमें कुछ नहीं कहा जिसके विषयमें हरबार्ट और उसके अनुयायियोंने अनेक प्रयोग करके उसमें यथावश्यक सुधार भी किए। स्पेन्सरने सीधे पाठ्य विषयपर ही आक्रमण किया और उसमें ऐसे विचित्र परिवर्त्तन सुझाए जो सहसा मान्य नहीं हो सकते थे। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि विज्ञान भी पाठ्य विषयोंमें सम्मिलित करना चाहिए किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य सब विषय गौण करके केवल विज्ञान ही

पढ़ाया जाय। उसने न भाषाका व्यावहारिक महत्त्व समझा न अन्य विषयोंका सांस्कृतिक और सामाजिक महत्त्व, इसीलिये वह विज्ञानके द्वारा जो अव्यवहार्य व्यावहारिकता सिखाना चाहता था वह पीछेके आचार्योंने अथवा तत्कालीन शिक्षा-शास्त्रियोंने स्वीकार नहीं की। बहुतसे लोगोंका विश्वास है कि स्पेन्सर उपयोगितावादी (यूटिलिटेरियन) था अर्थात् वह संसारकी प्रत्येक वस्तु और क्रियाको मनुष्यके लिये उसकी उपयोगिताकी दृष्टिसे ही परखता था यहाँतक कि वह अपने प्रिय विषय विज्ञानसे भी मानव जीवनको नैतिक और सुखी बनानेकी कल्पना करता था। वास्तवमें स्पेन्सरको तो झूठे ही लोगोंने शिक्षा-शास्त्री मान लिया अन्यथा वह तो शुद्ध रूपसे विज्ञानवादी था और अपनी इस घोर विज्ञानवादितासे वह इतना अभिभूत था कि साधारण शिक्षकके अनुभवकी भी प्रतीति उसे न हो पाई और उसने अपने मतको अधिक तर्क-सिद्ध करनेका जो प्रयास किया है वह केवल पांडित्य-प्रदर्शन मात्र है।

हक्सले (१८२५-१८९५)

हक्सलेमें अपनी मौलिकता नहीं थी। उसने केवल स्पेन्सरके विचारोंको अपने परिश्रमसे व्यवहार्य बनाया और पाठ्य-विषयोंमें विज्ञानका प्रवेश कराया।

हरबर्ट स्पेन्सरका सबसे बड़ा समर्थक था टौमस एच्० हक्सले (१८२५-१८९५) जिसने विद्यालयोंके पाठ्यक्रममें विज्ञानका प्रवेश करानेके लिये जी-तोड़ परिश्रम किया। उसने कोई नई बात अपने मनसे नहीं कही, संभवतः वह कहना भी नहीं चाहता था। बेकनने परिणाम-प्रणाली (इंडक्टिव मैथड) के संबंधमें तथा स्पेन्सरने विज्ञानके संबंधमें जो दार्शनिक विवेचन और प्रतिपादन किया था उसे हक्सलेने भक्त और शिष्यकी आस्थासे स्वीकार कर लिया और पूर्ण मनोयोगसे उसे सिद्ध और व्यवहृत करनेके लिये प्रयत्नशील रहा। उसका विचार यह था कि जिसे हम लोग साहित्यिक शिक्षा (लिटरेरी एजुकेशन) कहते हैं वह वास्तवमें साहित्यिक नहीं है क्योंकि साहित्यिकताके स्तरतक पहुँचनेके लिये जिस व्यापक ज्ञान और शब्दार्थ-प्रौढ़ताकी आवश्यकता होती है उसका शतांश भी विद्यालयोंमें पढ़ाई जानेवाली शिक्षासे प्राप्य नहीं है। उदार शिक्षाकी व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि उदार शिक्षा (लिबरल एजुकेशन) हमारे शरीरको इस प्रकार अपने वशमें कर देती है कि हम उससे जिस प्रकार और जैसा चाहें, उस प्रकार और वैसा कार्य अत्यन्त सुविधा और सुखसे ले सकते हैं। उदार शिक्षासे हमारी बुद्धिके सब द्वार खुल जाते हैं, विचारशक्ति और विवेचना-शक्ति स्पष्ट हो जाती है, शरीरके संपूर्ण अंगों, अवयवों और इन्द्रियोंका उचित विस्तार होता है और मनुष्यको किसी भी

काममें निर्विघ्न रूपसे जुटाया जा सकता है। उस शिक्षासे मनुष्य इतना शक्तिसम्पन्न हो जाता है कि वह अत्यन्त हर्ष और उल्लाससे किसी प्रकारके भी दुरूह और कठिन कार्यको कंधेपर उठानेमें संकोच नहीं करता, हिचकिचाता नहीं, बाह्य प्रकृति और मानव-निर्मित कलाके भीतर व्याप्त सौन्दर्यको भली-भाँति समझता है, उसका जी भरकर आनन्द लेता है और उससे अनुप्राणित होता है। उसकी सौन्दर्य-भावना इतनी बलवती हो जाती है कि वह प्रत्येक असुन्दर, अभव्य, अमंगल तथा अशुद्ध वस्तुसे हटकर, बचकर रहनेकी रुचि अभिवर्द्धित कर लेता है और उससे उसकी स्वाभाविक विरक्ति हो जाती है। वह अपने प्रति भी उदार होता है दूसरोंके प्रति भी, अपना भी आदर करता है और अपने सम्पर्कमें आनेवाले अन्य लोगोंका भी। तात्पर्य यह है कि वह उदार शिक्षासे ऐसा पूर्ण मानव बन जाता है जो सबसे प्रेम करता है, सब उससे प्रेम करते हैं, संपूर्ण प्रकृतिसे उसकी आध्यात्मिक एकात्मता सिद्ध हो जाती है, उसका विश्वास, उसकी भावना, संपूर्ण विश्वके भीतर व्याप्त महाशक्तिसे इस प्रकार समन्वित हो जाती है कि वह अपनेको सब प्रकारसे सन्नद्ध और सम्पन्न समझकर अपने लिये ही नहीं, सबके लिये सहायक और हितकर सिद्ध हो सकता है।

स्पेन्सरका प्रभाव

विश्वविद्यालयों, माध्यमिक तथा प्रारंभिक विद्यालयोंमें विज्ञानका प्रवेश हो गया।

हक्सलेके उद्योगसे स्पेन्सरका सबसे बड़ा प्रभाव शिक्षा-योजनापर यह पड़ा कि विश्वविद्यालय, माध्यमिक विद्यालय तथा प्रारंभिक विद्यालयोंके पाठ्य-विषयोंमें विज्ञान भी जोड़ लिया गया, पाठ्यक्रमके विभिन्न विषयोंके अन्तर्योगका प्रचलन चल पड़ा और शिक्षा कुछ अधिक व्यावहारिक बनाई जाने लगी। किन्तु स्पेन्सरकी यह इच्छा पूरी न हो पाई कि सब विषयोंके बदले केवल विज्ञानकी ही तूती बोले।

विज्ञानवादियोंका प्रभाव

विज्ञानवादियोंका तर्क था कि मनुष्यकी कुशलताके लिये प्रकृतिका ज्ञान आवश्यक, जो

कौम्बे, यूमांस और ईलियट आदिने वैज्ञानिक पत्रिकाओं, संस्थाओं तथा लेखकों-द्वारा वैज्ञानिक शिक्षाका प्रचार किया था। विज्ञानके इन समर्थकोंने यह तर्क दिया है कि मनुष्यकी कुशलता और उसके सुखके लिये प्रकृतिका ज्ञान आवश्यक है और वह प्रकृतिका वास्तविक ज्ञान हमें विज्ञानके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि अध्ययन-विधिकी अपेक्षा पाठ्य-विषयका अधिक

विज्ञान-द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अध्यापन-विधिकी अपेक्षा पाठ्य-विषय अधिक महत्त्वपूर्ण।

महत्त्व है। साथ ही वे लोग शिक्षाके नियंत्रणात्मक विधानके भी बड़े विरोधी थे। किन्तु नियन्त्रण तथा बालककी मूल योग्यताओं और मस्तिष्ककी साधारण शक्तिके संबंधमें जो रूढ़िगत विश्वास चला आ रहा था उसका संस्कार इन वैज्ञानिकोंमें इतना प्रबल था कि इन्होंने भी वैज्ञानिक विषयोंका समर्थन करते हुए यही दिखाया है कि वैज्ञानिक विषयोंके द्वारा मानसिक शक्तियोंका विकास हो सकता है और आत्मनियंत्रण तथा आचार-नियंत्रणकी भावनाएँ दृढ़ की जा सकती हैं। इस वैज्ञानिक आंदोलनका प्रभाव यह हुआ कि क्रमशः जर्मनी, फ्रांस, इंगलैण्ड और अमेरिकामें विज्ञानको भी स्थान मिल गया।

वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक आंदोलनका संबंध

यह वैज्ञानिक आंदोलन मनोवैज्ञानिक आंदोलनसे भी संबद्ध है क्योंकि इस वैज्ञानिक प्रवृत्तिमें भी नियमित आचरण और नियंत्रणकी भावना सन्निहित है। साथ ही विज्ञानके शिक्षणका प्रभाव अन्य विषयोंके शिक्षणपर इस प्रकार पड़ सकता है कि उनका अभ्यास भी अधिक रुचिपूर्ण और व्यवस्थित हो जाय। साथ ही इस वैज्ञानिक आन्दोलनका संबंध समाजवादी आन्दोलनके साथ भी गहरा था क्योंकि ये लोग भी बाहरी रूपके बदले पाठ्य-विषयोंको प्रधानता देते थे, यांत्रिक और व्यावसायिक संस्थाओंको प्रोत्साहन देते थे और लोकतंत्रवादकी भावनाका प्रचार करते थे। इन विभिन्न आन्दोलन-धाराओंका सहयोग पा जानेसे वैज्ञानिक आन्दोलनको बड़ा बल मिला, स्थान-स्थानपर विज्ञानके नियमित अध्ययनके लिये 'प्रयोगशालाएँ या अध्ययनशालाएँ' खोली जाने लगीं और विज्ञानने अत्यन्त वेगसे साधारण मानव-जीवन तथा व्यावसायिक जीवनमें प्रवेश प्राप्त कर लिया।

वैज्ञानिक आन्दोलनका संबंध तत्कालीन मनोवैज्ञानिक आन्दोलनसे तथा समाजवादी आंदोलनसे भी था क्योंकि व्यावसायिक संस्थाओंको प्रोत्साहनदेते थे और लोकतंत्रवादी भावनाका प्रचार करते थे।

१६

शिक्षामें वर्तमान प्रवृत्तियाँ

व्यवसायिक शिक्षाकी माँग

विद्यालयोंमें व्यावसायिकशिक्षाकी माँग की गई जिससे छोटी अवस्थामें ही छात्र जीविका कमा सकें।

उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें शिक्षा-सुधार-सम्बन्धी जो सुझाव शिक्षा शास्त्रियों ने उपस्थित किए थे, उनमें यह माँग की जा रही थी कि हमारे पाठ्य-क्रममें व्यावसायिक शिक्षा भी सम्मिलित की जाय। पुतलीघरोंकी अभिवृद्धिके सा यह स्वाभाविक था कि वहाँ काम करनेके लिये अच्छे कुशल कारीगर सिखाए जायँ और उनके लिये यदि विद्यालयमें ही कुछ व्यवस्था हो जाय तो अल्प अवस्थामें ही विद्यार्थियोंकीवि भी लजागकी जाय और देशके लिये व्यावसायिक सामर्थ्य भी उत्पन्न किया जा सके।

फ़ोर्टबिल्डुंगशूलेन—क्रमसाधक विद्यालय

क्रमसाधक विद्यालयोंमें १८ वर्षतक अनिवार्य शिक्षा जहाँ छात्रको अपनी शिक्षा चलाई रखनी पड़ती थी। प्रारंभमें तो विद्यालयके पढ़े हुए पाठकी आवृत्ति मात्र थी किन्तु पीछे यांत्रिक शिक्षा दी जाने लगी। कन्याओंके लिये भी गार्हस्थ्य और मातृत्वकी शिक्षा।

फ्रांस-प्रशीय युद्धके पश्चात् जर्मनीने सब विद्यार्थियोंके लिये फ़ोर्टबिल्डुंग-शूलेन (कन्टिनुएशन स्कूल या क्रमसाधक विद्यालय) में शिक्षा पाना अनिवार्य कर दिया जिससे विद्यार्थि-गण अपने पढ़े हुए पाठ भूल न पावें और पढ़ानेका क्रम जहाँसे टूटा है वहाँसे जोड़कर चलाते रहें। इन विद्यालयोंमें अठारह वर्षकी अवस्थातक अनिवार्य रूपसे विद्यार्थियोंको शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। पहले तो इसके पाठ्य-क्रममें पिछले छूटे हुए विद्या-लयमें पढ़े हुए पाठकी आवृत्ति मात्र थी, किन्तु जब प्रारम्भिक पाठशालाएँ खुलीं तब उनमें पूरा समय यांत्रिक शिक्षामें ही लगाया जाने लगा और तब अन्य विषयोंका शिक्षण गौण हो गया। इन विद्यालयोंमें केवल उच्च श्रेणीके शिल्पियोंको ही शिक्षा नहीं दी जाती थी प्रत्युत साधारण श्रेणीके कारीगर भी तैयार किए जाते थे, यहाँतक कि कन्याओंके लिये भी अनेक

प्रकारकी व्यावसायिक शिक्षाका प्रबन्ध किया गया जिसमें गार्हस्थ्य और मातृत्वकी शिक्षा भी सम्मिलित थी।

यूरोपमें व्यावसायिक विद्यालयोंकी बाढ़

जर्मनीके व्यावसायिक विद्यालयोंकी देखादेखी यूरोपमें भी पूरे या अल्पकालीन व्यावसायिक विद्यालय खुले जिनका अन्तिम रूप बना कृषि-विद्यालय

यह व्यावसायिक शिक्षा इतनी प्रचलित हुई कि शीघ्र ही जर्मनीके गेवेरबैसशूलेन (व्यापार-विद्यालय) या हांडवेंर्क शूलेन (शिल्प-विद्यालय) की देखा-देखी फ्रांस, इँगलैण्ड और अमेरिकामें भी पूरे व्यावसायिक विद्यालय या अल्पकालीन व्यावसायिक विद्यालय खोले जाने लगे। इन व्यावसायिक विद्यालयोंका अन्तिम लक्ष्य यह था कि कृषिकी उन्नति की जाय और कृषिकी वैज्ञानिक शिक्षा देनेका विधान किया जाय। इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उन्होंने प्रारम्भिक और माध्यमिक पाठशालाओंमें कृषि-शिक्षाकी व्यवस्था की और संयुक्त-राज्य अमेरिकाने तो सन् १८६२ ई० में कृषि महाविद्याल भी खोल दिया।

धार्मिक शिक्षा और जड़ बालकोंकी शिक्षा

व्यावसायिक शिक्षाके साथ धार्मिक शिक्षाका भी योग। मन्दबुद्धि बालकोंकी शिक्षाका आयोजन। इसके लिये सेग्विनने, स्पर्श, स्वाद, गन्ध, दृष्टि और श्रवण-शक्तिको साधकर मस्तिष्कको प्रभावित करके शिक्षाकी योजना निकाली। विकलांगोंकी शिक्षाका भी आयोजन हुआ।

इस व्यावसायिक शिक्षाकी उन्नति देखकर नीतिवादी धार्मिक समुदाय चौकन्ना हो गया और शिक्षाशास्त्री भी यह समझने लगे कि यह वर्तमान भौतिकवाद कहीं राक्षसत्वकी ओर न प्रवृत्त कर दे, इसलिये उन्होंने नैतिक शिक्षाका आन्दोलन आरम्भ किया और तदनुसार अन्य व्यावसायिक तथा लौकिक शिक्षाके साथ धार्मिक शिक्षाकी भी व्यवस्था की। इस युगकी एक दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति थी—मन्द-बुद्धि बालकोंकी शिक्षा। इस विषयमें सर्वप्रथम संयुक्तराज्य अमेरिकाके एडवर्ड सेग्विन (१८१२-१८८०) ने प्रयोग प्रारम्भ किया। सेग्विनने सन् १८३७ ई० में पैरिसमें जड़-बुद्धि बालकोंके लिये एक व्यवस्थित तथा तर्क-संगत शिक्षा-प्रणाली निकाली, किन्तु कुछ राजनीतिक कारणोंसे उसे फ्रांस छोड़कर अमेरिका चला जाना पड़ा जहाँ १८५० में उसने अपना विद्यालय प्रारम्भ कर दिया। उसकी प्रणाली यह थी कि स्पर्श, स्वाद, गंध, दृष्टि और श्रवण-शक्तिको साधकर विभिन्न अंगों और इन्द्रियोंके द्वारा

मस्तिष्कको प्रभावित किया जाय। इसलिये चित्र, कार्ड, विभिन्न ढंगके साँचे, मूर्त्तियाँ, मोम, मिट्टी, कैंची, कम्पास और पेंसिल ही उसकी शिक्षाके मुख्य उपादान बने। उसकी प्रणालीका बड़ा अद्भुत परिणाम निकला और जड़-बुद्धि बालकोंकी शिक्षाके सम्बन्धमें उसने जो प्रयोग किए उनसे इसका इतना प्रचार हुआ कि लोगोंको यह विश्वास हो चला कि अब कोई जड़-बुद्धि रह ही नहीं जायगा। किन्तु जितना कहा जाता था उतना परिणाम सम्भव नहीं था और हुआ भी नहीं, क्योंकि मन्द-बुद्धिता संस्कारके कारण होती है और वह जन्मजन्मान्तरसे पाया हुआ संस्कार तथा इस जन्मकी संचित की हुई विकलांगता इतनी प्रभावशालिनी होती है कि उसके लिये जितने सम्भव उपाय किए जायँ उन सबसे वह मेधा प्राप्त नहीं कराई जा सकती जो स्वाभाविक रूपसे कुशाग्र-बुद्धिमें प्रस्फुरित होती है। प्रयोगसे भी यह देखा गया है कि मन्द-बुद्धि बालकको हम कुछ तो चेतन कर सकते हैं, किन्तु इतना नहीं कर सकते कि वह अन्य कुशाग्र-बुद्धि बालकोंके साथ प्रतिद्वन्द्वितामें खड़ा हो सके। यद्यपि बुद्धू, जड़, लहूल और मूर्ख बालकोंमें हम कोई विशेष भेद नहीं कर सकते किन्तु फिर भी उनकी विचार-शक्ति, निर्णय-शक्ति, एकाग्रता तथा इच्छा-शक्तिके विचारसे उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। ये सब एक विशेष सीमातक ही चेतन किए जा सकते हैं, उसके पार नहीं। इसके अतिरिक्त पागलों तथा अपराधियोंके लिये भी अनेक प्रकारके विद्यालय अमेरिकामें खोले जाने लगे, यहाँतक कि गूँगों और बहरोंके लिये भी अत्यन्त व्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली खोज निकाली गई है।

जौन ड्यूई और कर्नल पार्करके प्रयोग

इन सब प्रवृत्तियोंके अतिरिक्त उस धारामें कोई कमी नहीं आई जो शिक्षा-प्रणालीका सुधार करती चली आ रही थी और जिस धाराके अन्तिम नियामक फ़्रोबेलकी हम पीछे चर्चा कर चुके हैं। आचार्य ड्यूई और कर्नल पार्करकी एकाग्रीकरण-योजनामें जो व्यावसायिक कार्य सन्निहित किया गया था उसका प्रभाव वर्तमान युगके सब विद्यालयोंके ऊपर पड़ा है। इन दोनों आचार्योंने फ़्रोबेलीय प्रयोगोंको अत्यन्त समुन्नत किया और उसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति तथा सामाजिक सहयोगकी भावनाका भी परिष्कार किया, साथ ही शिक्षाके सिद्धान्त और प्रयोगके रूपको भी उन्होंने जिस प्रकार व्यवस्थित किया वह पिछले सब युगोंकी

जौन ड्यूई और पार्करने फ़्रोबेलके प्रयोगोंको समुन्नत किया, उसकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति तथा सामाजिक सहयोगकी भावनाका परिष्कार किया, शिक्षाके सिद्धान्त और प्रयोगका रूप स्थिर किया

सम्पूर्ण चेष्टाओंसे कहीं अधिक बढ़कर है। कर्नल पार्करने रिट्टेर, हरबार्ट तथा फ्रोबेलकी विधियोंको मिलाकर और सुधारकर शिक्षाका एक नया रूप स्थिर किया और आचार्य ड्यूईने अपने विद्यालयके द्वारा इन प्रयोगोंकी परीक्षा की। जौन ड्यूईने एक प्रयोगात्मक प्रारम्भिक विद्यालय स्थापित किया जिसमें तीन मौलिक शिक्षा-समस्याओंका समाधान खोजा गया था—(१) विद्यालयको घर और पास-पड़ोसके जीवनके साथ किस प्रकार सम्बद्ध किया जाय और परस्पर सन्निकट लाया जाय, (२) इतिहास, विज्ञान और कलाकी विषय-सामग्रीको किस प्रकार छात्रोंके सम्मुख उपस्थित किया जाय कि बालकोंको अपने जीवनमें उसका कोई स्थिर प्रभाव या वास्तविक महत्त्व सिद्ध हो और (३) लिखने, पढ़ने तथा चित्र खींचनेकी शिक्षा प्रतिदिन-के अनुभव और व्यवहारके आधारपर इस ढंगसे कैसे दी जाय कि बालक स्वतः आकर्षक प्रतीत होनेवाले विषयोंके सम्बन्ध-द्वारा उनकी आवश्यकताका अनुभव कर सकें। इस विद्यालयमें दूकानका काम, भोजन बनाना, सीना, बुनना आदि बहुतसे छोटे-मोटे व्यवसाय सिखाए जाने लगे और उनके पारस्परिक सम्बन्धकी ऐतिहासिक शिक्षा भी दी जाने लगी। इस प्रणालीमें फ्रोबेलकी क्रियात्मक अभिव्यक्ति और सामाजिक सहयोगकी भावना तो थी किन्तु उसका संकुचित नीरस रूप नहीं था। इसका विस्तृत विवरण हम अगले अध्यायमें देंगे।

और एक प्रयोगात्मक विद्यालय खोला।

विज्ञान और लोकसंग्रहवादका गठबन्धन

ड्यूईके प्रयोगोंकी चर्चा करनेसे पूर्व उन्नीसवीं शताब्दीके दूसरे पक्षकी आर्थिक स्थितिका भली प्रकार चिन्तन कर लेना अत्यन्त उचित होगा। ऊपर विस्तारसे बताया जा चुका है कि कि उन्नीसवीं शताब्दीमें इतनी भयंकर व्यावसायिक क्रान्ति हुई कि चारों ओर व्यवसायियों और श्रमिकोंके मण्डल बन गए। चारों ओर यह धूम मच गई कि जैसे भी हो अत्यन्त अल्प समयमें अत्यन्त प्रचुर मात्रामें जीवनकी समस्त आवश्यक वस्तुएँ मनुष्यको प्राप्त हो सकें, मनुष्यका जीवन सुखी और सरल हो जाय, दुखी और जटिल न रह जाय। विज्ञानवादी भी यही चाहते थे और इसलिये जो लोग मानवका कल्याण चाहते थे या लोकसंग्रहवादी थे उन्होंने विज्ञानको मनोवांछित वरदान समझा क्योंकि दोनों ही शुद्ध लोकहितकी दृष्टिसे शिक्षामें

विज्ञान व्यक्तिहित लेकर तथा लोकसंग्रही लोक-हित लेकर चले किन्तु मूलतः उनका लक्ष्य एक ही था—लोक-कल्याण।

सुधार करनेके पक्षपाती थे और दोनोंकी यह प्रेरणा थी कि प्रकृति-विज्ञान और समाज-विज्ञान दोनोंका समन्वित अध्यापन कराया जाय। दोनोंमें थोड़ा सा अन्तर यह रह गया था कि विज्ञानवादी सब प्रकारकी विद्या, शक्ति और समर्थताका आधार विज्ञानको मानते थे और लोकसंग्रहवादी किसी विशेष विषयको आधार मानकर नहीं चलना चाहते थे। वे व्यापक रूपसे 'बहुजन-हिताय बहुजनसुखाय' अपनी शिक्षा-योजना बनाकर लोकहितकी व्यवस्था करना चाहते थे। साथ ही विज्ञानवादी लोग व्यक्तिवादी भी थे क्योंकि वे व्यक्तिको अपने व्यक्तिगत विकासके लिये पूर्ण स्वतन्त्रता दे देना चाहते थे, उधर लोकसंग्रहवादी लोग 'व्यक्तिका अस्तित्व समाजके लिये है'की पुकार मचाए हुए थे। किन्तु इस प्रकारके उद्देश्य-भेद होनेपर भी दोनोंकी प्रवृत्ति यही थी कि मानव-समाजको सुख और सुविधा पहुँचावें और उनका कल्याण करें। यद्यपि लोकसंग्रहवादियोंका लक्ष्य यह था कि बालकोंको इस प्रकारकी सामाजिक शिक्षा दी जाय कि वे सुन्दर लोकतन्त्र स्थापित कर सकें और विज्ञानवादी चाहते थे कि व्यक्ति सब प्रकारसे अपना जीवन सुखमय बना ले किन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे दोनोंमें मौलिक अन्तर नहीं प्रतीत होता क्योंकि व्यक्ति और समाजमें अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है, व्यक्तिसे समाज बनता है और समाजसे व्यक्ति बनते हैं। हाँ, यह नहीं होना चाहिए कि व्यक्ति अपना विकास करके रावण बन जाय या समाज अपना एक वर्ग बनाकर अपने हितके लिये दूसरोंका अहित करे अथवा समाजको ऐसे अशोभन लोकतन्त्रमें डाल दें कि वह सुकरात जैसे महापुरुषको विषपानकी आज्ञा दे और समाजके नेता सारी सत्ता अपने हाथमें लेकर जनताको कष्टमें डाले रक्खें।

लोकहित और मनोविज्ञानका संयोग

पीछे पेस्टालौज़ी, हरबार्ट और फ़्रोबेलके शिक्षा-प्रयोगों और सिद्धान्तोंकी व्याख्या करते हुए यह बताया जा चुका है कि वे शिक्षाके लिये बालककी प्रकृतिका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक समझते थे और उसीके अनुसार वे पाठन-विधिका परिष्कार करना चाहते थे किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यही उनके उद्देश्यकी इतिश्री थी। पाठन-विधिको सुधारकर वे इस सुधरी हुई पाठनविधिसे बालकको इस प्रकार शिक्षा देना चाहते थे कि वह अत्यन्त शीघ्र, रुचिपूर्वक, उचित ज्ञानका अर्जन करके अपना, अपने परिवारका, समाजका और राष्ट्रका कल्याण करे। इसलिये प्रत्यक्षतः मनोविज्ञानवादी प्रतीत होते हुए

पेस्टालौज़ी, हरबार्ट और फ़्रोबेल आदि मनोवैज्ञानिक शिक्षाशास्त्री भी लोकहितवादी ही थे अतः लोक-

संग्रहके सिद्धान्तसे भी वे लोग वास्तवमें लोकहितवादी ही थे यहाँतक कि उनकी पूर्ण सहमति थी। पेस्टालौज़ीने तो स्पष्ट रूपसे ही जीवन-भर लोकहितके लिये ही प्रयास किया। उसने आन्श्वांग या स्वतः अनुभूतिके सिद्धान्तका प्रयोग करते समय यह स्पष्ट कर दिया था कि केवल विद्यालयमें ही शिक्षा नहीं दी जा सकती, हमारे चारों ओर इतनी विशाल विस्तृत प्रकृति भी पाठशाला ही है जिसमें आँख खोलकर चला जाय तो बिना अध्यापकके न जाने कितना ज्ञानका भंडार मिल जाय। हरबार्टकी भी यही प्रेरणा थी कि शिक्षाके द्वारा मनुष्यका नैतिक अभ्युत्थान कराया जाय और जब वह इस प्रकार नैतिक हो जायगा तो वह अपने परिवार, समाज तथा राष्ट्रके विभिन्न अंगों और व्यक्तियोंसे जो नैतिक व्यवहार करेगा उससे सबका मंगल ही होगा। अतः वह भी व्यक्तिके नैतिक अभ्युत्थानसे ही लोकमंगलकी कामना करता है। यही बात फ्रोबेलमें भी है। वह तो विद्यालयको समाजका एक संक्षिप्त रूप ही मानता था। अतः वे सब प्रत्यक्षतः मनोवैज्ञानिक प्रतीत होते हुए भी मूलतः लोकहितवादी ही थे।

शिक्षाकी नीतिमें परिवर्त्तन

व्यावसायिक क्रान्ति और विज्ञानके प्रसारसे जीवनके आदर्श बदले, शिक्षाका उद्देश्य जीवनमें विभिन्न क्षेत्रोंके उपयुक्त नागरिक बनाना, शासनपर सबकी शिक्षाका भार, शिक्षामें लोकहितवादका पूर्ण प्रवेश किन्तु आध्यात्मिक चिन्तनका लोप।

अठारहवीं शताब्दीमें ही विज्ञानने अपने हाथ पैर फैलाने प्रारंभ कर दिए थे। व्यावसायिक क्रान्तिने शताब्दियोंसे एक साँचेमें ढले हुए समाजको छितराकर चूर-चूर कर दिया। सामन्तवादकी बासी परिपाटीमें पले हुए लोगोंको अपनी व्यक्तिगत सत्ताका वास्तविक ज्ञान होने लगा और इस लहरमें शिक्षा भी अपना रूप बदलने लगी। अब केवल छिटपुट शिक्षाशास्त्रियों, पादरियों या गाँवके अध्यापक ही पढ़ाने-लिखानेकी बातपर चिन्तन-मनन नहीं करते थे वरन् राजनीतिज्ञ भी राष्ट्रकी दृष्टिसे शिक्षा-पद्धतिकी मीमांसा करने लगे। लोकहित या राष्ट्रहितकी व्यापक भावनासे शिक्षा-पद्धतिकी मीमांसाका श्रीगणेश करनेका श्रेय जर्मनीको है। इंगलैंडके 'सुधारबिल' ने श्रमिकोंकी सुविधाका विधान प्रस्तुत किया। अबतक जो वर्ग उपेक्षित और दलित रहा उसे भी शासनकार्यमें स्थान दे दिया गया। निम्न वर्ग समझे जानेवाले लोगोंके शिक्षणका कर्त्तव्य राज्यके कंधोंपर ला धरा गया, शिक्षा मानव-जीवनका अनिवार्य अंग समझी जाने लगी, व्यक्तिवाद समाप्त हो

चला, जीवनके विभिन्न अंगों और क्षेत्रोंके उपयुक्त नागरिक निर्माण करना अर्थात् लोकहित ही शिक्षाका प्रधान उद्देश्य माना जाने लगा, पाठ्यपुस्तकें बदली जाने लगीं और इतिहास, अर्थशास्त्र तथा साहित्यकी शिक्षा अनिवार्य समझी जाने लगी। उन्नीसवीं शताब्दीके लिपटते लिपटते यूरोपके प्रायः सभी देशोंमें धड़ाधड़ विद्यालय खोले जाने लगे और जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं विकलांग, जड़ और दीन बालकोंकी शिक्षाकी भी व्यवस्था की जाने लगी और इस प्रकार शिक्षामें लोकहितवादकी भावना पूर्ण रूपसे प्रविष्ट हो चली। शिक्षा भी सामाजिक कार्य समझा जाने लगा और राज्यपर ही उसकी योजना और प्रसारका भार डाल दिया गया। इस नवीन शिक्षा-योजनामें जहाँ व्यक्तिको नैतिक शिक्षा देकर लोकहितमें प्रवृत्त करनेकी भावना थी वहीं उसमें आध्यात्मिक चिन्तनका पूर्ण अभाव भी व्याप्त हो चला। यह समझा जाने लगा कि अध्यापक यदि चाहे तो वह अपने बालकोंमें पूर्ण नैतिकता भर सकता है।। आचार्य मनरोके अनुसार इस प्रकार सारे समाजका सुधार अनायास किय जा सकता है, वर्त्तमानका सौन्दर्य स्थिर करनेवाली परंपरागत संस्कृतिकी रक्षा की जा सकती है और शिक्षासे वह शक्ति उत्पन्न की जा सकती है कि समाज अपने चारों ओरकी परिस्थितियोंसे लड़ता हुआ आगे बढ़ता चला जा सकता है।

नवीन शिक्षाके आन्दोलन और प्रयोग

इन क्रान्तिकारी विचारोंके फलस्वरूप लोकहितकी दृष्टिसे कुछ तो लोकहित-भावनाके आन्दोलनों (फ़िलैन्थ्रोपिक एजुकेशनल मूवमेंट) के फलस्वरूप सार्वजनिक संस्थाओंने अपनी ओरसे विद्यालय खोल दिए और कुछ विद्यालय विभिन्न राज्य-शासकोंने अपनी राज्य-व्यवस्था (स्टेट सिस्टम) की ओरसे खोल दिए जिनका उद्देश्य यही था कि छात्र नैतिक बनें और अपने जीविकोपार्जनके योग्य ज्ञान संग्रह कर सकें। इस प्रकारकी लोकहितकारिणी शिक्षाका प्रारम्भ बेसडो (बासेडाउ), पैस्टालौज़ी और उसके शिष्य फ़ालेनबुर्ग (१७७४-१८८४) जर्मनीमें पहले ही कर चुके थे।

लोकहितकारी संस्थाओं और राज्यों-द्वारा नवीन विद्यालय।

फ़ालेनबुर्ग (१७७१-१८८४)

फ़ालेनबुर्ग जर्मन था। उसने १८०६ से १८४४ तक हॉफ़विलमें जनहितके सिद्धान्तोंपर एक अत्यन्त व्यवस्थित विद्यालय चलाया जिसमें उसने युवकोंको अन्य विषयोंकी शिक्षाके साथ साथ खेती तथा अन्य व्यवसायोंकी शिक्षा देनेका भी आयोजन किया था। यह विद्यालय इतना प्रसिद्ध हुआ कि दूर-दूरसे अनेक

फ़ालेनबुर्गने अपने विद्यालयमें धनी-

निर्धनोंको समान रूपसे अन्य विषयोंके साथ कृषि और शिल्पकी शिक्षा दी। इस प्रकार-के विद्यालयके आदर्श-पर अन्य देशोंमें विद्या-लय खुले।

शिक्षक वहाँकी कृषि-शिक्षा-पद्धतिका अध्ययन करने आने लगे। उसने धनी और निर्धन छात्रोंको एक साथ रखकर, एक-सा उनसे काम लेकर उनका आर्थिक विभेद दूर कर दिया। विद्यालयके लिये छः सौ एकड़ भूमि लेकर उसने वहीं कृषिके यन्त्र और प्रयोगके वस्त्रोंके उत्पादनका प्रबन्ध किया, छापाघर खोला, हस्तशिल्पकी शिक्षाके साधन प्रस्तुत किए और अध्यापकोंकी शिक्षाकी योजना की। इस शिक्षा-योजनाकी इतनी ख्याति हुई कि स्विट्सरलैंड, फ्रांस, दक्षिण जर्मनी, इंगलैंड और अमेरिकामें उसीके ढंगपर बहुतसे विद्यालय खोल दिए गए।

गुरुकुल अध्यापन-प्रणाली या मौनिटोरियल सिस्टम

'ऊँची कक्षाके छात्र नीची कक्षाको पढ़ावें' इस शिष्याध्यापक प्रणालीका प्रयोग एंड्र्यू बेलने और लंकास्टरने इंगलैंडमें किया।

डाक्टर एण्ड्र्यू बेलने मद्रासमें निवास करते समय हमारे देशके गुरुकुलोंमें प्रयुक्त होनेवाली शिष्याध्यापक प्रणाली (मौनिटोरियल सिस्टम) का प्रयोग इंगलैंडमें १७९७ में प्रारंभ किया जिसमें ऊँची कक्षाके छात्र अपनेसे नीचेकी कक्षाको पढ़ाते थे। इस प्रकार एक ही अध्यापक सहस्रों छात्रोंको एक साथ पढ़ा सकता था। वह सबसे ऊँची कक्षाको पढ़ाते थे; उस कक्षाके छात्र अपनेसे नीची कक्षाको पढ़ाते चलते थे और यह क्रम नीचेतक बना चलता था। इसमें सबसे नीचेकी कक्षाके छात्रोंको छोड़कर शेष सभी नीचेकी कक्षाओंके अध्यापक रहते थे और ऊपरकी कक्षाओंके छात्रोंके शिष्य भी बने रहते थे। उधर लंकास्टरने भी इस प्रणालीका परिचय प्राप्त किया और दोनोंने मिलकर धर्मार्थ-विद्यालयों (चैरिटी स्कूलों) के लिये इनका प्रयोग प्रारंभ कर दिया जहाँ अत्यन्त अल्प व्ययमें केवल एक अध्यापक रखकर शिक्षा दी जाने लगी थी। फ्रांस, हौलैंड और डेनमार्क वालोंने भी इसका प्रयोग प्रारंभ कर दिया। किन्तु इस बीच पैस्टालौज़ीके प्रयोगोंने लोक-वृत्तिको इतना प्रभावित कर दिया था कि योरपमें ये विद्यालय अधिक न चल पाए किन्तु अमेरिकावाले इसे अबतक निबाहते चले आ रहे हैं। इस प्रणालीमें विनयकी भावना अपने आप आ जाती है क्योंकि प्रत्येक छात्र अपनेको अध्या-पक भी समझता है और अध्यापकके गुरुत्वका ध्यान रखकर स्वयं विनीत और सुशील बना रहता है। इसीलिये पूरे विद्यालयका वातावरण कुछ अधिक नियन्त्रित हो गया था और सब काम यन्त्रकी भाँति बड़े नियमसे अपने आप

होता चलता था क्योंकि पारस्परिक स्पर्धाके कारण सभी अपने अपने उत्तर-दायित्वका दृढ़तासे पालन करनेमें तत्पर रहते थे।

रौबर्ट ओवेनकी शिशुशाला

ज्यो-ज्यों शिक्षाकी भावना लोकप्रिय होती जा रही थी त्यों-त्यों सब अवस्थाओं और वर्गोंके लिये विद्यालय खुलने लगे। रौबर्ट ओवेन (१७७१-१८५२) ने देखा कि छोटे छोटे बच्चे घरोंमें माता-पिताओंके काममें बाधा देते हैं और माता-पिता भी उनकी रुचि और इच्छाको ठीक न समझने अथवा उनके अनुकूल उनके लिये समय न दे सकनेके कारण अपने बच्चोंको डाटते और मारते-पीटते हैं जिससे बच्चे चिड़चिड़े, रोगी, मन्दबुद्धि और अविनयी हो जाते हैं और आगे चलकर अध्यापकोंके लिये बड़ी समस्या उत्पन्न कर देते हैं। वह जब एक पुतलीघरमें व्यवस्थापक हुआ तब उसने देखा कि पाँचसे सात वर्षके बच्चोंसे पुतलीघरोंमें बारह-बारह घण्टे काम लिया जाता है और जब वे आठ-नौ वर्षके हो जाते हैं तब उन्हें निकाल दिया जाता है जिससे वे इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। बच्चोंकी यह दुर्दशा और दुरवस्था देखकर ओवेनका कोमल हृदय पसीज उठा। अतः उसने तीन वर्षके बच्चोंके लिये बहुत-सी शिशु-शालाएँ (इन्फ़ैंट स्कूल) खोल दीं। जिस समय इन बच्चोंके माता-पिता पुतलीघरोंमें काम करते थे, उस समय इन बच्चोंकी देख-रेख की जाती थी, छः वर्षसे कमके शिशुओंके लिये गाने, नाचने और खेलनेका प्रबन्ध किया जाता था। नौ वर्षसे कमके बच्चोंसे पुतलीघरोंमें काम लेना बन्द किया गया और १८१७ में बच्चोंको आचार-व्यवहारकी नैतिक शिक्षा देनेका कार्यक्रम बनाया गया। ये शिशुशालाएँ थोड़े ही समयमें अत्यन्त लोकप्रिय हो गईं। सन् १८१८ में ओवेन, ब्रौवम तथा जेम्स मिलने मिलकर लन्दनमें एक शिशु-विद्यालय (इन्फ़ैन्ट स्कूल) खोला और इन शिशुशालाओंके प्रबन्ध तथा शिशुशालाओंके अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये एक 'स्वदेश तथा स्वशासित देशों-की शिशुशाला-समिति' (होम ऐंड कोलोनियल इन्फ़ैन्ट स्कूल सोसाइटी) स्थापित कर दी। पहले तो इन विद्यालयोंमें पुरुष ही अध्यापक थे किन्तु पीछे यह अनुभव किया गया कि बच्चोंकी शिक्षाका कार्य स्त्रियाँ अधिक योग्यता और कुशलतासे कर सकती हैं, अतः धीरे-धीरे इन शिशुशालाओंमें स्त्रियाँ ही शिक्षाके लिये नियुक्त कर ली गईं।

पुतलीघरोंमें पाँचसे सात वर्षके बच्चोंसे १२-१२ घण्टे काम लिया जाता देखकर ओवेनने शिशु-पाठशालाएँ खोल दी। जिनमें बच्चोंको खेलने और गाने-नाचनेकी शिक्षाके साथ नैतिक आचार - व्यवहारकी शिक्षा दी जाती थी।

राजकीय शिक्षा-व्यवस्था

ऊपर हम बता आए हैं कि उन्नीसवीं शताब्दीमें यह मान लिया गया कि जनताको शिक्षित करनेका भार राजकीय शासनपर है। सर्वप्रथम तृतीय फ्रेडरिक विलियमने नैपोलियन-द्वारा प्रशाके पराजयके पश्चात् यह निश्चय किया कि राजकीय शासनको शिक्षा-कार्य अपने हाथमें ले लेना चाहिए। फलतः पढ़ना सबके लिये अनिवार्य कर दिया गया, उचित पाठ्यपुस्तकें बनवाई गईं, अध्यापकोंकी शिक्षाका प्रबंध किया गया और सबको धार्मिक विचारकी स्वतन्त्रता दे दी गई। इसके निमित्त १७९४ में शिक्षा-संबंधी 'व्यापक नियमावली' (जनरल कोड) प्रकाशित किया गया और शिक्षाका कुल प्रबन्ध राज्यने अपने हाथमें ले लिया। फ्रांसमें उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारंभ तक राज्यने कुछ नहीं किया किन्तु नैपोलियन जब सम्राट् हुआ तब उसने आध्यात्मिक विद्यालयों और महाविद्यालयोंको १८०८ में 'युनिवर्सिटी दे फ्रांसे' (फ्रांस विश्वविद्यालय)के हाथ सौंप दिया। धीरे-धीरे वहाँ भी प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य हो गई, अध्यापकोंके लिये शिक्षा-पीठ खुल गए, और कन्याओंकी शिक्षाका भी अलग प्रबन्ध कर दिया गया। इस प्रकार समूचे देशमें पूरी शिक्षा-व्यवस्था राज्यने अपने हाथ में ले ली।

सबसे पहले जर्मनीमें राजाने शिक्षाका प्रबन्ध हाथमें लेकर नियमावली बनाकर शिक्षाका प्रबन्ध किया। फ्रांसमें भी प्राथमिक विद्यालय अनिवार्य। शिक्षा, शिक्षापीठ, विश्वविद्यालय खोले गए और पादरियोंके हाथसे शिक्षा मुक्त हो गई। इंगलैंडमें भी पहले कुटुम्ब और गिरजाघरपर शिक्षाका भार था किन्तु पीछे शिक्षासमति (बोर्ड औफ़ एजुकेशन) बनाया गया।

इंगलैंडमें भी पहले तो शिक्षाका भार कुटुम्ब और गिरजाघरपर था किंतु फिर सन् १८३३ से विद्यालयोंको कुछ सहायता दी जाने लगी, परीक्षाफलके अनुसार द्रव्य दिया जाने लगा और धीरे धीरे १८७६में शिक्षा अनिवार्य करके १८९९ में वहाँ भी राजकीय शिक्षा-समिति (बोर्ड औफ़ एजुकेशन)बन गई।

वर्त्तमान विद्यालयोंकी प्रवृत्ति

बीसवीं शताब्दीमें इन विद्यालयोंमें व्यावसायिक शिक्षा अधिक तत्परतासे दी जाने लगी क्योंकि सभी राष्ट्र बड़े वेगसे अपने उद्योग-धन्धोंका अभिवर्द्धन करते जा रहे थे। साधारण विषयोंकी शिक्षाके साथ साथ डेनमार्क, इतालिया (इटली), फ्रांस और जर्मनीमें कृषि-विद्यालय खोले गए। वैज्ञानिक आविष्कारोंने इन सब प्रकारके प्रयासोंको

व्यावसायिक शिक्षाकी प्रबलता, कृषिकी शिक्षा, फ्रांस और जर्मनीमें जड़, विकलांग

और हीन-साधारण सबनौर्मल) बालकोंकी शिक्षाका प्रबन्ध ।

बड़ी शक्ति और समर्थता प्रदान की । अनेक प्रकारके व्यवसायोंके लिये अनेक मशीनें बनने लगीं और इन मशीनोंने इतनी उन्नति की कि आज मानव-जीवनका कोई ऐसा कार्य नहीं है जो मशीन न कर पा रही हो ।

एद्वार्द सेग्वींके प्रयोग

एद्वार्द सेग्वींके प्रयोगसे मन्दबुद्धि बालकोंके लिये विद्यालय खोले गए जिनका अनुसरण अन्य देशोंने भी किया ।

जहाँ अनेक प्रकारके अगणित विद्यालय खुलते चले जा रहे थे वहीं १८३७ में एद्वार्द सेग्वींने जड़, लहूल, मूर्ख, सनकी तथा मन्दबुद्धि बालकोंको शिक्षा देनेके लिये फ्रांसमें एक विद्यालय खोला, किन्तु उसे अपने प्रयोगमें अधिक सफलता १८५१ में संयुक्त-राज्य अमेरिकामें जाकर मिली । यद्यपि ऐसे विद्यालयोंकी व्यवस्थाका भार राज्य अपने ऊपर न ले सके किन्तु इनका प्रचार जर्मनी, इंगलैंड, फ्रांस, स्विस्सरलैंड, आस्ट्रिया और नार्वेमें बहुत हुआ और वहाँ हतमानस (मेंटली डेफ़िशेंट) छात्रोंके लिये अच्छे-अच्छे मनोवैज्ञानिक विद्यालय खुले । इन विद्यालयोंमें आँख, कान, मुँह, नाक और त्वचा अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंको प्रभावित करके मस्तिष्कमें उनके ज्ञान-केन्द्रोंको संस्फुरित और चेतन करनेके लिये अनेक साधन, यन्त्र और क्रियाएँ निर्धारित की गईं जिनके द्वारा मन्दबुद्धि और हतमानस बालकोंका बड़ा कल्याण हुआ ।

विकलांग बालकोंकी शिक्षा

फ्रांसमें बहरे और अन्धोंकी शिक्षाके प्रयोग, जर्मनीमें भी उनका विस्तार ।

इनके अतिरिक्त अन्धे और बहरे बालकोंको बौद्धिक समर्थता प्रदान करनेके लिये भी अनेक शिक्षाशास्त्री प्रयत्नशील थे जिनमें फ्रांसके एबी द लैवी (१७१२-८९) का नाम उल्लेखनीय है जिसने मनोविज्ञानका आश्रय लेकर बहरे बालकोंको शिक्षित करना प्रारम्भ किया जिसमें पहले शारीरिक क्रियाओं और चेष्टाओंसे शिक्षा दी जाती थी किन्तु अब मौखिक हो चली । अब तो बिजलीका ऐसा चोंगा आ गया है जिससे वज्र बधिर भी सुन सकते हैं अतः बहरोंकी साधारण शिक्षा भी सुलभ हो गई है । अन्धोंकी शिक्षा पहले-पहल फ्रांसमें ही वैलेन्तिने हौवेने १७८४ में चलाई, फिर १७९१ में इंगलैंडमें लिवरपूलमें एक अन्धविद्यालय खोला गया और १८०६ तक जर्मनीमें भी अनेक अन्धविद्यालय खोल दिए गए । पहले तो कुछ धार्मिक और लोक-

हितैषिणी संस्थाएँ ही इनका संचालन करती रहीं किन्तु पीछे राज्योंने इनका प्रबन्ध अपने हाथमें ले लिया।

अतिमेध (ऐब्नौर्मल) बालक

बिने द्वारा अतिमेध (ऐब्नौर्मल) बालकोंके लिये प्रयोग बालकोंके स्वास्थ्यकी परीक्षा भी।

जहाँ एक ओर हत-मानस तथा विकलांगोंकी शिक्षाके आयोजन किए जा रहे थे वहीं फ्रांसीसी विद्वान् एल्फ्रे बिने (१८५७-१९११) ने ऐसे प्रयोग किए जिनके द्वारा यह जानना संभव हो गया कि किस बालकमें कितनी मात्रामें मेधा है जिससे अतिमेध बालकको साधारण बालकोंके साथ न घसीटकर उसकी शिक्षा इस प्रकार सुयोजित कर दी जाय कि वह तीव्र गतिसे अपना विकास करता जाय, उसे दूसरोंके साथ-साथ रुकते हुए न चलना पड़े। ऐसे प्रयोग अब संयुक्त-राज्य अमेरिकामें विशेष रूपसे हुए हैं और अब योरपमें भी इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है। केवल इतना ही नहीं, अब तो बालकोंके शारीरिक विकासपर भी ध्यान दिया जाने लगा है, उनके स्वास्थ्यकी निरंतर परीक्षा की जाती है और उचित उपचारके लिये आदेश भी दिए जाते हैं। इसी प्रकार अध्यापनकला तथा शिक्षाशास्त्रको भी अधिक वैज्ञानिक तथा मनोविज्ञान-सिद्ध बनानेका प्रयत्न हो रहा है जिनका विवरण हम आगे देंगे।



जॉन डुई (१८५९)



प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक
(१८७४)

१७

शिक्षामें प्रयोजनवाद (प्रैग्मैटिज़्म)

जौन ड्यूई और प्रयोग-प्रणाली

उन्नीसवीं शताब्दीमें जिस वेगसे बहुमुखी जागरण हो रहा था उसने शिक्षा-क्षेत्रको भी कुछ कम प्रभावित नहीं किया। पीछे हम बता चुके हैं कि बौद्धिक, नैतिक, उपयोगितावादी, क्रियावादी, विज्ञानवादी तथा उदार-शिक्षा-वादी विद्यालयोंके साथ-साथ शिक्षाध्यापक-प्रणालीके विद्यालय, शिशु विद्यालय, विकलांग तथा हतबुद्धि बालकोंके लिये भी अनेक विद्यालय सब देशोंमें बड़ी तीव्र गतिसे खोले जाने लगे थे। इन विद्यालयों तथा सार्वजनिक जीवनकी अनेक समस्याओंने जो अनेक प्रकारकी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं उनकी दृष्टिसे सार्वजनिक शिक्षापर नई दार्शनिक पद्धतिसे चिन्तन और मनन किया जाने लगा। इन व्यावहारिक दार्शनिकोंमें अमेरिकाके आचार्य जौन ड्यूईका यश विशेप वर्णनीय है जिन्होंने केवल एक विशेप सनक, आवेश या केवल नई सूझका प्रयोगमात्र करनेकी वृत्तिसे ही नहीं वरन् वास्तवमें साधु, गंभीर सत्प्रवृत्तिसे शिक्षाके सब पक्षोंका, उनके कारण, परिस्थिति तथा परिणामके अनुसार परीक्षण करना प्रारम्भ किया। इसलिये ड्यूईको सब लोग प्रयोजनवादी या प्रैग्मैटिस्ट कहते हैं।

जौन ड्यूई

ड्यूईका जन्म अमेरिकामें सन् १८५९ में हुआ था। आज अमेरिकामें शिक्षाकी जो पद्धति चल रही है उसके सब अंगों और क्षेत्रोंपर ड्यूईके शिक्षा-सिद्धान्तका सबसे अधिक प्रभाव है। आजतकके जितने भी शिक्षा-शास्त्री हुए हैं सबका यही सिद्धान्त और संकेत रहा है कि शिक्षकका उद्देश्य मनुष्यके भावी-जीवनके लिये सहायक होना है। भावी जीवन-का आदर्श और रूप भले ही सबका भिन्न हो किन्तु सबके उद्देश्यमें प्रायः समानता ही रही। ड्यूईने इस सिद्धान्तका मूलतः खंडन करके यह प्रतिपादित किया कि शिक्षा स्वयं ही जीवन है, वह जीवनके लिये तैयारी

विद्यालयका उद्देश्य यह नहीं है कि वह भावी-जीवनके लिये तैयार करे, उसका उद्देश्य यह है कि वह विद्यार्थि-जीवन-के समयकी आवश्य-कताओंकी पूर्त्तिके लिये

समर्थता तथा योग्यता प्रदान करनेकी व्यवस्था करता रहे।

नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि बालक जब विद्यालयमें प्रवेश करता है उस समय भी उसकी अवस्थाके अनुरूप उसकी कुछ आवश्यकताएँ रहती हैं, उन आवश्यकताओंकी उसी समय पूर्त्ति करते चलना ही वास्तविक शिक्षा है। 'पढ़ोगे तो आगे तुम्हारे काम आवेगा' के 'बदले 'जो सीखते रहोगे तुम्हारे काम आता रहेगा' इस सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए ड्यूईने समझाया कि आगे काममें आनेवाले विषय पढ़ानेके बदले विद्यालयका काम यह है कि वह छात्रोंकी रुचिके अनुरूप उनकी अभिवृद्धि करनेका आयोजन करे। इसीके साथ-साथ उसने यह भी बताया कि शिक्षाका उद्देश्य सामाजिक है, वैयक्तिक नहीं। इन विचारोंने अमेरिकाकी जागरूक और विकासशील जनताके मनमें ऐसी क्रान्ति उत्पन्न कर दी कि इस प्रकारकी जो तीव्र भावधाराएँ रूढ़ शिक्षा-पद्धतिके विरुद्ध धीरे धीरे गूँज रही थीं, वे भैरव स्वरमें गरज उठीं और उन्होंने ड्यूईके विचारोंकी दार्शनिक व्याख्या करके उनका समर्थन करना प्रारंभ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि अमेरिकाकी वर्त्तमान शिक्षा-पद्धतिमें बालकों या विद्यार्थियोंके भविष्यमें काममें आनेवाली शिक्षा-योजनाके बदले ऐसे विषयोंकी शिक्षाकी व्यवस्था की जाने लगी जो तत्काल विद्यार्थि-जीवन अथवा अध्ययनकालकी अवस्थामें ही काम आवें। क्योंकि ड्यूईका यह मत है कि यदि हम पाठ्यक्रममें ऐसे विषय रक्खेंगे जिनका महत्व, परिणाम तथा लाभ आगे जीवनमें प्रकट होगा तो निश्चय ही हमें असफलता हाथ लगेगी। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों दृष्टियोंसे ड्यूईका यह मत अमेरिकामें पूर्णतः मान्य किया जा चुका है।

विद्यालय या बालकोंका स्वतन्त्र राज्य

जहाँ संसारके सभी देशोंमें शिक्षाको सामाजिक दृष्टिसे व्यवस्थित किया जा रहा था और यह कहा जा रहा था कि शिक्षा समाजके लिये देनी चाहिए, सामाजिक योग्यता उत्पन्न करनेके लिये देनी चाहिए, वहाँ ड्यूईने स्पष्ट घोषित किया कि यद्यपि सामाजिक होनेके नाते मनुष्यको अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ समाज-सापेक्ष्य रखनी ही चाहिएँ किन्तु प्रत्येक मनुष्यकी अपनी स्वतन्त्र व्यक्तिगत इच्छाएँ और भावनाएँ होती हैं जिन्हें वह अपनी रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार तृप्त करना चाहता है। अतः उसे निरन्तर ऐसे अवसर देते रहना चाहिए जिनमें वह व्यक्तिगत आकांक्षाओंकी तृप्तिका योग कर सके और अपने सामर्थ्य, अपनी योग्यता और अपनी सुरुचिके अनुकूल अपने विकासका क्रम स्थिर कर सके। समाजमें ऊँच-नीचका भेद उसे मान्य नहीं था इसीलिये उसने अपनी शिक्षा-योजनामें विद्यालयको केवल कुछ पढ़ने और सीखनेका

केन्द्रभर न मानकर उसे एक ऐसा सुशासित प्रजातन्त्र माना है जिसमें सब बालक मिलकर शारीरिक तथा बौद्धिक श्रमसे परस्पर सहयोग और सद्भावके साथ अत्यन्त शान्तिसे विद्यालयका समस्त प्रबन्ध अपने आप करें । शिक्षामें स्वराज्य, स्वशासन तथा स्व-व्यवस्थाकी भावना नितान्त नूतन और विलक्षण है इसलिये इसका मूल आधार भली भाँति समझ लेना चाहिए । ड्यूई मानता था कि शिक्षाके उद्देश्यको हम समाज और उसके व्यापक उद्देश्यसे अलग नहीं कर सकते और न हम शिक्षाको कुछ ऐसा ही रूप दे सकते हैं कि वह समाज-द्वारा अपेक्षित योग्यताकी पूर्ति न कर पावे । इसलिये हमें चाहिए कि हम उस समाजको सम्पूर्ण अच्छे गुणोंके साथ विद्यालयमें ही प्रतिष्ठित कर दें और विद्यालयमें प्रवेश करते ही छात्रको यह अनुभव करनेका अवसर दें कि वह समाजमें प्रविष्ट हो गया है जहाँ वह अपनेसे बड़े, बराबरवाले और अपनेसे छोटे छात्रोंके साथ उचित व्यवहार करना जान और सीख सके और उनके साथ उस विद्यालय-समाजके सर्वांगीण विकासमें सक्रिय शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा नैतिक सहयोग दे सके । इस सक्रिय सहयोगसे उसकी वृत्ति इतनी स्थिर, व्यवस्थित, परिपक्व और सिद्ध हो जायगी कि विद्यालय-जीवन समाप्त करके सामाजिक जीवनमें प्रवेश कर लेनेपर उसे यह नहीं प्रतीत होगा कि मैं किसी नये अपरिचित क्षेत्रमें प्रवेश कर रहा हूँ ।

प्रत्येक बालकको अपनी रुचि और सामर्थ्यके अनुकूल विकास करनेका अवसर मिलना चाहिए । यह तभी सम्भव है जब प्रत्येक विद्यालय छोटासा बाल-राज्य बना दिया जाय जिसमें सब प्रबन्ध छात्रोंके ही हाथमें रहे जिससे वे अपने परिश्रमसे सब कार्य कर सकें ।

छात्रोंकी वृत्ति-परीक्षा

इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं कि उस समय कहीं भी ऐसे विद्यालय नहीं थे जो समाजकी स्वाभाविक आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकते हों अथवा जिन्हें हम समाजका प्रतिनिधि कह सकते हों क्योंकि जिन परिस्थितियोंमें विद्यालय चलाए जा रहे थे और जिस क्रमसे वहाँका पाठन-विधान चलाया जा रहा था वह समाजके जीवन और उद्देश्यसे तनिक भी सामंजस्य नहीं रखता था । इस प्रकार जो शिक्षा दी जा रही थी वह किसी भी प्रकार समाजकी स्वाभाविक गतिके अनुकूल नहीं थी । इस सामंजस्यको व्यवस्थित

बालकोंकी रुचि और वृत्ति समझकर उन्हींकी पूर्त्तिके निमित्त शिक्षा दी जाय और उन्हें इस योग्य बनाया जाय कि वे तथ्यको पहचानकर

उसे ग्रहण कर सकें क्योंकि तथ्य ही उपयोगी ज्ञान है ।

करनेके लिये ड्यूईने यह सूत्र बताया कि बालककी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और उसके कार्योंका ठीक-ठीक ज्ञान किया जाय और तदनुसार शिक्षा-योजना ऐसे ढंगसे बनाई जाय कि वह बालककी रुचि और प्रवृत्तिके भी अनुकूल हो और उसकी स्वाभाविक क्रियाएँ भी उसीके अंतर्गत उचित रूपसे अन्तर्हित और समन्वित हो सकें । ड्यूईका यह भी मत है कि छात्रको इस प्रकार कुशल बना देना चाहिए कि वह जो ज्ञान प्राप्त करे उसके तथ्यका निर्णय स्वयं अपनी बुद्धि और अपने अनुभवसे करे, केवल किसीके कहने मात्रसे उसे तथ्य न समझ बैठे । बालककी बुद्धि इतनी विवेकशील हो जानी चाहिए कि वह स्वयं प्रत्येक वस्तु, घटना अथवा क्रियाके सब पक्षोंका निष्पक्ष और सूक्ष्म परीक्षण करके उसकी वास्तविकताका स्वयं शोध कर सके । इसके लिये ड्यूईका यह प्रस्ताव है कि बालकको इतना चेतन, जिज्ञासाशील बना दिया जाय कि वह अपनी प्रेरणासे प्रत्येक वस्तुके तथ्योंको जानने, पहचानने और समझनेके लिये प्रयत्नशील बना रहे क्योंकि ड्यूईके अनुसार मनुष्यके लिये केवल वही ज्ञान उपयोगी है जो सत्य होगा । यदि वह किसी प्रकारके अतथ्यको ज्ञान मान बैठेगा तो निश्चित रूपसे उसे धोखा खाना ही पड़ेगा ।

समाज और शिक्षा

बालककी स्वाभाविक रुचि और कार्यवृत्ति देखकर शिक्षाके द्वारा उनकी पूर्त्ति करनेका यह तात्पर्य कभी नहीं समझना चाहिए कि ड्यूई प्रत्येक बालकको व्यक्तिवादी बना देना चाहता है और समाजसे उनका सम्बन्ध विच्छिन्न कर देना चाहता है । वास्तवमें व्यक्तियोंके समूहसे ही समाजका निर्माण होता है । यदि समाजका प्रत्येक व्यक्ति दूसरेकी सुविधाका ध्यान रखते हुए अपना विकास करता चले तो समाज स्वयं समुन्नत हो जाय, उसके लिये सामाजिक शिक्षा देनेकी आवश्यकता नहीं रह जायगी क्योंकि समाजके लिये हम जिस संस्कार या सभ्यताकी आवश्यकता समझते हैं उसे किसी प्रकारकी सामाजिक शिक्षा-दीक्षासे सिद्ध करना संभव नहीं है । उसके लिये तो प्रत्येक व्यक्तिको सुसंस्कृत बनाना पड़ेगा जो आत्म-विकासके साथ-साथ पर-विकासकी भावनाको भली-भाँति आत्मसात् कर चुका हो । इस प्रकार विचार करनेपर ज्ञात होगा कि जो शिक्षा प्रत्यक्षतः व्यक्तिवादी

प्रत्येक व्यक्ति श्रेष्ठ हो जायगा तो समाज अपने आप ठीक हो जायगा अतः शिक्षाका उद्देश्य ही है प्रत्येक व्यक्तिकी स्वाभाविक रुचिके अनुसार उसका विकास करना ।

प्रतीत होती है वह परिणामतः शुद्ध समाजवादी है जिसमें व्यक्तिके मंगलके साथ समाजके मंगलका स्वाभाविक परिणाम आ जाता है। ड्यूईका मत है कि इस प्रकारकी वैयक्तिक आचार-निष्ठा साधनेके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम बालकोंके मनमें ऐसी स्फूर्त्ति उत्पन्न कर दें कि वह प्रत्येक वस्तुसे आत्मीयता स्थापित करके सक्रिय रूपसे उसका विश्लेषणात्मक अध्ययन कर सके क्योंकि यही स्फूर्त्ति और क्रियाशीलता आगे चलकर उसमें इतनी नैतिक बुद्धि भर देगी कि उसके सहारे मनुष्य अपनी नैतिकताका प्रासाद खड़ा कर सकता है और इस प्रकारकी व्यक्तिगत नैतिकता आगे चलकर समष्टि रूपसे सभ्यता और संस्कृतिके रूप-निर्माणमें सहायक हो सकती है। इसीके द्वारा हम ऐसे सदाचारी, कुशल, चरित्रवान् व्यक्तियोंका समूह खड़ा कर सकते हैं जो अत्यन्त सफलताके साथ समाजका नेतृत्व कर सकें। अतः शिक्षाका एक यह भी उद्देश्य हो गया कि हम बालकोंमेंसे ऐसोंको छाँट लें जिनमें नेतृत्वकी क्षमता हो और फिर उनको तदनुकूल शिक्षित तथा अभ्यस्त करें क्योंकि समाजकी सामूहिक अभ्युन्नति तभी संभव है जब हम योग्य व्यक्तियोंको दायित्वपूर्ण पदों और स्थानोंपर प्रतिष्ठित करनेकी सुविधा दें। इस प्रकारकी छाँट करते समय हमें यह नहीं देखना चाहिए कि अमुक-बालक किस कुल या वर्गसे आया है। हमें तो निष्पक्ष होकर उसके गुणोंका परीक्षण करना चाहिए। प्रायः अधिकांश शिक्षा-शास्त्रियोंने अपनी शिक्षा-योजना बनाते समय बालिकाओंकी शिक्षाकी उपेक्षा की है किन्तु ड्यूईने विशेष रूपसे कहा है कि शिक्षा-योजना बनाते समय हमें बालक-बालिका दोनोंपर समान ध्यान देना चाहिए क्योंकि एककी उपेक्षा करनेसे हम समाजका एक अंग ही व्यर्थ तथा अपंग बनाए रक्खेंगे जिसका परिणाम यह होगा कि समाज ठीकसे पनप नहीं सकेगा। ड्यूईके सिद्धान्तोंमें जो आदर्शवाद झलकता है वह अव्यवहार्य तथा असंभव आदर्शवाद नहीं है क्योंकि ड्यूई स्वयं कई स्थानोंपर स्पष्ट कह चुका है कि किसी भी विचारकी वास्तविकता इसी बातसे निश्चित की जा सकती है कि वह कहाँतक सत्य और वास्तविक है, इसलिये उसके आदर्शवादका आधार ही शुद्ध तथ्यवाद या यथार्थवाद है। ड्यूई स्थिरतावादी (स्टैटिक) नहीं है। वह यह नहीं मानता कि शिक्षाकी एक पद्धति बनाकर जन्मजन्मान्तरके लिये निश्चिन्त होकर बैठ रहा जाय। शिक्षा तो समाजकी पतिव्रता प्रेयसी है जिसे अपना स्वरूप समाजकी प्रेरणा और आवश्यकताके अनुसार बदलते रहना चाहिए क्योंकि स्थिर रहनेसे मनुष्यकी स्वाभाविक स्फूर्त्तिमें मोर्चा लग जायगा, वह कुंठित हो जायगी और श्रेष्ठ पद्धति भी क्रियाहीन होनेसे समाजका विकास रोक देगी। इसीलिये ड्यूईने इस स्फूर्त्तिको बनाए रखनेके लिये यह योजना उपस्थित की

कि पाठ्य विषयोंमें हस्तकौशलकी क्रियाओंका बाहुल्य हो। उसकी धारणा है कि यदि हम शिक्षण-विधिमें हस्तकौशलका प्रमुख योग दें तो निर्माण करने, यन्त्रों तथा वस्तुओंका प्रत्यक्ष प्रयोग करने, खेलने, प्रकृतिसे मेलजोल बढ़ाने, वर्णन करने और शारीरिक कार्य करनेके द्वारा हम शिक्षा देनेकी योजना अधिक पूर्ण बना सकते हैं।

लोकसेवासे शिक्षा

जहाँ एक ओर ड्यूईका यह विश्वास है कि व्यक्तिगत रुचिका परीक्षण करके सबको शिक्षा देनी चाहिए वहाँ उसका यह भी कथन है कि जबतक कोई व्यक्ति लोकसेवाके कामोंमें सम्मिलित होकर सामूहिक जीवनका अनुभव नहीं प्राप्त कर लेता तबतक उसकी बुद्धिका ठीक-ठीक विकास नहीं हो पाता। इसका तात्पर्य यह है कि हमें बालकोंकी बुद्धि व्यावहारिक बनानी चाहिए जिससे वह बुद्धिको इतना व्यवस्थित कर दे कि वह प्रत्येक प्राप्त अनुभवके ठीक उद्देश्य और स्वरूपको समझकर जीवनमें पुनः वैसा अनुभव प्राप्त होनेपर उचित तथा हितकर आचरण करनेकी प्रेरणा और विवेकशीलता ग्रहण करे। ड्यूईका मत है कि जैसे शिक्षण-विधि और पाठ्य विषयमें मौलिक अभिन्नता है वैसे ही किसी उद्देश्यकी प्राप्ति और उस उद्देश्यको प्राप्त करनेके निमित्त प्रयोग किए जानेवाले साधनोंमें भी मूलतः अभिन्नता है अतः पाठ्य विषयका अध्ययन करने अथवा किसी उद्देश्यको सिद्ध करनेकी चेष्टामें न तो हम शिक्षण-विधिकी उपेक्षा कर सकते न साधनोंकी। ये शिक्षण-विधियाँ तथा ये साधन सब विभिन्न पाठ्य विषयों तथा उद्देश्योंकी स्वाभाविक प्रकृतिके अनुकूल हों तभी ठीक होगा।

सामूहिक रूपसे लोकसेवाके कामोंमें सम्मिलित होनेसे बुद्धिका विकास। बालकको अपने अनुभवका वर्णन करना और उसे कार्य रूपमें परिणत करना चाहिए। छात्र और अध्यापकको परस्पर सहयोगसे एक दूसरेसे शिक्षा लेनी चाहिए। नैतिक विधानसे शिक्षा पानेसे ही जीवन व्यवस्थित तथा सुखी हो सकता है।

ड्यूईका यह भी विश्वास है कि आँख मूँदकर अपने अध्यापककी सब बातोंको प्रमाण मानने, सब बातोंमें आज्ञा पालन करने और दबकर या डरकर जिसने जैसा कहा वैसा कर देनेसे बालकके सामाजिक व्यक्तित्वका विकास किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हैं। उसे निर्भयताके साथ अपनी प्रवृत्तियोंको कार्य रूपमें परिणत करना चाहिए और पूर्ण स्फूर्तिके साथ अपने अनुभवोंकी अभिव्यंजना करनी चाहिए अर्थात् उसे स्वावलंबी होना चाहिए। अध्यापकोंको भी चाहिए कि वे प्रत्येक बातमें आज्ञा दे-देकर छात्रोंको कायर तथा स्वप्रवृत्तिहीन

न बना दें। चाहिए तो यह कि छात्र और अध्यापक दोनोंको पारस्परिक सहयोग तथा सम्पर्कसे एक दूसरेसे शिक्षा लेनेका अभ्यास बढ़ाना चाहिए। इस सबका तात्पर्य यह है कि इस प्रकारके नैतिक वातावरण तथा विधानमें जब बालकको शिक्षा दी जायगी तभी वह अपना जीवन पूर्णतः व्यवस्थित, सुखी और सफल कर सकेगा।

शिक्षाका उद्देश्य

ऊपर ड्यूईके शिक्षा-संबंधी विचारोंकी जो हम मीमांसा कर चुके हैं उससे यह समझनेमें कोई कठिनाई नहीं रही होगी कि वह शिक्षाके द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देना चाहता है जिसमें प्रत्येक बालकको सम्पूर्ण मानव जातिके सामाजिक अभ्युत्थानमें सक्रिय योग देनेका अवसर मिल सके, वह अपने पिछले अनुभवको और आगे प्राप्त होनेवाले अनुभवको ठीक-ठीक समझ सके, बालकमें ऐसी समर्थता उत्पन्न कर सके कि वह समाजमें जिस परिस्थितिमें स्थापित किया जाय उसमें वह सफलता प्राप्त करे और सुखसे रहे, बालकमें ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न कर सके कि वह निरन्तर उन्नति करनेकी इच्छा करता रहे और इच्छा पूर्ण करनेके साधन प्रस्तुत करता रहे। किन्तु यह तभी संभव है जब बालकको समाजके सामूहिक कार्योंमें सक्रिय सहयोग देनेके अवसर मिलते रहें। ऐसे अवसरोंपर जो बालक अत्यन्त लगनसे काम करेंगे उन्हें विभिन्न प्रकारके कार्य करनेसे और विभिन्न प्रकारके लोगोंके सम्पर्कमें आनेसे उस प्रकारका कार्य सम्पन्न करनेकी क्षमता तो उत्पन्न हो ही जायगी, साथ ही उन सब व्यक्तियोंके अनुभवोंका भी लाभ प्राप्त होगा जिसके साथ उसे कार्य करनेका अवसर मिला है। ड्यूईने सामाजिक वृत्तिके ऐसे व्यक्तिको ही सदाचारी या सच्चरित्र बतलाया है जिसके हृदयमें लोकसेवा और लोक-कल्याणकी सात्त्विक भावना हो। यही भावना ड्यूईकी समझमें सच्चा आत्मज्ञान है और यही आत्मज्ञान शिक्षाका मूल उद्देश्य है। ड्यूईके मतानुसार बालकका एक व्यक्तिपक्ष है, दूसरा उसका समाज-पक्ष है। बालकके व्यक्तिपक्षका तात्पर्य यह है कि हम बालकको जो कुछ सिखावें, पढ़ावें या समझावें वह बालककी अपनी रुचि, प्रवृत्ति और योग्यताके अनुकूल होनी चाहिए। उसके समाज-पक्षका तात्पर्य यह है कि वह जो भी सीखता चले उसे हम इस प्रकार व्यवस्थित करते चलें

शिक्षाके द्वारा मानव-जातिके सामाजिक अभ्युत्थानमें योग देनेकी क्षमता और प्रत्येक परिस्थितिमें सफलतापूर्वक जीवन-निर्वाह करनेकी शक्ति। लोक - कल्याणकी भावना ही वास्तविक आत्मज्ञान है और यही शिक्षाका मूल उद्देश्य है।

कि वह अपने उस अर्जित ज्ञानसे लोकहित तथा लोक-कल्याणके कार्योंकी सृष्टि करता रहे अथवा उनमें सहयोग देता रहे। तात्पर्य यह है कि बालककी शिक्षा न तो शुद्ध व्यक्तिवादी बनी रह जाय और न इतनी सामाजिक हो जाय कि बालकका व्यक्तित्व लुप्त हो जाय, उभरने या पनपने न पावे।

ड्यूईका शिक्षण-क्रम, प्रयोग-प्रणाली और किलपैट्रिक

अध्यापकका काम केवल निरीक्षण और छात्रोंकी स्वाभाविक वृत्तिके अनुकूल निर्देश। प्रयोग-प्रणालीका सूत्रपात। अपने स्वाभाविक अनुभवसे ज्ञान-प्राप्ति, सहयोग-भावनाका विकास

अभीतक जितनी शिक्षण-संस्थाएँ शिक्षा दे रही थीं उनमेंसे प्रायः सभीमें अध्यापकोंका बोलबाला था। वे जो कहते थे वही बालकको करना पड़ता था, जो बतला देते थे वही रटना पड़ता था। उसमें अपनी प्रेरणा, अपनी स्फूर्त्ति कुछ भी नहीं थी। ड्यूईने अध्यापकोंका यह व्यापक प्रभुत्व भी समाप्त किया और उनका काम भी सरल कर दिया। अब उनका काम यही रह गया कि वे चुपचाप बैठकर बालकोंकी गतिविधिका निरीक्षण करें और उनकी स्वाभाविक वृत्तियोंको देख-समझकर उनके अनुरूप उन्हें उत्साहित करके ऐसे कार्योंमें प्रवृत्त करें जो उनके लिये लाभकर हों। ड्यूईका कहना है सब बालकोंकी रुचि एक-सी नहीं होती, उनमें बहुत बातोंमें भेद होता है। अध्यापकका कर्त्तव्य है कि वह ऐसे सभी भेद समझकर उनके अनुरूप प्रत्येक बालकके लिये अलग अलग कार्यकी व्यवस्था करे। जब प्रत्येक बालकको अपनी अपनी रुचि और प्रवृत्तिके अनुरूप कार्य मिल जायगा तो उनमें परस्पर कलह, द्वेष, वैर नहीं होगा, शील और विनयकी भावना उनमें स्वभावतः आ जायगी और उनका नैतिक उत्थान स्वयं हो जायगा। इसीलिये ड्यूईने नित्य-कार्यक्रम (टाइम टेबिल)का विरोध किया है और बताया है कि आगेका कार्य पहलेसे बता देनेसे छात्रोंके मनमें विरसता उत्पन्न हो जाती है, उनकी स्वाभाविक रुचिमें बाधा पड़ती है और वे आधे मनसे काम करते हैं इसलिये वह चाहता है कि कोई काम पहलेसे निश्चित न किया जाय, जैसा अवसर आता रहे उसके अनुकूल नया-नया कार्यक्रम नित्य बनता रहे, छात्र यह न समझ पावें कि हम किसी विद्यालय-रूपी यन्त्रके एक अंग बनकर एक नियमित क्रमसे सब काम करनेके लिये पहलेसे ही बँधे हुए हैं। नित्य नवीन कार्य-योजना देखकर उन्हें कुतूहल होगा, जिज्ञासा होगी, स्फूर्त्ति होगी और नवीन कार्यमें रुचि भी होगी और यह नवीन कार्य भी अध्यापककी ओरसे प्रस्तुत नहीं होगा, स्वयं छात्र ही अपनी ओरसे उसका प्रस्ताव करेंगे। हाँ, अध्यापक ऐसी

परिस्थिति अवश्य उत्पन्न करता चले कि छात्र उसके अनुकूल कार्यका प्रस्ताव कर सकें। यही प्रणाली प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड) कहलाती है और ड्यूईके प्रयोगात्मक विद्यालयोंमें इसी प्रणालीसे शिक्षा दी जाती है। ड्यूईके प्रसिद्ध शिष्य किलपैट्रिकने इस प्रणालीकी विस्तृत मीमांसा की है जिसका विवरण आगे दिया गया है। इस प्रणालीसे विद्यालयके स्वरूपमें बड़ा अन्तर आ गया है। कक्षाओंमें निष्क्रिय बैठकर अध्यापकका प्रवचन सुननेके बदले चारों ओर सक्रियता, स्फूर्त्ति और चहल-पहल छा गई, सभी छात्र किसी न किसी प्रकारके काममें रुचिके साथ जुट जाते हैं, वे स्वयं काम करके सीखते हैं (लर्निंग बाइ डुइंग) और उनमें अपनी इस स्वयं-शिक्षासे कितना आत्म-विश्वास, कितनी स्फूर्त्ति, कितना अनुभव और कितना विवेक बढ़ गया है। ये सब कार्य केवल व्यक्तिगत ही नहीं होते। कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनमें कई छात्र और कभी कभी तो पूरी कक्षाकी कक्षा ही जुट जाती है। इस सामूहिक कार्यसे पारस्परिक सहयोग और सद्भावनाकी वृद्धि होती है और एक साथ काम करनेकी वृत्ति (टीम स्पिरिट) बढ़ती है। किन्तु इस पद्धतिसे सक्रम तथा व्यवस्थित शिक्षण नहीं हो पाता और ज्ञानकी सब शाखाओंके सब अंगोंका अध्ययन छात्र नहीं कर सकते। इस बातको ड्यूईने भी अपने 'अनुभव और शिक्षा' (एक्सपीरियन्स ऐंड एजुकेशन) नामक ग्रन्थमें स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है।

ड्यूईकी शिक्षा-पद्धतिका विश्लेषण--

ड्यूईने यद्यपि शिक्षाके क्षेत्रमें अत्यन्त नवीन ढंगके सिद्धान्तोंके साथ प्रवेश तो किया और उसका प्रभाव भी अमेरिकाकी शिक्षा-पद्धतिपर सबसे अधिक पड़ा किन्तु ड्यूईने उस विशद चिन्तन और मननके साथ अपने सिद्धान्तों और प्रयोगोंपर विचार नहीं किया जैसा उसके पूर्ववर्त्ती हरबार्ट या पैस्टालौज़ीने किया था। इसीलिये ड्यूईके सिद्धान्तोंमें वह समर्थता और पुष्टता नहीं है जो किसी शिक्षाचार्यके मतमें होनी चाहिए। ड्यूईका यह सिद्धान्त कितना विचित्र है कि जो उपयोगी है वही सत्य है और जो सत्य है वही उपयोगी है। संसारमें न जाने कितनी वस्तुओं और कितने विचारोंका ऐसा विराट् पुंज है जिसकी सत्यतामें अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है, कोई साधन नहीं है किन्तु उनका उपयोग हमारे लिये प्रत्यक्ष रूपसे नहीं है। हिमालयका अपरास्त (एवरेस्ट) शिखर ध्रुव सत्य है किन्तु उसका कोई साक्षात् उपयोग हमारे लिये नहीं है, यहाँ तक कि हमारे देशकी नदियोंमें जो हिम गलकर आता है वह भी उस ऊँचाईसे नहीं आता जहाँ निरन्तर हिम जमा रहता है, किसी भी ऋतुमें कभी गलता नहीं। इसी प्रकारकी और भी न जाने कितनी

बातें हैं जो सत्य होते हुए भी हमारे लिये उपयोगी नहीं है। इसी प्रकार ड्यूई का यह सिद्धान्त भी निराधार और भ्रामक है कि व्यक्तिके विकासपर ही समाज स्थिर रह सकता है। समाजकी स्थिरता विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारसे हुई है। यदि हम अपना देश ही लें तो हमे ज्ञात होगा कि हमारा समाज इसीलिये स्थिर रहा कि ईश्वरमें विश्वास, घट-घटमें ईश्वरकी व्यापकता, तथा ईश्वरमें अपनी भावनाने सामूहिक रूपसे मनुष्यको पाप करनेसे रोका, अच्छे लोक-हितके कामोंमें प्रवृत्त किया और समाजको स्थिर रक्खा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक देशमें सदा अच्छे और बुरे दोनों प्रकारके मनुष्य मिलते चले आए हैं और कभी कभी कोई विशिष्ट महापुरुष किसी विशेष युगमें इतने प्रतापके साथ अवतरित होता है कि वह अपने युगके समाजको अपने विचारके अनुसार ढाल देता है, पूरा समाज अपने संस्कार लिए बैठा रह जाता है। इसी प्रकार ड्यूईका यह कथन भी समीचीन नहीं जान पड़ता कि प्रत्येक छात्रकी स्वाभाविक रुचि और योग्यताको परखकर उसके लिये शिक्षा-योजना बनाई जाय क्योंकि विद्यालयमें इतने विभिन्न आचारोंमें पले हुए बालक एक साथ पहुँच जाते हैं कि इतने बालकोंके लिये शिक्षा-योजना बनाना साधारण कार्य नहीं है। सबसे विचित्र सिद्धान्त तो ड्यूईका यह है कि विद्यालयका उद्देश्य बालकको भावी जीवनके लिये तैयार करना नहीं है, वह तो स्वयं उसका जीवन है और उसी जीवनके उपयुक्त शिक्षणकी व्यवस्था करनी चाहिए। यह सिद्धान्त स्वतः विरोधी है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि मनुष्य सारे जीवन पढ़ता ही रहे और जैसी-जैसी परिस्थिति जीवनमें जब-जब आती रहे, तब-तब उसके लिये वैसी-वैसी शिक्षा-व्यवस्था की जाती रहे क्योंकि यदि बालकके अध्ययन-कालमें केवल उसी अवस्थाके अनुरूप शिक्षा दी जाय तो बड़े होनेपर उसकी क्या योग्यता होगी और वह जीवनमें क्या करेगा यह एक ऐसी समस्या है जिसपर ड्यूईने विचार करनेका कष्ट नहीं किया।

ड्यूईका यह कथन सर्वथा सत्य है कि समाजमें किसीके धन अथवा पदके कारण किसीको विशेष स्थान नहीं मिलना चाहिए, उसकी स्वाभाविक योग्यतापर मिलना चाहिए क्योंकि समाजमें जो अनेक प्रकारकी विषमताएँ उत्पन्न हो जाती हैं और पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, कलह, वैमनस्य और विरसता उत्पन्न होती है उसका कारण यही है कि अयोग्य तथा अनैतिक व्यक्ति, अत्यन्त सम्मानपूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण पदोंपर या तो अपनी शक्तिसे अथवा दूसरोंके द्वारा प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ड्यूईकी शिक्षाप्रणालीने विद्यालयोंका रूप बदल दिया और बालकोंमें नई चेतना भर दी। यदि ड्यूईने कुछ ध्यानसे थोड़ा और मनन करके अपनी शिक्षा-प्रणाली

चलाई होती तो वह निश्चित रूपसे सर्वश्रेष्ठ होती किन्तु ड्यूईने वर्त्तमान विद्यालयोंकी नीरसतासे ऊबकर केवल प्रतिक्रियात्मक रोषकी तृप्तिके लिये स्फूर्ति, क्रिया और स्वयं-शिक्षाका एक रूपक तो खड़ा किया किन्तु वह इतना सबल और सफल नहीं हो पाया कि उसका व्यापक प्रयोग किया जा सके।

प्रयोग-प्रणाली

प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड)

ड्यूईने सन् १८९६ में जो प्रयोगशाला-विद्यालय (लैबोरेटरी स्कूल) खोला था उसकी पाठ्य-प्रणाली ही प्रयोग-प्रणाली कही जाती है। आरंभमें प्रोजेक्ट (प्रयोग) शब्दका व्यवहार संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाके कृषिविभागने स्वीकार किया था। उसके अनुसार सहयोगपूर्ण कार्य करनेकी योजनाकी रूप-रेखाको ही प्रयोग कहते हैं। इसके पश्चात् विज्ञान तथा श्रम-साध्य कार्योंकी क्रियाके लिये ही यह शब्द प्रयुक्त किया जाने लगा। शिक्षाके क्षेत्रमें जब यह शब्द पहुँचा तब इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई—"प्रयोग वह समस्यात्मक कार्य है जो वास्तविक परिस्थितिमें पूरा किया जाय।"

प्रयोगप्रणाली सर्वप्रथम कृषिके लिये संयुक्त-राष्ट्र अमेरिकामें प्रयुक्त हुई। "प्रयोग" वह समस्यात्मक कार्य है जो वास्तविक परि-स्थितिमें पूर्ण किया जाय।

इस परिभाषाकी व्याख्या करनेके पूर्व इसकी आवश्यकताका कारण समझाना उचित होगा। हमारे विद्यालयोंमें जितनी शिक्षा दी जाती है वह कोरी सूचनात्मक (इन्फ्रौमेंटिव) या अभ्यासात्मक होती है, जिसमें वास्तविकताका अंश तनिक भी नहीं रहता। गणितमें तो ऐसे-ऐसे बेढंगे, ऊटपटाँग और अव्यावहारिक प्रश्न होते हैं जिनका जीवनसे कुछ सम्बन्ध नहीं होता, जो केवल अभ्यासमात्रके लिये कराए जाते हैं। इसी प्रकार अन्य विषयोंकी शिक्षा भी मौखिक सूचना-त्मक होती है जिसे विद्यार्थी केवल मूढ़, अकर्मण्य श्रोताकी भाँति सुनते हैं, सुनकर उसे ज्योंका त्यों मान लेते हैं और जिसका न जाने कितना अंश बालककी असावधानता और कहनेवालेकी नीरसताके कारण नष्ट हो जाता है। ऐसी परिस्थितिमें किसी ऐसे शिक्षा-विधानकी निश्चय आवश्यकता थी जिसमें बालक स्वयं सक्रिय रूपसे सावधानीके साथ नया ज्ञान आत्मसात् करता चले और उस प्राप्त किए हुए ज्ञानकी सत्यताका परीक्षण भी करता चले। इसी-

हमारे विद्यालयोंकी कोरी सूचनात्मक शिक्षाकी नीरसता बद-लनेके लिये छात्रोंको ऐसे समस्यात्मक कार्य दिए जायँ जिन्हें वे वास्तविक परिस्थितिमें पूर्ण कर सकें।

लिये यह नई प्रणाली काममें लाई गई जिसमें विद्यार्थियोंको ऐसे समस्यात्मक कार्य दिए जाते हैं जिन्हें वे वास्तविक परिस्थितिमें संपन्न कर सकें। प्रयोग प्रणालीवालोंका कहना है कि केवल सूचनात्मक ज्ञान देनेके बदले ऐसी समस्याएँ छात्रोंके सम्मुख रक्खी जायँ जिनपर वे स्वयं तर्कपूर्ण विचार कर सकें और निर्णय दें, सुने हुए या पढ़े हुए ज्ञानको स्मरणमात्र करनेके बदले छात्र उसे व्यवहारमें भी ला सकें, कक्षाके नीरस और अस्वाभाविक वातावरणके बदले प्रत्यक्ष तथा सक्रिय प्रयोगके द्वारा ज्ञान आत्मसात् कर सकें और नीरस सिद्धान्तोंकी अपेक्षा समस्याओंका समाधान कर सकें। इसीलिये इसमें तीन बातें रक्खी गई हैं—

(१) ऐसा कार्य दिया जाय जिसमें किसी समस्याका समाधान करना हो अर्थात् जिसमें बुद्धि, विचारशक्ति और तर्क-शक्तिका प्रयोग करना पड़े क्योंकि साधारण कार्य तो बहुतसे ऐसे हो सकते हैं जिनमें विचार या तर्ककी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यदि किसीसे कहा जाय 'घड़ेमेंसे पानी लाकर दो' तो यह साधारण कार्य है, समस्यात्मक नहीं। किन्तु इसके बदलेमें यदि यह कहा जाय कि दस मिनटके भीतर दस गिलास नीबूका शर्बत ले आओ तो यह छोटा-मोटा समस्यात्मक कार्य बन सकता है क्योंकि इसमें कार्य करनेवालेको यह विचार करना पड़ेगा कि दस मिनटकी अवधिमें किस उपायसे किस समीपतम स्थानसे नीबू मँगवाए जायँ, किसे भेजा जाय, चीनीका प्रबन्ध कहाँसे हो और कहाँसे ऐसे गिलास लाए जायँ जो एक आकार-प्रकारके हों। साथ ही उसे यह भी विचार करना पड़ेगा कि इसमें कितना व्यय होगा। अतः यह कार्य समस्यात्मक कार्य है। इसी प्रकारके और भी अनेक समस्यात्मक कार्य हो सकते हैं।

प्रयोग-प्रणालीमें तीन बातें—(१) ऐसा कार्य दिया जाय जिसमें कोई ऐसी समस्या हो जिसमें छात्रको बुद्धि लगानी पड़े।

(२) दूसरी बात यह है कि जो कार्य दिया जाय वह पूरा होना चाहिए, गणितके समान केवल लेखा लगाकर आँकड़े देकर न छोड़ दिया जाय। कामको पूरा करने पर ही छात्रको उस कार्यके विभिन्न क्रमों, गतियों, विधियों और परिणामोंका ऐसा निश्चित ज्ञान होगा कि आगे उस कार्यकी आवृत्तिके समय उसे सुविधा होगी और उस कार्यके सम्बन्धमें जितना ज्ञान होगा वह पूर्णतः छात्रकी वास्तविक ज्ञान-राशिका अंग बन जायगा और जीवनमें सदा उसके काम आवेगा।

(२) जो समस्यासे भरा कार्य दिया जाय वह पूरा भी हो।

(३) तीसरी बात है वास्तविक स्थिति अर्थात् जो कार्य दिया जाय वह केवल विद्यालयके अभ्यासमात्रके लिये ही न हो वरन् ऐसी परिस्थितिमें कराया जाय जब उसका प्रयोजन हो और बालक निश्चित रूपसे समझ ले कि हम कोई वास्तविक कार्य कर रहे हैं। जैसे, यदि किसी कक्षाको हमें निमन्त्रण-पत्र लिखना सिखाना हो तो ऐसे अवसरपर लिखाना चाहिए जब विद्यालयमें कोई उत्सव होता हो। उस अवसरपर विद्यार्थियोंसे पत्र लिखवाकर वस्तुतः निमन्त्रितोंके पास भेज देना चाहिए। इसीको वास्तविक स्थिति कहते हैं।

(३) वह कार्य कक्षाके कार्यके रूपमें नहीं वरन् वास्तविक स्थितिमें ही पूर्ण किया जाय।

सरल और बहुमुखी प्रयोग

ये प्रयोग या कार्य दो प्रकारके हो सकते हैं—(१) सरल (सिम्पिल्) और (२) बहुमुखी (कौम्प्लेक्स)। सरल प्रयोगमें केवल एक ही काम होता है। खेतका बाड़ा बाँधना, किवाड़में कुन्दा ठोकना, झूला डालना, पत्तल बनाना, खाना परोसना, ये सब सरल प्रयोग हैं। किन्तु दस व्यक्तियोंके लिये भोजन बनाना, किसी सहभोजका प्रबन्ध करना, छात्रोंके पर्यटनकी व्यवस्था करना, अपनी कक्षाकी दीवारपर कागज साटना तथा नाटक करना बहुमुखी प्रयोग हैं। शिक्षाकी दृष्टिसे विद्यालयके उत्सवका प्रबन्ध करना या नाटक करना बहुत अच्छे प्रयोग हैं क्योंकि इनमें निमन्त्रण-पत्र, सजावट, स्वागत आदिकी व्यवस्था करनेसे भाषा तथा कलाका ज्ञान होता है और नाटकके द्वारा तो इतिहास, भूगोल, भाषा, साहित्य, चित्र, संगीत, अभिनय आदि सभी विज्ञानों और कलाओंका एक साथ ज्ञानहो जाता है।

सरल प्रयोगमें एक कार्य, बहुमुखीमें अनेक। उत्सव तथा नाटक श्रेष्ठतम प्रयोग हैं।

प्रयोग-प्रणालीके सिद्धांत

प्रयोग-प्रणालीमें वर्तमान कालतकके शिक्षा शास्त्रियोंके सभी सिद्धान्तोंका समावेश किया गया है। वास्तविक परिस्थितिमें काम करानेकी योजनामें रूसोका प्रकृतिवाद है, काम पूरा करनेकी योजनामें पैस्टालोज़ी, हरबार्ट और फ्रोबेलका 'करो और सीखो' वाला सिद्धान्त है, समस्यात्मक कार्यमें फ्रोबेलकी स्वयंशिक्षा तथा मौन्तेस्सौरीकी स्वतःप्रवृत्ति और स्वतन्त्रताका सिद्धान्त है तथा व्यापक रूपसे

प्रयोग-प्रणालीमें प्रकृतिवाद, करो और सीखोवाद, स्वयंशिक्षा, स्वतः प्रवृत्ति आदि सभी शिक्षा – सिद्धान्तोंका सन्निधान।

इसमें स्वयंशिक्षा, आंगिक समर्थता तथा 'करो और सीखो' का समावेश है।

प्रयोग-प्रणालीके गुण

प्रयोग-प्रणालीमें कई गुण हैं। इससे विद्यार्थियोंको स्वतः सोचने और काम करनेकी प्रवृत्ति होती है, वे अपना काम समझकर उसमें रुचि लेते हैं, वास्तविक परिस्थितिमें कार्य पूर्ण होनेके कारण वे उस कामके सब तत्त्व समझ लेते हैं, उस काममें जितनी सामग्री और शक्ति लगती है उसका अपव्यय नहीं होता, जितना ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह सब वास्तविक जीवनमें काम देता है, इसके द्वारा काम करनेसे अभ्यास और चातुर्यको प्रोत्साहन मिलता है, ठीक क्रमसे काम करनेकी प्रवृत्ति भी उत्पन्न होती है तथा धैर्य, संतोष, आत्मतुष्टि तथा श्रमकार्यके प्रति आदरका भाव उत्पन्न होता है।

प्रयोग-प्रणालीके दोष और उसकी त्रुटियाँ

किन्तु इस प्रणालीमें सबसे बड़ा दोष यही है कि सब विषयोंके सब अंग इसके द्वारा नहीं सिखाए जा सकते, अध्यापकका व्यक्तित्व और ज्ञान निरर्थक हो जाता है और ज्ञानका क्रम अव्यवस्थित हो जाता है। फिर विद्यालयमें बड़े-बड़े प्रयोग करने सम्भव नहीं हैं और विद्यालयके बहुसंख्यक छात्रोंके लिये इतने प्रयोग ढूँढ़ निकालना भी कठिन कार्य है। सबसे अधिक कष्टकी बात यह है कि विद्यालय कभी-कभी मछरहट्टे, सट्टी या पुतलीघरका रूप धारण कर लेता है जहाँ निरन्तर कोलाहल और खटर-पटर होता रहता है। इसलिये केवल कभी-कभी विशेष अवसरोंपर बहुमुखी प्रयोगोंका विधान करना ठीक है, उसे सार्वजनिक उदार शिक्षा देनेका साधन नहीं बनाया जा सकता है।

१८

शिक्षामें अवयव-सिद्धि (ट्रेनिंग औफ़ सेन्सेज़)

मदाम मोन्तेस्सारी

बीसवीं शताब्दीकी पहली चौथाईमें जहाँ एक ओर भीषण युद्ध हुआ वहीं दूसरी ओर विज्ञानने इस तीव्र गतिसे अपने पग बढ़ाए कि विश्वकी मानवीय जातियाँ दूर-दूर देशोंमें रहते हुए भी एक दूसरीके समीप पहुँच गईं, विश्व-बन्धुत्वकी पुकार भी होने लगी और विभिन्न देशोंमें यह भी कहा जाने लगा कि जो शिक्षा दी जा रही है वह अपर्याप्त है, असंगत है, अपूर्ण है। इस संबंधमें अनेक शिक्षा-शास्त्रियोंने अनेक प्रयोग किए, बुद्धि-परीक्षाएँ होने लगीं, बालकोंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके उन्हें शिक्षा देनेकी योजनाएँ बनाई जाने लगीं। इसीके साथ-साथ शिक्षा-शास्त्रियोंका ध्यान ऐसे बालकोंकी ओर भी गया जो मूढ़, गुंग, अपंग तथा विकलांग थे। इस संबंधमें कुछ तो भैषज्यशास्त्रके पंडित और कुछ वैज्ञानिक प्रयत्नशील थे। इन्होंने अपने-अपने ढंगसे ऐसे मूढ़, बुद्धिहीन तथा विकलांग बालकोंको शिक्षा देनेके लिये बहुत-से यन्त्र, बहुतसी विधियाँ और पुस्तकें प्रचलित कीं। किन्तु उनमें सबसे अधिक ख्याति यदि किसीने पाई तो इतालिया (इटली)–निवासिनी मेरिया मौन्तेस्सौरीने।

बीसवीं शताब्दीमें जो शिक्षा-संबंधी प्रयोग हुए उनमें मूढ़ तथा विकलांग बालकोंकी शिक्षाका भी प्रबन्ध हुआ।

मौन्तेस्सौरी विद्यालय

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें छोटी अवस्थामें ही लगभग ढाई तीन वर्षके बच्चोंसे लेकर सात वर्षतकके बच्चे भर्ती किए जाते हैं। जैसे और विद्यालयोंमें कक्षाएँ बटी रहती हैं उस प्रकारका कक्षा-विभाजन मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें नहीं रहता क्योंकि वहाँ प्रारम्भमें बच्चोंको केवल शिष्टाचार और जीवनमें काम आनेवाली क्रिया सिखाई जाती है। जैसे ही बालक विद्यालयमें प्रवेश करता है वैसे ही वहाँकी अध्यापिका मुस्कराकर उसका स्वागत करती है, हाथ मिलाती है, कुशल-मंगल पूछती है और प्रारम्भिक शिष्टाचार सिखाती है। यह करनेके पश्चात् वह बालकके शरीर और वस्त्रोंकी स्वच्छतापर दृष्टि डालकर जहाँ कोई कमी हुई स्वयं दूर करती है या उन्हीं बालकोंको स्वच्छताके लिये प्रेरित करती

है। तब बालक अपने स्थानोंपर जाकर अपने सहपाठियोंको नमस्कार करते हैं और बड़ी नम्रतासे एक दूसरेसे व्यवहार करते हैं। इसके पश्चात् वे कुछ समवेत स्वरसे गाते हैं, फिर डोरीसे लटकी हुई रबड़की गेंदको हाथसे मार-मारकर एक दूसरेके पास भेजते हैं, बँधी हुई डोरीके सहारे चलते हैं, पंजोंपर चलनेका अभ्यास करते हैं, रस्सीकी सीढ़ियोंपर चढ़ते हैं और साथ मिलकर गाते हुए चलते हैं। वे कुछ समय तो इस प्रकारके खेलोंमें लगाते हैं और कुछ समय शिक्षा देनेवाले ऐसे व्यायामोंमें जिनमें बालक स्वयं आनन्द लेते हैं। जैसे-जैसे बच्चोंकी अवस्था बढ़ती जाती है वैसे वैसे उन व्यायामोंमें अन्तर होता चलता है।

ज्ञानेन्द्रियोंकी साधना

हम ऊपर बता आए हैं कि मौन्तेस्सौरीकी शिक्षा-पद्धति वास्तवमें ज्ञानेन्द्रियोंकी सिद्धिपर ही अवलम्बित है। इस उद्देश्यके सिद्धिके लिये उन्होंने कुछ खेल बना रक्खे हैं जैसे, दस लकड़ीके ठोस बेलनाकार विभिन्न मोटाइयोंके टुकड़े जिन्हें बच्चे उनके योग्य बने हुए छेदोंमेंसे निकालते हैं और फिर उन्हें यथोचित छेदमें रखते हैं। इससे बालकोंको आकारभेदका ज्ञान होता है। दूसरे प्रकारके खेल रंगके खेल हैं जिनमें बालकोंको विभिन्न रंगोंकी रील दिखलाकर उनके रंग बतला दिए जाते हैं और फिर अगले घण्टेमें उनसे उस-उस रंगकी रील माँगी जाती हैं या उनसे पूछा जाता है कि यह किस रंगकी है। इसके लिये कमसे कम दो रंग उपस्थित किए जाते हैं जिससे तुलनाके द्वारा बालक उन रंगोंका अन्तर समझ सके। मौन्तेस्सौरीने इस सिद्धिके लिये कुछ रंगीन टिकियाँ बनाई हैं जिन्हें आठ रंगोंमें रँगा गया है—काला, लाल, नारंगिया, पीला, हरा, नीला, बैंगनी और भूरा। इन टिकियोंके दो डब्बे होते हैं और उन्हींके सहारे रंगका परिचय देकर दृष्टिकी शक्ति साधी जाती है। इसके पश्चात् कानकी शक्ति बढ़ानेके लिये पहले तो मुँहसे ही अनेक प्रकारके स्वर निकालकर अनेक प्रकारकी ध्वनियोंका ज्ञान कराया जाता है और फिर घण्टी, घड़ी, ढोल, मक्खीकी भिनिभिनाहट आदिका ज्ञान कराकर तथा इस प्रकारकी अनेक ध्वनियोंका परिचय कराकर कान साधे जाते हैं। स्पर्श-शक्ति सिद्ध करनेके लिये मौन्तेस्सौरीने कुछ अभ्यास स्थिर किए हैं जैसे, गर्म और ठंडे पानीका स्पर्श कराकर उष्णत्व और शैत्यका परिचय कराना। उसके पश्चात् चिकने और खुरदरे लकड़ीके टुकड़ोंपर अथवा अन्य पदार्थोंपर बालकका हाथ फिरवा कर चिकने, खुरदरे, ठोस, गद्देदार, कोमल, कठोर आदिका ज्ञान कराया जाता है। इसके लिये बालककी आँखोंपर पट्टी चढ़ाकर या आँख बाँधकर अभ्यास कराया जाता है। इस अभ्यासके लिये मौन्तेसौरीने लकड़ीकी एक चौकोर पटिया बनाई है जिसे दो बराबर भागोंमें बाँट दिया है। एकपर बहुत चिकना

कागज और दूसरेपर चिकने कागज और रेतके कागजकी पतली-पतली धारियाँ चिपका दी हैं जिनपर हाथ फेरकर बच्चे चिकना और खुरदरा पहचाननेका अभ्यास करते हैं। कम और अधिक उष्णताकी नाप करनेके लिये अलग-अलग तापमानके जलसे भरी हुई बोतलें या धातुके पात्र छुआकर बालकोंको विभिन्न तापमानोंका ज्ञान कराया जाता है। उसके पश्चात् विभिन्न प्रकारके भारका ज्ञान करानेके लिये अलग-अलग प्रकारकी लकड़ियोंके एक ही आकार-प्रकारके किन्तु विभिन्न भार परिमाणके २४, १८, और १२ ग्रामके अलग-अलग रंगोंके टुकड़े लिए जाते हैं जिनके द्वारा बालक विभिन्न प्रकारके रंगोंका ज्ञान प्राप्त करनेके साथ-साथ विभिन्न भार-परिमाण भी अपनी हथेलीपर तोलकर जान लेता है। विभिन्न वस्तुओंकी मोटाई पहचाननेके लिये बालकोंको तीन प्रकारकी ठोस सामग्री दी जाती है—१-एकही ऊँचाईके किन्तु विभिन्न मोटाईके ठोस पदार्थ, २-एक ही मोटाईके किन्तु विभिन्न ऊँचाईके पदार्थ, ३-विभिन्न ऊँचाई और मोटाईके पदार्थ। इन पदार्थोंको देखकर और फिर पट्टी बाँधकर बालक उन्हें छूकर उनकी ऊँचाई और मोटाईका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

मन्दिर-कलश या मीनार

बड़ेसे छोटेका क्रमिक ज्ञान देनेके लिये मौन्तेस्सौरीने गुलाबी रंगके दस लकड़ीके ठोस घन (क्यूब) बनाए हैं। उनमेंसे सबसे बड़ा दस सेन्टीमीटरका और सबसे छोटा ऐक सेन्टीमीटरका होता है। इन्हें क्रमसे एक दूसरेपर रखकर पिरैमिड या मन्दिर-कलशके रूपमें सजाकर छोटाई-बड़ाईका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

इसी प्रकार एक दूसरा खेल है जिसमें मोटे टुकड़ेसे पतले टुकड़े तक दस चौकोर टुकड़े होते हैं जिन्हें बालक क्रमसे पहले मोटा फिर पतला फिर उससे पतला इस प्रकार सीढ़ीके समान लगाकर मोटे-पतलेका ज्ञान कर लेता है।

लम्बा और नाटा

लम्बे और नाटेका परिज्ञान करानेके लिये दस चौपहले डंडे बनाए लिए गए हैं जिनके प्रत्येक पहलकी चौड़ाई तीन सेन्टीमीटर है। सबसे बड़ा डंडा एक मीटर लम्बा और सबसे छोटा एक डैसीमीटरका होता है। इन सब डंडोंपर एक-एक डैसीमीटर क्रमशः लाल और नीला रँगा हुआ रहता है। इन्हें जब बालक क्रमसे छोटेसे बड़ा या बड़ेसे छोटा लगाकर रखता है तब दोनों रंगोंकी पट्टियाँ बन जाती हैं और एक सीढ़ी सी दिखाई पड़ने लगती है। इनका प्रयोग गणितमें गिननेमें भी होता है। इन सब लकड़ीके टुकड़ोंसे और भी बहुतसे खेल बनाए जा सकते हैं।

पढ़ना-लिखना

पढ़ने-लिखनेका कार्य दूसरी कक्षासे प्रारम्भ होता है। इसमें लिखना पहले सिखाया जाता है और पढ़ना पीछे। इसके लिये भी अनेक प्रकारके खेल बना लिए गए हैं जिनके सहारे लिखनेकी शिक्षा दी जाती है। मौन्तस्सौरीका विश्वास है कि पहले लिखना चाहिए पीछे पढ़ना क्योंकि पढ़नेमें तो उच्चारण और सुस्वरताका ध्यान रखना पड़ता है किन्तु लिखनेमें तो केवल अनुकरण मात्र होता है। इसलिये वाचन सिखानेसे पूर्व बालकको लिखना सिखा देना चाहिए। इसके लिये पहले तो लकड़ीके अक्षरोंके खेल सिखाए जाते हैं और फिर लकड़ीके टुकड़ोंपर रेत-कागजके कटे हुए अक्षरोंपर उँगली फिरवाई जाती हैं। इस प्रकार खेल-खेलमें ही बच्चोंको लिखना आ जाता है।

इससे अगली कक्षामें बालकको पढ़ना सिखाया जाता है और वह पढ़ना अन्ध-वाचन न होकर सज्ञान वाचन होता है क्योंकि मौन्तेस्सौरीके अनुसार बिना समझे पढ़ना पुस्तकपर भूँकनेके समान है। इसके लिये बच्चोंको पहले वे शब्द बाँचनेके लिये दिये जाते हैं जिन्हें वे लिखते समय भली भाँति जान चुकते हैं। ऐसे शब्द कार्ड या पट्टीपर लिख दिए जाते हैं और फिर बालकोंसे उन शब्दोंका वाचन कराया जाता है। फिर धीरे-धीरे वाक्य और अनुच्छेद भी पढ़वा लिए जाते हैं।

चौथी कक्षामें कुछ खेलोंके द्वारा या गोलियोंके सहारे गिनना, घटाना और जोड़ना सिखा दिया जाता है और इस प्रकार खेल-खेलमें ही बालकका प्रारम्भिक ज्ञानाधार पुष्ट कर दिया जाता है। यद्यपि मौन्तेसौरीने और भी आगेकी कक्षाओंके लिये शिक्षा-योजना बनाई है किन्तु उसमें उसे सफलता नहीं मिल पाई इसलिये उसका विवरण देना अनावश्यक है।

मदाम मौन्तेस्सौरी

मेरिया मौन्तेस्सौरीका जन्म सन् १९८० में इतालिया (इटली) में हुआ। ये इटलीकी पहली महिला हैं जिन्होंने रोम विश्वविद्यालयसे आयुर्वेद (डाक्टरी) में आचार्यत्व प्राप्त किया है। इनका जन्म ऐसे समयमें हुआ जब इटलीकी राजनीतिमें बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी इसलिये बड़ी होनेपर इन्होंने भी इन आन्दोलनोंमें सक्रिय रूपसे योग देना प्रारंभ किया क्योंकि इन्हें अपनी योग्यता और शक्तिमें पूर्ण विश्वास था।

सन् १९८० में इतालियामें मदाम मौन्तेस्सौरीका जन्म हुआ और रोम विश्वविद्यालयसे इन्होंने डाक्टरी परीक्षा उत्तीर्ण की। इटलीके सभी आन्दोलनोंमें ये सक्रिय योग देती रहीं।



डा० मैरिया मांटसोरी



मांटसोरी के शिक्षण-यंत्रों का बच्चों द्वारा प्रयोग

मन्दबुद्धि बालकोंके साथ

सर्वप्रथम उन्हें ऐसे बालकोंकी चिकित्साका काम मिला जो मन्दबुद्धि या जड़बुद्धि थे। उनकी चिकित्साके लिये उन्होंने सेग्विन प्रणालीका अध्ययन प्रारंभ किया और वे इस निर्णयपर पहुँची कि ऐसे बच्चोंको औषध देनेकी अपेक्षा किसी अन्य प्रकारसे शिक्षा देकर ठीक करना चाहिए। उन्होंने उन्माद-चिकित्सा तथा मनोविज्ञान और वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्रका भी अध्ययन किया। बहुत दिनोंतक स्टेट औथों-फ्रेनिक स्कूलकी संचालिका रहकर उन्होंने मन्दबुद्धि बालकोंको शिक्षा देनेमें भी अद्‌भुत कौशल दिखलाया। इससे उनका इतना उत्साह बढ़ा कि अपनी शिक्षा-पद्धतिका प्रयोग उन्होंने साधारण बालकों-पर करना प्रारम्भ किया और इसीलिये सन् १९०७में वे कुछ नए ढंगकी बनी हुई बस्तियोंसे संबद्ध 'बाल्यावासों' (हाउसेज़ औफ़ चाइल्डहुड) की शिक्षा-संचालिका बनीं। इस संस्थाके संचालनमें अपने शिक्षा-प्रयोगके वैज्ञानिक आधारको उन्होंने और अधिक स्पष्ट किया। वे बीच-बीचमें प्रत्येक विद्यार्थीकी कुल-परम्परा, पैतृक व्यवसाय, पोषण, बचपनके रोग तथा शारीरिक जाँचका पूरा लेखा तैयार करके पूरा विवरण बनाकर रखती रहीं। साथ ही प्रत्येक बालकके घरकी स्वच्छता, स्वास्थ्य तथा आर्थिक स्थितिकी जाँच भी किसी कुशल विशेषज्ञ-द्वारा बीच-बीचमें कराती रहीं। इतना सब होनेपर भी प्राणि-शास्त्रज्ञोंने यही निर्णय दिया कि "यद्यपि डॉ० मौन्तेस्सौरीकी वैज्ञानिक शिक्षण-पद्धति अत्यन्त अपर्याप्त और अशुद्ध है किन्तु वर्तमान विज्ञानका पूरा ज्ञान न होनेपर भी उनकी प्रणाली-की भावना वैज्ञानिक ही है।"

जड़बुद्धि बालकोंकी चिकित्साका काम मिला जहाँ उन्होंने उन्हें औषध देनेके बदले अन्य प्रकारसे शिक्षा देना निश्चय किया। स्टेट औथोंफ्रेनिक विद्यालय-की संचालिका रहीं, फिर बालकोंपर अपने शिक्षा-सम्बन्धी अनु-भवोंका वैज्ञानिक-आधारसे प्रयोग करने लगीं किन्तु प्राणि-शास्त्रज्ञोंने उसे अशुद्ध ही माना।

बालकोंको स्वतन्त्रता

यह वैज्ञानिक भावना मौन्तेस्सौरी-पद्धतिकी इस योजनासे भी सिद्ध होती है कि उसमें प्रत्येक बालकको यथासंभव पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई और अध्या-पिकाका काम केवल इतना ही रह गया कि वह शान्ति और धैर्यके साथ बालककी गति-विधिका सावधानीके साथ निरीक्षण करती रहे। इस सम्बन्धमें वे कहती

प्रत्येक बालकको स्वतन्त्रता मिल गई।

अध्यापिकाका काम केवल निरीक्षण और प्रयोग। स्वतःशिक्षा ही उद्देश्य। शिक्षण-यन्त्रके द्वारा शिक्षा विचारणीय।

हैं—"विद्यालयकी कायापलटके साथ अध्यापिकाके प्रयोजनकी भी कायापलट होनी चाहिए क्योंकि यदि हम अध्यापिकाको प्रयोगात्मक प्रणालियोंसे परिचित निरीक्षिका बनाना चाहते हैं तो उसे ऐसी सुविधाएँ भी देनी चाहिएँ कि वह विद्यालयमें निरीक्षण भी कर सके और प्रयोग भी। किन्तु वैज्ञानिक शिक्षा-शास्त्रकी मूल वृत्ति होनी चाहिए—बालककी स्वाधीनता। व्यवहारमें मौन्तेस्सौरीने इस सिद्धांतको फ्रोबेलवादियोंकी अपेक्षा अधिक पूर्णताके साथ व्यक्त किया है। उनका विचार है कि अध्यापक-द्वारा निर्दिष्ट किए हुए तथा निश्चित और व्यवस्थित क्रममें बँधे हुए अभ्यास छात्रोंपर लादनेकी अपेक्षा बालकोंको स्वतः शिक्षित होनेके लिये प्रोत्साहन देना चाहिए। अर्थात् शिक्षाका स्वरूप वास्तवमें स्वतःशिक्षा होना चाहिए जिसमें बालक स्वयं अपनी रुचिके अनुसार काम छाँटे तथा अपनी रुचिके अनुसार स्वयं अपनी शंका और जिज्ञासाका समाधान करे। इसीके साथ-साथ बालकोंको ऐसे अवसर भी देते रहने चाहिएँ कि वे स्वतः मानसिक और नैतिक विकास कर सकें। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि बालकोंपर किसी प्रकारका अंकुश न हो। जब उनकी क्रिया सर्वसाधारणके हितमें बाधक, निरर्थक या संकटपूर्ण हो तब उन्हें रोका, टोका और समझाया भी जाना चाहिए। व्यक्तिगत अभिव्यक्तिमें विश्वास रखते हुए भी मान्तेस्सौरीने व्यक्तिगत अभिव्यक्तिकी इस परिधिमें फ्रोबेलके 'निर्दिष्ट नहीं प्रत्युत अनुसरण' की पद्धतिको अधिक तर्कसंगत रूपसे समृद्ध किया है, किन्तु फ्रोबेलके सामाजिक सहयोगकी क्रियाओंमें वे बालकको उस सीमातक भाग लेनेकी सुविधा नहीं देतीं क्योंकि इन्होंने जो शिक्षा-सहायक सामग्री प्रस्तुत की है वह इतनी अधिक और विभिन्नतापूर्ण नहीं है कि उस सहयोग-क्रियाका निर्वाह कर सके। मौन्तेस्सौरीकी पद्धतिमें फ्रोबेलकी रचना तथा आविष्कारके लिये तनिक भी अवसर नहीं है और कल्पनाके विकासको तो उसमें निर्दयतापूर्वक रोक ही दिया जाता है। इसी प्रकार किंडेरगार्टेनके रोचक खेल, गीत और कथाओंका भी इसमें कोई स्थान नहीं है। यद्यपि मान्तेस्सौरीकी 'स्वतःशिक्षा' की भावना प्रशंसनीय तो है किन्तु उनके 'शिक्षा-यंत्र' (डाइडेक्टिक ऐपेरैटस) इतने संकुचित हैं कि उनके द्वारा जीवनकी अनेक वास्तविक क्रियाएँ किसी भी प्रकार पूर्णतः सिखाई नहीं जा सकतीं।

मौन्तेस्सौरीका पाठ्यक्रम और शिक्षायंत्र

मौन्तेस्सौरीके विद्यालयोंके पाठ्यक्रमको हम तीन वर्गोंमें बाँट सकते हैं। (१) व्यावहारिक जीवनकी क्रियाओंसे संबद्ध, (२) ज्ञानेन्द्रियोंको साधनेकी

क्रियाओंसे संबद्ध तथा (३) प्रारंभिक पाठ्य विषयोंके नियमोंसे संबद्ध। विद्यालयमें प्रवेश करनेके समय ही बालक व्यावहारिक जीवनकी क्रियाओंमें भाग लेने लगता है। चौकियाँ लगानें, भोजन परोसने और थालियाँ धोनेका कार्य करके वह साधारण शिष्टाचार, विनय तथा आचार-व्यवहारका अभ्यास कर लेता है। बटन लगाने, फ़ीता बाँधने, हुक लगाने तथा वेष-भूषाकी विभिन्न वस्तुओंको ठीकसे पहननेका अभ्यास वह हलके लकड़ीके ढाँचोंके दोनों ओर सूत या चमड़े-के वस्त्रोंके टुकड़ोंको बीचमें कसकर सीखता है और मौन्तेस्सौरीका यह विश्वास है कि ऐसे अभ्यासोंसे ही बालकको कपड़े पहननेका ढंग आ सकेगा। उनके मतसे इनपर अभ्यास करके बालक अपने वस्त्र भी पहनना सीख जाता है और अपने पुट्ठोंको भी पर्याप्त व्यायाम दे देता है।

प्रणालीके तीन अंग—व्यावहारिक जीवनकी क्रियाओंसे संबंध, ज्ञानेन्द्रियोंको साधनेकी क्रियासे संबंध, प्रारंभिक पाठ्य विषयोंसे संबंध।

यंत्रोंद्वारा ज्ञानेन्द्रियोंकी साधना (ट्रेनिंग औफ़ सेन्सेज़)

मदाम मौन्तेस्सौरीकी पद्धतिमें बालककी स्पर्श-भावनाको साधनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रियोंपर उसकी उँगली फिराकर उन वस्तुओंका तल खुरदरा या चिकना बताया जाता है और फिर इस विवरणके द्वारा बालककी आँखोंपर पट्टी बाँधकर चिकनी ओर खुरदरी वस्तुएँ छँटवाई जाती हैं। इसी प्रकार शीत, उष्ण, श्वेत, काला, ठोस, पोला, भारी, हल्का, तथा रंग आदिका अभ्यास कराकर देख, सुन, छू और सूँघकर किसी वस्तुकी प्रकृति या गुण बतानेका अभ्यास करा दिया जाता है। इस प्रकारके अभ्यास मन्दबुद्धि और जड़ बालकोंके लिये तो लाभकर हो सकते हैं किन्तु बुद्धिशाली बालकके लिये तो इन यन्त्रोंके साथ उलझना निरर्थक समयकी हत्या है क्योंकि इन शिक्षा-सामग्रियोंके अतिरिक्त सैकड़ों घर-बाहरकी वस्तुओंको देखकर और उनके व्यावहारिक सम्पर्कमें आकर बालककी भावना और इन्द्रियाँ स्वभावतः सधती रहती हैं। अतः मदाम मौन्तेस्सौरीने ज्ञानेन्द्रियोंको साधनेके लिये जो उपर्युक्त विधियाँ बताई हैं वे अत्यंत शंकास्पद हैं। वे सब नियमित आचरणपर ही अवलंबित जान पड़ती हैं और उनका उद्देश्य साधारण शक्ति और विवेक मात्रकी शिक्षा देना है। डॉ० मौन्तेस्सौरीका कहना है कि इन अभ्यासोंका यह उद्देश्य नहीं है कि बालक-

यन्त्रोंके आधारपर ज्ञानेन्द्रियोंको साधनेकी क्रिया जड़ और मन्द बुद्धिबालक-के लिये तो ठीक है, सबके लिये नहीं। क्योंकि स्वाभाविक रूपसे विभिन्न प्रकारकी वस्तुओं-के सम्पर्कसे ज्ञानेन्द्रियाँ यों ही सधती जाती हैं।

को रंगों, आकारों और वस्तुओंके विभिन्न गुणोंका ज्ञान हो प्रत्युत इन वस्तुओंसे वह एकाग्रता, तुलना तथा स्वयं-निर्णयके अभ्यासके द्वारा अपनी ज्ञानेन्द्रियोंका सुधार कर लेता है क्योंकि ये सब अभ्यास शुद्ध रूपसे बौद्धिक अभ्यास हैं। ज्ञानेन्द्रिय-शिक्षाके शिक्षायंत्रोंकी प्रकृति देखनेसे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है।

मौन्तेस्सौरी प्रणालीकी सफलता—लेखन-कौशल

मौन्तेस्सौरी-प्रणालीका जो अंश अधिक सफल और आकर्षक समझा जाता है वह है पाठ्यक्रमके अभ्यासके संबंधमें, विशेषतः यह देखकर कि बालक कितनी सरलता और उत्साहके साथ कलात्मक तथा सुंदर अक्षरोंमें लिखना सीख जाता है। मौन्तेस्सौरी-का कहना है कि यह प्रदर्शनात्मक क्रिया तो इन्द्रिय-विकासकी महा-श्रृंखलाकी एक साधारण कड़ी मात्र है। छोटे-बड़े, ठोस-पोले, मोटे-पतले, गोल-तिकोने, चौकोर, बेलनाकार, अंडाकार आदि जितने रूप-आकार दिखाई पड़ते हैं इनका निरीक्षण, अध्ययन और सम्पर्क सब लेखनमें निश्चित सहयोग देते हैं। इनके अतिरिक्त मौन्तेस्सौरीने तीन और भी ऐसे अभ्यास निकाले हैं जिनके द्वारा लेखनका स्वतः विकास होता है—(१) बालकसे काग़ज़पर ज्यामितीय या रेखागणितसे संबंध रखनेवाले वृत्त, त्रिभुज, चतुर्भुज, षट्कोण आदि आकार खिंचवाकर, उसकी बाह्य रेखापर स्याही करानेका अभ्यास कराकर बालकको लेखन-सामग्री—कलम, अंजनी (पेंसिल), तूलिका, खड़िया आदि—का प्रयोग करनेकी आवयविक चेष्टाओंका विकास किया जाता है। (२) इसी अभ्यासके समय बालक अक्षरोंका रूप समझने और उसकी रेखाओंकी दिशाएँ जाननेके अभ्यास भी गत्तोंपर चिपके हुए बलुए काग़ज़के कटे हुए अक्षरोंपर उँगली फेरकर कर लेता है। पहले अध्यापक अक्षर लिखनेके क्रमसे उस बलुए काग़ज़के अक्षरपर उँगली फेरते हुए उसकी ध्वनिका उच्चारण करता है (अक्षरका नाम नहीं उच्चारण करता, प्रयोगमें आनेवाली उसकी ध्वनि कहता है जैसे अंगरेज़ीका 'के' अक्षर न कहकर इसकी प्रयोजनीय ध्वनि 'क' कहता है। पर यह झगड़ा विदेशी अक्षरोंमें है, देवनागरीमें तो ध्वनि और नाम दोनों एक ही होते हैं)। (३) इस प्रकार बालककी उँगली साधकर उसकी स्मृतिके साथ उस सधे हुए रूपका संबंध जोड़नेके लिये उनसे कहता है—मुझे 'क' दो, 'औ' दो आदि; या कोई अक्षर दिखाकर पूछता है कि यह क्या है अथवा यह कौनसा अक्षर है? अंतमें

लेखन-कलाके विकासके लिये तीन अभ्यास—(१) बालकने जो ज्यामितीय आकार खींचे हों उनपर स्याही करना, (२) बलुए कागज़के कटे हुए अक्षरोंपर हाथ फिरवाना (३) इस सधे हुए रूपका स्मृतिसे संबन्ध जोड़ना। यही 'लेखनके विस्फोट' का रहस्य है।

छापेघरोंके अक्षर–जुड़इयों (कम्पोज़िटरों)की अक्षर-पेटी (केस) से मिलती-जुलती पेटियोंके विभिन्न घरोंमें रक्खे हुए गत्तोंके अक्षर जोड़कर शब्द बनाते हैं। यद्यपि इस अभ्यासतक बालक कुछ भी लिखता नहीं है किन्तु लिखनेकी जितनी भी भाव-क्रियाएँ हैं उन सबपर वह अधिकार प्राप्त कर लेता है। यही उस 'लेखनके विस्फोट' (आउटबर्स्ट औफ़ राइटिंग) का रहस्य है जिसकी शिक्षाके क्षेत्रमें बड़ी चर्चा है। इस प्रणाली–द्वारा बालक इतने अचेतन रूपसे लेखन–कला सीख लेते हैं कि वे लिखनेकी क्रियाका भान किए बिना ही लिखने लगते हैं। यह पद्धति मौन्तेस्सौरी-प्रणालीकी सबसे बड़ी सफलता समझी जाती है।

वाचनकी शिक्षा

इस पद्धतिमें वाचनका क्रम लेखनके पीछे आता है। श्यामपट्ट या कागजों-पर लिखे हुए परिचित वस्तुओंके नामोंका वाचन कराकर इसका प्रारंभ किया जाता है। पहले बालकको लिखा हुआ शब्द दिखा दिया जाता है। जब वह शब्दकी ध्वनियोंका ठीक उच्चारण करने लगता है तब अध्यापक अत्यंत वेगसे उस पूर्ण शब्दकी कई आवृत्तियाँ करवाता है। इससे बालककी बुद्धिमें शब्दका एक रूप स्थिर हो जाता है और शब्दमें आई हुई विभिन्न ध्वनियोंका क्रम लुप्त होकर शब्दकी ही एक ध्वनि स्थिर हो जाती है। जब सब शब्द सध जाते हैं तब छोटे वाक्यांश और वाक्योंका अभ्यास कराया जाता है। इस प्रणाली-में वर्णमाला-क्रम (एल्फ़ाबेट) से पढ़ानेकी आव-श्यकता नहीं समझी जाती, सीधे शब्दसे प्रारंभ किया जाता है। इसमें कोई नवीनता नहीं है क्योंकि इस प्रकारके प्रयोग पहले भी किए जा चुके हैं। ये प्रयोग उन भाषाओंकी शिक्षाके लिये तो ठीक थे जिनमें अक्षर-प्रतीक और ध्वनि-प्रतीक एक हैं किन्तु अंग्रेज़ी, फ़ारसी, चीनी, आदि बीहड़, अवैज्ञानिक और असंयत अक्षर–प्रतीकोंवाली भाषाएँ तो इस प्रणालीसे कभी सिखाई ही नहीं जा सकतीं। अन्य भाषाओंके लिये भी यह प्रणाली सफल नहीं हो पाई।

वाचन सिखानेके लिये पहले बालकको लिखा हुआ शब्द दिखाकर उसके उच्चारणकी आवृत्ति कराते हैं, फिर इसी प्रकार वाक्यांशों और वाक्योंका अभ्यास होता है। पर इसमें सफलता कम मिली।

गणितका शिक्षण-क्रम

इसी प्रकार गणित सिखानेके लिये मौन्तेस्सौरीने जो प्रयोग स्थिर किए हैं वे पैस्टालौज़ीकी इकाईकी सरणि तथा अन्य विधियोंसे भिन्न नहीं हैं। विशे -

षता इतनी ही है कि इन्होंने विभिन्न लंबाईके छोटे-छोटे डंडे बनाए हैं जिनके कई भाग करके उन्हें लाल और नीला रँग दिया है। जब बालक उन भागोंको गिनना सीख जाता है तब अध्यापक भी एक डंडा लेकर, उससे बड़े या छोटे डंडे छात्रोंसे निकलवाता है या छात्रोंसे कहकर सब डंडे इस प्रकार रखवाता है कि वे सबसे बड़े डंडेके बराबर हो जायँ। इस प्रकार बहुत द्रविड प्राणायामके साथ जोड़, घटाना, गुणा, भाग सिखाया जाता है और उसमें समय भी बहुत लगता है। यद्यपि इस प्रकारके अभ्यासससे प्रारंभिक गणितपर बालकका कुछ अधिकार हो जाता है किन्तु फिर भी इसमें समय और श्रमका अत्यन्त अपव्यय होता ही है।

गणित सिखानेके लिये अनेक आकारों डंडे बने हुए, हैं जिनके कई भाग करके उन्हें लाल और नीला रँग दिया है। उन्हींके सहारे गुणा, भाग, जोड़ तथा घटाना सिखाते हैं पर यह प्रयोग सफल नहीं हुआ।

मौन्तेस्सौरी-विद्यालयकी झाँकी

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंकी बड़ी भारी विशेषता है वहाँका विनय और शील। आप किसी कक्षामें पहुँच जाइए। आपको तीन वर्षसे सातवर्ष तकके लगभग चालीस बच्चे अपने-अपने काममें जुटे हुए दिखाई देंगे। कोई आंगिक अभ्यासमें जुटा है, कोई गणितका अभ्यास कर रहा है, कोई रेखाचित्र खींच रहा है तो कोई चौकी पोंछ रहा है। कुछ बच्चे नीचे आसनोंपर बैठे हैं, कुछ पीठासनोंपर, किन्तु कोई बातचीत नहीं, सब अपने अपने काममें लीन। वे इधर-उधर चलते भी हैं और वस्तुएँ भी इधर-उधर हटाते हैं किन्तु आहट तनिक भी नहीं होती। कभी-कभी बीचमें कोई स्वर सुनाई पड़ता है तो यही है–'गुरूजी ! गुरूजी !! देखिए मैंने क्या बनाया है।' बालकोंके इस उल्लास-भरे स्वरके अतिरिक्त और किसी प्रकारका कोई कोलाहल वहाँ नहीं होता। अन्य विद्यालयोंमें डाँट-फटकार तथा दण्डका डर दिखाकर छात्रोंको चुप कराया जाता है किन्तु मौन्तेस्सौरीके विद्यालयोंमें बालक स्वयं आत्मसंयम, एकाग्रता और शान्ति सीख लेता है क्योंकि उसे इस प्रकार अभ्यास कराया जाता है कि वह स्वतंत्र रहनेपर भी शिष्टाचार और विनयकी रक्षा करता चले। इस प्रकारके विनयपूर्ण वातावरणमें छात्रोंमें परस्पर सहानुभूति, भ्रातृत्व, स्नेह तथा नम्रता-का भाव उत्पन्न होता है। शांति होनेके कारण सबके अभ्यास सावधानी और

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें ज्ञान तो कम प्राप्त होता है किन्तु बच्चोंको स्वच्छता, विनय, शील और एकाग्रताका अभ्यास अवश्य हो जाता है। कोलाहल और अशान्ति वहाँ नहीं।

एकाग्रतासे होते हैं। मौन्तेस्सौरी-प्रणालीका यह पक्ष निश्चित रूपसे अनुकरणीय और प्रशंसनीय है।

पुरस्कार और दंडका अभाव

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें पुरस्कार और दंडका अभाव क्योंकि पुरस्कारसे स्पर्धा और द्वेषकी वृद्धि, दंडसे भयकी उत्पत्ति।

इन पाठशालाओंकी एक यह भी बड़ी विशेषता है कि यहाँ न तो पुरस्कार ही दिया जाता है न दण्ड, क्योंकि पुरस्कारकी आवश्यकता वहीं होती है जहाँ बालककी इच्छाके विरुद्ध उसे प्रलोभन देकर उससे काम कराया जाता है। दूसरी बात यह है कि पुरस्कार पाकर बालकको जो आनंद मिलता है वह उन्हें शिक्षायंत्रोंके साथ स्वतः प्राप्त हो जाता है। पुरस्कारसे यह भी हानि होती है कि पहले तो विद्यार्थियोंमें स्पर्धाकी भावना उत्पन्न होती है जो बिगड़ते-बिगड़ते ईर्ष्या और द्वेषतक पहुँच जाती है यहाँतक कि जो बालक इसमें पिछड़ जाते हैं वे अपनेको निरर्थक और निकम्मा समझने लगते हैं। उनके मनमें आत्महीनताकी भावना इतनी व्याप्त हो जाती है कि वे सदाके लिये दब्बू बन जाते हैं। इसी प्रकार दण्डसे भी बालकोंके स्वाभाविक विकासमें बाधा पड़ जाती है और डरनेकी भावना इतनी प्रबल हो उठती है कि किसी भी काममें वे स्वतः प्रवृत्त नहीं हो सकते क्योंकि उन्हें सदा यह भय लगा रहता है कि कहीं हमारे कार्यसे हमारे गुरु अप्रसन्न न हों। मौन्तेस्सौरी–पद्धतिमें बालकके व्यक्तित्वको ही प्रधानता दी गई है, इसलिये पुरस्कार या दण्ड देने न देनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

मौन्तेस्सौरी-प्रणालीके मूल सिद्धांत

यद्यपि मौन्तेस्सौरीने कहीं भी अपने सिद्धांतोंकी विवेचना नहीं की परंतु उसकी प्रणालीका समीक्षण और अनुशीलन करके हम उसके सिद्धांत अवश्य जान सकते हैं जिन्हें हम चार रूपोंमें स्पष्ट देखते हैं—१–छात्रोंको शिक्षा प्राप्त करनेमें स्वतन्त्रता, स्वतःप्रवृत्ति और स्वेच्छा ; २–छात्रके व्यक्तित्वका आदर ; ३–स्वयं-शिक्षण ; ४–शिक्षा-यन्त्रोंके सहारे शरीरके अंगों, इन्द्रियों और अवयवोंकी सिद्धि।

स्वतंत्रता, स्वतःप्रवृत्ति और स्वेच्छा

मौन्तेस्सौरी विद्यालयोंमें न बँधे नियम हैं, न कोई बँधी हुई कार्यसरणि, न किसी विषय या कार्यको निश्चित समयमें समाप्त करनेका बंधन न पुरस्कारका प्रलोभन, न दण्डका भय न विनयके लिये कोई कठोर या बँधे हुए नियम अर्थात् विनय और

बालकको अपनी इच्छा-

से कार्य करनेकी छूट, नियम, कार्य-सरणि, दंड और पुरस्कार का सर्वथा लोप ।

शिक्षा दोनों ही क्षेत्रोंमें बालकोंको पूरी छूट है किन्तु इतना सब होते हुए भी पाठशालाओंमें पूर्ण शांति, उत्साह, आनंद और स्फूर्तिका वातावरण छाया रहता है । बालक अपनी इच्छासे उठता, बैठता, खेलता तथा काम करता है, उसे दूसरोंके उपदेश या आदेश-की आवश्यकता नहीं रहती । उसके कार्योंमें न तो अध्यापक हस्तक्षेप ही करता है न किसी कार्यके लिये आदेश ही देता है। वह चुपचाप बैठकर बालकोंके क्रिया-कलापोंका रस लेता है । इन विद्यालयोंमें वही स्वतंत्रता दिख-लाई देती है जो रूसो अपने प्रकृतिवादमें चाहता था और जिसकी आशा कुमारी हेलन पार्खर्स्टने डाल्टन-प्रयोगशाला-योजनामें प्रकट की है । वहाँ बालक अपनी इच्छासे, स्वतंत्रतापूर्वक, स्वतः प्रवृत्तिसे, प्रसन्नतापूर्वक अपना-अपना काम करते रहते हैं, उन्हें किसी प्रकारकी कोई बाधा नहीं होती ।

व्यक्तित्वका आदर

बालकके मन या हृदय-पर आघात करनेवाला व्यवहार नहीं किया जाता ।

इस पद्धतिमें प्रत्येक छात्रके व्यक्तित्वको बड़ी प्रधानता दी जाती है। किसी भी प्रकार किसी बालकके प्रति ऐसा कोई व्यवहार नहीं किया जाता जिससे उसके मन या हृदयपर आघात पहुँचे । इसी प्रकार उसके प्रत्येक कार्यके प्रति भी वैसा ही आदर प्रकट किया जाता है जैसा किसी सयानेके कामके प्रति । यदि वह बेढंगा चित्र भी बना लाता है तब भी उसकी प्रशंसा की जाती है क्योंकि उसने निर्माण तो किया है न !

स्वयंशिक्षा

बालकको अपनी गति और प्रवृत्तिसे ज्ञान प्राप्त करनेकी सुविधा ।

इस पद्धतिमें बालकको स्वयं अपनी गति और प्रवृत्तिसे नया ज्ञान प्राप्त करने और नई बात सीखते चलनेके लिये उत्साहित किया जाता है। इसमें अध्यापक न तो उसे शिक्षा देता है न उपदेश करता है। वह केवल निरीक्षक और पथ-प्रदर्शक मात्र रहता है। इस प्रकारकी स्वतःशिक्षाके द्वारा बालकके मनमें आत्मविश्वास भी बढ़ता है और उसे आत्मनिर्भरताका भी अभ्यास हो जाता है जो जीवनकी सफलताके लिये अत्यन्त आवश्यक तत्त्व है ।

अंगोंकी सिद्धि

इस पद्धतिमें विभिन्न शिक्षा-यंत्रोंके सहारे बालकोंके शरीरके विभिन्न

अंगों, इन्द्रियों और पुट्ठोंको इस प्रकार साध दिया जाता है कि उन्हें आगे ज्ञान प्राप्त करनेके समय उस प्रकारके ज्ञानसे संबद्ध शारीरिक, आंगिक या आवयविक चेष्टाओंके लिये नए सिरेसे अभ्यास न करना पड़े। यों भी देखने, सुनने, सूँघने, स्पर्श करने आदिके अभ्यासोंके द्वारा जो बौद्धिक विकास होता है उसका महत्त्व मनोवैज्ञानिकोंने तथा शिक्षा-शास्त्रियोंने मुक्तकंठसे स्वीकार किया है।

शिक्षा-यन्त्रोंके सहारे बालकके शरीरके विभिन्न अंगों और अवयवोंकी साधना।

मौन्तेस्सौरी-प्रणालीका विश्लेषण

मौन्तेस्सौरीने अपनी शिक्षा-प्रणालीको वैज्ञानिक बताया है किन्तु उन्होंने न तो कोई ऐसे प्रमाण दिए हैं और न विवरण दिए हैं जिनके आधारपर दूसरे लोग भी उसकी वैज्ञानिकताका परीक्षण कर सकें। इस पद्धतिमें पूर्वाचार्योंकी कृतियों तथा अनुभवोंसे परिचित होने, कथा सुनने, नाटक या संवादका आनन्द लेने तथा कलात्मक भावनाके विकासके लिये कोई स्थान नहीं। न इसमें काव्य है, न मनोरंजक खेल। नित्य नित्य एक ही प्रकारके यन्त्रोंसे उलझना, कई गुल्लियोंको ठीक छेदोंमें भरना, लकड़ीके चौकोर टुकड़ोंको नीचे ऊपर करके सजाना, रबड़की ज़ाकटमें बटन लगाना, आँखमें पट्टी बाँधकर हल्का-भारी तौलना आदि क्रियाओंमें बालक लगा भले ही रहे किन्तु अनेक वस्तुओं और कार्योंके प्रयोगसे जो कुतूहलपूर्ण उत्साह होता है वह इसमें किसी प्रकार संभव नहीं है। विभिन्न वातावरणोंसे आए हुए बालक भी जो चुपचाप काम करते चलते हैं यह उनकी स्वाभाविक प्रकृति नहीं है। कक्षामें गृध्रदृष्टिसे निरन्तर ताकनेवाली अध्यापिकाके भयसे वे चुपचाप अपने कार्यमें लगे रहते हैं क्योंकि उन्हें यह सन्तोष रहता है कि चुपचाप खेलनेपर घरमें मार पड़ती थी, डाँटे जाते थे, यहाँ वही खेल करनेके लिये यन्त्र दिए जाते हैं, इसलिये बालकोंका वह अस्वाभाविक मौन, विनयका द्योतक न समझकर दंड-भयका परिणाम समझना चाहिए। मौन्तेस्सौरीने जो शिक्षा-यंत्र भी तैयार किए हैं वे इतने मँहगे हैं कि भारतके बच्चोंको यदि मौन्तेस्सौरी–प्रणालीसे अनिवार्य शिक्षा दी जाय तो भारत सरकारकी वर्त्तमान वार्षिक आय दुगनी हो जानेपर भी पूरी न पड़ेगी। इस प्रणालीमें समय भी बहुत नष्ट होता है। जो ज्ञान बालकको अन्य सरल उपायोंसे एक मासमें आ सकता है वह इस प्रणालीसे एक वर्षमें प्राप्त होता है। यह केवल धनिकोंके बच्चोंके चोचले हैं जो पैसा और समय दोनों अपने बालकोंके लिये बलिदान कर सकते हैं। मौन्तेस्सौरीने बालककी स्वतंत्रताको अधिक महत्त्व दिया अवश्य है किन्तु

उन्होंने उसे यंत्रोंके फेरमें भी ऐसा बाँध रक्खा है कि अध्यापकका व्यक्तित्व भी पूर्णतः लुप्त हो जाता है, बालक भी कूपमंडककी भाँति उन्हीं यंत्रों-की मायामें घिरा पड़ा रहता है। इससे बालककी सामान्य मानसिक तुष्टि भले ही हो किन्तु उसकी उदात्त वृत्तियोंका विकास नहीं हो पाता, शिक्षक तथा शिक्षा दोनोंमें उसे किसी प्रकारकी कोई रुचि नहीं रह जाती और पाठशाला-का काम केवल मूक यंत्रकी भाँति चलता है। मौन्तेस्सौरीका यह भी हठ है कि मेरे नामके विद्यालयोंमें मेरे ही यंत्रोंका प्रयोग किया जाय तभी वह मौन्ते-स्सौरी प्रणाली हो सकती है अन्यथा नहीं। इसमें वे किसी प्रकारका सुधार या सुझाव माननेको तैयार नहीं हैं। यों तो हठवादिता कहीं भी ठीक नहीं होती किन्तु शिक्षाके क्षेत्रमें तो यह प्रवृत्ति अत्यंत अनुचित और अवांछनीय है। सारांश यह है कि मौन्तेस्सौरी-प्रणालीमें केवल विनय और शीलकी भावना ऐसी है जिसे आधुनिक विद्यालयोंको अवश्य ग्रहण करना चाहिए। इसके अति-रिक्त मौन्तेस्सौरी-प्रणाली एक विराट् विडंबना है जो मन्दबुद्धि और जड़ बालकोंके लिये भले ही लाभकारी हो किन्तु साधारण बालककी शिक्षाके लिये अत्यन्त अव्यावहारिक, व्ययसाध्य, आडम्बरपूर्ण और निरर्थक है।

१९

डाल्टन प्रयोगशाला-योजना

कुमारी हेलन पार्खर्स्ट

नई शिक्षा-योजना

सन् १९१२में अमेरिकाकी शिक्षा-शास्त्रिणी कुमारी हेलन पार्खर्स्टने आठसे बारह वर्षके बीचकी अवस्थावाले बालकोंके लिये एक नई शिक्षा-योजना बनाई। यद्यपि यह योजना उनके मनमें पहलेसे ही थी किन्तु उसका वास्तविक प्रयोग सन् १९१३ और १५ के बीच किया गया। इसी बीच प्रसिद्ध जर्मन युद्ध (१९१४-१८) छिड़ गया और कुमारी पार्खर्स्टने भी अपनी योजना थोड़े दिनके लिये ढीली कर दी। जर्मन-युद्ध समाप्त होनेके पश्चात् सन् १९२०में उन्होंने संयुक्तराष्ट्र अमेरिकाके मैसाच्यूसेट राज्यके डाल्टन स्कूलमें अपनी योजना प्रारंभ की। इसके पश्चात् उन्होंने एक बाल-विश्वविद्यालय-पाठशाला (चिल्ड्रेन्स यूनिवर्सिटी स्कूल) स्थापित करके उसमें अपनी डाल्टन प्रयोगशाला-योजना (डाल्टन लैबोरेटरी प्लान) का व्यवहार किया।

हेलन पार्खर्स्टने १९२० में अमेरिकाके डाल्टन स्कूलमें नई शिक्षा-योजनाका प्रयोग किया जिसका नाम उसने डाल्टन प्रयोगशाला-योजना रक्खा।

कारण

इन दिनों विद्यालयोंमें अध्यापकोंका बोल-बाला था। पशुओंकी भाँति छात्र भी कक्षारूपी बाड़ोंमें बन्द कर दिए जाते थे। अध्यापकगण जो कुछ बतला देते थे उसे वे घोटकर सुना देते थे। यदि सुनाते समय तनिक-सा भी हेरफेर हुआ कि बेतोंसे धुन दिए जाते थे। प्रायः विद्यालयकी कक्षाएँ भी धुँधली, अँधेरी, सँकरी और वायुशून्य होती थीं। विद्यार्थियोंके मुँह-पर ताले लगे हुए थे। मेधावी बालकको तीव्र गतिसे आगे बढ़नेका अवसर नहीं था और मतिमंद बालकको अपनी मंद गतिसे रुक-रुककर चलनेकी सुविधा नहीं थी। यद्यपि रूसो, पैस्टालौज़ी और हरबार्ट जैसे शिक्षा-शास्त्रियोंने बालकके स्वतंत्र-शिक्षा विकासपर बहुत कुछ लिखा और कहा था किन्तु फिर भी अधिकांश

बालकोंकी यातना देखकर और विद्यालयोंका नीरस तथा कठोर वातावरण देखकर हेलन पार्खर्स्टने नई योजना बनाई पर उसे अपने नामसे चलाना उचित नहीं समझा।

विद्यालयोंमें दण्डवादी, प्राचीन-पंथियोंका साम्राज्य था। इन सब बातोंसे संपूर्ण शिक्षा-क्रम नितांत नीरस और रोचकता-शून्य हो गया था, विद्यालयका नाम सुनते ही बालक थर्रा उठते थे, रोने लगते थे और इसीलिये दो विद्यार्थी उसके हाथ-पैर पकड़कर विद्यालयमें पहुँचाते थे। कुमारी हेलन पार्खर्स्टके कोमल नारी-हृदयको इस कठोर, अकरुण और नीरस वातावरणसे अत्यंत क्षोभ हुआ; इसीलिये उन्होंने अमेरिकामें अपनी डाल्टन-योजना स्थापित की। वे चाहतीं तो इस योजनाके साथ मेरिया मौन्तेस्सौरीके समान अपना नाम भी जोड़ देतीं किन्तु यह उन्होंने उचित नहीं समझा क्योंकि उनका विश्वास है कि किसी शिक्षा-प्रणालीको अपने नामसे जोड़ना और उसे बाँध देना नैतिक दृष्टिसे ठीक नहीं है। उनकी यही इच्छा रही है कि इस योजनाको विशेष नियमों और बन्धनोंमें न जकड़ दिया जाय और इसीलिये विभिन्न देशों और स्थानोंके लिये उन्होंने बड़ी छूट दे दी है। सन् १९१५ से १८ तक पार्खर्स्टने केलिफ़ोर्नियामें मौन्तेस्सौरी-प्रणालीका प्रयोग किया और इसीलिये कुछ लोग इस प्रणालीको मौन्तेस्सौरीकी उपज मानते हैं किन्तु वास्तविक बात यह है कि विद्यार्थीको विद्यालयोंके नीरस वातावरणसे मुक्त करनेकी भावनासे ही डाल्टन-योजनाका जन्म हुआ था।

डाल्टन प्रयोगशाला-योजनाके सिद्धान्त

इस प्रयोगशाला-योजनाके दो मुख्य सिद्धान्त हैं—(१) विभिन्न विषयोंके लिये निश्चित घंटों और समय-सरणिके कठोर बंधनोंको नष्ट करके बच्चेको स्वतंत्रतापूर्वक काम करनेकी सुविधा देना, (२) बालककी रुचि जिस विषयमें अधिक हो उस विषयको जितनी देरतक वह चाहे, अध्ययन करने देना। इन सिद्धान्तोंसे यह स्पष्ट हो जायगा कि यह डाल्टन-योजना कोई नई शिक्षाप्रणाली नहीं है वरन् एक नई प्रकारकी विद्यालय-व्यवस्था है। इसमें विषय तो वे ही पढ़ाए जाते हैं जो अन्य विद्यालयोंमें, किन्तु इसमें पढ़ाईका ढंग, परिणाम और प्रकार भिन्न होता है।

१. समय-सरणिके बन्धनसे बालकको मुक्त करना; २. जिस विषय में रुचि हो उसमें यथारुचि उसे अध्ययन करनेकी सुविधा देना।

कार्य-पद्धति

समूचा पाठ्यक्रम सुविधाजनक मासिक कार्य-योजना (एसाइनमेन्ट) के रूपमें बाँट लिया जाता है जिसमें छुट्टियोंके लिये, पढ़े हुए पाठकी आवृत्तिके लिये और विद्यार्थियोंके स्वतः अभ्यासके लिये समय छोड़ दिया जाता है। प्रत्येक पाठ्य विषयको

प्रत्येक विषयका पूरा

पाठ्यक्रम मासिक कार्य-योजनाके रूपमें दस भागोंमें बाँट दिया जाता है जिसे बालक अपनी सुविधाके अनुसार काम करते हुए निर्दिष्टसमय-में पूरा करते हैं।

एक वर्षकी दस मासिक कार्ययोजनाओंमें बाँट दिया जाता है और यह आशा की जाती है कि विद्यार्थी इस कार्यको ठेके (कौन्ट्रेक्ट) के रूपमें ग्रहण करेंगे और एक महीनेके लिये दिया हुआ निश्चित कार्यक्रम निश्चित समयमें पूरा करेंगे। इसमें स्वतंत्रता यही है कि विद्यार्थी एक मासमें पूरे किए जानेवाले कार्य-को अपनी इच्छाके अनुसार चाहे जिस क्रमसे और चाहे जिस गतिसे पूरा कर सकते हैं। वे चाहें तो एक महीनेके लिये दिए गए कामको दस दिनमें पूरा कर सकते हैं किन्तु कार्य समाप्त करते ही वे अगले महीनेके कार्य-क्रमका ठेका नहीं ले सकते, वे शेष बचे हुए समयमें पुस्तकालयसे मनचाही पुस्तकका अध्ययन कर सकते हैं। जब छात्र मासिक कार्यका ठेका लेते हैं तो वे यह भी वचन देते हैं कि इस कार्यको पूरा करनेके लिये न हम किसीको सहायता देंगे न हम किसीसे सहायता लेंगे। छात्रोंको इतनी छूट अवश्य रहती है कि वे अपने गुरु या अपने सहपाठियोंसे सम्मति लें, किन्तु कार्य उन्हें स्वतः ही पूरा करना-पड़ता है।

प्रयोगशालाके रूपमें कक्षा

प्रत्येक कक्षा प्रयोगशाला बन जाती है जिसमें विभिन्न श्रेणियोंके छात्र एक-एक विषयका अध्य-यन-कार्य एक साथ कर लेते हैं।

इस योजनामें कक्षाएँ लुप्त हो जाती हैं और प्रत्येक कक्षा प्रयोगशाला बन जाती है। इन विभिन्न प्रयोगशालाओंमें उन-उन विषयोंके सब सहायक पदार्थ—पुस्तक, चित्र, रेखाचित्र, प्रतिमूर्ति, यंत्र आदि—विद्यमान रहते हैं। विभिन्न श्रेणियोंके वे विद्यार्थी जो किसी एक विषयका कार्य पूरा करना चाहते हैं वे अलग उस विषयकी कक्षा-प्रयोगशालामें बैठकर सामग्रीका उपयोग करके अपना कार्य पूरा कर सकते हैं। इस प्रकार विद्यालयमें पहली, दूसरी; तीसरी कक्षा न होकर हिन्दीकी प्रयोगशाला, गणित-की प्रयोगशाला, इतिहासकी प्रयोगशाला तथा भूगोल, विज्ञान, संगीत, चित्र-कला आदि विषयोंकी प्रयोगशालाएँ बन जाती हैं। इसीलिये वहाँ न घंटे लगते हैं, न कोई बँधी हुई समय-सरणि (टाइम-टेबिल) ही रहती है।

डाल्टन-पद्धतिके अध्यापक

इस योजनाके अंतर्गत अध्यापकोंका काम यह है कि (१) वे अपनी-अपनी प्रयोगशालामें जाकर आसन लगाकर वर्ष भरके लिये मासिक कार्य-

अध्यापकका कार्य है (१) वर्ष भरके लिये मासिक कार्य योजना बनावे, (२) छात्रोंको यथाकाल उचित परामर्श, निर्देश दे और उनपर दृष्टि रक्खे, (३) मासिक कार्य-योजना बनाते समय अध्यापकोंके सहयोगसे व्यर्थके आवृत्ति-कार्य दूर रक्खे। अध्यापकको छात्रके कार्यमें बाधा देनेका अधिकार नहीं, छात्रको अधिकार है कि वह अध्यापकसे परामर्श ले।

योजना तैयार कर दें, (२) जो विद्यार्थी कुछ पूछने आवे उसे उचित परामर्श या निर्देश दें और यह देखें कि छात्र एक दूसरेकी प्रतिलिपि तो नहीं करते, समय तो नष्ट नहीं करते या प्रयोगशालाकी किसी वस्तुका दुरुपयोग तो नहीं करते, (३) मासिक कार्य-योजना बनाते समय विभिन्न विषयोंके अध्यापक परस्पर मिलकर इस प्रकार कार्य बाँटें कि छात्रोंको परिश्रम भी कम हो और व्यर्थ एक प्रकारके कार्यकी आवृत्ति न हो। यदि इतिहासका अध्यापक शिवाजीपर लेख लिखाना चाहता है तो वह इस कामको भाषा-शिक्षककी कार्य-योजनामें डाल सकता है जिसका ऐतिहासिक अंश इतिहासका अध्यापक देख ले और भाषाका अंश भाषाका अध्यापक देख ले। इससे छात्र भी दो निबंध लिखनेकी कठिनाईसे बच जाता है। इस योजनामें अध्यापकको कोई अधिकार नहीं है कि वह विद्यार्थीके काममें बाधा दे। यह छात्रका ही अधिकार है कि वह आवश्यकता पड़नेपर अध्यापकसे सम्मति और परामर्श ले।

ठेकेका कार्य (कौन्ट्रैक्ट एसाइनमेंट)

मासिक कार्य-योजनामें प्रस्तावना, विषयांग, समस्या, लिखित कार्य, रटने योग्य कार्य, बैठक, सहायक पुस्तक, प्रगतिका लेखा, सूचना-पट्टका अध्ययन और विभागीय छूट।

छात्रोंके लिये जो दस मासकी वार्षिक ठेकेकी कार्य-योजना (कौन्ट्रैक्ट एसाइनमेंट) बनाई जाती है उसमें निम्नांकित बातें आती हैं—प्रस्तावना, विषयांग, समस्याएँ, लिखित कार्य, कंठस्थ करने योग्य कार्य, सम्मेलन, सहायक पुस्तकें, प्रगति-विवरण, सूचनापट्टका अध्ययन तथा विभागीय छूट। यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक मासिक कार्ययोजनामें ये सभी बातें आवें फिर भी इनमेंसे अधिकांशका समावेश होना ही चाहिए। वास्तवमें डाल्टन प्रयोगशाला-योजनामें सबसे अधिक महत्त्वका कार्य मासिक कार्य-योजना बनाना ही है और इसीलिये जबतक अत्यन्त कुशल अध्यापक न हों तबतक यह योजना सफल भी नहीं हो पाती।

(१) **प्रस्तावना**—थोड़ेसे शब्दोंमें एक महीनेके लिये दिए जानेवाले कार्यका कुछ थोड़ासा परिचय दिया जाय।

(२) विषयांग—जो विषय दिया जाय उसके उस विशेष अंग, भाग, पाठ या अंशका उल्लेख हो, जैसे यदि भाषा पढ़ानी हो तो भाषाके अंग (रचना, व्याकरण, कविता, गद्य, नाटक, कहानी आदि) का उल्लेख स्पष्ट किया जाय, केवल भाषा कहकर न छोड़ दिया जाय और यह भी बताया जाय किस अंगके लिये कितना काम अपेक्षित है।

(३) समस्याएँ—इसके अंतर्गत उन सब बातोंका उल्लेख हो जिनके लिये छात्रोंको मनन करना या विचार करना पड़े, जैसे यन्त्र बनाना, मानचित्र बनाना अथवा वैज्ञानिक या दार्शनिक विवेचन करना आदि। अधिकतर भाषाके पाठमें समस्याएँ कम होती हैं। इतिहास, भूगोल, विज्ञान तथा अर्थ-शास्त्र जैसे विषयोंमें समस्याएँ अधिक होती हैं जिसके लिये छात्रको विशेष अध्ययन करके अपनी ओरसे परिणाम निकालना होता है।

(४) लिखित कार्य—जो कुछ लिखनेका कार्य कराना हो उसकी पूरी सूची दी जाय और जिस तिथिको लेख लेना हो उस तिथिका स्पष्ट उल्लेख हो।

(५) कंठस्थ करने योग्य कार्य—इसके अन्तर्गत उन सब अंशों, कविताओं या अनुच्छेदोंका उल्लेख हो जिन्हें कण्ठस्थ कराना अभीष्ट हो।

(६) सम्मेलन (कौन्फ़रेन्स)—जो कार्य-योजना बनाई जाती है उसके लिये कभी कभी सामूहिक रूपसे एक श्रेणीके छात्रोंसे विचार-विमर्श करना भी आवश्यक होता है अतः कार्य-योजनामें उन तिथियोंका भी उल्लेख हो जब पूरी कक्षाको एक साथ बैठाकर उस विषयपर बातचीत करनी हो या कुछ विशेष समझाना हो।

(७) सहायक पुस्तकें—कार्य-योजनाके साथ उन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंके नाम भी दे दिए जायँ जिनसे सहायता लेना आवश्यक हो। ऐसी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंका नाम देते समय अध्यायों तथा पृष्ठोंका भी उल्लेख कर दिया जाय जिससे बालकको पूरी पुस्तक या पत्रिकाके पढ़नेमें अधिक समय नष्ट न करना पड़े।

(८) प्रगति-विवरण—इसी कार्य-योजनाके साथ बालकोंको यह भी बतला दिया जाय कि वे अपनी प्रगतिका लेखा किस प्रकार बनाएँ। इससे बालकोंमें आत्मविश्वास बना रहता है और वे समझते रहते हैं कि हमने इतना ज्ञान प्राप्त किया, इतना कार्य किया, इतनी उन्नति की।

(९) सूचनापट्टका अध्ययन—कभी कभी यदि प्रयोग-शालाके सूचना-पट्टपर कोई चित्र, मानचित्र अथवा लेख आदि पढ़नेके लिये टाँगनेकी योजना हो तो उसका भी उल्लेख कर दिया जाय।

(१०) विभागीय छूट—ऊपर बताया जा चुका है कि मासिक कार्य-

योजना बनाते समय अध्यापकोंको परस्पर मिलकर इस प्रकारसे कार्य-विभाजन करना चाहिए कि एक ही प्रकारके कार्यकी आवृत्ति न हो और छात्रपर अनावश्यक भार न पड़े।

कक्षाके विभिन्न पाठ्य विषयोंमें परस्पर सहयोग होता ही है। यदि किसी विद्यार्थीको इतिहासके अध्यापकने शिवाजीपर एक लेख लिखनेको दिया है और वह लेख भाषाकी दृष्टिसे बहुत अच्छा लिखा गया है तो भाषाका अध्यापक अपने दिए हुए लेखन-कार्यमेंसे उतनी कमी कर देता है। इस प्रकार एक-एक सप्ताहका कार्य अलग अलग बनाकर दे दिया जाता है। नीचे उदाहरणके लिये हम दो विषयोंकी मासिक कार्य-योजना दे रहे हैं—

कार्य-योजना [एसाइनमेंट]

एक मासके लिये

कक्षा ७

इतिहास

प्रथम सप्ताह–२ सम्मेलन (कौन्फ़रेन्स)—चन्द्रगुप्त प्रथम तथा समुद्रगुप्तके विषयमें १ तथा ३ तारीखको पढ़ाया जायगा।

१ अन्विति (यूनिट)—"भारतवर्षकी कहानियाँ" शीर्षक पुस्तकसे समुद्रगुप्तकी कहानी पढ़ो।

द्वितीय सप्ताह—२ सम्मेलन (कौन्फ़रेन्स)–नेपोलियनकी कहानी ८ तथा ९ तारीखको सुनाई जायगी।

१ अन्विति (यूनिट)—नेपोलियनकी कहानी संक्षेपमें लिखो और १४ तारीखको हिन्दीके अध्यापकको दिखाओ।

विभागीय छूट—हिन्दी लेखकी एक अन्विति कम हो जायगी।

तृतीय सप्ताह—२ सम्मेलन (कौन्फ़रेन्स) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा चीनी यात्री फ़ाह्यानके विषयमें १६ तथा १८ तारीखको पढ़ाया जायगा।

१ अन्विति (यूनिट)—"भारतवर्षकी कहानियाँ" शीर्षक पुस्तकसे विक्रमादित्यकी कहानी पढ़ो।

चतुर्थ सप्ताह—२ सम्मेलन (कौन्फ़रेन्स) गुप्त-कालकी आर्थिक दशा तथा संस्कृतिके विषयमें २२ तथा २४ तारीखको पढ़ाया जायगा।

१ अन्विति (यूनिट)—गुप्त कालका कौनसा सम्राट् तुम्हें अच्छा लगता है और क्यों। सूचना पट्टपर दिए हुए 'गुप्तकाल' लेख पढ़कर इसपर एक छोटा सा विवरण लिखो और २९ तारीखको दिखाओ।

या

समस्या—समुद्रगुप्त और नैपोलियनमें युद्ध तथा विजयकी सुविधा किसके पास अधिक थी—संक्षेपमें लिखो और २९ तारीखको दिखाओ।

कार्य-योजना [एसाइनमेंट]

एक मासके लिये

कक्षा ९

हिन्दी

प्रथम सप्ताह—२ सम्मेलन (कान्फ़रेन्स)—रीति-कालका सामान्य परिचय, रीति-कालमें भूषणका स्थान तथा उनकी जीवनीके विषयमें १ और ३ तारीखको पढ़ाया जायगा।

१ सम्मेलन—"साहित्य-सौरभ" पुस्तकसे 'सच्ची वीरता" शीर्षक पाठ ५ तारीखको पढ़ाया जायगा।

२ अन्विति (यूनिट)—"भूषण-ग्रन्थावली" के पृष्ठ १ से पृष्ठ २१ तक तथा "हिन्दी साहित्यका इतिहास' शीर्षक पुस्तकसे पृष्ठ २०७ से २११ तक पढ़िए।

१ अन्विति (यूनिट)—"रीतिकालके पंकिल वातावरणमें उत्पन्न होनेपर भी भूषण उससे बहुत दूर थे" इस कथनके समर्थनमें लेख लिखकर ६ तारीखको दिखाइए।

द्वितीय सप्ताह—२ सम्मेलन—भूषणके कवित्त ९ तारीखको पढ़ाए जायँगे।

१ अन्विति (यूनिट)—"साहित्य-सौरभ" पुस्तकसे "सच्ची वीरता" शीर्षक पाठ पढ़ाया जायगा।

१ अन्विति (यूनिट)—"हिन्दी साहित्य-निर्माता" शीर्षक पुस्तकसे प्रेमचन्दके विषयमें पढ़िए।

२ अन्विति (यूनिट)—सत्त्व गुणके समुद्रमें जिनका अन्तःकरण निमग्न हो गया हो वे ही महात्मा साधु और वीर हैं—इसे भली-भाँति लिखकर समझाइए और १४ तारीखको दिखाइए।

तृतीय सप्ताह—२ सम्मेलन—भूपणके कवित्त १६ तथा १८ तारीखको पढ़ाए जायँगे।

१ सम्मेलन—"साहित्य-सौरभ" पुस्तकसे "परीक्षा" शीर्षक कहानी पढ़ाई जायगी।

२ अन्विति—"मधुकरी" शीर्षक पुस्तकसे आत्माराम तथा शतरंजके खिलाड़ी "शीर्षक कहानियाँ पढ़िए।

१ अन्विति—'बूढ़े जौहरीने बगुलोंमेंसे हंस किस प्रकार ढूँढ़ निकाला' संक्षेपमें लिखिए और २० तारीखको दिखाइए।

चतुर्थ सप्ताह—२ सम्मेलन—भूषणके कवित्त २३ तथा २५ तारीखको पढ़ाए जायँगे।

१ सम्मेलन—संक्षेपमें कहानी-कलाके विषयमें पढ़ाया जायगा।

२ अन्विति—आँख और कान शब्दोंसे बननेवाले मुख्य मुहावरोंके अर्थ लिखकर वाक्योंमें प्रयोग कीजिए और २८ तारीखको दिखाइए।

१ अन्विति—३० तारीखको अशुद्धियाँ सुधारिए।

दैनिक कार्यक्रम

यह विद्यालय पौने नौ बजे प्रातःकालसे तीसरे पहर चार बजेतक चलता है। इसमें दोपहरको एक और दो बजेके बीच छुट्टी होती है। सब विद्यार्थियोंका एक-एक दल एक-एक अध्यापकके अधीन रहता है और वह प्रातःकाल अपने अध्यापकसे मिलता है। अध्यापक भी कक्षाको दिए हुए कार्यपर छात्रोंसे बातचीत करता है और व्यक्तिगत रूपसे जिन्हें सहायताकी इच्छा होती है उन्हें सहायता भी देता है। पौने नौसे बारह बजेतक छात्र अपनी इच्छाके अनुसार स्वतंत्र कार्य करता है। बारहसे एक बजे तक प्रतिदिन सम्मेलन होता है जिसमें कक्षाएँ अपने गुरुओंसे मिलती हैं। इन सम्मेलनों (कान्फ्रेन्सों) में अध्यापक वे सब बातें बताता है जो छात्रकी समझ, शक्ति और अनुभूतिसे परे हों, साथ ही छात्रोंके साथ विभिन्न विषयोंपर विचार-विमर्श, शास्त्रार्थ या वादविवाद भी करता है। तीसरे पहरका समय कला, हस्त-कौशल, खेल-कूद तथा व्यायाम आदिके लिये छोड़ दिया जाता है।

पौने नौ बजे प्रातःसे तीसरे पहर चार बजे तक विद्यालय। प्रातःकाल एक-एक श्रेणीकी अपने अध्यापकसे भेंट और दिए हुए कार्यपर बातचीत। पौने नौसे १२ बजेतक छात्रोंद्वारा स्वतंत्र कार्य, १२ से १ तक सम्मेलन, तीसरे पहर कला-कौशल, खेलकूद, व्यायाम।

चौघर (ग्राफ़) पर छात्रोंकी प्रगतिका लेखा

विद्यार्थीकी गति जानते रहनेके लिये चौघर (ग्राफ़) के रूपमें सब विद्यार्थियोंकी उन्नतिका लेखा रक्खा जाता है। ये लेखे साप्ताहिक और मासिक दो प्रकारके होते हैं। ये दोनों लेखे छात्रके पास रहते हैं जिनमें वह काम पूरा करके अध्यापकसे अपने किए हुए कामका गतिचिह्न बनवा लेता है। इसके अतिरिक्त विद्यालयमें प्रत्येक बालककी उपस्थितिका लेखा भी रक्खा जाता है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि छात्रकी प्रगति किस प्रकार हो रही है।

चौघरे (ग्राफ) पर मासिक और साप्ताहिक प्रगतिका लेखा रहता है

डाल्टन-प्रयोगशाला-योजनाका विश्लेषण

इस योजनाकी सात विशेषताएँ।

इस योजनामें सात बहुत बड़ी विशेपताएँ हैं जो संसारकी किसी शिक्षा-योजनामें प्राप्त नहीं है। (१) प्रत्येक बालकको एक दिनके कामके बदले महीने भरका काम दिया जाता है जो उसे प्रतिदिन करना पड़ता है। (२) अपनी इच्छा और सुविधाके अनुसार काम करनेकी छूट होती है जिससे विद्यार्थीमें उत्तरदायित्व और आत्मनिर्भरताकी भावना बढ़ती है। (३) प्रत्येक छात्र अपनी गति और रुचिके अनुसार काम करता है। (४) आत्मशिक्षा और व्यक्तिगत कार्य दोनोंका इसमें समन्वय है। (५) किसी दिन विद्यालयसे अनुपस्थित रहनेपर भी अपना काम पूरा करनेके लिये छात्रको अवसर रहता है। (६) अध्यापक और छात्रके बीच अत्यंत स्नेह और सद्भावनाकी वृत्ति रहती है। (७) विद्यार्थी नित्य अपने कार्यकी परीक्षा करता चलता है इसलिये इस योजनामें परीक्षाएँ नहीं हैं।

कुछ त्रुटियाँ होते हुए भी यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है और विशेष बात यह है कि अपनी सुविधा और साधनके अनुसार इसमें हेरफेर करनेकी छूट है।

इस योजनामें जहाँ इतने गुण हैं वहाँ त्रुटियाँ भी हैं कि इसमें—(१) अध्यापकके व्यक्तित्व और चरित्रका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। (२) मौखिक शिक्षण-कार्यके लिये अवकाश नहीं रह जाता। (३) प्रश्नोत्तरी-प्रणालीसे मस्तिष्कको शिक्षित करनेका भी अवसर इसमें नहीं मिलता और इसीलिये इसमें बोल-चालकी भाषा समुन्नत नहीं हो पाती। (४) बहुतसे विद्यार्थी परस्पर अथवा पुस्तकोंसे प्रतिलिपि करके भी कार्य पूरा कर सकते हैं। (५) छात्र किसी एक विषयमें अधिक और किसीमें कम रुचि दिखा सकते हैं। (६) अध्यापकके लिये संशोधनका कार्य बढ़ जाता है। (७) इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिये जैसे योग्य अध्यापकोंकी आवश्यकता है वैसे साधारणतः नहीं मिल पाते। (८) प्रत्येक विषयके लिये अलग-अलग प्रयोगशाला बनानेके लिये इतना व्यय होगा कि न तो सार्वजनिक विद्यालय ही यह भार वहन कर सकते हैं न राज्य ही। किन्तु यह सब होते हुए भी यह योजना अन्य सब शिक्षा-प्रणालियोंसे श्रेष्ठतम है क्योंकि इसमें शिक्षाके सब सिद्धांत समाविष्ट हो जाते हैं और सबसे बड़ी बात यह है कि कुमारी हेलन पार्खर्स्टने सब स्थानोंके लिये अपने अपने साधनोंके अनुसार इसमें परिवर्तन करनेकी सुविधा भी दे दी है, मौन्तेस्सौरीके समान उन्होंने किसी बातके लिये दुराग्रह नहीं किया है।

स्वयंप्रयोग-प्रणाली (ह्यूरिस्टिक मेथड)

आर्मस्ट्रौंग

> जिन परिस्थितियोंमें जो होकर आविष्कारकने वैज्ञानिक परिणाम निकाले हैं उसी क्रमसे परिणाम निकालकर सीखनेकी विधिको स्वयंशोध प्रणाली या ह्यूरिस्टिक मेथड कहते हैं।

विज्ञानकी शिक्षाके लिये जैसे प्रारम्भमें बेकनने परिणाम-प्रणाली (इण्डक्टिव मेथड) का प्रचलन किया उसी प्रकार पीछे ह्यूरिस्टिक या स्वयंप्रयोग-प्रणालीका भी आविष्कार हुआ। ह्यूरिस्टिक शब्दकी उत्पत्ति यूनानी भाषाके हेउरिस्केइन शब्दसे हुई है। इसका शब्दार्थ है शोध करना। अतः इस प्रणालीमें विद्यार्थी भी वैज्ञानिकके समान प्रत्येक वैज्ञानिक तथ्यका स्वयं शोध करता है, अर्थात् किसी आविष्कारक या वैज्ञानिकने किसी तथ्य, परिणाम या सिद्धान्तका जिन विशेष परिस्थितियोंमें विशेष प्रयोग करके या विशेष क्रमसे परिज्ञान किया है या नये आविष्कार किए हैं उन्हीं परिस्थितियों, प्रयोगों और क्रमोंके अनुसार चलते हुए विद्यार्थी भी प्रत्येक अपेक्षित परिणाम—आविष्कार—तक पहुँचता है। इस पद्धतिसे वह स्वयं प्रत्येक परिस्थितिका प्रभाव देखता है, अवांछित वस्तुओं और प्रयासोंको हटाकर, वांछितको जुटाता तथा निर्दिष्ट क्रमसे प्रयोग-कार्य करता चलता है और इस प्रकार वह मूल प्रयोग करनेवाले वैज्ञानिक द्वारा सिद्ध, निश्चित तथा उचित परिणामपर पहुँच जाता है।

छात्रको स्वयं-प्रयोगके लिये प्रोत्साहन

> प्रत्येक छात्रको ऐसी परिस्थितिमें रक्खा जाय कि वह स्वयं प्रयोग करके तथ्य निकाले।

स्पेन्सरका कहना है कि विद्यार्थियोंको जितना कम हो सके उतना कम बताना चाहिए और उन्हें स्वयं काम करके परिणाम निकालनेके लिये प्रेरित करना चाहिए। यही शिक्षा रूसो भी एमीलको यह कहकर देना चाहता था कि जलधारा ही उसके लिये पुस्तक है और पक्षी ही उसके साथी हैं। स्वयंप्रयोग प्रणालीमें भी छात्रको ही स्वयं प्रयोग करके परिणाम निकालनेके लिये प्रेरणा दी जाती है अर्थात् न्यूटनने जिन परिस्थितियोंमें गुरुत्वाकर्षण-शक्तिका आविष्कार किया

था उन्हीं परिस्थितियोंमें विद्यार्थियोंको रखकर उन्हें गुरुत्वाकर्षणका तथ्य सीखनेका प्रबन्ध इस पद्धतिमें किया जाता है। यदि न्यूटनको सेवके पतनमें धरणीकी आकर्षण-शक्तिका पता चला तो विद्यार्थियोंको भी विभिन्न उद्यानोंमें रहकर, फलका पतन देखकर उस शक्तिका तथ्य जानना चाहिए।

आचार्य आर्मस्ट्रॉंग

इस स्वयंप्रयोग प्रणालीके जन्मदाता हैं आचार्य आर्मस्ट्रॉंग। उन्होंने अन्य शिक्षाचार्योंके समान देखा कि विद्यार्थी स्वयं तो हाथ-पाँव हिलाते नहीं, शिक्षकका कहा या बतलाया हुआ ही मान लेते हैं। यह ज्ञान उनका निजका न होकर उधार लिया हुआ, पराया होता है। स्वयं-परीक्षित और परोपदिष्ट (दूसरोंके कहनेसे माने हुए) ज्ञानमें बहुत अन्तर होता है। स्वयं परीक्षण करके उसके आधारपर अपना ज्ञान स्थिर करना ही वास्तविक शिक्षा है। इस प्रणालीसे पहला लाभ यह है कि इस प्रकार प्राप्त की हुई शिक्षामें विद्यार्थीका मन लगता है, वह प्रसन्न होता है कि उसने किसी एक विषयके सब अंगोंका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है। शिक्षामें इस प्रकारकी तुष्टिका अत्यधिक महत्त्व होता है। दूसरा लाभ जो इस प्रणाली-द्वारा सम्भव है वह है शिक्षार्थियोंकी रुचिको विकसित करना। भूख लगनेपर ही भोजन स्वादिष्ट लगता है। जब इस प्रकार स्वयंप्रयोग करके ज्ञान प्राप्त करनेकी रुचि पुष्ट हो जाती है तभी ज्ञानार्जनकी भावना स्थायी हो जाती है।

इस स्वयंप्रयोग-प्रणालीसे छात्रको आत्मतुष्टि होती है और उसकी रुचि विकसित होती है।

स्वयंप्रयोगकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है

प्रत्येक विद्यार्थीमें कुछ स्वाभाविक स्फूर्ति होती है। वह कुछ हिल-डुल कर, चल-फिरकर, हाथ-पैर हिलाकर कुछ काम करना चाहता है, वह चाहता है कि प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें स्वयं प्रयोग करे, स्वयं अनुभव करे। वह दूसरेके अनुभवको सत्य माननेसे हिचकता है, वह यह नहीं चाहता कि उसका अनुभव करनेका अधिकार छीन लिया जाय। इस प्रणालीमें उसका अधिकार उसे मिल जाता है और इस अधिकारसे वह अत्यन्त प्रसन्न भी होता है। वह काम करता है, भूल करता है, अवांछित परिणामपर पहुँचता है, फिरसे वह प्रयोग प्रारम्भ

बालकमें स्वाभाविक स्फूर्ति होती है। वह अपने प्रयोगमें फिर-फिर भूल करके भी अपना ज्ञान स्थिर करना ठीक समझता है किन्तु दूसरेके अनुभवको सत्य माननेमें संकोच करता है।

करता है, इस फिर-फिरके प्रयोगोंसे उसका अभ्यास बढ़ता है, दक्षता आती है, भूलोंकी संख्या कम होती है और प्रश्नका समाधान स्वयं करनेकी आत्मतुष्टि भी प्राप्त होती है।

बाह्य नियन्त्रणकी आवश्यकताका अभाव

स्वयंप्रयोग प्रणालीमें मार-पीट, ताड़ना या बाहरी दबावकी आवश्यकता नहीं रह जाती। विद्यार्थी स्वयं उत्सुक होता है, वह स्वयं कार्यमें संलग्न होता है, शीघ्रसे शीघ्र उसे पूर्ण करनेका प्रयास करता है, कम समयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करता है और उसपर कोई अनावश्यक अधिक भार नहीं पड़ता, खेल-खेलमें ही उसे ज्ञान मिल जाता है। स्वाभाविक परिस्थितिमें प्राप्त शिक्षाका प्रभाव भी स्थायी होता है क्योंकि वह वास्तविक और सत्य होता है। स्वयं-प्रयोग प्रणालीमें ज्ञात विषयसे अज्ञातकी ओर बढ़नेका अच्छा अवसर मिलता है। पढ़ना एक बात है, पढ़े हुएको गुनना दूसरी बात है। गुने हुएका प्रयोग करना ही वास्तविक शिक्षाका उद्देश्य है। इस प्रणाली-द्वारा विद्यार्थी स्वयमेव पढ़े हुए विषयकी सहायता लेता है, गुने हुएका प्रयोग करता है जिससे उसका ज्ञान पक्का होता चलता है।

बाहरी दबाव तथा तर्जनका अभाव, खेल-खेलमें शिक्षा मिल जाती है। इस प्रकारकी शिक्षाका प्रभाव स्थायी होता है क्योंकि वह वास्तविक और सत्य होती है, इसमें गुने हुए ज्ञानका प्रयोग होता है।

यह प्रणाली भारतमें बहुत पहलेसे थी

धीरे-धीरे ज्ञानकी वृद्धि और उसकी पुष्टि करना शिक्षाका मुख्य उद्देश्य है और यह इस प्रणालीसे सर्वथा संभव है। यह नहीं समझना चाहिए कि यह प्रणाली आर्मस्ट्रौंगकी नई सूझ है। प्राचीन कालमें भी यह प्रणाली भारतमें प्रचलित थी। तक्षशिलाके छात्र जीवकके गुरुने उसे आज्ञा दी थी कि तुम विद्यालयके चारों ओर पन्द्रह कोसके घेरेमें उगी हुई प्रत्येक वनस्पतिका गुण और उसके दोष चिकित्साकी दृष्टिसे बतलाओ। उसने निश्चित समयमें सबका विवरण देकर सबके गुण-दोषोंकी मीमांसा कर डाली थी।

इस प्रणालीका प्रयोग भारतमें कई सहस्र वर्ष पहलेसे वैज्ञानिक विषयोंके अध्ययनमें किया जाता था।

शिक्षक

इस प्रणालीमें शिक्षक अपने प्राचीन पदसे उठकर अधिक गौरवमय स्थानपर प्रतिष्ठित हो गया। वह सब कुछ कहकर, बतलाकर छुट्टी पानेवाला नहीं

रह गया। उसके लिये यह आवश्यक हो गया कि वह प्रत्येक विद्यार्थीको मूल आविष्कारकके पदपर प्रतिष्ठित कर दे। वह यह देखता चले कि विद्यार्थी ठीक पथपर चल रहा है या नहीं। छात्रके विपथ होनेपर भी बिना पूछे वह उसे न टोंके या ठीक मार्गपर न लगावे किन्तु आवश्यकता पड़नेपर बिना बतलाए काम न चल सकनेपर कुछ थोड़ी सहायता दे।

छात्रको मूल आविष्कारकके पदपर प्रतिष्ठित करना शिक्षकका काम

विद्यार्थी

विद्यार्थी आविष्कारकका पद ग्रहण कर लेता है। उसे आविष्कारकी तुष्टि प्राप्त होती है। वही सर्वेसर्वा हो जाता है। उसका अपना विशेष स्थान होता है। वह प्रयोगके समय गैलीलियो और न्यूटन बनकर काम करने लगता है। अन्तर इतना ही होता है कि मूल वैज्ञानिकने तो बहुतसी भूलें भी की होंगी किन्तु स्वयंशोधक छात्र केवल उसी क्रमसे प्रयोग करता है जिस क्रमसे मूल वैज्ञानिकने सफलता प्राप्त की थी।

छात्र स्वयं वैज्ञानिकका पद ग्रहण करके उस महत्तासे आत्मतुष्टि प्राप्त करता है।

ह्यूरिस्टिक मेथड और ह्यूरिज़्ममें अन्तर

ह्यूरिस्टिक प्रणाली और ह्यूरिज़्ममें भी अन्तर जान लेना चाहिए। ह्यूरिज़्म या स्वयंशोध उस क्रियाको कहते हैं जिसमें वास्तविक वैज्ञानिक स्वतः अपने प्रयोगों-द्वारा कोई अन्वेषण या आविष्कार करता है किन्तु स्वयं-प्रयोग प्रणालीमें छात्र-द्वारा केवल उस क्रियाकी आवृत्ति कराई जाती है जिसके आधारपर मूल वैज्ञानिकने आविष्कार किया था। ह्यूरिज़्ममें मूल वैज्ञानिक स्वयं अनुसन्धान करता है, ह्यूरिस्टिक प्रणालीमें अध्यापकके निर्देशानुसार छात्रगण किसी वैज्ञानिकके अन्वेषण-क्रमकी स्वयं प्रयोग-द्वारा आवृत्ति करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि एकमें (स्वयंप्रयोग-प्रणालीमें, आविष्कारककी संगत क्रियाओंका छात्र-द्वारा अनुकरण और अनुसरण किया जाता है और दूसरेमें (स्वयंशोध-क्रियामें) स्वयं आविष्कारक ही मौलिक प्रयोग करके परिणाम निकालता है। पहले प्रकारके प्रयोगमें कम समय लगता है और केवल संगत क्रियाओंकी ही आवृत्ति की जाती है किन्तु दूसरेमें समय भी अधिक लग सकता है और अनेक प्रकारकी असंगत क्रियाएँ भी हो सकती हैं।

स्वयंप्रयोग प्रणाली (ह्यूरिस्टिक) में छात्रको आविष्कारकके स्थानपर रखकर उसे अनुसंधान – पद्धतिके अनुसार प्रयोग करनेको प्रवृत्त किया जाता जाता है और स्वयंशोधक्रिया (ह्यूरिज़्म)में स्वयं वैज्ञानिक ही आविष्कार-प्रयोग करता है।

स्वयंप्रयोग-प्रणालीका विश्लेषण

जहाँ इस प्रणालीमें इतने गुण हैं वहाँ यह त्रुटि भी है कि इस प्रणालीसे शिक्षाविभाग-द्वारा निर्धारित सब विषयोंकी शिक्षा नहीं दी जा सकती। केवल विज्ञान एवं तत्संबंधी विषयोंकी शिक्षामें तो यह सहायक होती है किन्तु साहित्य, गणित, इतिहास, आदि अन्य विषयोंके लिये इसका कोई प्रयोग नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि इस प्रणालीमें छात्रके अर्जित ज्ञानकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया जाता। न्यूटनको या आर्किमेदेस (आर्किमिडीज़) को जितना समय अपना सिद्धान्त निकालनेमें लगा उतना ही या उससे कुछ अधिक समय व्यय करना प्रत्येक विद्यार्थीकी परिमित शक्तिका अपव्यय करना है। जो परिश्रम मूल आविष्कारकने किया उसे दुहराना पिष्टपेषण मात्र करना ही है क्योंकि जो अनुभूत प्रयोग हैं उनके लिये शक्तिका और समयका अपव्यय क्यों किया जाय और फिर यदि संसारका समस्त ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने ढंगसे प्राप्त करता चले तो वह अपने जीवनमें ज्ञानका लक्षांश भी नहीं प्राप्त कर सकता और इतना संचित ज्ञान सब व्यर्थ हो जाय। तीसरा दोष यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी आविष्कारकका पद प्राप्त कर लेता है जब कि वह स्वयं उससे अनभिज्ञ साधक मात्र होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सबकी शक्ति भिन्न होती है और सब आविष्कारक नहीं हो सकते और न सबको इसकी आवश्यकता ही है। जिसको आवश्यकता हो वह ऐसा करे। चौथी बात यह है कि सब विद्यार्थी समान रूपसे सदैव उसमें रुचि नहीं ले सकते। थोड़े दिनों, महीनों या वर्षोंमें उनका जी ऊबने लगता है और वे समझने लग जाते हैं कि एक चक्करसे छूटकर दूसरेमें जा पड़े हैं। नित्यकी भूल, नित्यका सुधार करते-करते उनका जी टूट जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उनकी रुचि जाती रहती है और वह उस विषयसे, उस शिक्षासे भागता फिरता है यहाँतक कि उसे अरुचि हो जाती है। वह विषय सदाके लिये उसको डरावना जान पड़ने लगता है और यहीं शिक्षाकी इति हो जाती है। एक बात और है जिससे इस शिक्षा-प्रणालीका पोलापन प्रकट होता है। इस प्रकारके शिक्षक प्राप्त करना, इस प्रकारकी प्रयोग-शालाएँ बनाना सभी विद्यालयोंके लिये संभव नहीं है क्योंकि इतना धन व्यय करके वैज्ञानिक प्रयोगशाला स्थापित करना साधारण पाठशालाओंके लिये नितान्त कठिन तथा व्ययसाध्य है। किन्तु जहाँ संभव हो सके वहाँ इस प्रणालीको उचित स्थान देना चाहिए, क्योंकि इस प्रणालीसे कुछ छात्रोंकी रचना-प्रवृत्तिको तो निश्चय ही प्रोत्साहन मिलता है और वे स्वयं अन्वेषण करनेमें प्रवृत्त होते भी हैं।

२१

नवीन शिक्षा-शास्त्रके कुछ मान्य सिद्धान्त

शिक्षा-सूत्र

पीछे जिन अनेक शिक्षा-पद्धतियोंका हम विवेचन कर आए हैं उनके व्यावहारिक रूपका आधार लेकर वर्त्तमान शिक्षा-जगत्में जो सिद्धान्त सर्व-मान्य समझे जा चुके हैं उनकी व्याख्या करना भी अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उन्हीं सिद्धान्तोंके बलपर ही नवीन शिक्षा-प्रणालियों, पाठन-विधियों तथा शिक्षण-क्रमोंकी उत्पत्ति और व्यवस्था हुई है। किन्तु इन सिद्धान्तोंकी व्याख्या करनेसे पूर्व यह भी उचित है कि हम उन सिद्धान्तोंकी सर्वमान्यताका कारण भी देदें और उनके मनोवैज्ञानिक आधारका भी स्पष्टीकरण कर दें क्योंकि उनके कारण बालोद्यान-प्रणाली (किण्डेर-गार्टेन), प्रयोग-प्रणाली (प्रोजेक्ट मेथड), डाल्टन-प्रयोगशाला योजना, मौन्तेस्सौरी-प्रणाली आदि अनेक शिक्षा-पद्धतियोंका जन्म हुआ है जिनका उल्लेख हम यथास्थान कर भी चुके हैं।

शिक्षाका मनोवैज्ञानिक आधार

बालक अपने माता-पिता तथा कुल-परम्पराके कुछ संस्कार लेकर उत्पन्न होता है। जिस प्रकारके वातावरण तथा जैसी संगतिमें उसका लालन-पालन होता है वैसे ही उसके आचरण बनते हैं। वह जैसे औरोंको चलते फिरते, उठते-बैठते, बोलते-चालते, खाते-पीते, नहाते-धोते, सोते-लेटते, ओढ़ते-पहनते, हँसते-रोते, कूदते-फाँदते तथा पढ़ते-लिखते देखता है वैसे ही वह भी आचरण करने लगता है। अनुकरण हमारी शिक्षाका मूल आधार है। बालकमें उत्साह छलका पड़ता है। उसके हाथ-पैर कुछ करनेको व्याकुल रहते हैं। वह कोई ऐसा काम करना चाहता है जिसमें उसकी रुचि हो, जिसमें रुचि होती है उसीमें उसका मन अधिक लगता है, जिसमें मन लगता है वही ज्ञान बालकके मस्तिष्कमें दृढ़ होकर बैठता है तथा जो कुछ उसके मस्तिष्कमें बैठता है उसीके अनुकूल बालकका स्वभाव

बालकपर कुल-परंपरा और संगतिका प्रभाव। उसकी प्रारंभिक शिक्षा-का आधार अनुकरण। इस शिक्षामें बालककी रुचि प्रधान। अतः रुचिके अनुकूल शिक्षा दी जाय जिससे वह ध्यानसे ज्ञान प्राप्त करके उसे आत्मसात् कर सके। रटना उसे अच्छा नहीं

लगता। अतः बालककी रुचिके अनुसार उसे स्वतन्त्र ढंगसे विकसित करना ही नई शिक्षाका आदर्श है।

बनता है, उसकी प्रवृत्ति सधती है और उसका विचार बँधता है। ज्यों ज्यों बालक अपना ज्ञान संचित करता जाता है त्यों-त्यों इसी संचित ज्ञानके आधारपर वह नया ज्ञान बढ़ाता चलता है। अतः बालककी रुचि ही सबसे प्रधान वस्तु हुई। अनुभवसे जाना गया है कि बालकोंको रंगोंसे, रंगीन वस्तुओंसे बड़ा प्रेम होता है। उन्हें सुन्दर वस्तुएँ भाती हैं और ऐसी बातोंमें रुचि होती है जिनमें उन्हें कूदने-फाँदने और चिल्लानेका अवसर मिले। संगीतसे उन्हें स्वाभाविक प्रेम होता है। गतिशील कार्योंमें उनकी रुचि होती है। उन्हें अचरजभरे करतबोंमें अधिक कुतूहल होता है। इसीलिये वे जादूगर, बाजीगर, नट आदिके करतब बड़े चावसे देखते हैं, कहानियाँ बड़े चावसे सुनते हैं, मेले, तमाशे बड़ी रुचिसे देखते हैं क्योंकि वहाँ उन्हें खाने-पीनेकी वस्तुएँ, खेल-खिलौने, चरखी, घुमनी सभी रुचिकर वस्तुएँ मिल जाती हैं। दबकर, परतन्त्रतामें रहना बालकोंको अच्छा नहीं लगता। उन्हें स्वतन्त्रता चाहिए। रटनेमें उनकी तनिक भी रुचि नहीं होती। अतः शिक्षा-शास्त्रियोंने पुरानी डंडा-प्रणाली छोड़ी, बालकोंका मन समझा और शिक्षा-प्रणालीमें बालकोंके लिये रुचिकर वस्तुओं तथा क्रियाओंका समावेश करके उन्हें यथासंभव स्वतंत्र रूपसे विकसित होनेकी सुविधा दे दी।

विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली तथा परिणाम-सिद्धान्त प्रणाली

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विवेचन करनेके पश्चात् अब हम शिक्षा-प्रणालीके दो परस्पर विरोधी विधानोंपर विचार करते हैं। हम दो प्रकारोंसे शिक्षा दे सकते हैं (१) विश्लेपण प्रणाली (ऐनेलिटिक मैथड)से तथा (२) संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड)से। इन्हीं दोनोंको हम विषय-भेदसे क्रमशः (१) परिणाम-प्रणाली (इण्डक्टिव मेथड) तथा (२) सिद्धान्त-प्रणाली (डिडक्टिव मेथड) प्रणाली भी कहते हैं।

विश्लेषण-प्रणाली

१—विश्लेषण-प्रणाली (ऐनेलिटिक मेथड) में किसी वस्तुके संपूर्ण रूपके अध्ययनसे प्रारंभ करते हैं और फिर क्रमशः उसके विभिन्न तत्त्वों तथा भागोंका अध्ययन और विवेचन करते हैं। यदि हमें इस प्रणालीसे भूगोल पढ़ाना हो तो पहले हम संपूर्ण पृथ्वीके अध्ययनसे प्रारम्भ करेंगे और समान जलवायुके खंडोंमें पृथ्वीका विभाजन कर देंगे। फिर इन खंडोंके मानव, पशु तथा वनस्पति-जीवनका पूरा ब्यौरा दे देंगे और फिर उसी आधारपर विभिन्न महाद्वीपों और देशोंका अध्ययन करेंगे। इस प्रकार हमने विश्लेषण-प्रणालीसे पूरी पृथ्वीके भूगोलकी शिक्षा दी। यदि हमें रामचरितमानस पढ़ाना हो तो

इस प्रणालीके अनुसार पहले हम समूची कथा कहेंगे, उसके मुख्य चरित्रोंका अध्ययन करेंगे, भाषाकी विशेषताएँ समझेंगे और तब एक-एक कांडका अलग-अलग अध्ययन करेंगे। इस प्रणालीका प्रयोग हम वहाँ करते हैं जहाँ कोई ऐसा विषय पढ़ाना हो जिसके खंड किए जा सकें या जो भागोंमें विभाजित किया जा सके अर्थात् तत्त्वों या खंडोंसे निर्मित सभी भौतिक विषयोंके शिक्षणमें इस प्रणालीका प्रयोग किया जा सकता है जैसे भूगोल, ज्यामिति, चित्रकला आदि।

सिद्धान्त-प्रणाली (डिडक्टिव मेथड)

जैसे विश्लेषण-प्रणालीमें पूर्ण वस्तुसे प्रारम्भ करते हैं वैसे ही सिद्धान्त-प्रणालीमें सिद्धान्त या नियम पहले बता देते हैं और फिर विद्यार्थी अपने अनुभव तथा अन्य पाठ्य सामग्रीके आधारपर उन नियमोंकी व्यापकता सिद्ध करता है। एक व्याकरणका नियम लीजिए—'संज्ञा-विशेषण वह शब्द है जो किसी संज्ञा शब्दकी विशेषता बताता हो।' इस व्याकरणके नियमको विद्यार्थी रट लेता है और फिर 'भला बालक, सुन्दर सुमन, मनोहर वेश, भव्य भवन, आकर्षक रूप, पावन चरित्र' इत्यादि उदाहरणों-द्वारा वह उपर्युक्त नियमका प्रयोग समझ लेता है कि 'भला, सुन्दर, मनोहर, भव्य, आकर्षक तथा पावन' शब्द संज्ञा-विशेषण हैं क्योंकि ये क्रमशः 'बालक, सुमन, वेश, भवन, रूप तथा चरित्र' शब्दोंकी विशेषता बताते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग वहाँ होता है जहाँ हमें सिद्धान्तों या नियमोंसे काम पड़ता है जैसे व्याकरण, तर्कशास्त्र, दर्शन, नीति, धर्मशास्त्र आदिकी शिक्षामें।

संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड)

२—संश्लेषण-प्रणाली (सिन्थेटिक मेथड) में हम किसी विषय अथवा वस्तुके तत्त्वों अथवा भागोंसे प्रारम्भ करके उसके पूर्ण रूपके अध्ययनकी ओर बढ़ते हैं। जैसे, अक्षर-रचनाकी शिक्षा देते समय पहले खड़ी, पड़ी, आड़ी तथा गोल रेखाएँ सिखाते हैं और फिर इनका अभ्यास कराकर इन्हें मिलाकर 'अ' का स्वरूप सिखाते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग उन विषयोंकी शिक्षाके लिये किया जाता है जिनके अंगोंका विभाजन किया जा सके जैसे भूगोल, ज्यामिति, चित्रकला आदि।

परिणाम-प्रणाली (डिडक्टिव मेथड)

जिस प्रकार संश्लेषण-प्रणालीमें किसी विषय या वस्तुके भागोंसे प्रारम्भ करके क्रमशः पूर्ण विषय या वस्तुकी शिक्षा दी जाती है उसी प्रकार परिणाम-प्रणालीमें उदाहरणों तथा अनुभूत प्रयोगोंसे प्रारम्भ करके उनके आधारपर एक व्यापक नियम निकलवा लेते हैं। अर्थात् यदि हमें व्याकरणकी शिक्षा

देनी हो तो हम सीधे नियम न बतलावें वरन् बालकोंके सम्मुख यह उदाहरण रक्खें—

राम अयोध्यासे रथपर चढ़कर चले।

इस वाक्यमें राम एक विशेष-व्यक्तिका नाम, अयोध्या एक विशेष स्थानका नाम है, रथ एक वस्तुविशेषका नाम है। ये सब संज्ञाएँ हैं। अतः यह नियम निकला कि किसी व्यक्ति, स्थान या वस्तुके नामवाले शब्दको संज्ञा कहते हैं। इस प्रणालीका प्रयोग सार्वभौम सिद्धान्तों या व्यापक नियमोंकी शिक्षाके लिये होता है जैसे तर्कशास्त्र, दर्शन, नीति, धर्मशास्त्र आदि।

विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिको-सिन्थेटिक मेथड)

ऊपर हमने विश्लेषण तथा संश्लेषण प्रणालीकी अलग-अलग व्याख्या करके उसका प्रयोग भी समझाया है किन्तु वास्तवमें ये दोनों परस्पर संबद्ध है क्योंकि चाहे हम पूर्णसे भागों की ओर चलें चाहे भागों से पूर्णकी ओर, हमें विश्लेषण और संश्लेषण अर्थात् तोड़ना और मिलाना दोनों क्रियाएँ करनी ही पड़ेंगी। संश्लेषणमें तो मिलानेकी क्रिया स्वाभाविक क्रमसे आ ही जाती है किन्तु विश्लेषण करते समय जब हम खंडों या भागों तक पहुँच जाते हैं तब हम उसे वहीं नहीं छोड़ सकते, हमें उन खंडों का संश्लेषण करके उसकी पूर्णताका विवेचन करना ही चाहिए। इसीलिये कुछ आचार्योंका यह कथन है कि विश्लेपण प्रणाली ग्राह्य भी है और श्रेष्ठ भी है किन्तु उसकी पूर्णता संश्लेषण करनेपर ही सिद्ध होती है अतः वास्तवमें विश्लेषण-संश्लेषण प्रणाली (ऐनेलिटिको सिन्थेटिक मेथड) ही ग्राह्य है।

विश्लेषण तथा परिणाम-प्रणाली ग्राह्य हैं

मनोवैज्ञानिक विवेचनकी दृष्टिसे विश्लेपण तथा परिणाम-प्रणालीका ग्रहण और संश्लेषण तथा सिद्धान्त-प्रणालीका त्याग करना चाहिए। अध्यापकका यह कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थीका ज्ञान अपने प्रभावसे नहीं वरन् ऐसी विधिसे बढ़ावे कि बालक रुचि, कुतूहल, उत्साह तथा स्फूर्तिसे उसे ग्रहण करनेकी आकांक्षा करे। अतः अध्यापकको पाठ-ज्ञान कराते समय निम्नलिखित क्रमसे चलना चाहिए—

१—बालकके प्रस्तुत ज्ञानको परखो।

२—पठन, प्रयोग तथा अनुभवके द्वारा इस ज्ञानको उचित रूपसे फैलनेका अवकाश दो।

३—इस अर्जित ज्ञानको क्रमशः नियमित और व्यवस्थित करो।

सिद्धान्त-सूत्र (मैक्सिम्स)

उपर्युक्त क्रमके आधारपर ही शिक्षा-शास्त्रियोंने ये सिद्धान्त-सूत्र बना लिए हैं जिनकी व्याख्या हरबर्ट स्पेन्सरके विवरणमें की जा चुकी है—

१—व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर चलो।

२—प्रकटसे अप्रकटकी ओर चलो।

३—उदाहरणसे नियमकी ओर चलो।

४—ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलो।

५—साधारणसे असाधारणकी ओर चलो।

६—अनिश्चितसे निश्चितकी ओर चलो।

७—अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर चलो।

व्यक्तिगत अनुभवसे व्यापक अनुभवकी ओर

हमारे व्यक्तिगत अनुभवका आधार हमारी इन्द्रियाँ हैं। बालक एक वस्तुको देखता है, स्पर्श करता है, काममें लाता है, चखता है, सूँघता है या उसकी ध्वनि सुनता है और इस प्रकार उस वस्तुके विषयमें उसके मनमें अनेक भाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारकी शिक्षा-विधिको अनुभव-विधि कहते हैं। किण्डेर-गार्टेन प्रणालीमें इसीकी प्रधानता है। किन्तु यह विधि यहीं समाप्त न करके कुछ और आगे बढ़ाकर अन्य पाठ्य-विषयोंकी शिक्षामें भी प्रयुक्त करनी चाहिए। रबड़की गेंदको बालक दीवारपर मारता है, वह गद्दा खाकर उल्टी लौट आती है। वह गेंदको पृथ्वीपर पटकता है तब भी वह गद्दा खाकर ऊपर उछल आती है। किन्तु जब वह गेंद पानीके कंडालमें फेंकता है तो वह ऊपर नहीं उठती, धुनी हुई रूईपर पटकता है तो नहीं उछलती, घासके ढेरपर मारता है तो वह नहीं लौटती। इस व्यक्तिगत अनुभवसे वह यह व्यापक परिणाम निकालता है कि रबड़की गेंद ठोस वस्तुओंपर पटकनेसे गद्दा खाती है।

प्रकटसे अप्रकटकी ओर

यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है। उपर्युक्त सिद्धान्तका ही दूसरा रूप है। एक उदाहरण लीजिए। दो बाँस और तीन बाँस मिलाकर पाँच बाँस होते हैं, दो कुर्ते और तीन कुर्ते मिलाकर पाँच कुर्ते होते हैं। बालक यह देखता है कि प्रकट दो वस्तुएँ प्रकट तीन वस्तुओंके साथ मिलकर पाँच वस्तुएँ हो जाती हैं। इन प्रकट उदाहरणोंसे वह यह अप्रकट नियम निकाल लेता है कि दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं या दो और तीनका जोड़ पाँच होता है।

उदाहरणसे नियमकी ओर

यह सिद्धान्त भी उपर्युक्त दो सिद्धान्तोंके ही अन्तर्भुक्त है। नियम बतानेसे पहले उदाहरण दे दिए जायँ अर्थात् कई उदाहरण प्रस्तुत करके विद्यार्थियोंसे ही व्यापक नियम निकलवाया जाय। उदाहरण लीजिए—

क—कुत्ता भौंकता है।

ख—चिड़िया चहचहाती है।

ग—गाय रँभाती है।

ऊपर दिए हुए वाक्योंमेंसे एक-एकको लेकर भौंकने, चहचहाने तथा रँभाने-वालोंका ज्ञान प्रश्नोंद्वारा कराकर यह नियम निकलवाया जा सकता है कि कुत्ता, चिड़िया और गाय तीनों शब्द कुछ कार्य करनेका संकेत देते हैं अतः ऐसे शब्द कर्त्ता कहलाते हैं।

ज्ञातसे अज्ञातकी ओर

बच्चोंका ज्ञान धुँधला, अधूरा तथा अक्रम होता है। अतः अध्यापकको यह जान लेना चाहिए कि बालकोंको प्रस्तुत विषयका कितना ज्ञान है। इसके पश्चात् युक्ति तथा तर्कद्वारा अज्ञात सत्यको ज्ञात कराया जा सकता है। बच्चोंने देखा है कि पतीलीका ढक्कन दाल पकते समय हिलता है और ऊपर-नीचे होता है। उसीके आधारपर यह बताया जा सकता है कि प्रबल भापके सहारे रेलका अंजन चलता है।

साधारणसे असाधारणकी ओर

बच्चोंके नित्य प्रतिके जीवनके अनुभवोंसे प्रारम्भ करके ऐसे तथ्यतक पहुँचाना चाहिए जो असाधारण हो। संस्कृतके पण्डितों, विशेषतः नैयायिकोंके घट-पट इसके उदाहरण हैं। बालक यह जानता है कि घड़ेको कुम्हारने बनाया है, कपड़ेको जुलाहेने बनाया है। उसीके आधारपर उसे यह असाधारण तथ्य बताया जा सकता है कि इस संसारको भी किसीने बनाया है।

अनिश्चितसे निश्चितकी ओर

बच्चा अपने कुत्तेको एक खेलकी सामग्री मात्र समझता है। अनेक प्रकारके प्रयोगों, कथाओं तथा उदाहरणोंके द्वारा अध्यापक उस कुत्तेके स्वभाव, उसकी शक्ति, उसकी आवश्यकता इत्यादिके विषयमें ज्ञान देकर कुत्तोंके विषयमें बालकके अनिश्चित ज्ञानको पक्का कर सकता है।

अनुभूतसे युक्तियुक्तकी ओर

अनुभूत ज्ञान वह है जो हमारे अनुभवके फलस्वरूप हमें प्राप्त हुआ हो,

युक्तियुक्त वह है जो युक्तिसंगत हो अर्थात् हमारे अनुभूत ज्ञानके वैज्ञानिक विवेचन-द्वारा सिद्ध हो गया हो। बालक देखता है कि पत्ते नीचे गिरते हैं, फल नीचे गिरते हैं, प्रत्येक वस्तु नीचे ही गिरती है किन्तु वह गिरनेका कारण नहीं बता सकता। गुरुत्वाकर्षणका सिद्धान्त जान लेनेपर वह प्रत्येक वस्तुके नीचे गिरनेका कारण भी बता सकता है। अब उसका अनुभव युक्तियुक्त हो गया।

इन सिद्धान्त-सूत्रोंका लक्ष्य

उपर्युक्त सिद्धान्त-सूत्रोंका मूल तत्त्व यह है कि बालकके प्रस्तुत ज्ञान तथा उसके मानसिक विकासके अनुसार उसको नया ज्ञान दिया जाय, उसके अनुभवोंका पूर्ण उपयोग करके उसीको नवीन ज्ञान देनेकी आधार-भूमि बनाई जाय। बालकके मनके अनुकूल अध्यापक चले, अपने मनके अनुकूल नहीं। उपर्युक्त सिद्धान्तोंमें एक और भी ध्वनि है जिसका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिए। जब हमारे हाथमें पाठ्य-पुस्तक आती है तो हम पहले पाठसे आरंभ करते हैं और क्रमशः पढ़ाने लगते हैं। पाठ्य-पुस्तकोंका संकलन करनेवाले विद्वानोंको अधिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेका अवसर कम रहता है इसलिये उनके संकलित पाठोंमें कोई मनोवैज्ञानिक क्रम नहीं रहता। अतः अध्यापकको सावधान होकर वर्षके आरम्भमें ही यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह किस क्रमसे विभिन्न पाठ पढ़ावेंगे। हमारी पाठ्य-पुस्तकोंमें वर्षा-वर्णन होता है किन्तु हम उसे पढ़ाते हैं गर्मीके दिनोंमें, शरद्-वर्णनको हम पढ़ाते हैं वर्षा-ऋतुमें। इसी प्रकार जिन दिनों किसी कक्षामें भूगोलके घण्टेमें चीन पढ़ाया जाता है उन दिनों हम अपनी पाठ्य-पुस्तकोंमें अरब-निवासियोंकी जीवन-चर्या पढ़ाते हैं। अतः हमें पाठोंका क्रम निर्धारित करते समय इन बातोंका ध्यान रखना चाहिए—

१—पढ़ाए जानेवाले पाठोंका क्रम समय और अवसरके अनुकूल हो।

२—अन्य पाठ्य-विषयोंसे उचित रूपसे सम्बद्ध हो।

३—बालकोंकी मानसिक अवस्था तथा रुचिके अनुकूल हो।

४—भाषाके क्रमिक विकासके अनुसार हो।

५—सरल तथा मनोरंजक पाठोंसे कठिन तथा नीरस पाठोंकी ओर प्रवृत्त हो।

२२

शिक्षामें नवीन मनोवैज्ञानिक प्रयोग

बुद्धि-परीक्षा

[लेखक—रायबहादुर पंडित लज्जाशंकर झा]

कुशाग्र बच्चोंको छाँटनेकी महत्ता

"राष्ट्र–निर्माणकी दृष्टिसे विशेष बुद्धिसम्पन्न बालकोंको पहलेसे ही छाँटकर उनकी विशेष बुद्धिके अनुसार शिक्षा देना तथा उनके स्वास्थ्य, शिक्षा और वातावरण आदिका समुचित प्रबन्ध रखना अत्यावश्यक है क्योंकि वास्तवमें ये ही लोग बड़े होनेपर देशके नेता, दार्शनिक, वैज्ञानिक, कलाविद्, राजनीतिज्ञ, शासक तथा सेनानायक इत्यादि हो सकते हैं। अब जब कि भारतीयोंको पूर्ण रूपसे समुन्नत होनेका अवसर मिल गया है तब यह और भी अधिक आवश्यक है कि हम वास्तवमें विशेष बुद्धिशाली बच्चोंको छाँटकर उन्हें उचित शिक्षा और उपदेश देकर उन्नत होनेका क्षेत्र और अवसर प्रदान करें।

आजकलकी परीक्षाएँ अविश्वसनीय हैं

इस सम्बन्धमें स्वभावतः दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम तो यह कि क्या विद्यालयोंकी परीक्षाओंसे बच्चोंकी बुद्धिका यथार्थतः परिज्ञान हो सकता है? यदि नहीं होता तो प्रश्न यह उठता है कि सब वस्तुओंके यथार्थ और ध्यान-पूर्वक मापनके इस युगमें बुद्धि मापनेके लिये क्या उपाय किया जा रहा है?

विद्यालयों-द्वारा केवल अर्जित ज्ञानकी परीक्षा

पहले प्रश्नका उत्तर तो निषेधात्मक है। अर्थात् राजकीय प्रबन्ध-द्वारा ली जानेवाली परीक्षाएँ स्वाभाविक बुद्धिकी परीक्षा न करके अर्जित ज्ञानकी परीक्षा लेती हैं। मनोवैज्ञानिक परीक्षाओंसे यह प्रमाणित होता है कि कुशाग्र बुद्धिवाले बच्चोंको विद्यालयके अधिकारी ठीक समझ नहीं पाते। टर्मनने ऐसे सौ बच्चोंकी परीक्षा करके यह फल निकाला कि उनमेंसे अधिकांश बच्चे अपनी बुद्धिके परिमाणकी तुलनामें नीची कक्षामें पड़े हुए थे। प्रायः एक तिहाई बालकोंमें स्वाभाविक बुद्धि होते हुए भी उन्हें एक दो कक्षा आगे जानेकी आज्ञा नहीं मिली। यहाँतक भी देखनेमें आया है कि कोई-कोई विशेष बुद्धिशाली बालक अधिक सरल कार्यको अधिक समयतक करते-करते शिथिल भी हो गए हैं।



संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का एक पब्लिक स्कूल
बच्चे दोपहर का भोजन कर रहे हैं।

विद्यालयोंमें साधारण और असाधारण बालकोंका मस्तिष्क

प्रायः प्रसिद्ध महापुरुष अपने विद्यालय-जीवनमें असफल रहे । हमारे विद्यालयोंके पास ऐसे साधनोंका अभाव है जो बालककी वास्तविक महत्ता नाप सकें ।

मनोवैज्ञानिकोंके द्वारा निकाले हुए परिणामका समर्थन हमारे स्वतः अनुभवसे ही हो जाता है । पाठशाला अथवा महाविद्यालयका मेधावी बालक जीवनमें सदा अधिक सफल नहीं होता और जो बालक वहाँ साधारण श्रेणीके समझ जाते हैं वे अपने सामाजिक जीवनमें सदा साधारण नहीं रहते । हम जानते हैं कि क्लाइव अपने विद्यालय, घर और पड़ोसियोंके लिये व्याधि था, नेलसन भी उससे कुछ कम न था और कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर भी अपने विद्यालय-जीवनसे ऊब ही गए थे । पाठशाला और महाविद्यालयकी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली न तो विशेष बुद्धिशाली बालकोंको छाँट ही सकती है, न उनकी सहायता ही कर सकती है । बहुतसे व्यक्ति जो अपनी बुद्धिके बलपर अनेक क्षेत्रोंमें उच्चतम पदपर पहुँच गए हैं, उन्होंने विद्यालयकी कक्षामें कोई विशेषता नही दिखलाई थी । अपने अनुभवके दो उदाहरण हमारे सम्मुख हैं । न्याय-विधानके प्रसिद्ध पंडित स्वर्गीय सर तेजबहादुर सप्रू अपने विद्यालयमें बहुत साधारण श्रेणीके विद्यार्थी थे और स्वर्गीय सर सुन्दरलालका जीवन भी कालेजमें केवल 'सन्तोषजनक' ही रहा परन्तु वे निकले अत्यन्त प्रभावशाली । आजकलके कितने धनकुवेरों, व्यवसायी नेताओं, दार्शनिकों अथवा आन्दोलनोंके नेताओंका विद्यालय या विश्वविद्यालय-जीवन विशेषतापूर्ण रहा है ? संभवतः किसीका भी नहीं । इन सब अनुभवोंसे यह निर्विवाद परिणाम निकलता है कि विद्यालय अथवा महाविद्यालयके संचालक तथा अधिकारी प्रारम्भिक कालमें ही बच्चेकी वास्तविक महत्ताको मापनेमें प्रायः असमर्थ होते हैं ।

बुद्धि-परीक्षाएँ

बुद्धि - मापके लिये

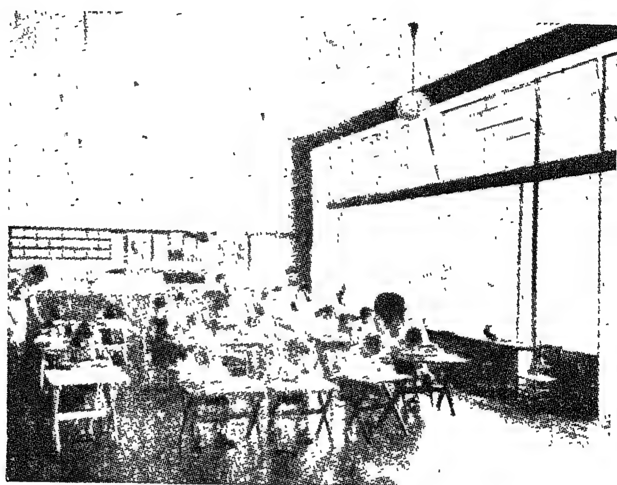
इसलिये अनेक मनोवैज्ञानिक इस समस्याका समाधान करने तथा बच्चोंकी स्वाभाविक बुद्धि मापनेके सर्वश्रेष्ठ उपाय खोज निकालनेमें बड़े व्यस्त रहे । लाखों बच्चोंपर प्रयोग करके तथा उनका परीक्षण करके कुछ परीक्षाएँ निर्धारित की गई जिनमेंसे सर्वश्रेष्ठ हैं—(१) व्यक्तिगत परीक्षाके लिये साइमन और बिने परीक्षाओंकी स्टेनफर्ड आवृत्ति और विस्तार तथा (२) एल्फ़ा परीक्षा अथवा समूह-परीक्षा, जो सेना तथा पुलिसमें रंगरूटोंकी परीक्षाके लिये तथा विभिन्न व्यवसायोंमें सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियोंकी योग्यता अथवा अयोग्यताकी परीक्षाके लिये अमेरिकामें अधिक व्यवहृत होती है । इनके अतिरिक्त

साइमन, बिने, एल्फा, सिम्प्लेक्स, नेशनल, ओटिस तथा नौर्थम्बरलैंड परीक्षाएँ।

सिम्लेक्स, नेशनल, ओटिस और नौर्थम्बरलैण्ड नामक परीक्षाएँ भी हैं। माता-पिता और अध्यापक इनका सफलतापूर्वक प्रयोग नहीं कर सकते। उपर्युक्त निर्धारित परीक्षाएँ कुछ मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर अवलंबित हैं। यदि इनमेंसे कुछ आपके सम्मुख उपस्थित की जायँ तो उन्हें देखते ही आप कहेंगे कि इनका प्रयोग तो माता-पिता, बड़े भाई, बहन तथा अध्यापक सभी कर सकते हैं। किन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। नियत प्रणालीमें तनिकसा भी भेद हो जानेसे परिणाम उलटा हो जाता है। माता-पिता अपने बालकोंसे कुछ विशेष परिणाम प्राप्त करनेके लिये उत्सुक रहते हैं और वे अपने मुखकी मुद्रा अथवा भावभंगीसे परीक्षार्थीको इच्छित उत्तर सुझा देते हैं। अध्यापककी भी कुछ अपनी पूर्वसंचित धारणाएँ रहती हैं और फिर वह मनोवैज्ञानिक भी तो नहीं होता! इन परीक्षाओंके प्रश्नोंका प्रत्येक शब्द प्रमाणिक हो गया है, उसमें कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता। इसलिये यूरोप और अमेरिकामें मनोवैज्ञानिकोंकी एक नई वृत्ति उत्पन्न हो गई है जिनका कार्य स्कूलके बच्चोंकी परीक्षा करना तथा उनके लिये उचित बुद्धि-संबंधी चिकित्साका निर्देश करना होता है। वे नौकरीके इच्छुक व्यक्तियोंकी परीक्षाके लिये तथा उनमेंसे प्रत्येककी बुद्धिका सब व्यावहारिक दृष्टियोंसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भी रक्खे जाते हैं। वे उसी प्रकार सम्मति देनेके लिये बुलाए जाते हैं जैसे वैद्य। व्यवसायी तथा मज़दूरोंको नौकर रखनेवाले मालिक किसी भी व्यक्तिको यों ही रख लेने, उसको उस कार्यके योग्य बनानेकी शिक्षा देनेमें समय और शक्तिका अपव्यय करने और कुछ महीनोंके पश्चात् उसको उस पदके योग्य न जानकर उसे कोई नीचा पद दे देनेकी अपेक्षा एक मनोवैज्ञानिकको करारा शुल्क देकर यह जान लेना अधिक सस्ता समझते हैं कि किसी विशेष पदके लिये कौन व्यक्ति अधिक उपयुक्त है। माता-पिता और अभिभावकोंको भी इसमें लाभ है कि उनके आश्रित बालकोंकी मनोवैज्ञानिक परीक्षा हो जाय और मनोवैज्ञानिकके कथनानुसार उनको शिक्षा दी जाय। कोई वृत्ति धारण करनेसे पूर्व युवक और युवतियोंको मनोवैज्ञानिकके कथनानुसार चलनेसे यह ज्ञात होगा कि उन्हें उनके योग्य वृत्ति प्राप्त हो जाती है और असफलताके अवसर कम हो जाते हैं।

इन परीक्षाओंके सिद्धान्त

ये परीक्षाएँ इस सिद्धान्तपर अवलम्बित हैं कि बालककी स्वाभाविक बुद्धिका विकास सोलहवें वर्षतक होता है, उसके पश्चात् वह विकसित नहीं



ब्रिटेन का आधुनिक जूनियर स्कूल

सोलहवें वर्षके पश्चात् बुद्धि विकसित नहीं होती।

होती। कोई व्यक्ति उस अवस्थाके पश्चात् भी स्कूल या कालेजमें ज्ञानोपार्जन भले ही कर ले, किन्तु स्वाभाविक विकास तो रुक ही जाता है। अतः उन्होंने आयु-परिमाणको ही औसत स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि उन लोगोंका लक्ष्य केवल उच्चतर मानसिक अवस्थाओंकी ही परीक्षा लेना है जैसे तर्क-बुद्धि तथा मौलिकता और इसलिये वे गूढ़ विषयोंपर निर्णय देनेके लिये भी उत्तेजित करते हैं। अन्तिम बात यह है कि बिने सर्वसाधारण बुद्धिकी परीक्षा लेना चाहता है, विद्यालयमें प्राप्त ज्ञान अथवा गृह-शिक्षाकी नहीं।

बुद्धिफल निकालनेका नियम

तीन वर्षसे लेकर १५ वर्षतकके बालकोंके लिये ही ये परीक्षा-मालाएँ निर्धारित की गई हैं। जो बालक जिस वर्षवाली परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाता है उसकी बुद्धि उस वर्षकी होती है। मान लीजिए कि एक बालक आठ वर्षका हो चुका है और वह उस वर्षके लिये निर्धारित परीक्षामें सफल हो गया है, तो उस बालकमें आठ वर्षके बच्चेकी बुद्धि है। इस दशामें बुद्धिलब्धि (गुण्य) १०० निश्चय किया गया है। किन्तु यदि वही बालक नौ अथवा दस वर्षकी अवस्थावालोंकी परीक्षामें सफल हो तो उसका शारीरिक वय आठ वर्षका होते हुए भी मानसिक वय नौ या दस वर्षका समझा जायगा। मानसिक वयको वास्तविक वयसे भाग देकर १०० से गुणा करनेसे बुद्धि-गुण्य (बुद्धिलब्धि) प्राप्त हो जाता है। अतः यदि उपर्युक्त ८ वर्षके बालकका मानसिक वय १० वर्षका हो तो उसका बुद्धिगुण्य $\frac{१०}{८} \times \frac{१००}{१}$ =१२५ होगा अर्थात् वह अत्यन्त प्रखर बुद्धिशाली होगा। यदि १० वर्षके शारीरिक वयके बालकका मानसिक वय ८ वर्ष हो तो उसका बुद्धिगुण्य (इन्टेलिजेन्स कोशेन्ट) $\frac{८}{१०} \times \frac{१००}{१}$ = ८० होगा अर्थात् वह स्थूल बुद्धि होगा। अतः जैसे वास्तविक वयसे अधिक मानसिक आयुवाले बालक होते हैं वैसे ही कम मानसिक आयुके भी बालक होते हैं। इसीलिये सहस्रों बालकोंकी परीक्षा लेकर और बुद्धिफल जानकर, मनोवैज्ञानिकोंने बच्चोंको निम्नलिखित श्रेणियोंमें विभाजित किया है—

बुद्धिफल (इन्टेलिजेन्स कोशेंट)	श्रेणी
(१) १५० से ऊपर—	देव-बुद्धि।
१४० से ऊपर—	देवप्राय बुद्धि।
(२) १२०—१४०	अत्यन्त प्रखर बुद्धि
(३) ११०—१२०	प्रखर बुद्धि

(४) ९०—११०	साधारण बुद्धि
(५) ८०—९०	स्थूल बुद्धि
(६) ७०—८०	मन्द बुद्धिकी सीमापर
(७) ७० से नीचे	निश्चित मन्दबुद्धि या जड

बुद्धि-गुण्यके शासक नियम

इस ओर की हुई खोजोंसे तीन तथ्य निश्चित रूपसे सम्मुख आते हैं। (१) मनुष्यकी स्वाभाविक बुद्धि प्राकृतिक होती है । चाहे शिक्षक लोग इस बातको स्वीकार न करें परन्तु यह सत्य है कि स्कूलकी शिक्षा स्वाभाविक बुद्धिकी उन्नतिमें सहायक नहीं होती। (२) अर्जित ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति स्वाभाविक बुद्धि-लब्धिपर अवलम्बित है, यदि वह १२५ निकलता है तो अर्जित ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति $\frac{१२५}{१००} \times \frac{१२५}{१००} = १.५६२५$ अर्थात् ड्योढ़ीसे ऊपर निकलेगी। (३) बुद्धि-गुण्य निश्चय करनेमें पैतृक गुणोंका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जड-बुद्धि अथवा अल्प बुद्धिवाले मनुष्योंकी संततिका बुद्धिगुण्य कम ही रहता है !

श्रेष्ठतर बालकोंकी देख-रेख

परीक्षाओंसे यह प्रकट हुआ है कि बहुत कम व्यक्तियोंमें १८० तक बुद्धि-गुण्य होता है। जिनका बुद्धिगुण्य १८० हो उनको केवल कुलका ही नहीं वरन् सम्पूर्ण जातिका एक अमूल्य रत्न समझना चाहिए। यदि उनके स्वास्थ्यकी भली प्रकार देख-रेख हो और अपनी बुद्धिका विकास और ज्ञानोपार्जन करनेके लिये पूर्ण क्षेत्र दिया जाय तो वे जातिके विधायक, विचारोंके नेता तथा कला-कौशलके नायक हो सकते हैं। पूर्ण क्षेत्रसे लाभ उठानेके लिये इन्हें उच्चतम शिक्षा देनी चाहिए। यदि उनका झोपड़ीमें जन्म हुआ तो देशके हितपर ध्यान देकर उन्हें संपूर्ण शिक्षा दी जाय। ऐसे बालकोंको सहायता देकर बढ़ाना एक प्रकारकी जातीय सेवा ही है और फिर केवल इन परीक्षाओंसे निर्धारित प्रखर अथवा अत्यन्त प्रखर बुद्धिवाले बालकोंको ही विश्वविद्यालयोंमें शिक्षा पानेके लिये भेजना चाहिए।" ['सनातनधर्म', वर्ष १, अंक ३ से उद्धृत]

नई परीक्षाएँ और व्यावसायिक निर्देश

ऊपर बुद्धि-परीक्षाके नये उपकरणोंकी सामान्य चर्चा कर दी गई है किन्तु इसके अतिरिक्त मनुष्यकी सभी शक्तियों, समर्थताओं और गुणोंकी परीक्षाके लिये नये नये साधन और यन्त्र प्रस्तुत किए गए हैं और इन लोगोंने बुद्धि-परिधिके अनुसार व्यवसायों या वृत्तियोंका निम्नलिखित वर्गीकरण भी कर दिया है:—

प्रथम श्रेणी—उच्चतर व्यावसायिक और प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य (बुद्धि-लब्धि १५० से ऊपर)—

वकील वैद्य, प्राध्यापक, ग्रन्थ-लेखक, सम्पादक, वैज्ञानिक, कलाकार, चित्रकार, राजकीय-सेवाके लेखक (प्रथम श्रेणीका सिविल सर्विस क्लार्क), व्यवस्था-सञ्चालक, कम्पनीका मन्त्री, दलाल, सरकारीमुनीम, भवन-निर्माता, विश्लेषणात्मक रसायन-शास्त्री, व्यावसायिक शिल्पी (इन्जीनियर), नेता, अभिनेता।

द्वितीय श्रेणी—साधारण व्यावसायिक, यान्त्रिक तथा कार्यकर्त्ता (बुद्धि-लब्धि १३०—१५०)

अध्यापक, राजकीय सेवाका लेखक (द्वितीय श्रेणी), मुनीम, मन्त्री, लेखक, दन्तवैद्य, पशु-चिकित्सक, सम्वाददाता, समाज-सेवक, यन्त्रशाला-व्यवस्थापक, भूमिमापक, व्यापारी, नीलाम करनेवाला, क्रेता, व्यावसायिक, यात्री, यन्त्र-शिल्पी, मानचित्रक (डिज़ाइनर)

तृतीय श्रेणी—लेखकीय तथा अति कौशलपूर्ण कार्य (बुद्धिलब्धि ११५—१३०)

त्वरा टपलेखक, पत्रादि-रक्षक, कार्यालयके लेखक, थोक व्यापारी, सङ्गीतज्ञ, विशेष अध्यापक (व्यापार, सङ्गीत या गार्हस्थ्य-शास्त्रके), छोटे व्यापारी, बीमेके दलाल, बिजलीका मिस्त्री, तार-बाबू, औषधि-विक्रेता, अस्पतालकी धाय, छापेघरके अक्षर-जुड़ैये, अक्षर या चित्र खोदनेवाले, लिथो छापनेवाले, यन्त्र-निरीक्षक, दुकानोंके सहायक, श्रमिकोंके मुखिया।

चतुर्थ श्रेणी—कौशलपूर्ण कार्य (बुद्धिलब्धि १००—११५)

दर्जी, टोपी बनानेवाले, गद्दे बनानेवाले, अन्जन, ट्राम और बस चलानेवाले, पुलिसवाले, टेलीफ़ोन-चालक, मुद्रक, यान्त्रिक, आटा पीसनेवाले, बढ़ई, लोहार, राजगीर, किसान, दुकानमें सहायक, रोकड़िया, मल्ल, नल लगानेवाले, प्रसाधक, नियमित टपलेखक।

पञ्चम श्रेणी—अल्पकौशपूर्ण आवृत्यात्मक कार्य, (बुद्धिलब्धि ८५—१००)

प्रति दिनका यान्त्रिक कार्य करनेवाले, साधारण व्यवसायी, नाई, टीन और ताँबेका काम करनेवाले, बटैयापर खेती करनेवाले, रङ्ग चमकानेवाले, खाई और भट्टीका काम करनेवाले, गाड़ी चलानेवाले, ईंट जोड़नेवाले, रङ्ग पोतनेवाले, रोटी पकानेवाले, रसोइया, मोची, जुलाहा, धोबी, डाकिया, चौकीदार, नौकर, घरेलू नौकर।

षष्ठ श्रेणी—कौशल-हीन आवृत्यात्मक कार्य (बुद्धिलब्धि ७०—८५)

ढोने, ले जाने तथा खोदने आदिका शारीरिक कार्य करनेवाले, स्वयंचालित

यन्त्रका कार्य करनेवाले, श्रमिक, बोझ ढोनेवाले, नाविक, मछुए, खेतीबारीमें सहायक, धुँधाला पोंछनेवाले, पुलिन्दा बाँधनेवाले, चिप्पी चिपकानेवाले, कुली, बोतल बन्द करनेवाले, हरकारे, अधोर्ध्वयान (लिफ्ट)-सञ्चालक, घरेलू नौकर (दरिद्र श्रेणी) तथा यन्त्रशालाके कामकर।

सप्तम श्रेणी—आकस्मिक श्रमिक (बुद्धि-लब्धि ५०-७०)

दूसरेकी देख-रेखमें यान्त्रिक कार्य या अत्यन्त साधारण शारीरिक कार्य करनेवाले।

अष्टम श्रेणी – अति साधारण लोग (बुद्धिलब्धि ५० से नीचे)

बेकार, निरर्थक (जड़, क्षीणबुद्धि और शक्तिहीन)

इन विभिन्न व्यवसायोंके लिये बिने, पिन्टर, पेटसन, ड्रेवर, कोलिन्स, पोर्टियस, मेज, नौक्स क्यूब, वुड्सवर्थ ऐन्ड वेल्स, हीली पिक्चर, डीयरबौर्न, कोह्ल, अलेग्ज़ेण्डर, पसालौंग सूरीज़, ओक्ले, हीली ऐन्ड फर्नाल्ड, केन्ट, शाको, फर्गुसन, नौर्थम्बरलैंड, स्वीअरमैन, केटेल, रिचार्डसन्, पीरी विलियम्स, गौडफ्रे टौम्सन्, जार्ज कौम्बे, टौमलिन्सन्, टैरी टौमस, टर्मन, ओटिस, कुह्लमान्, ऐन्डर्सन्, प्रेसी क्लासिफिकेशन्, कार्नेगी, ईलिनौइस हैगर्टी, मिलर, योवर, कोलम्बिया, थर्सटन् , थौर्नडाइक, वर्ट, डेल् और न जानें कितनी सौ परीक्षाओंके नये साधन निकले हैं जिनसे बालकोंकी बुद्धि, तर्कशक्ति, भाषा-योग्यता, यान्त्रिक-योग्यता, रचना-योग्यता, शारीरिक योग्यता, सौन्दर्य बोध-समर्थता, मांस-पेशियोंकी शक्ति, सहन-शक्ति, व्यक्तिगत आकर्षण, वपुष्मत्ता, नेतृत्व-शक्ति, हास्य-प्रियता, नैतिकता, भावुकता, लगन, स्फूर्ति, सचाई, उत्सुकता, आत्मविश्वास आदि सब शक्तियों और गुणोंकी परीक्षा लेकर बालककी शारीरिक, मानसिक तथा प्रवृत्तिगत समर्थताके अनुसार उसे किसी वृत्ति या व्यवसायमें लगाते हैं।

हमारे देशमें इन सभी प्रकारोंकी प्रयोगशालाएँ नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे यहाँ इतने व्यवसाय ही नहीं कि उनके लिये विभिन्न प्रकारके श्रेणी-विभाजनकी व्यवस्था की जाय। अभी थोड़े दिनोंसे व्यवसायीकरणका हल्ला प्रारम्भ हुआ है और कुछ विद्यालय भी खुले हैं। इसी निमित्त दिल्लीमें एक बहु-शिल्प विद्यालय (पोलीटेकनिक स्कूल) सरकारकी ओरसे खोला गया है।

मनोविज्ञानका अतिवर्त्तन हानिकर

आजकल मनोविज्ञानका इतना प्रबल कोलाहल मचाया जा रहा है कि वास्तविक ज्ञान उसके सम्मुख अत्यन्त क्षीण होता जा रहा है। एक ओर तो शिक्षा-शास्त्री लोग मनोविज्ञानकी दुहाई दे रहे हैं, दूसरी ओर बड़े वेगसे

अत्यन्त अमनोवैज्ञानिक ढंगसे परीक्षाएँ ली जा रही हैं, विद्यालय चलाए जा रहे हैं और पढ़ाई हो रही है। मनोविज्ञान पहले तो अध्यापकोंके लिये रक्खा गया कि वे उसके सहारे छात्रोंकी प्रवृत्ति समझकर तदनुकूल शिक्षा-योजना बनावें। अब छात्रोंके पाठ्यक्रममें भी मनोविज्ञान पहुँचा दिया गया है जिसका परिणाम यह हो रहा है कि छात्र अब अध्यापकोंका मनोविश्लेषण करने लगे हैं और उन्हें मूर्ख बनानेकी नई मनोवैज्ञानिक प्रणालियाँ निकाल रहे हैं। चोरको पकड़नेवाले ही नहीं वरन् चोर भी मनोवैज्ञानिक होते जा रहे हैं। ऐसी स्थितिमें मनोविज्ञानका अतिवर्णन निश्चित रूपसे हानिकर सिद्ध हो रहा है। व्यावहारिक दृष्टिसे भी हम विचार करें तो प्रतीत होगा कि यदि विभिन्न प्रणालियोंसे हम बालकोंकी परीक्षा भी कर लें और उन्हें यह भी बता दें कि अमुक बालक अमुक वृत्तिके योग्य है, फिर भी यह कैसे कहा जा सकता है कि उसकी बुद्धि सदा वैसी ही रहेगी, उसकी परिस्थिति--आर्थिक और पारिवारिक—उसे उस वृत्तिके अनुरूप सदा सहायक हो सकेगी। संभवतः कुछ नौकरियोंमें इसके आधारपर उचित चुनाव हो सके किन्तु जीवनके अगणित क्षेत्रोंके लिये अगणित परीक्षाएँ कहाँसे बनाई जा सकेंगी और वे कहाँतक सफल हो सकेंगी इसमें बहुत सन्देह है। प्रत्येक विद्यालयके चतुर अध्यापक बिना किसी बुद्धि-परीक्षाके बता सकते हैं कि किस बालकमें किस कामके लिये कितना सामर्थ्य है। मनुष्योंके सम्पर्कमें आनेवाले अनेक ऐसे सूक्ष्मदर्शी हैं जो मुँह देखकर मनुष्यका स्वभाव और उनकी वृत्ति पहचान लेते हैं। दूसरेकी शक्ति और वृत्ति जाननेकी कोई विद्या या विज्ञान नहीं है। यह तो अनुभव और संसर्गसे अत्यन्त सरलतासे जाना जा सकता है, परीक्षाओंसे नहीं; अतः मनोविज्ञानका यह निरर्थक कोलाहल कम करके शिक्षाका क्रम अधिक व्यावहारिक बनानेका प्रयत्न करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो लोग मनोवैज्ञानिक परीक्षा लेते हैं, पहले तो उन्हींकी परीक्षा ले लेनी चाहिए क्योंकि उनमें भी न जाने कितनी भाव-ग्रन्थियाँ विद्यमान हों, उनकी न जाने किस प्रकारकी प्रवृत्ति हो। अतः मनोविज्ञानका जो इतना आडम्बरपूर्ण प्रचार किया जा रहा है यह अत्यन्त भ्रामक, अव्यावहारिक और निरर्थक है क्योंकि बहुत-सी ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो मनुष्य-जीवनको निरन्तर प्रभावित करती रहती हैं। घरकी स्थिति, पिताकी अवस्था, आर्थिक स्थिति, सहसा रोगग्रस्त हो जाने तथा सङ्गतिके कारण मनोवृत्तिका सहसा किसी दूसरी ओर बदल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है, किन्तु फिर भी जो प्रयत्न हो रहे हैं उनके सम्बन्धमें यही कहा जा सकता है—

'दिलके बहलानेको ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है।'

२३

सयानों और विकलांगोंकी शिक्षा

विशिष्ट शिक्षा-योजना

प्रत्येक नागरिकको शिक्षा देना सभ्यताका लक्षण

पिछले महायुद्धके पश्चात् व्यापक रूपसे सभी देशोंमें परस्पर विश्व-बन्धुत्वकी जो चर्चा चलने लगी थी उसके परिणाम-स्वरूप सभी देशोंमें यह भावना भी उत्पन्न होने लगी कि प्रत्येक देशके प्रत्येक नागरिकको कमसे कम आवश्यक शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए और यदि यह व्यवस्था प्रत्येक नागरिकके लिये नहीं हो जाती तो वह देश सभ्य कहलानेका अधिकारी नहीं है। इस प्रेरणाके फलस्वरूप पहले अमेरिकामें फिर जर्मनी, रूस, इटली, फ्रांस और जापानमें बालकोंकी अनिवार्य शिक्षाके साथ साथ उन सयानोंको शिक्षा देनेकी भी राष्ट्रीय योजनाएँ बनीं जिन्होंने या तो कभी कोई शिक्षा पाई ही नहीं या पाई भी तो उसे छोड़े बहुत दिन हो गए। हमारे देशमें भी अनिवार्य शिक्षा न होनेके कारण अभी लगभग नब्बे प्रतिशत स्त्री-पुरुष ऐसे हैं जिनके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। स्वतन्त्रताके साथ साथ इस समय देशमें एक सांस्कृतिक और सामाजिक जागर्त्ति तो हुई किन्तु शिक्षाकी कमीके कारण उस जागर्त्तिका न तो वास्तविक उपयोग किया जा सकता है न उसे चिरस्थायी बनाया जा सका। वह जागर्त्ति झंझाके समान प्रबल तो थी किन्तु उतनी ही अस्थिर भी थी। उसका कारण यही था कि उसमें शिक्षाका अभाव था। अतः प्रान्तीय शासकोंने यहाँ भी सयानोंकी शिक्षा देनेकी योजना बनाई।

सयानेकी शिक्षामें नागरिकताके पाँच भाव

जिन जिन देशोंने सयानोंकी शिक्षा-योजना बनाई उन्होंने एक मतसे यह निश्चय किया कि प्रत्येक सयानेको नागरिक बनाना चाहिए। नागरिकताके लक्षण निर्धारित करते हुए उन्होंने निश्चय किया कि किसी भी सभ्य राष्ट्रके किसी भी सयाने व्यक्तिमें कमसे कम पाँच प्रकारके भाव निश्चित रूपसे स्थिर हो जाने चाहिएँ—

१. भाषाका भाव—सामाजिक जीवनमें कमसे कम लिखने-पढ़नेकी जितनी आवश्यकता पड़ती है उतना ज्ञान अवश्य हो अर्थात् अक्षर-ज्ञान, पत्रादि लिखनेका ज्ञान तथा अपने भाव उचित भाषामें प्रकट कर सकनेका ज्ञान हो।

२. नागरिकताका भाव—अपने गाँव या नगरके राजकर्मचारियोंसे

सम्बन्ध, उनसे व्यवहार, परस्पर सद्भाव तथा सेवा और बैंक, कचहरी, सड़क, रेल तथा डाकके साधारण व्यावहारिक नियमोंसे परिचय हो।

३. स्वास्थ्य-भाव—अपने शरीर, घर, पास-पड़ोसको स्वच्छ रखना, आकस्मिक चोट लगने या बीमार होनेपर तात्कालिक कर्त्तव्य जानना, मादक द्रव्योंसे दूर रहना।

४. व्यावसायिक भाव—अपने गाँव या नगरमें उत्पन्न या तैयार हो सकनेवाली वस्तुओंका ज्ञान तथा उनके विक्रय-क्षेत्रोंका ज्ञान हो। खेतसे या खेतके बाहर उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंसे क्या लाभ उठाया जा सकता है इसका ज्ञान हो। अपना लेखा-जोखा रखने तथा आयसे अधिक व्यय न करनेकी बुद्धि हो। सच्चाईके साथ जीविका चलानेकी वृत्ति हो।

५. देशभक्तिका भाव।

कक्षा-प्रणाली और प्रचार-प्रणाली

उपर्युक्त भावोंको पुष्ट और उन्नत बनानेके लिये सयानोंको दो प्रकारसे शिक्षा दी जाती है- एक तो कक्षा-प्रणाली-द्वारा और दूसरे प्रचार-प्रणाली-द्वारा। भाषा सिखानेके लिये तो कक्षा-प्रणालीका प्रयोग आवश्यक है किन्तु कक्षा-प्रणालीकी व्यवस्था करनेसे पूर्व सयानोंकी मनोवृत्ति, देशकी आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियोंका ध्यान रखना भी अपेक्षित है। सयानोंको शिक्षा देनेवालोंको विशेषतः भारतमें सयानोंकी शिक्षा-योजना बनानेवालोंको नीचे लिखी बातें समझ लेनी चाहिएँ—

क—सयानेको बालक न समझो, वह निरा अबोध नहीं होता। उसने अनुभव तथा सम्पर्कसे बहुतसा ऐसा ज्ञान संचित कर लिया है जो संभवतः उसका अध्यापक भी न जानता होगा। उसकी बुद्धि पक गई है, उसकी विचार-धारा नियमित हो चुकी है, उसके संस्कार बन चुके हैं। अतः उसकी बुद्धि, विचारधारा और संस्कारको माँजने भरकी कसर है। उसे सैकड़ों, हजारों दोहे और चौपाई कण्ठस्थ हैं। उसे अक्षर-ज्ञान करा दीजिए, उसकी स्मृति और मेधा स्वयं अपनी सामग्री जुटा लेगी।

ख—वह सामाजिक प्राणी हो गया है, उसे अपनेसे छोटे लोगोंकी कक्षामें बैठनेमें लज्जा लगती है, संकोच होता है। अवस्थामें या पदमें अपनेसे छोटे व्यक्तिको भाषा-ज्ञानमें उन्नत होते देखकर वह भाग खड़ा हो सकता है।

ग—भारत दीन देश है। उसके पास पेट भरनेके साधन भी नहीं हैं। वह पढ़ाईके लिये पैसा कहाँसे लावे। करदाता पहलेसे ही बोझसे दबे हैं, उन्हें और दबाना अन्याय है।

घ—हमारे देशमें अनेक मत और सम्प्रदाय हैं। सबकी सांस्कृतिक

आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक सीताराम रटता है तो दूसरा राधेश्याम जपता है।

ङ—ऊँची जातिके लोग छोटी जातिके अध्यापकोंसे पढ़नेमें अपना अपमान समझते हैं।

च—हमारे देशके किसानको वर्षमें केवल पन्द्रह दिनकी छुट्टी तब मिलती है जब वह अनाज काटकर घरमें रख चुकता है। उन दिनों वह ब्याह-बरातमें फँसा रहता है। दिनभर काम करके सन्ध्या समय वह पढ़नेमें जी नहीं लगा सकता।

छ—सामाजिक, धार्मिक तथा जातीय पर्वों और उत्सवोंके कारण यह सन्ध्याकी पढ़ाई भी निरन्तर अधिक दिनोंतक नहीं चल सकती। सयाने लोग दस दिनसे अधिक कक्षा-प्रणालीमें नहीं ठहर सकते। उन्हें शीघ्र ज्ञानकी आवश्यकता है। वे प्रतीक्षा नहीं कर सकते।

ध्यान रखने योग्य बातें

इसका तात्पर्य यह है कि सयानोंकी शिक्षा-योजना बनाते समय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि शिक्षा देते समय कोई ऐसी बात कही या की न जाय जो सयाने शिक्षार्थीके आत्मसम्मान, जातिसम्मान, वर्ग-सम्मान तथा पदको ठेस लगाती हो। इस शिक्षामें शिक्षार्थीको ऐसे ढंगसे सिखाना चाहिए कि उसे कुछ व्यय न करना पड़े, उसके विश्राम, उत्सव और मनोरंजनमें बाधा न पड़े और उससे कम अवस्थाके स्थानीय लोग पढ़ानेके लिये न रक्खे जायँ। अन्तिम तथा आवश्यक बात यह है कि उन्हें इस ढंगसे पढ़ाया जाय कि वे पहले ही दिनसे यह समझने लगें कि हमें बहुत कुछ आ गया है।

सयानोंको भाषा-शिक्षा देनेके कुछ नियम

सयानोंकी पाठशालाओंमें शिक्षा देनेवाले शिक्षकोंकी सुगमताके लिये निम्नाङ्कित बातें जाननी परमावश्यक हैं—

क ज़मीनपर बालू बिछाकर उँगली या लकड़ीसे अक्षरका ज्ञान कराना।

ख. व्यवहारमें आनेवाले शब्दोंका संग्रहकर उनका उपयोग करनेकी शैली बताना।

ग. पढ़ना सिखाना।

(१) अक्षर-ज्ञान हो जानेपर ऐसी पुस्तकें उनके सामने रक्खी जायँ जिन्हें वे जानते हों या कमसे-कम जिनके नामसे वे परिचित हों जैसे रामायण, हनुमान-चालीसा आदि।

(२) सरणी बनाकर ऐसे शब्दोंके आकार-प्रकारसे उन्हें परिचित करा

देना चाहिए जिन्हें वे पहलेसे जान चुके हों विशेषतः ऐसे शब्दोंकी ओर उनका ध्यान अवश्य दिलाना चाहिए जो उनके दैनिक कार्य-व्यवहारमें आते हो जैसे देवता, महापुरुष, दिन-मास, घरेलू जीव, वृक्ष तथा पशु-पक्षियोंके नामादि।

घ—प्रौढ़ोंके लिये पुस्तकालय या वाचनालय विशेष हितकर नहीं सिद्ध हो सकते, क्योंकि उनके पास इतना समय ही कहाँ है। रामायण ही उनका पुस्तकालय हो जो सदा उनके साथ रहे और जिससे वे जंगम पुस्तकालयका काम ले सकें। वाचनालयोंकी व्याधिसे उन्हें बचाना होगा क्योंकि यह कि आज जैसी सिद्धान्तहीन पत्र-पत्रिकाएँ अपना प्रचार मात्र करनेके लिये निकाली जा रही हैं उनके पढ़नेसे मानव-समाज अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकता। दूसरे हमारे पारस्परिक विद्रोहके कारणोंमें ये पत्र भी एक कारण हैं। इससे अच्छा यह है कि सार्वजनिक हितकी बातें लकड़ीके पट्टोंपर मोटे अक्षरोंमें लिखकर सार्वजनिक स्थानोंमें टाँग दी जायँ।

ङ—सङ्गीत तो जीवनमें आनन्द लानेके लिये बड़ी ही अनुभूत वस्तु है। प्राचीन पद्धतिकी तरह यदि उन्हें ढोल और झाँझपर भजन आदि गानेको प्रवृत्त कर सके तो इससे उनका बहुत हित हो सकता है।

स्थानीय उत्सवोंकी व्यवस्था

च—जिस स्थानमें प्रौढ़ पाठशाला हो वहाँके उत्सवोंपर ध्यान रखना होगा। जिस व्रत या उत्सवका समय आवे उसका रहस्य बताकर उसकी विधि भी बतानी चाहिए और जो उसमें कोई तात्कालिक दोष आ गए हों उन्हें उनकी सम्मतिके अनुसार परिवर्त्तन करनेका प्रयत्न भी करना-कराना चाहिए। ऐसा न हो कि हमारे इस कामसे उन लोगोंके अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी चोट पहुँचे। इस अवसरपर शिक्षकको अपने विचारोंकी छाप उन लोगोंपर नहीं डालनी चाहिए। जैसी उनकी संस्कृति या प्रवृत्ति हो तदनुसार ही उसमें संशोधन या परिवर्द्धन उचित होगा।

कथा-वार्त्ता

व्याख्यानसे अधिक रुचिकर एवं हितकर पुराणों एवं शास्त्रोंकी कथा-वार्त्ता एवं प्रवचन होंगे। यद्यपि नगरोंका रंगढंग बहुत कुछ बदल गया है पर गाँवोंके लोग अभी बहुत कुछ प्राचीनतासे बँधे हैं। उन्हें पुराणोंकी कथा बड़ी प्रिय एवं रुचिकर लगती है। हाँ, इस कार्यमें इस बातका ध्यान रखना होगा कि जो कथावाचक हों वे उसके पूर्ण मर्मज्ञ और अपने भावोंको प्रकट करनेमें कुशल कलाकार हों। साथ ही उनका चरित्र बड़ा स्वच्छ एवं सरल हो जिसका

प्रतिबिम्ब उनके हृदयपर पवित्र पड़े। उत्सवों या कथाओंमें हमें एक बातका ध्यान रखना होगा कि वहाँके किसी प्रकारके व्यवहारसे किसीकी जातिगत या व्यक्तिगत भावनाओंको किसी प्रकारकी ठेस न लगने पावे।

छ—सयानोंको इतनी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे पूर्ण नागरिक बन जायँ अर्थात् वे बोलने एवं लिख लेनेमें किसी प्रकारका संकोच न कर सकें। कहीं उन्हें ऐसा न प्रतीत हो कि मैं बोल नहीं सकता या लिख नहीं सकता। वे अपने जीवन-संग्राममें एक वीरकी तरह उन्नतमना होकर सफल कहे जायँ। ऐसा न हो कि उन्हें स्टेशनों, डाकखानों, बैङ्कों या कचहरियोंमें अपना काम कर लेनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई या जानकारीकी कमीका अनुभव करना पड़े।

भारतमें उत्तर प्रदेश तथा अन्य राज्योंके शिक्षा-विभागोंने सयानोंकी शिक्षाके लिये कई सामूहिक आन्दोलन किए, साक्षरता-दिवस मनाए जिससे देश भरमें बड़ी जागर्त्ति हुई और बहुसंख्यक लोगोंने लिखना-पढ़ना सीखा किन्तु खेतिहर होनेके कारण अधिकांश लोगोंको इतना अवकाश नहीं मिलता कि वे इसके लिये अधिक समय दें। यही कारण है कि सयानोंकी शिक्षा अधिक सफल नहीं हो पाई और सरकारकी ओरसे भी जो सरकारी प्रौढ़ पाठशालाएँ खोली गई थीं वे विडम्बना-मात्र रहीं। जबतक सरकार अनिवार्य रूपसे सबको शिक्षित करनेकी व्यवस्था नहीं करती तबतक अन्य सब प्रयास हाथीको चम्मचसे जल पिलानेके समान निरर्थक होंगे।

विकलांगोंकी शिक्षा

हमारे देशमें छः लाखसे ऊपर अन्धे, लगभग ढाई लाख गूँगे, ढाई लाख ही बहरे और लगभग बारह लाख ऐसे हैं जो किसी न किसी प्रकारसे विकलाङ्ग हैं। अन्य सभी सभ्य देशोंमें इनके लिये अत्यन्त व्यवस्थित विद्यालय हैं जहाँ ये विकलांग लोग जनतापर भार न होकर स्वयं लिख-पढ़कर अथवा किसी हस्त-कौशलके द्वारा अपनी जीविका कमाते हैं। भारतमें दिल्ली, पटना, प्रयाग काशी और बम्बईमें इस प्रकारके विद्यालय हैं जहाँ ब्रेल-पद्धतिसे अन्धोंको पढ़ना सिखाया जाता है और हस्तकौशल तथा संगीतकी शिक्षा भी दी जाती है। किन्तु उचित तो यह है कि यह व्यवस्था सरकार अपने हाथमें ले ले और उचित केन्द्रोंमें इस प्रकारके विकलांगोंको अनिवार्य रूपसे शिक्षा देकर उनका जीवन सफल करे और राष्ट्रकी शक्ति बढ़ावे।

२४

सहशिक्षा

घातक प्रयोग

सिरकी पीड़ा

आजकल सहशिक्षाकी समस्या दुर्निवार आवश्यकता बनकर सभी सात्त्विक शिक्षा-शास्त्रियोंके सिरकी पीड़ा बनी हुई है, विशेषतः उन देशोंमें, जहाँ पुरुषों और स्त्रियोंको अलग-अलग रहनेका संस्कार उनकी जातिगत रूढिसे मिला है। अतः यहाँ इसके सब पक्षोंकी उचित मीमांसा कर लेनी चाहिए।

सहशिक्षाके रूप

संसारमें जहाँ जहाँ सहशिक्षा चलाई जा रही है वहाँ वहाँ उसके निम्न-लिखित रूप मिलते हैं—

(क) छोटी कक्षाओंमें ६-७ वर्ष तकके बालकों (लड़कियों और लड़कों)को एक साथ मिलाकर कक्षामें बैठाना।

(ख) छोटी कक्षाओंमें ६-७-वर्ष तकके बालकोंको (लड़कियों और लड़कोंको) एक ही कक्षामें अलग अलग (कन्याओंको आगे और लड़कोंको पीछे) बैठाकर पढ़ाना।

(ग) ८ से १६ वर्ष तकके बालकों और बालिकाओंको एक ही कक्षामें एक साथ मिलाकर बैठाना।

(घ) ८ से १६ वर्षकी अवस्था तकके बालकों और बालिकाओंको एक ही कक्षामें अलग-अलग बैठाकर पढ़ाना।

(ङ) एक ही विद्यालयमें अलग अलग कक्षमें बालिकाओं और बालकोंको शिक्षा देना।

(च) एक ही भवनमें एक समय बालकोंको और दूसरे समय बालिकाओंको शिक्षा देना।

(छ) १६ वर्षसे ऊपरके युवकों और युवतियोंको एक साथ एक कक्षामें मिलाकर बैठाना और शिक्षा देना।

(ज) १६ वर्षसे ऊपरके युवकों और युवतियोंको एक ही कक्षामें अलग-अलग बैठाकर शिक्षा देना।

(झ) पुरुषों-द्वारा कन्याओंको शिक्षा।

(ञ) महिलाओं-द्वारा बालकों तथा युवकोंको शिक्षा।

(ट) पुरुषों और महिलाओं द्वारा मिलकर केवल कन्याओं या केवल लड़कोंको शिक्षा देना।

(ठ) पुरुषों और महिलाओं-द्वारा मिलकर बालकों और बालिकाओंके सम्मिलित विद्यालयमें पढ़ाना।

सहशिक्षाकी इन उपर्युक्त शैलियोंमें (च) शैलीको छोड़कर शेष सभी विचारणीय हैं क्योंकि वह शैली वास्तवमें सहशिक्षाकी शैली नहीं है! उसमें भी यह देखा गया है कि जिस समय लड़के आकर बैठकर पढ़ते हैं तो वे फूहड़ और अश्लील बातें अथवा प्रेमपत्र लिखकर लेखपीठों (डेस्कों) के भीतर छोड़ जाते हैं और जब कन्याएँ आकर बैठती है तो उन्हें या तो ऐसे पत्र पाकर झेंप और मानसिक व्यथा होती है अथवा जीवनके इस नये खेलमें प्रवेश करनेकी उत्तेजना पाकर वे भी प्रत्युत्तर देने अथवा वैसा ही काण्ड करनेको उत्सुक हो जाती हैं।

सहशिक्षाकी समस्यापर चार दृष्टियोंसे विचार करना चाहिए (१) सामाजिक, (२) नैतिक (३) आर्थिक और (४) मानवीय।

सामाजिक समस्या

संसारमें प्रायः सभी देश ऐसे हैं जहाँ माता-पिता यह चाहते हैं कि हमारी मान-मर्यादाके अनुकूल ही बालकका संस्कार हो तथा उसका विवाह-सम्बन्ध भी समान कुल-शील-आचारवालोंके साथ हो। इस दृष्टिसे कुछ देशोंमें तो प्रारंभसे ही बालक और बालिकाओंको अलग अलग रखते हैं किन्तु कुछ देशोंमें बालक-बालिकाओंको साथ ही रखते हैं क्योंकि बालकोंमें ऐसा पारिवारिक और सामाजिक संस्कार डाल दिया जाता है कि लड़के या लड़कियाँ अलग अलग रहकर चाहे जितना उत्पात करें किन्तु जब एकत्र हो जाते हैं तो वे एक दूसरेका संकोच मानकर शील और सौजन्यका व्यवहार करते हैं। जिन देशोंके बालकोंमें इस प्रकारका सामाजिक संस्कार नहीं होता, वहाँके बालक, कन्याओंको देखते ही उद्दंड, अशिष्ट, दुःशील, दुर्विनीत, चपल, ढीठ और दुष्ट होकर अनेक प्रकारके दुष्कांड करने लगते हैं। अतः ऐसे देशोंमें सह-शिक्षा अनेक प्रकारसे घातक सिद्ध हो सकती है। किसी किसी देशमें (जैसे भारतमें) अनेक वर्ण-भेद, जाति-भेद, गोत्र-भेद, पंक्ति-भेद तथा धर्मभेद हैं। वहाँ यदि एक वर्ण, जाति, गोत्र, पंक्ति या धर्मके बालक या बालिकाने किसी वर्ज्य या रूढ़ि-पृथक् वर्ण, जाति, गोत्र, पंक्ति या धर्मकी बालिका या बालकसे सम्बन्ध कर लिया तो उन परिवारोंका सामाजिक बहिष्कार या पतन हो जाता है, उनका आदर कम हो जाता है, उनके बाल-बच्चोंके विवाहमें बाधा पड़ने लगती है और अगणित प्रकारसे उन्हें सामाजिक आघातोंका आखेट बनना पड़ जाता

है और प्रायः ऐसे सभी वासनात्मक (जिन्हें भ्रमसे या उपचारवश लोग प्रेम-विवाह कहते हैं) संबन्धोंका परिणाम दोनों परिवारोंके लिये तो अहितकर, कष्टकर और असुविधाजनक होता ही है किन्तु उन दोनोंके लिये भी सुखकर नहीं होता। समीपता प्राप्त होते ही जब वासना तृप्त होने लगती है तो धीरे धीरे प्रेमका वह आवेश शिथिल पड़ने लगता है जिसमें दोनों एक दूसरेके लिये प्राण देने और आमरण एक दूसरेसे अलग न होने और प्रेम करनेकी प्रतिज्ञा करते थे। ज्यों ज्यों उनकी गृहस्थी बढ़ती है, त्यों त्यों सामाजिक समस्याएँ, बच्चोंके विवाह आदिकी समस्याएँ ऐसे भयंकर और विकराल रूप लेकर सम्मुख आती हैं कि दोनोंको अपनी भूलपर हाथ मलनेके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं रह जाता। अधिकांश ऐसे परिवारोंमें तो थोड़े ही दिनोंमें लड़ाई-झगड़ा, मार-पीट प्रारंभ हो जाती है क्योंकि रूपके हाटका सौदा बहुत दिन ठहरता नहीं। जब रूप बिगड़ने लगता है तब सारी पुरानी हार्दिकता नष्ट हो जाती है और प्रारंभमें देवी और देवता दिखलाई देनेवाले लोग राक्षसी और राक्षस बन जाते हैं। वे समाजके लिये निरर्थक और अभिशाप बन जाते हैं, समाज उनके लिये दानव और दैत्य बन जाता है। जहाँ इस प्रकारकी सामाजिक विषमताएँ और समस्याएँ हों वहाँ सहशिक्षाका प्रयोग निश्चित रूपसे हानिकर और संकटप्रद है।

नैतिक पक्ष

सहशिक्षाका एक नैतिक पक्ष भी है, उसकी भी समीक्षा चित्त-विज्ञानकी दृष्टिसे कर लेनी चाहिए। कन्या और कुमारका अथवा स्त्री और पुरुषका परस्पर एक दूसरेके प्रति आकृष्ट होना दो प्रकारसे स्वाभाविक है—एक तो काम-वासनाकी स्वाभाविक प्रेरणाको तृप्त करनेके लिये, जो स्वाभाविक पशुवृत्ति है, जिसमें एक दूसरेके प्रति वास्तविक आकर्षण नहीं होता, केवल एक दूसरेसे परस्पर कामतृप्तिकी इच्छा भर रहती है, उसके पश्चात् दोनोंमें कोई मेल नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं। यह केवल आवश्यकताकी पूर्ति मात्र है। दूसरा आकर्षण सौन्दर्य-भोग-वृत्तिके कारण होता है जिसमें पुरुष किसी स्त्रीके सौन्दर्यपर मुग्ध होकर उसे अपने निकट रखकर उसके रूप-लावण्य-दर्शनका आनन्द लेना चाहता है और उसके साथ साथ उसका दैहिक उपभोग भी। यह वृत्ति भ्रमर-वृत्ति कहलाती है। जैसे फूलका प्रेमी भौंरा सभी फूलोंपर मुग्ध होकर सबका रस लेना चाहता है वैसे ही मनुष्यकी (चाहे पुरुष हो या स्त्री हो) यह वृत्ति होती है कि वह जिसे सुन्दर समझता या समझती है उसे ही अपनाना चाहता या चाहती है। काम-तृप्तिकी पशु-वृत्ति और बहुरस-लोलुपताकी भ्रमर-वृत्तिसे उत्पन्न होनेवाली असंख्य कठिनाइयोंको दूर करनेके लिये, मनुष्यको पशुसे ऊपर उठाकर उसकी

सौन्दर्य-भोग-वृत्तिको परिमित करके समाजने अपनी रक्षा करनेकी दृष्टिसे नियम बनाए और ये विवाहके नियम ही मानव-समाजके, मानवीय संघटनके सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आधार हैं। किन्तु यह सब होते हुए भी जबतक धर्म-भय, ईश्वरभय तथा आत्मभयके संस्कारसे मानव-हृदय संस्कृत नहीं हो जाता तबतक मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति तो ज्योंकी त्यों बनी रहती है। उसे जहाँ अवसर मिला, वहीं वह उछल पड़ती है, उबल पड़ती है और समाजके बंधनोंके कारण उसके जितने भयंकर परिणाम हो सकते हैं सभी होते हैं—गर्भपात, भ्रूण-हत्या, विषपान, आत्महत्या, बाल-हत्या, सामाजिक बहिष्कार, देश-त्याग, परस्पर-परित्याग आदि। इन्हीं सब कारणोंसे पुराने आचार्यों और समाज-शास्त्रियोंने पुरुषों और स्त्रियोंको अलग-अलग रहनेकी सम्मति दी थी। किन्तु यदि हम उन्हें साथ रखते हैं तो हमें या तो उनमें परस्पर मिलन और मनुष्यकी स्वाभाविक भ्रमर वृत्तिके नियन्त्रणका कोई उपाय करना होगा अथवा जो हो सो ठीक मान लेना होगा। जिन्होंने सहशिक्षाके प्रयोग विभिन्न देशोंमें किए हैं उनका अनुभव है कि परस्पर मिलन और भ्रमर-वृत्ति दोनोंकी पूरी रोकथाम करना उनकी शक्तिसे बाहर रहा है। जहाँतक 'जो हो सो ठीक' वाली बात है, इसके लिये कोई देश, समाज या राष्ट्र सन्नद्ध नहीं है। अतः नैतिक दृष्टिसे भी सहशिक्षाका प्रयोग अत्यन्त भयावह है।

आर्थिक पक्ष

जिन देशोंमें सहशिक्षा प्रारंभ की गई उनमें इसका प्रयोग आर्थिक कारणोंसे किया गया। दोनों लिंगोंके थोड़े बालकोंके लिये दो विद्यालय-भवन अलग अलग बनाना, अलग अध्यापक रखना, अलग सामग्री जुटाना और उन्हें चलाना निश्चित रूपसे व्ययसाध्य था। जब कुछ देशोंमें शिक्षा अनिवार्य कर दी गई तब यही ठीक समझा गया कि एक ही भवनमें एक ही समयमें बालक-बालिकाओंको अलग अलग या साथ साथ पढ़ाया जाय या अलग अलग समयमें बालकों और बालिकाओंके अलग अलग विद्यालय चलें। साथ साथ बालक-बालिकाओंको शिक्षा देना निश्चित रूपसे सस्ता पड़ता है और जहाँ शिक्षाका भार वहाँके लोक-कोषपर हो वहाँ इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय भी कोई नहीं है क्योंकि शिक्षा अनिवार्य कर देनेके पश्चात् कोई भी राज्यकोष इतना समर्थ नहीं हो सकता कि वह प्रत्येक व्यक्तिको शिक्षित करनेका स्वयं भार ले। अतः सामूहिक सहशिक्षा अथवा एकगृही भिन्न विद्यालय-सहशिक्षाकी पद्धति अपनानेके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं रह जाता। किन्तु यदि हमने शिक्षाका उद्देश्य नैतिक-अभिवर्द्धन और चरित्रनिर्माण रक्खा है तो हमें शिक्षा अनिवार्य करनेका लोभ संवरण करना होगा और थोड़े छात्रों तथा छात्राओंको अलग अलग विद्यालयोंमें शिक्षा देकर ही सन्तोष करना होगा।

मानवीय दृष्टि

आजकल प्रगतिशील तथा रूढ़ि-विदारक कहलानेवाले कुछ विश्वबन्धु लोग यह कहते सुने जा रहे हैं कि संसारमें मनुष्य मनुष्य सब एक हैं। उनमें काले-गोरे-लाल-पीलेका, भारतीय-हब्शी-योरोपी-मंगोलीका, हिन्दू-मुसलिम-ईसाई-पारसीका, स्त्री-पुरुषका और छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं रहना चाहिए, सबको सबके साथ खानपान और रोटी-बेटीका सम्बन्ध स्थापित करके विश्व-मानव-समाजका संघटन करना चाहिए और सहशिक्षा इसके लिये सर्वश्रेष्ठ साधन है। यद्यपि हम इस प्रकारकी वर्णसंकरताके पक्षपाती नहीं हैं किन्तु यदि हम थोड़ी देरके लिये यह भी मान लें कि विश्व-मानव-समाजका ही आदर्श ठीक है तब भी हमें मनुष्यकी भ्रमर-वृत्तिका तो नियन्त्रण करना ही पड़ेगा क्योंकि यदि हम मनुष्यको इतना खुला छोड़ देंगे तो वह सर्प और व्याघ्रसे भी अधिक भयंकर होकर समाजको चर जायगा। नैतिक आधारके बिना कोई भी समाज कभी जीवित नहीं रह सकता और नैतिकताको स्थिर रखनेके लिये मनुष्यकी भ्रमर-वृत्तिको संयत रखना अत्यन्त आवश्यक है अतः अखिल-मानवीय आदर्शकी दृष्टिसे भी सहशिक्षाका समर्थन नहीं किया जा सकता।

सहशिक्षाके परिणाम

अमेरिका तथा योरपके जिन देशोंमें सहशिक्षाका प्रचार है वहाँ भी उसके परिणाम अच्छे नहीं हुए हैं। सहशिक्षाके समर्थकोंका कहना है कि सहशिक्षासे बालकोंमें विनयकी भावना बढ़ती है, एक दूसरेके प्रति आदर होता है, स्वस्थ प्रतिस्पर्धाकी अभिवृद्धि होती है, उत्पात कम होता है, विद्यालयका वातावरण विनयपूर्ण हो जाता है, एक दूसरेके स्वभावको दोनों पक्ष ठीक समझते हैं, एक दूसरेसे अलग रहनेसे जो स्वाभाविक झेंप, झिझक, कुतूहल और मानसिक विलासकी भावना रहती है वह परिचय और सम्पर्कसे दूर हो जाती है, घरके भाई-बहन जैसा उनका पारस्परिक व्यवहार और आचरण होने लगता है। किन्तु जिन लोगोंका इस सम्बन्धमें व्यावहारिक अनुभव है उनका वक्तव्य इससे सर्वथा भिन्न है। उनका कहना है कि सहशिक्षासे बालकोंमें स्त्रियोचित भाव-भंगी और कायरता, बालिकाओंमें पुरुषोचित औद्धत्य, कन्याओंको देखकर बालकोंमें स्वाभाविक कुतूहल, फुसफुसाहट, परचेबाजी, कनखियोंमें संकेत और अभव्य चुहल होती है। आठ वर्षसे ऊपरके बालकोंमें सहशिक्षा जहाँ हो रही है वहाँ कन्याओंमें हिस्टीरिया, उन्माद, मूर्च्छा, प्रदर आदि बहुतसे रोग हो रहे हैं और बालकोंमें स्वप्नदोष, मानसिक अस्वस्थता, पागलपन, हृद्रोग, क्षय आदि भयंकर रोग हो जाते हैं क्योंकि नित्य प्रति अपने आकर्षणके आधार (बालिका या बालक) को देखकर उससे संपर्क प्राप्त कर सकने या न कर सकनेके

कारण, बोलचाल, स्पर्श, सहाध्याय आदि हो सकने या न हो सकनेके कारण अथवा दूसरेके प्रति उसका मोह, आकर्षण या सम्पर्क होनेकी ईर्ष्यासे अपना भाव अतृप्त, पीड़ित और विदलित हो जानेके कारण परिणाम यह होता है कि वे या तो आवेशमें पत्र-द्वारा या मौखिक प्रेम प्रकट कर डालते हैं या असफल होकर आत्म-हत्या कर बैठते हैं, पागल हो जाते हैं या कोई रोग पकड़ बैठते हैं। अतः सह-शिक्षा चलानेसे पूर्व या तो प्राचीन भारतीय स्त्रीत्वका ऐसा संस्कार डाल दिया जाय कि किसी पुरुषको देखना, उससे बातें करना, उसे स्पर्श करना कन्याएँ अपने लिये पाप समझें और स्वयं उनका आत्मा उससे उसी प्रकार विद्रोह करे जैसे प्याज न खानेवाला व्यक्ति प्याजको अस्पृश्य समझता है चाहे वह कितने भी अच्छे ढंगसे प्रयोग किया गया हो इसी प्रकार प्रत्येक बालकमें लक्ष्मणके चरित्रका वह आदर्श भर दिया जाय कि वह स्त्रीत्वमें अपनी माता या बहनकी भावना स्थापित कर सके। किन्तु आजके युगमें जहाँ रेल, ट्राम, सिनेमा, बस सब स्थानोंपर यह संपर्क अनिवार्य हो वहाँ इस प्रकारके संस्कारकी अब कल्पना ही व्यर्थ है क्योंकि हमारी शिक्षा-पद्धति ही ऐसी हो चली है कि हम किसी भी प्रकार अपनी कन्याओंको सीता नहीं बना सकते, अपने पुत्रोंको लक्ष्मण नहीं बना सकते। यह तभी संभव है जब कन्याओंको विद्यालयोंसे दूर रक्खा जाय, घरमें साधारण अक्षर-ज्ञानके साथ गृहस्थाचारमें दीक्षा दी जाय और निरन्तर उदाहरण, दृष्टान्त, उपदेश और तर्जनसे सतीत्व और शुद्ध पुरुषत्वका संस्कार भरा जाय। यह अत्यन्त अव्यवहार्य है इसलिये अच्छा यही है कि कन्याओं और बालकोंकी शिक्षा अलग-अलग विद्यालयोंमें दूर-दूर हो।

बालक और बालिकामें स्वाभाविक भेद

दूसरी बात जो सहशिक्षावाले भूल जाते हैं यह है कि बालक और बालिकाकी शारीरिक, मानसिक और कार्य-प्रकृतिमें बड़ा भेद है। दोनोंके सामर्थ्य, दोनोंके सामाजिक उद्देश्य, सामाजिक आवश्यकताएँ और प्रयोजन भिन्न हैं अतः उन दोनोंको हम एक डंडेसे नहीं हाँक सकते। दोनोंका शिक्षाक्रम प्रारंभसे ही हमें भिन्न रखना होगा और जब यह पाठ्यक्रम ही भिन्न होगा तब सहशिक्षाका प्रश्न रह ही कहाँ जाता है। आजकल प्रायः सभी शिक्षा-शास्त्री यह अनुभव करने लगे हैं कि बालक और बालिका दोनोंकी शिक्षा-पद्धति अत्यन्त भिन्न होनी चाहिए जो उनकी अलग-अलग प्रकृति, आवश्यकता, प्रवृत्ति और रुचिके अनुकूल हो। यह सिद्धान्त ही सहशिक्षापर सबसे बड़ा प्रहार है किन्तु कठिनाई यह है कि राजनीतिक लोगोंके हाथ पड़कर शिक्षा भी पगला गई है। मत लेनेके लिये ये लोग अनिवार्य शिक्षा देनेकी घोषणा करते

हैं। कोषमें द्रव्याभाव और दिए हुए वचनका पालन, दोनोंका सामंजस्य करनेके लिये ये लोग सहशिक्षा जैसी भयंकर पद्धतिका अवलंब लेते हैं जो समाज और राष्ट्र दोनोंकी जड़को सुखानेके लिये अत्यन्त क्रूर विष सिद्ध हो रही है।

अध्यापक और शिष्याएँ

सहशिक्षाका एक दूसरा भी रूप है जहाँ अध्यापक पुरुष हो और शिष्य हों कन्याएँ। ऐसे स्थानोंमें यदि अध्यापक निकम्मे हों, पढ़ा न सकते हों, कुरूप या कुदर्शन हों, अभव्य और गंदे ढंगसे रहते हों तो छात्राएँ उन्हें मूर्ख बनाती है, उनकी हँसी उड़ाती हैं और उन्हें तंग करती रहती हैं। यदि अध्यापक विद्वान् हुआ, सुन्दर या आकर्षक हुआ, अच्छा वक्ता, कलाकार, अभिनेता, गायक, वादक, सौम्य, मिलनसार और सहानुभूति-प्रदर्शक हुआ तो चपल कन्याएँ निश्चित रूपसे उसपर जादू डाल देती हैं और उसे फँसा लेती हैं अथवा वह ही यदि रसिक हो तो कन्याओंको फँसा लेता है। यदि कोई कन्या फँसा लेती है तो उसकी सहपाठिनियाँ उससे ईर्ष्या करके अनेक उपद्रव खड़ा कर सकती हैं विशेषतः वे, जो स्वयं उसे फँसा सकनेमें असफल हुई रहती हैं। यदि अध्यापक ही किसी कन्याको फँसाना प्रारंभ करता है तो स्वयं समाज ही उसके विरुद्ध विद्रोह कर बैठता है। दोनों स्थितियोंमें प्रायः पुरुष अध्यापक ही मारा जाता है। इस प्रकारकी घटनाएँ सभी देशोंमें होती रहती हैं। किन्तु यह स्थिति उन विद्यालयोंमें नहीं है जहाँ अध्यापन-कार्य स्त्री करती है और बालक पढ़ते हैं। कालेजोंमें जहाँ समवयस्क अध्यापिका और छात्र हों वहाँ तो ये बातें संभव हो गई हैं किन्तु साधारणतः इसका अभाव रहा है और ऐसा अनुभव किया गया है कि बालकोंके जिन विद्यालयोंमें अध्यापिकाएँ पढ़ाती हैं वहाँका विनय अवश्य श्लाघ्य होता है। किन्तु एक बात अवश्य है कि बालक पीठ-पीछे अध्यापिकाके रूपरंग, चालढाल, कपड़े-लत्ते, बोलचाल सबकी आलोचना जी भरकर करते हैं और कभी तो ऐसी करते हैं जो फूहड़पनकी सीमा भी लाँघ जाती है। हाँ, जिन विद्यालयोंमें अध्यापिकाएँ अवस्थामें छात्रोंसे अधिक वृद्ध होती हैं और अपने छात्रोंके प्रति अत्यन्त वात्सल्य-भाव रखती हैं वहाँका वातावरण निश्चित रूपसे स्वस्थ, शान्त और विनयपूर्ण रहता है। यही बात वृद्ध अध्यापकोंके संबंधमें भी है। यह अत्यन्त भ्रामक, अशुद्ध तथा निरर्थक परिपाटी है कि अध्यापकको भी साठ वर्षपर छुट्टी दे दी जाय। वास्तवमें अध्यापक तो जितना पुराना हो उतना ही वह विनय और शील स्थापित करनेकी दृष्टिसे तथा ज्ञान और अनुभवके विचारसे उपयुक्त होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि छोटे बालकोंके विद्यालयोंमें अध्यापिकाका प्रभाव अच्छा पड़ता है किन्तु शेष परिस्थितियोंमें अर्थात् बालिकाओंके विद्यालयमें पुरुष अध्यापकोंका रखना

अथवा बालकोंके विद्यालयोंमें समवयस्क अध्यापिका रखना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

सहशिक्षाका भविष्य

यद्यपि सहशिक्षाके संबंधमें सभी शिक्षाशास्त्री सशंक हो उठे हैं फिर भी कुछ प्रगतिशील लोग और कुछ शिक्षाशास्त्री आर्थिक दृष्टिसे इसका समर्थन करते चले जा रहे हैं। जिन देशोंमें साधारण रूपसे पुरुषों और स्त्रियोंमें मिलजुलकर बैठने, साथ आने-जाने, यहाँतक कि साथ नाचने-गानेमें भी किसी प्रकारकी नैतिक या सामाजिक आपत्ति नहीं होती, वहाँ भले ही यह प्रणाली चलती रहे और स्वस्थताके साथ चलतो रहे किन्तु जिन देशोंके लोग अभी इतने आगे नहीं बढ़ सके हैं वहाँके लिये यह प्रणाली निश्चित रूपसे घातक ही सिद्ध होगी। आजकल कुछ सज्जनोंने इस विषयमें एक अद्‌भुत् तर्क देकर इसका समर्थन किया है। उनका कहना है कि हमारा समाज इतना दूषित हो गया है कि उसकी अर्थलोलुपता और दहेज-लोभके कारण अनेक कन्याएँ अविवाहित रह जाती हैं। सहशिक्षाके कारण ऐसी सब कन्याएँ अपने सहपाठियोंमेंसे ही वर खोजकर अपने माता-पिताके आर्थिक संकटको तो दूर कर ही देती हैं, साथ ही वे समाजको भी चपत लगाती चलती हैं। अतः यदि थोड़े दिनों यह क्रम चलता रहा तो दहेज माँगनेवालोंकी आँखें खुल जायँगी, समाज अपनी भूल सुधार लेगा और यह सहशिक्षा स्वयं समाप्त हो जायगी।

२५

भारतीय गुरुकुल-पद्धतिके अभिनव प्रयोग

गुरुकुल : ऋषिकुल : विश्वभारती

स्वामी दयानन्द

स्वामी दयानन्दजीने उन्नीसवीं शताब्दीमें अपने समयमें प्रचलित अँगरेजी शिक्षा-पद्धतिमें अनेक दोष अनुभव करके प्राचीन भारतीय गुरुकुल-प्रणालीके आधारपर भारतके लिये गुरुकुल-शिक्षा-प्रणालीका प्रतिपादन किया। उस समय भारतमें शिक्षाकी मुख्यतया दो प्रणालियाँ प्रचलित थीं—एक भारतके ब्रिटिश शासकों-द्वारा प्रारम्भ की गई थी और दूसरी पुरानी परम्पराके अनुसार पण्डित-मण्डलीमें प्रचलित थी। सरकार-द्वारा प्रचलित प्रणाली भारतके राष्ट्रिय तथा धार्मिक आदर्शोंके प्रतिकूल थी। उसमें भारतकी भाषा, धर्म, सभ्यता, साहित्य, तथा संस्कृतिकी सर्वथा उपेक्षा की गई थी। पण्डित-मण्डलीकी शिक्षा-पद्धति समयकी आवश्यकताओंको पूर्ण नहीं कर रही थी। उसमें वर्त्तमान युगके ज्ञान-विज्ञानोंको कोई स्थान प्राप्त न था। चरित्र-निर्माणके लिये ब्रह्म-चर्य, त्याग, तपस्या आदि जिन आदर्शोंका पालन आवश्यक है उनका सरकारी प्रणालीमें कोई विधान न था, संस्कृत पाठशालाओंमें भी उसका कोई विशेष आग्रह नहीं रह गया था। स्वामी दयानन्दजीने अनुभव किया कि भारतमें प्राचीन गुरुकुल-प्रणालीका पुनरुद्धार करके इन दोषोंको दूर करना ही चाहिए। इसीलिये उन्होंने शिक्षाके निम्नलिखित आदर्श और सिद्धान्त प्रतिपादित किए—

(१) यह राजनियम और जाति-नियम होना चाहिए कि आठवें वर्षसे आगे कोई अपने लड़के और लड़कियोंको घरमें न रख सके, पाठशालामें अवश्य भेज दे, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

(२) लड़कों और लड़कियोंके गुरुकुल पृथक् पृथक् हों।

(३) विद्यार्थी लोग गुरुकुलोंमें ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत करें। २५ वर्षसे पूर्व बालकका और १६ वर्षसे पूर्व कन्याका विवाह न हो सके।

(४) गुरुकुलमें सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिए जायँ। चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो, चाहे दरिद्रकी सन्तान हो—सबके साथ एक समान व्यवहार किया जावे।

(५) गुरुकुलोंमें गुरु और शिष्य पिता-पुत्रके समान रहें ।

(६) विद्या पढ़नेके स्थान—गुरुकुल—नगर और ग्रामोंसे दूर एकान्तमें हों।

(७) शिक्षामें वेद, वेदाङ्ग तथा सत्य शास्त्रोंको प्रमुख स्थान दिया जाय, परन्तु साथ ही राजविद्या, संगीत, नृत्य, शिल्पविद्या, गणित, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, भूगर्भविद्या, यन्त्रकला, हस्तकौशल, चिकित्सा-शास्त्र आदिका भी यथोचित रूपसे अभ्यास कराया जाय ।

गुरुकुल काँगड़ी

निःसन्देह स्वामी दयानन्दके ये विचार शिक्षाके क्षेत्रमें अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार थे। आर्यसमाजके सम्मुख प्रारंभसे ही इन्हें क्रियामें परिणत करनेकी समस्या उपस्थित थी । गुरुकुल काँगड़ीकी स्थापनासे पूर्व भी आर्यसमाजने शिक्षाके क्षेत्रमें जो प्रयत्न किए, उनमें उसने स्वामी दयानन्दके इन विचारोंको आदर्शके रूपमें सम्मुख रक्खा। जब डी० ए० वी० कालेजकी स्थापना की गई, तो उसके साथ ही ब्रह्मचर्याश्रम खोलने और वेद तथा सत्य शास्त्रोंको प्रमुख स्थान देनेका भी विचार किया गया। उसके पाठ्यक्रमके सम्बन्धमें निम्नलिखित आदर्श निश्चित किए गए थे—

(१) हिन्दू-साहित्यको उन्नत और प्रोत्साहित करना ।

(२) प्राचीन संस्कृत साहित्य और वेदोंके अध्ययनको प्रचलित तथा प्रोत्साहित करना ।

डी० ए० बी० कालेजकी स्थापना करते समय स्वामी दयानन्दके शिक्षा-सम्बन्धी आदर्श उसके संस्थापकोंके सम्मुख थे पर डी० ए० बी० कालेज उन आदर्शोंपर दृढ़ नहीं रह सका, समयका प्रवाह उसे दूसरी ओर बहा ले गया।

गुरुकुल, काँगड़ीकी स्थापना

पर डी० ए० वी० कालेजकी असफलतासे स्वामी दयानन्दके शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शोंपर आर्यसमाजकी आस्था कम नहीं हुई। कुछ ही समय पश्चात् आर्यसमाजमें इस नये आन्दोलनका सूत्रपात हुआ कि स्वामी दयानन्दके शिक्षा-सम्बन्धी आदर्शोंके अनुसार गुरुकुल-शिक्षाप्रणालीका पुनरुद्धार किया जाय। महात्मा मुन्शीराम [स्वामी श्रद्धानन्द] इस आन्दोलनके प्रवर्तक तथा प्रमुख नेता थे। स्वामी दयानन्दने आदर्श शिक्षाका जो मार्ग दिखाया था, महात्मा मुन्शीराम उसके पहले पथिक बने। लगभग सं० १९६०में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणालीका पुनरुद्धार एक असम्भव कल्पना, एक अव्यवहार्य आदर्श समझा जाता था। महात्मा मुन्शीरामके प्रयत्नसे यह असम्भव कल्पना सम्भव हो गई और शिक्षाके क्षेत्रमें एक नई क्रान्ति हुई ।

स्थापनाके कारण

गुरुकुलकी स्थापनाके निम्नलिखित आठ कारण बताए गए—

(१) वेद आर्यसमाजके प्राण हैं। विशाल संस्कृत-साहित्यका मूल स्रोत वेद ही है। वेदके अध्ययनके लिये गुरुकुलकी आवश्यकता है।

(२) संस्कृतका अध्ययन तबतक पूर्ण नहीं हो सकता जबतक अंगों और उपांगोंके साथ वेदका अध्ययन न किया जाय। अतः ऐसे शिक्षणालयकी आवश्यकता है, जहाँ संस्कृत-साहित्यके साथ-साथ वैदिक साहित्यका भी अध्ययन हो।

(३) भारतकी शिक्षा सच्चे अर्थोंमें राष्ट्रिय तभी हो सकती है जब यहाँके शिक्षणालयोंमें संस्कृतका अध्ययन हो। ब्रिटिश सरकारने जो शिक्षा प्रचलित की है वह भारतीयोंको अंग्रेज़ बना रही है, वह भारतीयोंमें देशभक्तिका विनाश कर रही है। मुसलिम शासनकी अनेक शताब्दियाँ जिन हिन्दुओंको अपना दास नहीं बना सकीं उन्हें दस-बीस वर्षोंकी अंग्रेज़ी शिक्षा दास बनानेमें समर्थ हो रही है। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि हम हम आर्य जातिके लिये शिक्षाकी एक ऐसी योजना तैयार करें जो सच्चे अर्थोंमें 'राष्ट्रिय' हो, जो आर्य जातिकी 'राष्ट्रिय-शिक्षा'की आवश्यकता पूर्ण करे। हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि विदेशी भाषा और नये ज्ञान-विज्ञानको ग्रहण न किया जाय। इनका लाभ उठाना परम आवश्यक है। हमें अंग्रेज़ी, आधुनिक विज्ञान, पाश्चात्य दर्शन, अर्थशास्त्र और राजनीतिका अध्ययन करना ही चाहिए। क्या योरोपियन लोग विदेशी भाषाओं और प्राच्य विद्याओंको नहीं पढ़ते हैं? वे पढ़ते हैं, पर अपनी शिक्षाको विदेशी नहीं बना देते। इसी प्रकार हमें भी सब विदेशी ज्ञान-विज्ञान पढ़ते हुए अपनी 'राष्ट्रियता'की रक्षा करनी चाहिए। गुरुकुलकी स्थापनामें यह तीसरा हेतु है।

(४) ब्रह्मचर्य, शिक्षाका मुख्य आधार है। हमारी संस्थाएँ ऐसी होनी चाहिएँ जो नगरोंके दूषित प्रभावोंसे दूर हों और जहाँ ब्रह्मचर्यके नियमोंका भली भाँति पालन होता हो।

(५) सरकारी विश्वविद्यालयोंमें परीक्षाकी जो पद्धति प्रचलित है वह वास्तविक विद्वत्ताके मार्गमें बाधक है। अतः कोई ऐसी संस्था जो सरकारी विश्वविद्यालयोंकी परीक्षा भी दिलाना चाहे और वैदिक पाण्डित्य भी उत्पन्न करना चाहे, कभी सफल नहीं हो सकती। डी० ए० वी० कालेजने यही प्रयत्न किया और उसे असफलता मिली। गुरुकुल इस परीक्षा-पद्धतिसे दूर रहेगा।

(६) शिक्षणालयोंमें शिक्षाको बालकके माता-पिताका स्थान लेना चाहिए। भारतके वर्तमान शिक्षणालयोंमें शिक्षक लोग माता-पिताका स्थान नहीं लेते। गुरुकुलमें यह कमी दूर की जायगी।

(७) शिक्षाके लिये कोई शुल्क नहीं लिया जाना चाहिए।

(८) योरोपीय विद्वानोंने भारतीय इतिहासमें जो खोज की है उसमें भारतीय इतिहासके साथ न्याय नहीं हुआ। उसमें जो तिथिक्रम निश्चित किया गया है, वह सर्वथा अशुद्ध है। उसका खण्डन करनेके लिये भारतके प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्त्वका विवेचनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। यह कार्य भी गुरुकुल जैसे शिक्षणालयसे ही पूर्ण किया जा सकता है।

गुरुकुलका पाठ्यक्रम

इनको दृष्टिमें रखकर गुरुकुलमें पढ़ानेके लिये जो पहली पाठनविधि बनाई गई थी उसमें साङ्गोपाङ्ग वेद और संस्कृत साहित्यके गम्भीर अध्ययनके साथ-साथ अंग्रेज़ी, गणित, रसायन, भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, भूविज्ञान, कृषि, आयुर्वेद, पाश्चात्य दर्शन, अर्थशास्त्र आदिके उच्च कोटिके अध्ययनकी भी व्यवस्था की गई थी। वस्तुतः गुरुकुलके प्रथम प्रवर्त्तक आर्य जातिके लिये 'राष्ट्रिय शिक्षा'की योजना तैयार कर रहे थे। उनकी दृष्टिमें आदर्श 'राष्ट्रिय शिक्षा' वह थी जिसमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञानके साथ संस्कृत साहित्य और साङ्गोपाङ्ग वेदका अध्ययन होता हो।

गुरुकुल-प्रणालीकी विशेषता

इस गुरुकुल शिक्षा-प्रणालीकी निम्नलिखित विशेषताएँ बताई गई थीं—

१. ब्रह्मचर्यका पुनरुद्धार।

२. ब्रह्मचारियों और उनके गुरुओंका पुत्र और पिताके सम्बन्धसे रहना।

३. परीक्षा-पद्धतिके दोषोंसे मुक्त रहना।

४. शारीरिक उन्नतिके लिये विशेष रूपसे बल देना।

५. भारतकी शिक्षा-प्रणालीमें संस्कृत तथा मातृभाषा हिन्दीको प्रमुख स्थान देना।

६. आधुनिक विज्ञान तथा अँगरेजी भाषाको समुचित स्थान देना।

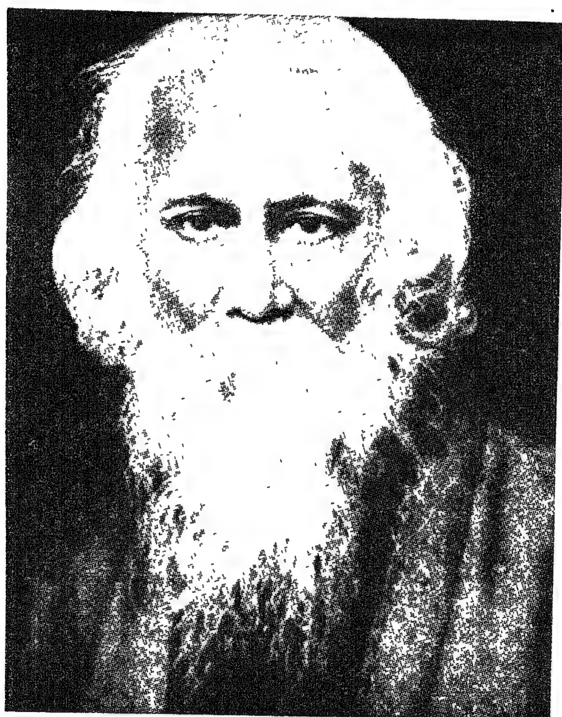
७. शिक्षाके लिये कोई शुल्क न लेना।

८. प्राचीन भारतीय इतिहासके अन्वेषण तथा शोधका विशेष रूपसे प्रबन्ध करना।

उपर्युक्त उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये काँगड़ीमें २२, २३ और २४ मार्च सन् १९०२ को गुरुकुलका प्रारम्भ-उत्सव मनाया गया।

गुरुकुल-काँगड़ीका विश्लेषण

आज गुरुकुल काँगड़ी भारतकी यशस्विनी संस्थाओंमेंसे प्रमुख है और वहाँके स्नातकोंने भारतकी सामाजिक और राष्ट्रिय जागर्त्तिमें अत्यन्त सम्मान-पूर्ण योग दिया है। किन्तु एक बात जो गुरुकुलमें नहीं हो रही है वह केवल



रवीन्द्रनाथ टैगोर

यह है कि विद्याके साथ जो तपस्या और वास्तविक ब्रह्मचर्य-व्रत होना चाहिए था उसका अत्यन्त अभाव है। जबतक शिक्षाके साथ तपस्याका संयोग नहीं होता तबतक वह भारतीय नहीं बन सकती और तबतक स्वामी दयानन्दके आदर्शोंकी पूर्ति भी नहीं हो सकती। हमारे शास्त्रोंमें मन्त्र-शक्ति और तन्त्र-शक्तिके अनेक प्रयोग मिलते हैं। अथर्ववेदमें अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनसे शत्रुको कीलित किया जा सकता है, पराजित किया जा सकता है। इनकी सिद्धिके प्रयोग गुरुकुलमें ही किए जा सकते हैं और प्रयोगके पश्चात् यह कहा जा सकता है कि मन्त्रोंकी जिस शक्तिका जो माहात्म्य या प्रभाव लिखा है वह ठीक है या नहीं। जबतक ये प्रयोग वहाँ नहीं होते तबतक उनमें और अन्य विद्यालयोंमें अन्तर क्या रह जाता है।

ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम, हरिद्वार

पूज्य मालवीयजीके आदेशसे और श्रीदुर्गादत्त पंतके प्रयाससे हरिद्वारमें श्रुति-स्मृति-पुराण-सम्मत सनातन-धर्मके अनुसार ब्रह्मचर्य-व्रतके साथ सनातन-धर्मी बालकोंको प्राचीन गुरुकुलोंके वातावरणके अनुकूल शिक्षा देनेके निमित्त ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना हुई थी। इस ब्रह्मचर्याश्रमका उद्देश्य यही था कि उसके द्वारा ऋषिकल्प, तपःपूत, तेजस्वी ब्रह्मचारी तैयार किए जायँ, किन्तु यहाँ भी अन्य विद्यालयोंके समान परीक्षाओंके लिये ब्रह्मचारियोंको शिक्षा दी जाने लगी। तपस्या, व्रत, नियमकी जो साधना प्राचीन गुरुकुलोंमें होती थी उसका अभाव होने लगा और जो दोष ऊपर गुरुकुलके बताए गए हैं वे ही ऋषिकुलमें भी व्याप्त हो गए। जबतक हमारे इन धार्मिक राष्ट्र-विद्यालयोंमें तपस्याकी भावना नहीं आती तबतक ऋषिकुल और गुरुकुलकी स्थापनाका उद्देश्य सफल नहीं समझा जा सकता।

विश्वभारती

सन् १८६३ ई० में महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोरने साधकोंके लिये बंगालमें बोलपुरके पास जो शान्ति-निकेतन स्थापित किया था उसीमेंसे विश्व-भारतीकी उत्पत्ति हुई। सन् १९०१ ई० में कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोरने थोड़ेसे गिने-चुने बच्चोंके लिये एक विद्यालय स्थापित किया था जिसका उद्देश्य यह था कि बच्चोंको ऐसी शिक्षा दी जाय जो प्रकृतिसे विलग न हो, जहाँ बच्चे परिवारके वातावरणका अनुभव करें, अर्थात् संस्थाको आत्मीय समझें जहाँ वे स्वतंत्रता, पारस्परिक विश्वास और उल्लासके साथ अध्ययन करें और रहें। ६ मई सन् १९२२ ई० को अन्ताराष्ट्रिय विश्वविद्यालयके रूपमें विश्व-भारतीकी स्थापना हुई जिसके उद्देश्य थे—

१— पूर्वकी विभिन्न संस्कृतियोंको उनकी मौलिक एकताके आधारपर सन्निकट लाना ।

२—इसी एकताके आधारपर पश्चिमके विज्ञान और संस्कृतिके समीप पहुँचना । और,

३—अध्ययन तथा मानवीय चेतनाके सर्वसाधारण सहबन्धुत्वका अनुभव करना, पूर्व और पश्चिमका समन्वय करना और इस प्रकार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करना जिससे विश्वबन्धुत्व और विश्व-एकता संभव हो सके ।

शान्तिनिकेतन

कलकत्तेसे लगभग १०० मीलपर नगरके कोलाहलसे दूर खुले मैदानमें शान्ति-निकेतन स्थित है, जहाँ अध्यापकों और छात्रोंमें परस्पर स्नेह और आदरकी भावना विद्यमान है, जहाँ ऋतुके पर्व, उत्सव, संगीत और नाट्य-प्रयोग तथा पास-पड़ोसके गावोंके सुधार-कार्यमें सब लोग मिलते हैं और बाहरसे आनेवाले अनेक महापुरुषोंके संसर्गमें आते हैं ।

विश्वभारतीका व्यापक रूप

विश्व-भारतीमें पाठ-भवन शिक्षा-भवन, विद्या-भवन, चीना-भवन, कला-भवन, संगीत-भवन, हिन्दी-भवन, श्रीनिकेतन (हस्त-कौशल तथा ग्रामोद्योग-विभाग), बड़ा पुस्तकालय और विभागीय पुस्तकालय हैं । यहाँ सबसे बड़ी सुविधा यही है कि विद्यार्थी चाहे जिस विभागमें अध्ययन कर सकते हैं । छोटे बच्चों, बड़े बच्चों, युवक छात्रों ओर खोज-विभागके छात्रोंके लिये अलग अलग छात्रावास हैं और महिलाओंके लिये अलग छात्रावास हैं । यहाँका कार्य-क्रम इस प्रकार है—

जागरण—प्रातःकाल	४॥ बजे
आवास झाड़ना	४.५०
व्यायाम	४.५५
स्नान	५.२०
कलेवा	५.५५
वेतालिक तथा समवेत उपासना	६.१५
अध्ययनाध्यापन	६.३० से १०.३० तक
प्रक्षालन	१०.३०
मध्याह्न भोजन	१०.५०
विश्राम—दोपहर	१२.१५ से
व्यक्तिगत अध्ययन	१.५ से २ तक

अध्ययनाध्यापन	२ से ४ तक
आवास-शुद्धि	४.१५
जलपान	४.२५
उपस्थिति-लेख ।	४.४०
खेल	४.५५ से ५.५५ तक
प्रक्षालन—संध्या	६ बजे
समवेत उपासना	६.२०
अध्ययन और व्याख्यान	६.२० से ७.४५ तक
संध्या—भोजन	८ बजे
विश्राम	९ बजे

विश्वभारतीका विश्लेषण

विश्व-भारतीकी स्थापनाके समय जो महान् उद्देश्य दृष्टिमें रक्खे गए थे और जिस विश्व-बन्धुत्वकी कल्पना की गई थी उसकी कुछ प्राप्ति हुई है। इसमें सदेह नहीं है किन्तु उस भावनाके पीछे कवीन्द्र रवीन्द्रका व्यक्तित्व प्रमुख था जिसके अभावमें उसका उद्देश्य शिथिल पड़ गया है। इतने महान् उद्देश्य, वास्तवमें संस्थाके बलपर नहीं, व्यक्तित्वके बलपर चलते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि इस संस्थाके द्वारा भारतीय कलाओंका बड़ा प्रचार हुआ किन्तु विश्व-बन्धुत्वकी और सांस्कृतिक एकताकी जिस उदात्त भावनाके साथ विश्वभारतीका जन्म हुआ था वह अभीतक पूरी नहीं हो पाई और अब पूरी होगी भी नहीं क्योंकि यह संस्था भी थोड़े दिनोंमें विश्वविद्यालयोंके पाठ्य-क्रम पूरा करनेके फेरमें पड़ गई अन्यथा इसमेंसे ऐसे-ऐसे सांस्कृतिक दूत उत्पन्न किए जा सकते थे जो संसार भरके विभिन्न देशोंमें पहुँचकर सांस्कृतिक विनिमय करके इस संस्थाके मूल उद्देश्यकी पूर्ति कर सकते थे। अब तो वह शुद्ध रूपसे अन्य विश्वविद्यालयोंके समान केन्द्रीय सरकारके अधीन सांस्कृतिक विश्वविद्यालयके रूपमें ही परिणत हो गई है और थोड़े दिनोंमें उसकी वही दशा हो जायगी जो अन्य विश्वविद्यालयोंकी हो गई है या होती जा रही है क्योंकि धर्म-निरपेक्ष राज्यचक्रके केन्द्रीय शासनमें रहकर वह कितनी सांस्कृतिक रह सकेगी यह अत्यन्त विचारणीय है।

२६

शिक्षामें पूर्व और पश्चिमका समन्वय

महामना मालवीयजी और हिन्दू-विश्वविद्यालय

भारतके शिक्षा-शास्त्रियोंमें सबसे अधिक कर्मठ और प्रतापी महापुरुष हुए पंडित मदनमोहन मालवीयजी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालके संस्थापक, जिन्होंने शिक्षामें पूर्व और पश्चिमके श्रेष्ठतम ज्ञानका समन्वय स्वीकार किया।

पंडित मदनमोहन मालवीय

महामना पंडित मदनमोहन मालवीयका जन्म २५ दिसम्बर सन् १८६१ को प्रयागमें हुआ। निर्धन किन्तु तपःपूत सात्विक मनस्वितासे सम्पन्न परम भागवत पिता-माताकी पावन स्नेह-छायामें अपनी शिशुता और किशोरताका संस्कार सँवारकर मालवीयजी महाराजने आशावाद, वाग्माधुर्य, महत्त्वाकांक्षा और संलग्नता—इन गुणोंका वरदान पाकर भारतके विभिन्न क्षेत्रोंका सफल नेतृत्व प्रारम्भ कर दिया।

मालवीयजीका प्रारंभिक जीवन

जब पढ़ाईका व्यय भी दुर्निवार भार बना हुआ हो, बड़े परिवारकी बड़ी आवश्यकताएँ भी जहाँ सदा अभाव बनी रहती हों, दूसरोंकी दी हुई छात्र-वृत्तिसे पोथीका काम भी न चल सकता हो, तब भी दरिद्रताके क्रूर गर्जनकी साहसपूर्ण भर्त्सना करके मालवीयजीने उस सत्सङ्कल्पमय स्वप्नकी सृष्टि की जिसमें वशिष्ठके गुरुकुलसे चली आती हुई परम्पराने काशी, तक्षशिला और नालन्दाके विश्वविश्रुत विद्या-केन्द्रोंकी पावन प्रेरणासे पूर्ण होकर, आधुनिक विश्वविद्यालयोंकी व्यापक ज्ञान-राशिका समन्वय करके, सुन्दर भारतीय विद्या-पीठका स्वरूप धारण कर लिया और जिसकी कल्पना उस दीन ब्राह्मण-बालकके मुखसे सुनकर सभी सहपाठी स्वाभाविक कुतूहलसे दृढ़ अविश्वासकी परिहासपूर्ण हँसी हँस देते रहे। किन्तु, मालवीयजीकी आशावादी महत्त्वाकांक्षाने उन उपेक्षाभरी हँसियों और ठिठोलियोंसे तनिक भी हतोत्साह न होकर अपनी स्वप्नमयी कल्पनाको निरन्तर चिन्तन और मित्रोंकी सम्मतिसे पोषित करके इतना शक्तिशाली कर लिया कि वह स्वप्न धीरे-धीरे अमूर्तसे मूर्त होकर, अप्रत्यक्षसे प्रत्यक्ष होकर दिखाई देने लगा।

पिताका प्रसाद

अनेक प्रकारकी पारिवारिक और आर्थिक अड़चनोंके होते हुए भी पं० व्रजनाथजीने अपने तृतीय पुत्र मदनमोहनकी महत्त्वाकांक्षाको कभी दुर्बल नहीं होने दिया। सामर्थ्य न होते हुए भी उन्होंने मालवीयजीको अँगरेज़ी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये प्रोत्साहन दिया किन्तु जबतक इन्होंने बी० ए० किया तब-तक परिवारकी शक्ति शिथिल हो चुकी थी। अत्यन्त अनिच्छापूर्वक इन्हें अपनी गृहस्थीका बोझ सँभालनेको विवश होना पड़ा और उन्होंने प्रयागके गवर्नमेंट स्कूलमें पचास रुपयेपर अध्यापन-कार्य स्वीकार करके नये दायित्वका भार सँभालना प्रारम्भ कर दिया।

अध्यापक, संपादक और वकील

सच्चरित्रता, मृदुभाषिता और पाण्डित्य—अध्यापकके इन तीन गुणोंसे अलंकृत होकर थोड़े ही दिनोंमें मालवीयजीके आकर्षक व्यक्तित्वने गवर्नमेंट स्कूलके पूरे वातावरणमें एक प्रकारका सांस्कृतिक प्रभाव उत्पन्न कर दिया। पढ़ानेके सहानुभूतिपूर्ण ढंगने और उनके कोमल स्निग्ध व्यवहारने छात्रोंको मंत्रमुग्ध कर दिया और वहाँके अधिकारी भी मालवीयजीसे इतने प्रसन्न हुए कि दो वर्षमें ही उनका वेतन पछत्तर रुपए हो गया। इस नून-तेल-लकड़ीके जकड़े हुए बन्धनमें भी मालवीयजीका स्वप्न रह-रहकर इन्हें व्याकुल कर रहा था किन्तु अभी समय नहीं जागा था, मुहूर्त नहीं बन पाया था। अचानक सन् १८८६ में कलकत्तेकी कांग्रेस हुई। वहाँ मालवीयजीके ओजस्वी भाषणने सहसा उन्हें उठाकर बहुत ऊँचे पहुँचा दिया और वे केवल अध्यापक न रह सके, देशके नेता बन गए। कालाकाँकरके राजा रामपालसिंहकी गुण-ग्राहकताने उन्हें दैनिक 'हिन्दुस्तान' सौंप दिया किन्तु राजा साहबकी तामसी दिनचर्यासे इनकी सात्त्विक दिनचर्या मेल न खा सकी और इसीलिये अकस्मात् एक दिन वे सम्पादनका परित्याग करके चले आए और उन्होंने वकालत पढ़नी प्रारम्भ की। सन् १८९१ ई० में वकालत पास करके वे पूरे वकील बन गए। यों तो शेरकोटकी रानीवाले मुकदमेने उन्हें यश दिया ही किन्तु उनकी वकालतकी सबसे अखण्ड कीर्ति है चौरीचौरावाला मुकदमा जिसमें उनकी तर्कपूर्ण वाणीने फाँसीपर झूलते हुए सैकड़ों कंठ उतार लिए, सैकड़ों माँगोंका सिन्दूर रख लिया, सैकड़ों हाथोंकी चूड़ियाँ बचा लीं और सैकड़ों नारियोंके सोहाग चिरजीवी करके उनका कृतज्ञतापूर्ण आशीर्वाद पाया।

हिन्दू-विश्वविद्यालयका व्रत

इसी वकालतके दिनोंमें मालवीयजीकी घनिष्ठता पण्डित (सर) सुन्दर-

लालसे बढ़ रही थीं और इस घनिष्ठताके फलस्वरूप भावी विश्वविद्यालयकी योजना भी कुछ मूर्त्त रूप धारण कर रही थी। अन्तमें मालवीयजीने देखा कि दिन बीत रहे हैं, तपस्याके बिना इतनी बड़ी योजना सफल नहीं हो पावेगी, बस वे सब कुछ छोड़कर अपनी जमी-जमाई वकालतको लात मारकर चल दिए—शिक्षाका व्रत लेकर। सन् १९०४ ई० में काशीनरेश महाराज सर प्रभुनारायणसिंहके सभापतित्वमें काशीके मिण्ट-हाउसमें सर्वप्रथम मालवीयजी-ने हिन्दू-विश्वविद्यालयकी विशाल योजना उपस्थित की जिसे सुनकर सभी स्तम्भित रह गए। किसीको भी विश्वास न हुआ कि पूर्व या पश्चिमकी समस्त विद्याओंको अपने भीतर पोषित करनेवाला इतना बड़ा विश्वविद्यालय किसी प्रकार भी बन पावेगा। अगले वर्ष सन् १९०५ में राष्ट्रिय महासभा(कांग्रेस) के अवसरपर ३१ दिसम्बर सन् १९०५ को काशीके टाउनहालमें सब धर्मोंके प्रतिनिधियों और भारतके प्रसिद्ध शिक्षा-प्रेमियोंके सामने यह योजना उपस्थित की गई, जहाँ एक स्वरसे सबने इसका हार्दिक समर्थन किया और फिर अगले दिन १ जनवरी सन् १९०६ को वहीं काँग्रेसके पण्डालमें ही हिन्दू-विश्वविद्यालय स्थापित करनेकी घोषणा कर दी गई। उसी वर्ष २० से २९ जनवरीतक प्रयागमें साधुओं तथा विद्वानोंकी सनातनधर्म-महासभामें यह प्रस्ताव स्वीकार हुआ कि—

(१) भारतीय विश्वविद्यालयके नामसे काशीमें एक हिन्दू विश्वविद्यालय-की स्थापना की जाय जिसके निम्नांकित उद्देश्य हों—

(अ) श्रुतियों तथा स्मृतियों-द्वारा प्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मके पोषक सनातनधर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये तैयार करना।

(आ) संस्कृत भाषा और साहित्यके अध्ययनकी अभिवृद्धि।

(इ) भारतीय भाषाओं तथा संस्कृतके द्वारा वैज्ञानिक तथा शिल्पकला-सम्बन्धी शिक्षाके प्रचारमें योग देना।

(२) विश्वविद्यालयमें निम्नाङ्कित संस्थाएँ होगी—

(अ) वैदिक विद्यालय

(आ) आयुर्वैदिक विद्यालय

(इ) स्थापत्य, वेद व अर्थशास्त्र-विभाग

(ई) रसायन-विभाग

(उ) शिल्प-विभाग

(ऊ) कृषि-विद्यालय

(ए) गन्धर्ववेद तथा ललितकला-विद्यालय

(ऐ) भाषा-विद्यालय

(ओ) धर्मविज्ञान विद्यालय आदि—

हिन्दू-विश्वविद्यालयकी त्रिवेणी

उसी वर्ष बंगभंग हुआ। स्वदेशी आन्दोलन छिड़ गया और सन् १९०७ में चारों ओर इतने विप्लवकारी आन्दोलन प्रारम्भ हुए कि हिन्दू-विश्वविद्यालयके बहुतसे समर्थक भारतसे निर्वासित कर दिए गए या जेलोंमें ठूँस दिए गए। हिन्दू-विश्वविद्यालयका विचार थोड़े दिनोंके लिये थपथपाकर सुला दिया गया। सन् १९११ में दरभंगा-नरेशका सनातनधर्म विद्यालय, डाक्टर एनी बेसेंटका थियोसोफ़िकल विश्वविद्यालय और मालवीयजीका हिन्दू विश्वविद्यालय तीनों आ मिले और हिन्दू-विश्वविद्यालयकी झोली लेकर ये शिक्षामहारथी निकल पड़े। समूचे भारतने इनका स्वागत किया और दो वर्षके भीतर भारतने इनकी थैलीमें एक करोड़से अधिक रुपया उदारता और श्रद्धासे डाल दिया।

हिन्दू-विश्वविद्यालयके उद्देश्य

सन् १९११ में जब विश्वविद्यालयकी नियमावली बनी तब उसमें हिन्दू-विश्वविद्यालयके निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित हुए—

१—हिन्दुओंकी सर्वोत्कृष्ट विचारधारा और संस्कृति तथा भारतकी प्राचीन सभ्यताकी सभी लोकमङ्गलकारी और महान बातोंकी रक्षा करने और उनका प्रचार करनेके साधन-स्वरूप हिन्दू शास्त्र और संस्कृत साहित्यके अध्ययनको प्रोत्साहन देना।

२—ज्ञान-विज्ञान अथवा विद्या और शास्त्रोंकी सभी शाखाओंके अध्ययन और उनके तात्त्विक विवेचनको आगे बढ़ाना।

३—आवश्यक व्यावहारिक शिक्षाके साथ ऐसी वैज्ञानिक, शिल्प-सम्बन्धी और व्यावसायिक विद्याओंको पढ़ाना और उनका प्रचार करना जिससे देशके देशी व्यवसायोंकी अभिवृद्धि हो और राष्ट्रकी धन-शक्ति बढ़े।

४—धर्म और सदाचारको शिक्षाका आवश्यक अंग बनाकर भारतके युवकोंमें चरित्रबल भरना।

हिन्दू-विश्वविद्यालयका उदय

इन उद्देश्योंसे अपनी शिक्षा-योजनाको अधिक उपयोगी और प्रभावशाली बनाकर वह शिष्टमण्डल भारत भरमें घूमा जिसमें भिखारीसे लेकर राजाओं तकने अत्यन्त श्रद्धा और विश्वासके साथ दान दिया क्योंकि जिस गतिसे अंगरेजीपन हमारे जीवनमें प्रविष्ट होता चला जा रहा था उससे सभी सशंक हो उठे थे और सभीकी यह इच्छा थी कि यदि योरपका प्रवेश हमारे देशमें

हो तो वह केवल अपने गुण लेकर ही हमारे घरमें पैठ सके, उसके दुर्गुण हमें स्पर्श न कर पावें। इस नई योजनाने इसी प्रकारका आश्वासन दिया था और उसी आश्वासनके आधारपर भारतकी सोई उदारता सहसा सावधान हो कर जाग उठी थी। उस योजनामें मालवीयजीका मूल विचार ही यह था कि मातृभाषा हिन्दी तथा संस्कृतके द्वारा विश्वविद्यालयमें सब प्रकारके ज्ञान-विज्ञानकी शिक्षा दी जाय। यह बात बार-बार सभी भाषणोंमें कही गई थी और इसी आधारपर भिक्षा भी माँगी गई थी किन्तु जब यूनिवर्सिटी चार्टर (विश्वविद्यालय अनुज्ञा) लेनेके सम्बन्धमें पूज्य मालवीयजी बड़े लाटके शिक्षामन्त्री सर हारकोर्ट बटलरसे मिले और उन्हें अपनी यह योजना बताई तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि 'यदि इस संस्थामें मातृ-भाषाके द्वारा पढ़ानेकी व्यवस्था रही तो सरकारसे कोई आशा न रखिएगा क्योंकि जिस समयतक आप अँगरेज़ीमें लिखते-बोलते और पढ़ते-पढ़ाते हैं तबतक तो हमें शान्ति रहती है क्योंकि उस समयतक हम आपकी सब बातें और चालें भली भाँति समझ सकते हैं और उसे सँभाल सकते हैं पर जिस समय आप अपनी भाषामें काम करना आरम्भ कर देते हैं तब उसका समझना हमारे लिये कठिन हो जाता है। इसलिये मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देनेकी अनुमति सरकारसे किसी दशामें नहीं मिल सकती।' मालवीयजी यह संकेत समझ गए और मातृभाषाके द्वारा शिक्षा देनेकी बात उस समय टाल दी गई किन्तु हिन्दू-विश्व-विद्यालयकी नियमावलीमें वह बात ज्योंकी त्यों बनी रही। श्रीशिवप्रसाद गुप्त सरकारी सहायताके बड़े विरोधी थे। वे किसी भी प्रकारसे सरकारका सहयोग नहीं चाहते थे और जब मालवीयजी महाराजने शिवप्रसादजीसे कहा कि वाइसरायने विश्वविद्यालयका संरक्षण प्रदान करनेका वचन दे दिया है तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और हठात् उनके मुँहसे निकल पड़ा—'दिस इज़ दि डेथ नेल औफ़ दि हिन्दू यूनिवर्सिटी' (यह हिन्दू विश्वविद्यालयकी मृत्यु-घोषणा है)। उसी समय लाहौरकी विराट् सभामें लाला लाजपतरायने भी कहा था—'चार्टर और नो चार्टर, हिन्दू यूनिवर्सिटी मस्ट ऐग्ज़िस्ट (चाहे चार्टर मिले या न मिले पर हिन्दू विश्वविद्यालय बनकर रहेगा)। अन्तमें १ अक्तूबर सन् १९१५ को हिन्दू यूनिवर्सिटी बिल स्वीकृत हुआ और ४ फ़रवरी सन् १९१६ को वसन्तपंचमीके दिन गंगाजीके तटपर काशी हिन्दू विश्वविद्यालयका शिलान्यास हुआ जिसमें देश भरके राजा, महाराजा, नेता, धर्मगुरु, विद्वान् बड़ी संख्यामें पधारे। उस उत्सवके विषयमें यह कहा जाता है कि सन् १९११ के दिल्ली–दरबारके पश्चात् जैसा उत्सव विश्वविद्यालवके शिलान्यासके अवसरपर हुआ वैसा फिर कभी देखा नहीं गया। इसी समय श्रीमती डा० एनी बेसेंट, डा० भगवानदास तथा सेंट्रल हिन्दू



पं० मदनमोहन मालवीय

कालेजके ट्रस्टियोंने अत्यन्त उदारतापूर्वक अपनी संस्था काशी हिन्दू-विश्वविद्यालयको अर्पित कर दी और सेण्ट्रल हिन्दू कालेज ही हिन्दू विश्वविद्यालयका पहला विद्यालय हुआ। फिर तो धीरे-धीरे नगवाकी १२०० एकड़ भूमिमें एक नगर सिर उठाने लगा। विशाल भवन एक-एक करके अमराइयोंके बीचसे झाँकने लगे। २० मील लम्बी सड़कें बन गई और अनेक विद्यालय, छात्रावास, गुरु-भवन और उपवन उसमें उदय हो-होकर उस तपोवनकी शोभा बढ़ाने लगे।

कुलपति मालवीयजी

इस नये गुरुकुल-संसारके पहले कुलपति हुए सर सुन्दरलाल, दूसरे हुए श्री शिवस्वामी ऐयर और तीसरे हुए स्वयं मालवीयजी और यहींसे उनके कुलपतित्व और विश्वविद्यालयका स्वर्णयुग प्रारम्भ हुआ। कुलपतिकी व्याख्या मनुने की है—

"ऋषीणां दशसाहस्रं योऽन्नदानादि पोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः॥"

[जो विप्रर्षि दस सहस्र ऋषियोंको अन्न-वस्त्र देकर पढ़ावे-लिखावे, उसे कुलपति कहते हैं।]

विश्वविद्यालयका भविष्य

यह सब होनेपर भी जो आदर्श मालवीयजी चाहते थे—तपोनिष्ठ तेजस्वी छात्र, त्यागी विद्यासिद्ध विद्वान्, सात्विक-जीवन—वह न प्राप्त हो सका क्योंकि महामना मालवीयजीको ठीक-ठीक सहयोग न मिल पाया। फिर भी यह विश्वविद्यालय भारतका क्या संसारका प्रसिद्ध विश्वविद्यालय है और इसके स्नातकोंने भारत और भारतके बाहर प्रायः सभी क्षेत्रोंमें बड़ा यश और सम्मान पाया है। इसमें धर्मविज्ञान, प्राच्य विद्या, शास्त्र (आर्ट्स), विज्ञान, यन्त्र, संगीत, न्यायनीति, आयुर्वेद आदि अनेक विद्यालय और बहुतसे छात्रावास हैं जिनमें लगभग आठ सहस्र छात्र पढ़ते और रहते हैं।

२७

भारतीय शिक्षामें राष्ट्रिय भावना

चिपलूणकर : गोखले : रैयत : व्रताचारी

सन् १८८० ई० में लोकमान्य तिलक, श्री आगरकर और श्री विष्णुशास्त्री चिपलूणकरके प्रयाससे पूनेमें 'न्यू इंगलिश स्कूल' की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य राष्ट्रिय शिक्षा देना था। सन् १८८५ ई० में इन्होंने सोचा कि एक समाज बनाकर पूनेमें सार्वजनिक विद्यालय खोल दिया जाय। यही विद्यालय था फर्गुसन कालेज, जिसमेंसे पराँजपे, गोखले, कर्वे, तिलक जैसे बड़े बड़े नेता निकले। इस प्रकारकी विद्यालय-व्यवस्थाका नाम चिपलूणकर-योजना पड़ गया।

चिपलूणकर-योजना

चिपलूणकर-योजनाकी विशेषता यह थी कि इस प्रकारके सब विद्यालय चन्दा देनेवालोंके द्वारा नहीं वरन् उन काम करनेवालोंके द्वारा ही व्यवस्थित होते हैं जो सेवा और आत्मत्यागका व्रत ले लेते हैं और लगभग २० वर्षतक नाममात्रके जीवन-यापन-योग्य वेतन लेकर सेवा करते हैं। इस संस्थाके द्वारा महाराष्ट्रके बड़े बड़े नेता, लेखक, साहित्यकार और देश-सेवक निकले हैं।

भारत-सेवक-समिति (सर्वेण्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी)

सन् १९०५ ई०में श्री गोपालकृष्ण गोखलेने भारत-सेवक-समिति (सर्वेन्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी) की स्थापना की जहाँ लोग कम वेतन लेकर देश-सेवा करते हैं। यह संस्था लोकप्रसिद्ध है और इसके प्रमुख सदस्योंमें महामाननीय श्रीनिवास शास्त्री तथा पं० हृदयनाथ कुंजरू प्रसिद्ध हैं। इस संस्थाका उद्देश्य राजनीतिक आन्दोलन करनेके बदले राजनीतिक शिक्षा देना है और इसमें कोई संदेह नहीं है कि अर्थ-शास्त्र और राजनीति-शास्त्रके जैसे धुरंधर पंडित यहाँसे निकले उतने किसी दूसरी संस्थासे नहीं।

रैयत-शिक्षण-संस्था

सन् १९१९ ई० में श्रीभाऊराव पटेलने निम्नलिखित उद्देश्योंसे सताराके पास रैयत-शिक्षण-संस्था स्थापित की—

१—शुद्ध शिक्षा-सुधारके उद्देश्यसे भारतकी जागरणशील पीढ़ीके लिये सामान्यतः, तथा सतारा जनपदके निवासियोंके लिये विशेषतः प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा प्रदान करना।

२—उपर्युक्त उद्देश्योंके लिये उपयुक्त अध्यापक तैयार करना।

३—ग्राम-सुधार तथा ग्रामोद्योगके लिये सेवक तैयार करना।

यह विद्यालय अत्यन्त सुन्दर स्थानमें नगरसे दूर बसा हुआ है जहाँ छोटे-छोटे भवन स्वयं छात्रोंने तैयार किए हैं। यहाँ खेती और उद्यान-कलाकी शिक्षा दी जाती है। यहाँ कोई भी वेतनभोगी कर्मचारी नहीं है। यहाँके सब लोग अनाज, तरकारी आदि स्वयं उत्पादन करते हैं, सब जाति और धर्मके विद्यार्थी एक साथ खाते-पीते, रहते और पढ़ते हैं। पारस्परिक प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता और विश्व-बन्धुत्वकी दृष्टिसे यह विद्यालय आदर्श है। विद्या और शिक्षाके प्रसारके लिये इस संस्थाने बड़ा कार्य किया है किन्तु दुःख यह है कि भारतके प्रान्तीय शिक्षा-विभागोंने इसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया।

व्रताचारी-समाज

बंगालमें व्रताचारी-आन्दोलन भी एक प्रकारका राष्ट्रिय शिक्षान्दोलन है। इसके कुछ विशेष आदर्श हैं और उन आदर्शोंको प्राप्त करनेके लिये एक व्यावहारिक क्रम है। व्रताचारी वह पुरुष है जो व्रत लेकर किसी आदर्शके अनुकूल उस आदर्शकी प्राप्तिके लिये शिक्षा ग्रहण करे।

उद्देश्य

व्रताचारी प्रणालीका उद्देश्य है पूर्ण मनुष्य बनाना और इसीलिये इसके शिक्षा-क्रममें ऐसे विषय हैं जिनसे मनुष्यकी सब शक्तियोंका एक साथ और समवेत विकास हो। इस प्रणालीमें जाति, धर्म अवस्था और लिंगका कोई भेद नहीं है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको पाँच व्रत लेने पड़ते हैं—

ज्ञान, श्रम, सत्य, एकता और आनन्द।

इस पंचांगी आदर्शको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक वयस्क व्रह्मचारीके लिये सोलह सरल और उत्साहवर्धक प्रण करने पड़ते हैं और सत्रह निषेधोंका पालन करना पड़ता है। अल्पवयस्क व्रताचारीको बारह प्रण करते पड़ते हैं।

सिद्धान्त

इस प्रणालीका मूल सिद्धान्त है बन्धुत्व, जो गीतों और शारीरिक व्यायामों-के तालसे उत्पन्न होता है। इस तालसे शरीर और मन दोनोंकी शिक्षा होती है, जड़ता दूर हो जाती है, श्रमके लिये शक्ति और तेज प्राप्त होता है, विचार और क्रियामें संतोष और उत्साह मिलता है। अतः इस प्रणालीमें तालका बड़ा महत्त्व है। शारीरिक स्वस्थताके लिये अन्य व्यायामोंकी अपेक्षा देशी खेल और ग्राम-नृत्योंको अधिक स्थान दिया गया है। इस आन्दोलनका मूल

श्री जी० एस्० दत्तकी उन विस्तृत खोजोंमें है जो उन्होंने सन् १९२१ ई० और ३२ के बीच ग्राम-गीतोंके सम्बन्धमें की थीं। यह आन्दोलन इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि बंगालके बाहर भी ऐसी संस्थाएँ खोली जाने लगीं।

प्रण

इस प्रणालीके निम्नलिखित १६ प्रण हैं—

१—ज्ञानकी परिधि बढ़ाना।

२—जंगल और काई दूर करना।

३—श्रमका आदर करना।

४—तरकारी और फल उगाना।

५—प्रकाश और वायुकी स्वतन्त्र गति रखना।

६—पशु-पालन।

७—जल शुद्धि।

८—स्वच्छता।

९—शारीरिक व्यायाम और खेलकी वृद्धि।

१०—स्त्रियोंका उद्धार।

११—विवाहके पूर्व कमाना।

१२—हस्तकौशल या उद्योग सीखना।

१३—समयका पालन करना।

१४—दूसरोंकी सेवा करना।

१५—बन्धुत्व और समान-नागरिकताकी भावना बढ़ाना।

१६—आनन्दकी भावना बढ़ाना।

[महिलाओंके लिये ग्यारहवें प्रणके बदले होगा—शीलयुक्त व्यवहार]

इनके अतिरिक्त कुछ और भी प्रण हैं—

१—वस्तुएँ व्यर्थ न फेंकना।

२—परिपाटीका पालन करते हुए आगे बढ़ना।

३—नेताकी आज्ञा मानना।

४—आचार्यकी प्रेरणासे कार्य करना।

निषेध

इस प्रणालीमें निम्नलिखित सत्रह निषेध हैं—

१—धोतीका पल्ला नहीं लटकाऊँगा।

२—खिचड़ी भाषा नहीं बोलूँगा।

३—शरीर मोटा नहीं होने दूँगा।

४—बिना भूखके नहीं खाऊँगा।

५—आयसे अधिक व्यय नहीं करूँगा।

६—कोई भी विघ्न-बाधा आ पड़नेपर डरूँगा नहीं।

७—विलास-प्रिय नहीं बनूँगा।

८—क्रोध आनेपर भी क्रोध-प्रदर्शन नहीं करूँगा।

९—विपत्तिमें भी मुस्कराना नहीं भूलूँगा।

१०—अभिमानसे फूलूँगा नहीं।

११—विचार और भावमें भी असत्यता नहीं लाऊँगा।

१२—किसीसे दुःशील व्यवहार नहीं करूँगा।

१३—कभी भाग्य और दैवपर भरोसा नहीं करूँगा।

१४—बिना परिश्रम किए नहीं बैठूँगा।

१५—असफलतासे पराजित नहीं होऊँगा।

१६—जीविकाके लिये भिक्षा नहीं माँगूँगा।

१७—अपने वचन नहीं तोड़ूँगा।

महिलाओंके लिये विशेष निषेध

महिलाओंके लिये इन निषेधोंमेंसे १ और ३ संख्यक निषेध इस प्रकारसे होंगे—

१—किसीकी अत्यंत कोमलता और उपचारसे पिघलूँगी नहीं।

२—गृहस्थीका काम छोड़कर इधर-उधरका कोई काम नहीं करूँगी।

प्रवेश-संस्कारके समय

इसके अतिरिक्त प्रवेश-संस्कारके समय स्वीकार किए जानेवाले और भी नियम हैं। जैसे—

१. एक बारसे अधिक या आवश्यकतासे अधिक ऊँचे स्वरसे न बोलना।

२. किसी प्रकारके शारीरिक कार्यसे घृणा न करना या दूसरेपर अवलंबित न होना।

३. प्रतिदिन कुछ न कुछ नया सीखना।

४. कोई न कोई दोष नित्य छोड़ देना।

अल्पवयस्क व्रताचारीके नियम

अल्पवयस्क या छोबास व्रताचारीके लिये निम्नलिखित बारह प्रण हैं—

१—मैं दौड़ूँगा, खेलूँगा और हँसूँगा।

२—मैं सबसे प्रेम करूँगा।

३—मैं बड़ोंका कहना मानूँगा।

४—मैं पढ़ूँगा, लिखूँगा और सीखूँगा।

५—मैं जीवोंपर दया करूँगा ।

६—मैं सत्य बोलूँगा ।

७—मैं सत्यपर चलूँगा ।

८—मैं अपने हाथसे सब वस्तुएँ बनाऊँगा ।

९—मैं अपना शरीर पुष्ट करूँगा ।

१०—मैं सदा अपने दलके लिये लड़ूँगा ।

११—मैं अपने अंगोंसे श्रम करूँगा ।

१२—मैं प्रसन्न होकर नाचूँगा ।

विश्लेषण

इस प्रणालीकी प्रशंसा रवीन्द्रनाथ टैगोर, सर राधाकृष्णन्, सर माइकेल सैडलर, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि बड़े-बड़े शिक्षा-शास्त्रियोंने की है। किन्तु जहाँ इतने अधिक नियम हों, व्रत हों और प्रण हों उनका पालन करना सरल कार्य नहीं है और इसीलिये यह प्रयोग सार्वजनिक और व्यापक रूपसे संभव नहीं है किन्तु कुछ आश्रमोंमें विशेष शिक्षा देकर तैयार करनेके लिये इसका प्रयोग निश्चित रूपसे किया जाना चाहिए।

२८

कन्याओंकी शिक्षा

कर्वे : वनस्थली : सेवासदन : लेडी इरविन कालेज

हमारे देशमें कन्याओंकी शिक्षाकी जो दुर्दशा है और हो रही है वह देश और शासनके लिये अत्यन्त लज्जाकी बात है। अभीतक भी हमारे देशके उद्धारकोंने न तो कन्याओंके लिये ठीक पाठ्यक्रम बनाया, न कन्या-शिक्षाका निश्चित उद्देश्य स्थिर किया और न उनकी शिक्षाकी ठीक व्यवस्था की। कन्याओंके लिये जो पाठ्यक्रम निर्धारित किए गए वे सभी अधूरे अव्यवस्थित, उद्देश्यहीन तथा निरर्थक थे। स्त्रीत्वमें सद्‌गृहस्थ माता, भार्या और गृहिणीकी जो समर्थताएँ होनी चाहिएँ उनकी पूर्त्तिके लिये ठीक विधान नहीं बनाया जा सका। कुछ लोगोंने गार्हस्थ्य-शास्त्रका अर्थ भोजन बनाना, कपड़े धोना, घरके आय-व्ययका ब्यौरा रखना और बच्चोंको सँभालना मात्र समझा, किसीने उनके लिये संपूर्ण शरीर-शास्त्र, ओषधि-शास्त्र, धातृ-विद्याको ही गार्हस्थ्य-शास्त्र समझ लिया। परिणाम यह हुआ कि गृह-विज्ञानके नामपर एक लंबा-चौड़ा आयुर्वेद-शास्त्रका पाठ्यक्रम बना दिया गया। इन सज्जनोंने यह भी सोचनेका कष्ट नहीं किया कि गार्हस्थ्य है क्या।

गार्हस्थ्य-शास्त्र किसके लिये

गृहस्थीसे संबंध रखनेवाली जितनी बातें हैं वे केवल कन्याओंको ही नहीं, पुरुषोंको भी आनी चाहिएँ। पुरुष और स्त्रीको मिलाकर गृहस्थी बनती है। भोजन बनाना मुख्यतः स्त्रीका काम भले ही हो पर इसका यह अर्थ नहीं है कि पुरुष भोजन बनाना न जानें। स्त्री कभी अपने पिताके घर जाती है, रुग्ण हो सकती है, अधिक गर्भभारके कारण अशक्त हो सकती है, उस समय पतिको उसकी सहायताके लिये घरके सब काम काज देखने ही चाहिएँ। इसी प्रकार रोगी-परिचर्या भी दोनोंको जाननी चाहिए। बच्चोंकी देखरेख और पालन-पोषणका ढंग भी दोनोंको आना चाहिए इसलिये गृह-विज्ञान केवल कन्याओंको ही नहीं लड़कोंको भी सिखानी चाहिए और यह पाठ्यक्रम बालकों और बालिकाओंके लिये अनिवार्य होना चाहिए।

स्त्री-शिक्षामें फिर क्या हो !

उपर्युक्त प्रस्ताव सुनकर आप पूछ सकते हैं कि फिर कौन सी ऐसी वस्तु है, कौन-सा ऐसा विषय है जो विशेषतः स्त्रियोंको सिखाया जाय। हम ऊपर बता आए हैं कि स्त्री तो गृहिणी, माता और भार्याका महिम्न पद लेकर गृह-लक्ष्मी तथा गृह-स्वामिनी बनकर घरमें रहती है। अतः पाठ्य-विषयके कितने विषय वह पढ़े या न पढ़े, यह तो उसकी इच्छापर छोड दिया जाय किन्तु सबसे अधिक मुख्य बात तो यह है कि कन्याको राष्ट्र, समाज, जाति और कुलकी पवित्र धरोहर समझकर उसकी व्यापक पूर्णतापर अवश्य ध्यान देना चाहिए, अर्थात् उसे इस प्रकारके वातावरणमें रखना चाहिए जहाँ स्नेह, सेवा, त्याग, श्रम और पारस्परिक आदरका भाव हो क्योंकि उसे इन्हीं भावोंके पोषणसे अपनी गृहस्थी सुखी और समृद्ध करनी है। अतः शिक्षा-शास्त्रियोंको ऐसे नारी-आश्रम खोलने चाहिएँ जहाँ कन्याएँ थोड़ा-बहुत लिखना पढ़ना सीखनेके साथ उपयुक्त भावोंके पोषणके अधिकसे अधिक अवसर प्राप्त कर सकें। उन्हें मातृ-मन्दिरों तथा अनाथालयोंमें सेवा करने भेजना चाहिए और प्रारंभसे ही आश्रमको सुस्थिर रखनेका भार भी उन्हें दे देना चाहिए।

कन्या-शिक्षालयोंके प्रबन्धमें पुरुषोंका हस्तक्षेप न हो

इस संपूर्ण योजनामें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि चाहे राजकीय संस्था हो या लोकसंस्था हो, किन्तु कन्याओंकी शिक्षा-संस्थाओंमें किसी भी पुरुषका किसी प्रकारका भी हाथ न हो चाहे वह पुरुष कितना भी बड़ा क्यों न हो। हमें अत्यन्त खेद और लज्जाके साथ यह लिखना पड़ रहा है कि कन्याओंकी जिन संस्थाओंके प्रबन्धमें पुरुषोंका हाथ रहा है उनमें अनेक प्रकारकी अव्यवस्थाएँ और विषमताएँ उत्पन्न हो गई हैं। कभी-कभी तो ऐसे-ऐसे झगड़े उपस्थित हो जाते हैं जो उस संस्थाको भी ले डूबते हैं।

हमारी जनता

अभी हमारे देशकी जनताने कन्या-शिक्षाका भाव ठीक-ठीक अपनाया नहीं है। हमारे समाजमें अभी ऐसे-ऐसे लोग हैं जो समझते हैं कि विद्यालयोंमें पढ़नेवाली कन्याएँ और पढ़ानेवाली अध्यापिकाएँ सब दूषित हैं। यदि कोई महिला सार्वजनिक रूपसे सेवा करती हो और किसी कार्यकर्त्ताके साथ आती-जाती, उठती-बैठती, बात-चीत करती देख ली गई तो हमारे शिक्षित बन्धु भी उसपर आँखों-देखी काथाएँ गढ़कर, उसके चरित्रपर लांछन लगानेमें तनिक भी संकोच नहीं करते। ऐसी स्थितिमें कन्या-शिक्षाकी व्यवस्था करना साधारण बात नहीं है। हमारे राज्याधिकारी लोग तो सब धान बाइस पसेरी करके



गोखले

कन्याओंके लिये विद्यालय खोलकर अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझ बैठे हैं और जैसे सरकारी नौकरियोंमें अंग्रेजोंके समय लोग इधर-उधर बदले जाते थे वैसे ही अध्यापिकाओंको भी बदल देते हैं। इससे अध्यापिकाओंको जो असुविधा होती है वह तो होती ही है, साथ ही विद्यालयोंमें ठीक तथा स्थिर वातावरण नहीं बन पाता। एक अध्यापिका अपने परिश्रम और शीलसे जो वातावरण बना लेती है वह उसके बदलते ही समाप्त हो जाता है। अतः हमें अपने देशकी जनताको और राज्याधिकारियोंको भी थोड़ी बुद्धि देनी चाहिए जिससे वे अपना व्यवहार और कर्तव्य भली प्रकार समझ लें।

हमारे देशमें स्त्रियोंकी शिक्षाके लिये जो विशिष्ट प्रयोग किए गए हैं, वे नीचे दिए जाते हैं—

आचार्य कर्वेका महिला विश्वविद्यालय

आचार्य कर्वेने दीन विधवाओंकी करुण-कथासे प्रभावित होकर उनके लिये पूनेमें एक छोटासा विद्यालय, छात्रावास, प्रारंभिक पाठशाला, माध्यमिक पाठशाला और शिक्षण-कला-विद्यालय खोल दिया था। इस संस्थाकी लोकप्रियतासे प्रभावित होकर आचार्य कर्वेने यह निश्चय किया कि एक पाठ्य-क्रमके द्वारा कन्याओंको ऐसी उच्च शिक्षा क्यों न दी जाय कि १८ वर्षकी अवस्थासे पहले ही वे गृहिणी और माताकी सब शिक्षा प्राप्त कर चुकें। इसी उद्देश्यसे सन् १९१६ ई० में पूनेमें 'इण्डियन वीमेन्स यूनिवर्सिटी' ('भारतीय महिला-विश्व-विद्यालय) की स्थापना हुई और पिछले ३५ वर्षोंमें इस संस्थासे कई सहस्र छात्राओंने उच्च शिक्षा प्राप्त की। आचार्य कर्वेकी इन संस्थाओंने मौन सामाजिक क्रान्ति भी की और उनकी संस्थाओंके कारण दक्षिणकी महिलाओंमें बड़ी जागर्ति भी हुई। इस विश्वविद्यालयके उद्देश्य ये हैं—

१—वर्तमान भारतीय भाषाओंके माध्यमसे स्त्रियोंको उच्चतर शिक्षा देना।

२—महिलाओंकी आवश्यकताओंके अनुकूल पाठ्यक्रम बनाना और पूर्ण विश्वविद्यालय-शिक्षाको नियमित करनेके लिये नई संस्थाएँ स्थापित करना, चलाना और उन्हें सम्बद्ध करना।

३—प्रारम्भिक और माध्यमिक विद्यालयोंके लिये अध्यापिकाओंकी शिक्षाका प्रबन्ध करना।

४—नियमानुसार उपाधि, प्रमाण-पत्र, पद तथा अन्य प्रकारके सम्मान प्रदान करना।

इस समय इस संस्थाके अन्तर्गत १९ संस्थाएँ काम कर रही हैं।

वनस्थली-विद्यापीठ

जयपुर राज्यमें कन्याओंकी शिक्षाके लिये 'वनस्थली विद्यापीठ' नामसे एक संस्था खुली है जिसमें ७ वर्षसे ऊपरकी अविवाहिता कन्याएँ ली जाती हैं यद्यपि ऊपरकी कक्षाओंमें विवाहिता कन्याएँ भी ली जा सकती हैं।

उद्देश्य तथा शिक्षण-क्रम

विद्यापीठका उद्देश्य छात्राओंको ऐसी शिक्षा देना है जिससे वे न केवल सफल गृहिणी और माता बन सकें वरन् जागरूक और सफल नागरी भी बनें। इसी उद्देश्यसे भारतीय संस्कृति और विशुद्ध राष्ट्रियताके आधारपर विद्यापीठने पंचमुखी शिक्षाक्रमका निर्माण किया है, जिसके पाँच अंग इस प्रकार है--

(१) नैतिक शिक्षा

इसके द्वारा छात्राओंके चारित्र्य-निर्माणका प्रयत्न किया जाता है।

(२) शारीरिक शिक्षा

इसमें विभिन्न प्रकारके व्यायाम, तैरना, घुड़सवारी, साइकिल-सवारी आदि सम्मिलित हैं। इसका उद्देश्य छात्राओंको साहसिनी, स्फूर्तिमती और स्वस्थ बनाना है।

(३) गृहस्थ-शिक्षा

इसमें भोजन बनानेसे लेकर सीने, कसीदा करने और कातनेतक घरके सब आवश्यक कामकाजका समावेश किया गया है, जिससे छात्राओंमें घरके और हाथके कामोंमें रुचि उत्पन्न हो सके।

(४) ललितकला-शिक्षा

इसमें चित्रकला और संगीतका समावेश किया गया है, जिससे छात्राओंके जीवनमें सुरुचि, सौन्दर्य तथा माधुर्य उत्पन्न हो सके।

(५) पुस्तकीय शिक्षा

इसमें उन सब विषयोंकी शिक्षा दी जाती है जो छात्राओंके बौद्धिक विकास और ज्ञान-संपादनमें सहायक हो सकें।

शिक्षाक्रमका विभाजन

विद्यापीठका समूचा शिक्षाक्रम दो विभागोंमें बांटा गया है—१. संस्कृत विभाग तथा २. बाह्य परीक्षा विभाग।

संस्कृत-विभाग

इस विभागमें शिक्षाके पाँचों अंगोंके लिये विद्यापीठका अपना स्वतन्त्र पाठ्यक्रम है और वह १ से ८ कक्षाओंमें बाँटा गया है।

बाह्य परीक्षा-विभाग

जहाँतक पुस्तकीय शिक्षाका सम्बन्ध है, इस विभागमें प्रचलित हाई स्कूल, इन्टरमीजिएट तथा बी० ए० की परीक्षाओंके लिये छात्राएँ तैयार की जाती हैं। शिक्षाके दूसरे चार अंगोंकी स्वतन्त्र व्यवस्था विद्यापीठकी अपनी है।

उपर्युक्त परीक्षाओंके अतिरिक्त विद्यापीठमें जे० जे० स्कूल ऑफ़ आर्टस् बम्बईकी ड्राइंग (चित्रकला) परीक्षा, निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद-सम्मेलन तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनकी आयुर्वेदकी परीक्षाओंके लिये भी छात्राओंको तैयार किया जाता है। भातखंडे यूनिवर्सिटी, लखनऊकी संगीतकी परीक्षाओंके लिये भी छात्राओंको तैयार करनेकी व्यवस्था है।

इस पाठ्यक्रमके दोष

इस पाठ्यक्रममें दो बड़े दोष हैं। एक तो यह कि महिलाओंके शारीरिक व्यायाममें घुड़सवारी आदि ऐसे व्यायाम भी हैं जो पुरुषोंके लिये ही उपयुक्त हैं, और जिनसे कन्याओंकी स्वाभाविक कोमलता नष्ट हो जाती है। दूसरा महादोष यह है कि यहाँ भी अन्य विश्वविद्यालयों तथा बोर्डोंकी परीक्षाओंके लिये छात्राओंकी शिक्षा दी जाती है—यह एक प्रकारका ऐसा द्वैध है जिसका कोई समाधान और समर्थन नहीं किया जा सकता और जिससे अन्य उद्देश्य स्वतः नष्ट हो जाते हैं क्योंकि परीक्षा ही वर्त्तमान प्रणालीका सबसे बड़ा पाप है। वह यदि बनी रहती है तो सुधार क्या हुआ ?

आर्य कन्या-पाठशाला, बड़ोदा (बड़ोदरा)

बड़ोदेमें जो आर्य-कन्या-विद्यालय है वहाँ भी जो कन्याओंको सैनिक शिक्षा दी जाती है और उन्हें नीला जाँघिया पहनाकर घुमाया जाता है—इसका भी किसी प्रकारसे समर्थन नहीं किया जा सकता। महिलाओंकी शिक्षाके संबंधमें शिक्षा-विशारदोंको स्वस्थ चित्तसे नीति-निर्धारण करनी चाहिए और तदनुसार देश भरमें उसी उद्देश्यसे शिक्षा दिलानेकी व्यवस्था करनी चाहिए। एक सनक लेकर विद्यालय खोल देना बड़ा घातक प्रयोग है।

पूना-सेवा-सदन

पूनेमें न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडेकी धर्मपत्नी श्रीमती रमाबाईने प्रौढ़ महिलाओंको शिक्षित करनेके लिये सेवा-सदनकी स्थापना की थी जिसमें

स्त्रियोंको लिखना-पढ़ना और गणित सिखानेके अतिरिक्त सीने-पिरोने और संगीतकी शिक्षा भी दी जाती थी। पीछे सर्वेण्ट्स औफ़ इण्डिया सोसाइटीके सदस्य श्रीदेवधरके प्रयाससे इसमें एक अध्यापिका-विद्यालय और एक हाई स्कूल भी खुल गया और अब यह संस्था दक्षिणमें महिलाओंकी शिक्षाका प्रमुख केन्द्र मानी जाती है।

लेडी इरविन कालेज, दिल्ली

अखिल भारतीय महिला-सम्मेलन (औल इंडिया वीमेन्स कौन्फ़रेन्स) के निर्णयानुसार दिल्लीमें लेडी इरविन कालेजकी स्थापना की गई। वहाँकी नियमावलीकी प्रस्तावनामें लिखा है—"भारतीय युवतियोंके लिये लेडी इरविन कालेज ही ऐसी प्रथम संस्था है जिसने भारतीय परिस्थितिके अनुकूल गार्हस्थ्य-शास्त्रकी वैज्ञानिक और व्यावसायिक शिक्षा देनेकी आवश्यकता समझी है।

उद्देश्य

इस विद्यालयका पाठ्यक्रम इस आधारपर बनाया गया कि वहाँ महिलाओंको ऐसी शिक्षा और सुविधा प्रदानकी जाय कि वे—

(अ) योग्य पत्नी, योग्य माता और समाजकी उपयोगी सदस्या बन सकें।

(आ) कन्या पाठशालाओंमें जाकर गार्हस्थ्य-शास्त्रकी योग्य अध्यापिका बन सकें।

शिक्षाक्रम

इस विद्यालयके दो विभाग हैं—गृह-विज्ञान और अध्यापन-शिक्षा। गृह-विज्ञानका शिक्षाक्रम दो वर्षका है और उसके आगे एक वर्षतक अध्यापन-कलाकी शिक्षा दी जाती है। किन्तु यह पिछला अध्यापन-कलाका शिक्षाक्रम ऐच्छिक है। इस विद्यालयमें १८०) प्रति वर्ष तो शुल्क देना पड़ता है और छात्रावासका व्यय भी लगभग ७५) मासिक पड़ता है। हमारे दीन देशकी कन्याएँ अपने घर रहकर अपनी माताओंसे जितना गृहविज्ञान सीख लेती हैं उसके आंशिक तथा आडम्बरपूर्ण परिचय मात्रके लिये उसे यहाँ इतना व्यय करके भेजना भयंकर मूर्खता है और विशेषता तो यह है कि यह विद्यालय चलाया गया है अखिल भारतीय महिला-सम्मेलनकी प्रेरणासे।

गृह-विज्ञान

इस विद्यालयके गृह-विज्ञानके शिक्षा-क्रममें निम्नलिखित विषय सिखाए जाते हैं—

१—रसोईका काम—जिसमें चटनी, अचार, मुरब्बा, पनीर आदि बनाना

तथा पश्चिमी और भारतीय सलाद बनाना भी है। इसमें पूर्वी और पश्चिमी दोनों ढंगके भोजनालयोंके कामकी शिक्षा दी जाती है।

२—भोजन-शास्त्रका ज्ञान।

३—गृहस्थीकी सँभाल, जिसमें हिसाब-किताब आदि भी है।

४—साधारण जीवाणु तथा कीट-शास्त्र जिसमें अनेक प्रकारके कीड़ों और जीवोंका वैज्ञानिक विवेचन और इतिहास पढ़ाया जाता है।

इसके अतिरिक्त, स्वास्थ्य, कपड़े धोना, रँगना तथा सिलाई-बुनाई-कढ़ाई आदि सब प्रकारका काम सिखाया जाता है और इन सबपर वैज्ञानिक पुट देनेके लिये कुछ भौतिक और रसायन-शास्त्र भी सिखाया जाता है।

अध्यापन-कला

अध्यापन-कलाके अन्तर्गत तो ये ही सब बातें हैं—शिक्षाके सिद्धान्त, स्वास्थ्य-विज्ञान, अध्यापन-कला तथा सूईका काम।

विश्लेषण

इस पाठ्यक्रममें कुछ विषय अनावश्यक और अधिक भी रक्खे गए हैं। जब भारतीय परिस्थितिके अनुकूल शिक्षा देना इसका उद्देश्य है तो इसमें विदेशी भोजनालयकी प्रथाका शिक्षण क्यों किया जाता है। इसमें १००)के बिजलीके चूल्हे हैं जिनपर ये भारतकी भावी पत्नियाँ और माताएँ रोटी सेंकना सीखती हैं। कपड़े धोनेके यन्त्र भी कम मूल्यवान नहीं है। इसके अतिरिक्त कीटाणुओंके इतिहास और भौतिक तथा रसायन-शास्त्रके अध्ययनका निरर्थक पचड़ा बढ़ाकर पाठ्यक्रमको दुरूह करनेका अर्थ क्या है! बड़े आश्चर्यकी बात है कि भारतकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थितिसे अत्यन्त प्रतिकूल शिक्षा देनेवाली यह संस्था भारतकी राजधानीमें पोषित की जा रही है और वह भी अखिल भारतीय महिला-सम्मेलनकी ओरसे।

व्रताचारी-समाजमें कन्याओंकी शिक्षा

व्रताचारी समाजने कन्याओंकी शिक्षाके लिये जो प्रण और निषेध स्थिर किए हैं उनका विवरण पिछले अध्यायमें दिया जा चुका है।

कन्या-शिक्षामें ताल-युक्त-व्यायाम (यूरिद्‌मिक्स)

यों तो पुरुषों और स्त्रियों दोनोंके लिये क्रमशः ताण्डव और लास्यकी क्रियाएँ शरीरमें स्फूर्ति देने और शरीरको सुन्दर बनानेमें अत्यन्त योग देती हैं किन्तु विद्यालयके वातावरणको अधिक नियमित, संगीतमय और तालमय करनेके लिये एक नई प्रणाली चली है ताल-युक्त व्यायामकी, जिसमें छात्रोंका

एक दल ढोल और बाजे बजाता है और विद्यालयके सब छात्र सामूहिक रूपसे उसके साथ गाते और व्यायाम करते हैं। कभी-कभी ग्रामोफ़ोन मशीनमें किसी गतका तवा (रेकार्ड) लगा दिया जाता है और सब विद्यार्थी तदनुसार या तो पैर मिलाकर तालके साथ चलते हैं या आंगिक व्यायाम करते हैं। इस प्रकारके व्यायामसे संगीतका भी आनन्द चलता रहता है और शरीरकी चेष्टाएँ भी तालसे बँध जाती हैं। इस प्रकारके व्यायाम चलानेसे बालकोंकी अरुचि भी दूर हो सकती है और घरके वातावरणकी स्मृति भी दूर हो सकती है। आज-कल लेज़िमके साथ बच्चोंके विद्यालयोंमें उत्तर-प्रदेशमें इसका सफल प्रयोग हो रहा है। कन्याओंके विद्यालयोंमें अन्य व्यायामोंके बदले इसका प्रयोग निश्चित रूपसे अधिक लाभकर सिद्ध होगा।

२९

शिक्षामें शिल्प और शारीरिक श्रम

गांधीजीकी वर्धा-योजना : दिल्लीका बहुशिल्प-विद्यालय

महात्मा गाँधीका प्रस्ताव

२२ और २३ अक्तूबर सन् १९३७ ई० को वर्धाके मारवाड़ी हाई स्कूल (अब नवभारत विद्यालय) में महात्मा गाँधीके सभापतित्वमें भारतके शिक्षा-शास्त्रियोंकी एक सभा हुई जिसमें गाँधीजीने अपनी शिक्षा-योजना उपस्थित की। उनके अनुसार यह योजना (१) मुख्यतः गाँवोंके लिये है जहाँ नगरोंकी अपेक्षा शिक्षाका अधिक अभाव है, (२) इसका उद्देश्य यह है कि काम-चलाऊ शिक्षा, अक्षर-ज्ञान तथा किसी उपयोगी कौशलका ज्ञान कराया जाय, (३) यह शिक्षा कर-दाताओंपर भार न होकर स्वावलम्बी हो और (४) इसके द्वारा गाँवोंको छोड़कर नगरोंमें जाकर बसनेकी प्रवृत्ति रोकी जाय।

वर्धा-शिक्षा-योजना

इस योजनाकी विशेषता यह है कि इसमें सब ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षा एक मूल हस्त-कौशलपर अवलम्बित तथा उससे सम्बद्ध होती है अर्थात् भाषा, इतिहास, भूगोल, संगीत सबका सम्बन्ध उस मूल हस्त-कौशलसे होता है जो बालकने स्वीकार किया हो। इन मूल हस्त-कौशलोंमें कताई-बुनाई, खेती-बारी, बढ़ईगिरी इत्यादि अनेक हस्त-कौशल आ सकते हैं। यह योजना पेस्टालौज़ी महोदयके शिक्षण-सिद्धान्तोंका तथा प्रयोग-प्रणालीका भारतीय रूपान्तर मात्र है।

योजनाके उद्देश्य, सिद्धान्त और अंग

जब सन् १९३७में भारतके सात प्रान्तोंमें कांग्रेसी सरकार स्थापित हुई थी उस समय तत्कालीन शिक्षा-प्रणालीको बदलनेकी व्यवस्था भी की गई और प्रत्येक प्रान्तमें भारतके इन चार कष्टोंको दूर करनेकी दृष्टिसे वर्धा-शिक्षा-योजना अपनाई गई थी—१ दरिद्रता, २ निरक्षरता, ३ परतन्त्रता और ४ स्कूलोंकी नीरसता। यह प्रणाली चार मुख्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर अवलंबित करके बनाई गई—१. स्वयं-शिक्षा (औटो-एजुकेशन), २. करना और सीखना (लर्निंग बाइ डुइंग), ३. आवयविक शिक्षा (सेन्स ट्रेनिंग) तथा ४. श्रमका आदर

(डिगनिटी औफ़ लेबर)। इनको ध्यानमें रखते हुए इस प्रणालीके चार अंग भी निर्धारित किए गए—

१—अनिवार्य शिक्षा, २—मातृ भाषाके द्वारा, ३—किसी हस्त-कौशलपर अवलंबित तथा ४—स्वावलम्बी।

हस्त-कौशलके चुनावमें यह प्रतिबन्ध लगा दिया कि केवल वही हस्त-कौशल शिक्षाका आधार बनाया जाय जिसमें शिक्षाकी अधिकसे अधिक संभावनाएँ (मैक्सिमम एजुकेटिव पौसिबिलिटीज़) निहित हों अर्थात् जिसके आधारपर पाठ्यक्रमके सभी या अधिकसे अधिक विषय पढ़ाए जा सकें।

पाठ्य विषय

पाठ्य विषयोंमें निम्नलिखित विषय निर्धारित किए—मातृभाषा, हिन्दुस्तानी, व्यावहारिक गणित, सामाजिक अध्ययन (इतिहास, भूगोल तथा नागरिक-शास्त्र), संगीत, हस्तकौशल तथा व्यायाम। मानव-मात्रके उपयोगमें आनेवाले सभी विषयोंका समावेश इस सूचीमें हो गया। किन्तु जो पाठन-समयकी अवधि बनाई गई वह इतनी विषम थी कि आधे समयमें हस्त-कौशल रक्खा गया और आधेसे कममें शेष अन्य विषय। इस योजनाके निर्माणके अनन्तर जब शिमलेमें इसकी सभा बैठी तो उसने यह निर्णय कर दिया कि इस योजनाको स्वावलंबी नहीं बनाया जा सकता और इस निर्णयके आधारपर चौथा अंग अलग कर दिया गया। किन्तु इस अंगके अलग कर देने मात्रसे ही कार्य सम्पन्न नहीं हुआ क्योंकि तीन घंटे बीस मिनटतक चरखा चलाना या अन्य हस्तकौशलमें समय लगाना भी तो मनोविज्ञानके सिद्धान्तोंके प्रतिकूल था। हाथका ही काम क्यों न हो किन्तु उसमें भी तो एकाग्रता निःसीम नहीं होती, उसकी भी अवधि होती है। इसीलिये उत्तरप्रदेशमें आधार-शिक्षा या बुनियादी तालीम और मध्यप्रान्तमें विद्यामन्दिर योजनाके नामसे जब वर्धा-प्रणाली चलाई गई तो उन्होंने हस्त-कौशलकी अवधि कम कर दी।

वर्धा-योजनाका मौलिक रूप

वर्धा-योजना जिस मूल रूपमें प्रस्तुत हुई थी वह उस समितिके संयोजक डा० ज़ाकिर हुसेनके विवरणमें पूरी प्राप्त होती है, इसलिये नीचे मूल रूपमें वह योजना दी जाती है—

पहिला हिस्सा

बुनियादी उसूल, आजकलकी तालीमका तरीका, महात्मा गान्धीकी रहनुमाई, स्कूलोंमें हाथका काम, दो ज़रूरी शर्तें, नागरिकताका वह ख़याल जो



राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी

इस स्कीममें सामने रक्खा गया है और अपना खर्च आप निकालना इस स्कीमकी बुनियाद है ।

दूसरा हिस्सा

मक़सद या ध्येयः, बुनियादी दस्तकारी, मातृभाषा, गणित, समाजका इल्म, साधारण विज्ञान, ड्राइंग, संगीत और हिन्दुस्तानी ।

तीसरा हिस्सा

अध्यापकोंकी ट्रेनिंगका पूरा कोर्स और अध्यापकोंकी ट्रेनिंगका छोटा कोर्स

चौथा हिस्सा

(क) निगरानी और (ख) इम्तिहान

पाँचवाँ हिस्सा

कताई और बुनाईका सात सालका कोर्स, हर विद्यार्थीकी पाँच सालकी आमदनी, बुनाईका खाता, नेवाड़ और दरीकी बुनाई, सात सालकी कुल आमदनी, आम हिदायतें, सामानकी फ़िहरिस्त (कताई-खातेकी) तथा (बुनाई-खातेकी), कताई, धुनाई और बुनाईके सामानकी फ़िहरिस्त जो सात दरजोंके पूरे स्कूलके लिये (जिसके हर दर्जेमें ३० लड़के हों) चाहिए ।

पहिला हिस्सा

बुनियादी उसूल, आजकलकी तालीमका तरीक़ा

शिक्षाका जो तरीक़ा आजकल मुल्कमें चल रहा है उसे क़रीब-क़रीब सारे हिन्दुस्तानी बुरा कहते हैं । पिछले ज़मानेमें वह क़ौमी ज़िन्दगीकी असल ज़रूरतोंको पूरा नहीं कर सका और उसकी ताक़तोंको ठीक रास्तेपर नहीं लगा सका । आज जब कि दुनिया तेज़ीसे बदल रही है और क़ौमोंकी ज़िन्दगी नए रूप ले रही है, हमारी ज़िन्दगी असली घाटसे अलग अपने उसी पुराने ढर्रेपर चली जा रही है और बदले हुए हालातसे मेल नहीं खा सकती, न तो वह हमारी रोज़मर्राकी जरूरतोंको पूरा करती है और न उसके सामने कोई ऐसा ऊँचा ख़याल ही है जो राष्ट्रके मुर्दा जिस्ममें जान डाल दे । वह यह नहीं सिखाती कि समाजके मुफ़ीद हम बनें, अपना बोझा आप उठाएँ और क़ौमके काममें अच्छी तरह हिस्सा लें । उसको चाहिए कि आजके समाजकी जगह जिसमें एक दूसरेसे मुक़ाबिला करता है, एक दूसरेको लूटता और दबाता है, ऐसे समाजका डौल डालें जिसमें सब मिलकर काम करते हैं । मगर इसे तो इसकी हवा भी नहीं लगी । इसलिये हर तरफ़से यह पुकार है कि तालीमके

इस तरीक़ेको बदलकर एक नया निज़ाम बनाया जाय, जिसकी नींव इन्सानोंकी हमदर्दी और भलाईपर रक्खी गई हो, जो राष्ट्रकी ज़रूरतों और विचारोंसे मेल खाता हो और उसकी अटल ज़रूरतोंको पूरा करता हो।

शिक्षाकी जो स्कीम हिन्दुस्तानके बच्चोंके लिये बनाई जाय वह कुछ बातोंमें उस स्कीमसे बिल्कुल अलग होगी, जो पश्चिमके मुल्कोंमें बनाई गई है, इसलिये कि हिन्दुस्तानकी ज़िन्दगीका रास्ता अलग है। उसने हर तरहकी आज़ादी हासिल करनेके लिये अहिंसाका तरीक़ा लिया है। हमारे बच्चोंको यह सिखानेकी ज़रूरत है कि अहिंसाका तरीक़ा हिंसासे अच्छा है।

महात्मा गाँधीकी रहनुमाई

और मैदानोंकी तरह इस मैदानमें भी महात्मा गाँधीकी सूझ-बूझ और रहनुमाई आड़े वक़्तमें हमारे काम आई। उन्होंने इसका बीड़ा उठाया है कि तालीमकी एक ऐसी राह निकालेंगे जो हिन्दुस्तानियोंकी तबीयतके मुनासिब हो और जिससे सारे राष्ट्रकी शिक्षाका काम कम-से-कम वक़्तमें चल निकले। उनकी स्कीमका बुनियादी ख़याल जो उन्होंने 'हरिजन' के मज़मूनोंमें और वर्धाकी शिक्षा-कान्फ़्रेन्समें ज़ाहिर किया था यह है: सही तालीमके लिये ज़रूरी है कि कोई ऐसी दस्तकारी सिखाई जाय जिससे कुछ कमाया जा सके और स्कूलके सारे विषय इसी दस्तकारीके ज़रियेसे पढ़ाए जायँ। अगर दस्तकारीकी तालीम अच्छी तरह दी जाय तो इससे स्कूलके पढ़ानेवालोंका ख़र्च निकल आना चाहिए। उनके ख़यालमें इससे हुकूमतको बेफ़ीसकी लाज़िमी बुनियादी तालीम जारी करनेमें मदद मिलेगी। अगर यह न हुआ तो आज मुल्ककी जो राजनीतिक और आर्थिक हालत है उसको देखते हुए बुनियादी तालीमका ख़र्च उठाना हुकूमतके बसकी बात नहीं है।

स्कूलोंमें हाथका काम

आजकल क़रीब-क़रीब सब तालीमके विशेषज्ञों या माहिरोंकी राय है कि बच्चोंको किसी मुनासिब दस्तकारीके ज़रियेसे तालीम देनी चाहिए। यह इन्सानकी पूरी तालीमका सबसे अच्छा तरीक़ा समझा जाता है।

बच्चोंकी तबीयतके पहलूसे देखिए तो इसमें यह अच्छाई है कि निरी दिमाग़ी तालीमका बोझ हट जाता है। ऐसी तालीमसे बच्चे, जिन्हें हाथसे काम करनेका शौक़ होता है, बहुत घबराते हैं और यह घबराना बुरा नहीं, बल्कि अच्छा है। दस्तकारीके ज़रियेसे हाथ और दिमाग़की तालीम साथ-साथ होती है। बच्चे ख़ाली यही नहीं सीखते कि लिखा हुआ या छपा हुआ पढ़ लें बल्कि वह चीज़ सीख लेते हैं जो उससे कहीं बढ़कर है, यानी अपने हाथ और

दिमाग़के ज़रियेसे कोई मुफ़ीद काम करना। यही तालीम है जो पूरी तालीम कही जा सकती है।

समाजके पहलूसे देखिए तो इस अमली कामसे, जो सारी क़ौमके बच्चे मिल-जुलकर करेंगे, जात-पाँतके कई बुरे बन्धन टूट जायँगे। हाथका काम करनेवालों और दिमाग़का काम करनेवालोंमें एक दूसरेसे जो बैर है और जो दोनोंके लिये बुरा है, वह जाता रहेगा। इसलिये यही एक तरीक़ा है जिससे दिलोंमें मेहनतके लिये सच्चा आदर और सब इन्सानोंके एक होनेका ख़याल पैदा हो सकता है और यह बहुत बड़ा इख़लाक़ी फ़ायदा है।

राष्ट्रकी आमदनीके पहलूसे देखिए तो इससे हमारे मुल्कके काम करने-वालोंमें कमाईकी ताक़त बढ़ जायगी और वे अपने ख़ाली वक़्तसे फ़ायदा उठानेके क़ाबिल हो जायँगे।

और सब छोड़कर ख़ास तालीमी पहलूसे देखिए तो दस्तकारीको तालीमका ज़रिया बनानेसे बच्चोंका ज्ञान ठोस हो जायगा। इस तरह इल्मका ज़िन्दगीसे लगाव पैदा होगा, उसके सब पहलू एक दूसरेसे जुड़े होंगे।

दो ज़रूरी शर्तें

ये फ़ायदे हासिल करनेके लिये ज़रूरी है कि दो बातोंका पूरा ख़याल रक्खा जाय। एक तो, जो दस्तकारी चुनी जाय वह शिक्षाके लिये मुनासिब हो। इन्सानके ज़रूरी कामों और दिलचस्पियोंसे कुदरती तौरपर उसका लगाव हो और वह तालीमके पूरे कोर्समें फैलाई जा सके। रिपोर्टमें आगे चलकर जहाँ हमने दस्तकारियोंके चुननेकी सिफ़ारिश की है वहाँ इस बातका ख़ास तौरपर ध्यान रक्खा है। और हम चाहते हैं कि सब लोग जिन्हें इस मसलेसे किसी तरहका ताल्लुक़ है, इसका ख़याल रक्खें। शिक्षाकी इस स्कीमका असली ध्येय या मक़सद यह नहीं है कि ऐसे कारीगर पैदा किए जाएँ जो ख़ाली मशीनकी तरह हाथका काम कर सकते हों, बल्कि सीखनेका तरीक़ा भी इसमें सूझना चाहिए। हर विषयके सिखानेमें इसपर ज़ोर दिया जाय कि सब मिल-जुलकर काम करें। जो करना हो उसका नक़शा पहलेसे सोच लें और हर चीज़में पूरी सेहतका ख़याल रक्खें। जहाँतक हो सके, बच्चा अपनी उपजसे काम करे और अपने कामका ज़िम्मेदार हो। इसी बातको महात्मा गाँधीने कहा है—'दस्तकारी ख़ाली हाथके कामकी तरह न सिखाई जाय जैसे आजकल सिखाई जाती है, बल्कि इल्मी तरीक़ेसे, यानी बच्चा हर कामके बारेमें यह भी जान ले कि यह क्यों और किसलिये किया जाता है, मगर बतानेसे नहीं, बल्कि अपनी समझ और अपने तजरबेसे। अगर सिर्फ़ इतना हुआ कि कोर्समें एक

विषय—बुनाई, कताई या बढ़ईका काम—बढ़ा दिया गया और दूसरे मज़मून उसी पुराने तरीक़ेसे पढ़ाए जाते रहे, तो बच्चे उसी तरह बे-समझे सीखते रहेंगे, इल्मके अलग-अलग टुकड़े हो जायँगे, जिनमें जोड़ न होगा और इस स्कीमका असल मक़सद जाता रहेगा।

नागरिकताका वह ख़याल जो इस स्कीममें सामने रक्खा गया है

हम चाहते हैं कि पढ़ानेवाले और शिक्षाके विशेषज्ञ या माहिर जो इस योजनाको चलायँगे वे नागरिकताके इस ख़यालको अच्छी तरह समझ लें जिसपर उसकी बुनयाद रक्खी गई है। यह होनेवाली बात है कि नये हिन्दुस्तानकी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और तहज़ीबी ज़िंदगीमें जम्हूरियत (प्रजातंत्र) का रंग दिन-पर-दिन बढ़ता जायगा। नई पौदको कम-से-कम यह मौक़ा मिलना चाहिए कि अपने देशके मसलोंको, अपने हक़ोंको और अपनी ज़िम्मेदारियोंको समझे। एक बिलकुल नई पद्धतिकी ज़रूरत है जिससे लोगोंको कम-से-कम इतनी तालीम मिल जाय कि वह नागरिकोंके हक़ और फ़र्ज़को काममें ला सकें। फिर आजकल हर समझदार नागरिकको समाजका काम करनेवाला हक़ होना चाहिए। यानी किसी मुफ़ीद सेवाके ज़रियेसे वह हक़ अदा करना चाहिए जो समाजका उसके ऊपर है। वह तालीम जो निकम्मे आदमी पैदा करती है (चाहे वे अमीर हों या ग़रीब) हर तरहसे बुरी है। यही नहीं कि वह समाजकी काम करने और पैदा करनेकी ताक़तको नुकसान पहुँचाती है, बल्कि लोगोंके ख़याल और आदतको बिगाड़ती है। यह स्कीम इसलिये बनाई गई है कि देशमें काम करनेवाले पैदा हों जो हर मुफ़ीद कामको, चाहे वह मैला उठानेका ही क्यों न हो, इज़्ज़तके क़ाबिल समझें और जो अपने पाँवपर खड़ा होना चाहते हों, वे खड़े हो सकें।

जब स्कूलके काम और समाजके काममें इतना गहरा संबंध होगा तो बच्चे जो स्कूलमें सीखेंगे उसे बाहर आकर भी बरत सकेंगे। इस तरह यह नई योजना जो हम पेश कर रहे हैं, मुल्कके होनेवाले नागरिकोंको अपनी क़द्र और इज़्ज़त करना, अपने आपका सुधारना, समाजकी सेवा करना और मिल-जुलकर काम करना सिखायगी।

ग़रज़, यह योजना ऐसी जमायतका ख़याल पेश करती है, जिसमें मिल-जुलकर काम किया जाय, जिसमें बढ़नेवालोंको लड़कपन और जवानीमें, जब कि उनपर हर चीज़का गहरा असर पड़ता है, समाजकी सेवाकी धुन लग जाय। स्कूलकी तालीमके ही ज़मानेमें वे यह समझने लगें कि राष्ट्रिय शिक्षाके इस बड़े तजरबेमें जो किया जा रहा है, वह खुद भी काम कर रहे हैं।

अपना ख़र्च आप निकालना

इस बारेमें कि योजना अपना ख़र्च आप निकालेगी कुछ बातें कहनी ज़रूरी हैं। इसलिये कि लोगोंने इसके मानी कुछके कुछ समझ लिए हैं, हम साफ़-साफ़ कह देना चाहते हैं कि हम बुनियादी तालीमकी इस स्कीमको जिसका ख़ाका वर्धा-कान्फ्रेन्सने बनाया था और जिसे हम इस रिपोर्टमें फैलाकर बयान कर रहे हैं, हर हालतमें अच्छा समझते हैं। अगर यह अपना ख़र्च कुछ भी न निकाल सके, तब भी इस तालीमको अच्छी पालिसी और राष्ट्रकी तरक्क़ीकी ज़रूरी तदबीर समझकर क़बूल कर लेना चाहिए, मगर ख़ुशकिस्मतीसे यह अच्छी तालीम अपनेको चलानेका बहुत कुछ ख़र्च भी निकाल लेगी। हम इस रिपोर्टमें दिखायँगे कि वर्धा-कान्फ्रेन्सकी खींची हुई हदके अन्दर इस तालीमसे उसके ख़र्चका बड़ा हिस्सा निकल आयगा। कोर्स देखनेसे मालूम होगा कि अगर स्कूलमें कताई और बुनाई बुनियादी दस्तकारी हो तो उसकी आमदनीसे स्कूलके ख़र्चका कितना हिस्सा निकल सकता है।

इस दस्तकारीकी आमदनी और ख़र्चका हिसाब लगानेमें हमें कुछ मुश्किल नहीं हुई, इसलिये कि यह काम पिछले १७ बरससे महात्मा गाँधीकी निगरानीमें बड़ी अच्छी तरहसे हो रहा है। मज़दूरीका हिसाब इस तरहसे किया गया है जो औल इंडिया चर्ख़ा-संघने महाराष्ट्रमें रक्खी है। दूसरी दस्तकारियोंमें बाज़ारके भावसे हिसाब लगाया जा सकता है। महात्माजीने साफ़ लफ़्ज़ोंमें कहा है कि हुकूमतको इसका ज़िम्मा लेना चाहिए कि वह होनेवाले नागरिकोंके कामकी पैदावारको उस भावपर खरीद लेगी·········'हर स्कूल अपना ख़र्च आप निकाल सकता है, इस शर्तपर कि हुकूमत स्कूलमें बनाई हुई चीज़ोंको ख़रीद ले' ('हरिजन' ३१ जुलाई '३७)। हम इस रायकी पूरी तरह ताईद करते हैं।

इस आमदनीसे जो आर्थिक फ़ायदा होगा, उसे छोड़कर यों भी हमारा ख़याल है कि सिखानेवालों और सीखनेवालोंके कामकी अच्छाईको जाँचने और नापनेका कोई पैमाना होना चाहिए। अगर यह न हुआ तो डर है कि काम सुस्त पड़ जायगा और उससे कोई तालीमी फ़ायदा न होगा। यह बात तालीमके उन निष्णातों या माहिरोंके तजरबेसे साफ़ ज़ाहिर है जिन्होंने अपने स्कूलोंमें 'हाथका काम' या असली काम कराया है।

मगर यहाँ हमें एक बात जता देनी है कि इस स्कीमके चलानेमें एक बहुत बड़ा डर इसका भी है कि ऐसा न हो कि आमदनीपर इतना ज़ोर दिया जाय जिससे उसका तालीमी और तहज़ीबी फ़ायदा जाता रहे। ऐसा न हो कि सीखनेका सारा वक़्त और ध्यान इसमें लग जाय कि लड़कोंसे ज़्यादा-से-

ज़्यादा मेहनत लें और दस्तकारीकी तालीमके दिमाग़ी, समाजी और नैतिक पहलूको भूल जायँ। इस बातका, शिक्षकोंकी तालीममें और तालीमकी निगरानी करनेवालोंकी हिदायतमें, गरज़ हर काममें हमेशा ध्यान रहना चाहिए।

दूसरा हिस्सा

मक़सद या ध्येय

इतने थोड़े वक़्तमें जो हमें मिला था, यह मुमकिन न था कि हम पूरे सात सालका ऐसा तफ़सीलवार प्रोग्राम बनाकर देते, जो उद्योगकी तालीमको दिमाग़ी तालीमसे मिलता। फिर भी हमने अलग-अलग नामोंसे नये स्कूलोंके ध्येयको लिखनेका जतन किया है। हमारा ख़याल है कि आगे हरएक सूबेके बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशनमें एक ऐसे माहिर या निष्णात (एक्सपर्ट) को रखना पड़ेगा, जो बोर्डको सातों सालका वह कोर्स बनाकर देगा जिसमें हाथके कामका दिमाग़ी विषयोंमें मेल रहेगा। नये स्कूलोंमें अच्छी देख-रेख और रहनुमाईमें काम करके जो क़ीमती तजर्बे अध्यापकोंको हासिल होंगे उसका नतीजा यह होगा कि वे ऐसी तफ़सील पेश कर सकेंगे जो इस कामके लिये बुनियादी चीज़ होगी। हम मोटे तौरपर एक ऐसा सिलसिलेवार पाठ्यक्रम बनानेकी कोशिश कर रहे हैं, जो इस रिपोर्टके अन्तमें बतौर परिशिष्टके दिया जायगा।

बुनियादी तालीमके सात सालके कोर्सका ख़ाका

१. बुनियादी दस्तकारी—

जो भी दस्तकारी चुनी जाय, उसमें विद्यार्थीको इतनी महारत आ जानी चाहिए कि पूरी पढ़ाई ख़त्म करनेके बाद वह बतौर पेशेके उसे अपना सके।

मुख़्तलिफ़ स्कूलोंमें नीचे लिखी दस्तकारियाँ बतौर बुनियादी दस्तकारीके चुनी जा सकती हैं :—

(अ) कताई और बुनाई, (ब) बढ़ईगिरी, (स) खेती, (क) फल और साग-सब्ज़ी पैदा करना (ख) चमड़ेका काम (ग) दूसरी कोई भी दस्तकारी जो भूगोलकी और मुक़ामी हालतोंको देखते हुए मुनासिब हो और पहले दी गई शर्तोंको पूरा करती हो।

जहाँ कताई-बुनाई या खेतीको छोड़कर कोई दूसरी बुनियादी दस्तकारी चुनी जायगी, वहाँ भी विद्यार्थियोंसे यह उम्मीद की जायगी कि उन्हें रुई धुनने, तकलीपर सूत कातने और अपने यहाँके खेती-बारीके कामसे ताल्लुक़ रखनेवाली बातोंकी मामूली व्यावहारिक जानकारी हो।

२. मातृभाषा—

सब तरहकी तालीमकी बुनियाद मातृभाषाकी माक़ूल शिक्षा है। जबतक आदमी पुरअसर ढंगसे बातचीत करना और सहीसही और साफ़-साफ़ लिखना पढ़ना नहीं जानता, उसमें ख़यालोंकी सेहत और सफ़ाई नहीं आती। इसके सिवा भाषा वह ज़रिया है, जिसके ज़रियेसे बच्चेको अपने देशके विचारों, भावनाओं और हौसलोंकी बहुत बड़ी विरासत हासिल होती है। इसलिये हम भाषाको बालककी सामाजिक तालीमका एक क़ीमती साधन बना सकते हैं और उसके जरियेसे बालकोंमें अख़लाक या सदाचारकी सही भावना पैदा कर सकते हैं। दूसरे मातृभाषा वह कुदरती ज़रिया है जिसके द्वारा बच्चा सुन्दर चीज़ोंको सराहनेके भावोंको ज़ाहिर करता है और अगर भाषाकी तालीमके लिये ठीक-ठीक उपायोंका सहारा लिया जाय तो भाषा और उसका अदब या साहित्य आनन्द और सराहनाका साधन बन जाता है। ख़ासकर सात सालके कोर्सके अन्तमें नीचे लिखा मक़सद हासिल हो जाना चाहिए।

(१) बालकको इस क़ाबिल हो जाना चाहिए कि वह अपने आसपासकी चीज़ों, लोगों और घटनाओंके बारेमें आज़ादी से, इत्मीनानके साथ बातचीत कर सके और उसकी यह योग्यता भी धीरे-धीरे इतनी बढ़ जानी चाहिए कि—

(२) वह रात-दिनके किसी भी दिलचस्प वाक़येपर साफ़ साफ़ सिलसिलेवार ठीक-ठीक ख़याल ज़ाहिर कर सके।

(३) छपे हुए या लिखे हुए औसत दर्जके मुश्किल मज़मून सूझबूझके साथ और जल्दी-जल्दी पढ़ सके। यह योग्यता कम-से-कम इतनी बढ़ाई जानी चाहिए कि वह रोज़के दिलचस्प अख़बारों और मासिकपत्रोंको आसानीसे पढ़ व समझ सके।

(४) वह गद्य (नस्र) औ पद्य (नज़्म) दोनोंको, सफ़ाईके साथ, उनसे लुत्फ़ उठाता हुआ ग़ौरसे पढ़ सके। (विद्यार्थीको इस क़ाबिल होना चाहिए कि वह पढ़ते वक्त आजकलके बेजान, बेलुत्फ़ और जी उकतानेवाले तरीक़ोंको छोड़ दे।)

(५) वह किताबोंकी विषय-सूचीका' 'इंडेक्स' का, शब्दकोशों और हवालेकी किताबोंका इस्तेमाल करना जाने और आम तौरपर अपनी जानकारी बढ़ाने और लुत्फ़ उठानेके लिये पुस्तकालयोंको काममें ला सके।

(६) वह अच्छा साफ़, सही और ख़ासी तेज़ रफ़्तारसे लिख सके।

(७) वह सादा और साफ़ इबारतमें रात-दिनकी घटनाओं और बातोंको बयान कर सके। जैसे, गाँवमें होनेवाली आम सभाकी रिपोर्ट लिख सके।

(८) वह अपनी निजकी चिट्ठी-पत्री और कारोबारके ख़त लिख सके।

(९) उसका बड़े-बड़े नामी-गिरामी लेखकोंके मज़मूनों व किताबोंसे प्रेम और वाक़फ़ियत हो और यह जानकारी उन किताबों, लेखों या उनके चुने हुए टुकड़ोंसे हासिल की गई हो।

३. गणित—

इसका मक़सद विद्यार्थीको इस क़ाबिल बनाना है कि वह अपने धंधेकें, घरेलू जिंदगीके या समाजी जीवनके सिलसिलेमें खड़े होनेवाले हिसाब-किताब और नापजोखके मसलोंको आसानीसे जल्दी हल कर सके। विद्यार्थियोंको व्यापार-धन्धेकी और बही-खातेकी भी थोड़ी जानकारी हो जानी चाहिए।

हमारा ख़याल है कि यह ध्येय नीचे लिखी बातोंकी ठीक-ठीक जानकारी और मश्क़ होनेसे हासिल हो सकता है—

सादा जोड़, बाक़ी, गुणा, भाग; मिश्र जोड़, बाक़ी, गुणा, भाग; दशमलव; त्रैराशिक; ऐकिक नियम; ब्याज; पैमाइशका इब्तदाई ज्ञान; अमली ज्यामेटरी और बही-खातेकी इब्तदाई जानकारी।

इसकी तालीम सिर्फ़ हक़ीक़तों और अंकोंतक ही महदूद न रक्खी जाय, बल्कि इसका बहुत नज़दीकी संबंध उन असली मसलोंसे होना चाहिए जो बुनियादी दस्तकारीको सीखते समय पैदा होते हैं। इस सिलसिलेमें विद्यार्थी जो कुछ नाप-जोख और भाव-ताव करेंगे उससे उनकी दलील करनेकी समझको बढ़नेका काफ़ी मौक़ा मिलेगा।

४. समाजका इल्म—

इसके मक़सदे ये हैं :

१. आम तौरपर तमाम इन्सानोंकी तरक्क़ी और ख़ास तौरपर हिन्दुस्तानकी प्रगतिकी तरफ़ दिलचस्पी पैदा करना।

२. विद्यार्थीको इस क़ाबिल बनाना कि वह अपने समाजकी और भूगोलकी हालतको ठीकसे समझ सके और उसमें सुधार करनेके लिये तैयार हो सके।

३. उसके दिलमें वतनकी मुहब्बत हो, वह हिन्दुस्तानके पिछले ज़मानेकी इज़्ज़त करे और आनेवाले ज़मानेके बारेमें यह अक़ीदा रक्खे कि यह एक ऐसे समाजका घर होगा जिसकी नींव मिलकर काम करने और मुहब्बत, सचाई और न्यायपर रक्खी जायगी।

४. नागरिकताके हक़ों और ज़िम्मेदारियोंका ख़याल पैदा करना।

५. विद्यार्थीमें ऐसी शख़्सी और समाजी ख़ूबियाँ पैदा करना जिससे वह सच्चा साथी और भरोसेवाला पड़ोसी बन सके।

६. दुनियाके सभी धर्म-मज़हबोंके लिये आदरका भाव पैदा करना।

इन मक़सदोंको पूरा करनेके लिये यह ज़रूरी होगा कि विद्यार्थीको इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र और देश-विदेशकी मौजूदा हालतोंका ज्ञान कराया जाय, साथ ही, संसारके मुख़्तलिफ़ धर्मोंका इज्ज़तके साथ अध्ययन कराकर उसे यह समझानेका मौक़ा दिया जाय कि किस तरह उसूली बातोंमें सब धर्म-मज़हब आपसमें पूरी तरह एक-राय हैं। इस तरहका अध्ययन बच्चेकी अपनी हालतों और उसके अपने मसलोंके साथ शुरू होना चाहिए। इन्सान जिन कई तरीक़ोंसे अपनी तरह-तरहकी ज़रूरतोंको पूरा करता है, उन तरीक़ोंकी तरफ़ बच्चेके दिलमें प्रेम पैदा करना चाहिए। स्त्री व पुरुषोंकी ज़िन्दगी और कामोंको, जो जाननेकी बालकोंमें इच्छा होती है, उसे जगानेके लिये शुरुआत इस तरह करनी चाहिए।

१—दुनियाके इतिहासका एक छोटा-सा ख़ाका खींचकर बताया जाय। इन्सानोंकी समाजी और तहज़ीबी ज़िन्दगीकी बड़ी-बड़ी घटनाओंपर ख़ास ज़ोर दिया जाय और वह दिखाया जाय कि किसी तरह धीरे-धीरे राज-नीति और संस्कृतिके लिहाज़से लोगोंमें मेल-जोल पैदा होता जाय। मुहब्बत, सचाई, न्याय, मिल-जुलकर काम करना, क़ौमका एका, इन्सानोंकी बराबरी और बिरादरी, इन सब बातोंपर ज़ोर देना चाहिए। छोटे दरजोंमें इतिहास इस तरह पढ़ाया जाय कि ख़ास-ख़ास लोगोंकी ज़िंदगीके हालात बता दिए जायँ, और बड़े दरजोंमें इस तरह कि समाजकी पूरी ज़िंदगी और संस्कृतिकी तरक़्क़ी दिखाई जाय। इसका बहुत ख़याल रक्खा जाय कि कहीं पिछले ज़माने-पर फ़ख़ करनेका यह अंजाम न हो कि बच्चोंको उसी क़ौमका घमंड हो जाय और उसके सिवा सबको बुरा समझने लगें। जिन लोगोंने क़ौमोंको आज़ाद कराया है और शांतिके ज़रियेसे सुलह हासिल की है उनकी कहानियाँ कोर्सकी किताबोंमें ख़ास तौरपर होनी चाहिए। इन्सानोंकी ज़िन्दगीसे ऐसे सबक़ सिखाने चाहिएँ जिनसे अहिंसा और उसके साथकी ख़ूबियोंका हिंसा, धोखे और दग़ासे अच्छा होना साबित हो। हिंदुस्तानी क़ौमके जागनेका इतिहास और हिंदुस्तानकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आज़ादीकी कोशिशोंका हाल बताकर बच्चोंको इसके लिये तैयार करना चाहिए कि वे हँसी-ख़ुशी इस बोझको बटा सकें और इस बदलते हुए ज़मानेकी कड़ाइयाँ सह सकें। क़ौमी त्योहारों और क़ौमी हफ़्तेका मनाना हर स्कूलकी ज़िन्दगीमें एक ख़ास चीज़ होनी चाहिए।

२—बच्चोंको पब्लिकके फ़ायदेकी चीजें, पंचायत, सहकारी कमेटी, सरकारी मुलाज़िमोंके कर्त्तव्य, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड या म्यूनिसिपैलिटीके क़ायदे-

क़ानून, यह सब जानना चाहिए। उन्हें जानने चाहिएँ कि वोट क्या है और किस तरह काममें लाया जाता है। ऐसी कौन्सिलोंसे, जिनके मेंबरोंको लोग चुनकर भेजते हैं, क्या फ़ायदा है, वह पहले किस तरह बनी और फिर क्योंकर तरक़्क़ी करती रही। इन चीज़ोंकी तालीम ऐसी होनी चाहिए जो ख़ाली किताबी न हो बल्कि ज़िंदगीके वाक़यातसे गहरा संबंध रखती हो। स्कूलमें ऐसे काम किए जायँ जिनके ज़रियेसे बच्चोंको स्वराजका तरीक़ा सिखाया जाय। हो सके तो स्कूलका अपना अख़बार हो, नहीं तो बच्चे बाहरका कोई अख़बार मिल-जुलकर पढ़ते रहें जिससे उन्हें रोज़मर्राकी ख़ास-ख़ास घटनाएँ मालूम होती रहें।

३—समाजके इल्मके कोर्समें दुनियाके भूगोलका ख़ाका, हिंदुस्तानका पूरा हाल और दूसरे देशोंसे उसका ताल्लुक़ बताया जाय। इसमें नीचे लिखी हुई बातें होनी चाहिएँ—

(क) अपने मुल्क और दूसरे देशोंके पौदों, जानवरों और इन्सानोंकी ज़िंदगी और उसपर आसपासके भूगोली हालातका असर (कहानियाँ, वर्णन, तसवीरोंसे काम लेना, क़ुदरतकी चीज़ोंको आँखोंसे दिखाना, हर चीज़में मुक़ामी हालातका हवाला देना)।

(ख) मौसिमकी हालत समझना और समझाना (यह बाहरका काम है, जैसे, सूरजको देखना और यह मालूम करना कि हर मौसिममें उसकी ऊँचाईमें क्या फ़र्क होता है; हवाका रुख़ बतानेवाले यन्त्रसे इसका रुख़ मालूम करना; थर्मामीटर और बैरोमीटरसे हवाकी गर्मी और दबावको भी मालूम करना, उसको लिखने और बतानेके तरीक़े, मेहके बरसनेका हिसाब रखना वग़ैरह।)

(ग) नक़्शा देखना और नक़्शा बनाना, गोलेपर दुनियाका नक़्शा देखना, आसपासके मुक़ामोंको देखना और उनका नक़्शा समझना, निशानोंको पहचानना, एटलस और उसके इण्डेक्सको बरतना।

(घ) आने-जाने और ख़बर भेजनेके ज़रियेका और ज़िन्दगी और कारोबारसे उनका संबंध मालूम करना।

(ङ) स्थानीय पेशोंका, खेती और उद्योगका हाल मालूम करना (खेतों और कारख़ानोंमें जाकर), मुख़्तलिफ़ इलाक़ोंका अपनी ज़रूरतें आप पूरी करना या एक-दूसरेका पाबन्द होना, खेती और उद्योगके तरीक़ोंका मुक़ामी हालतोंके अनुकूल होना; हिन्दुस्तानके बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे।

५—साधारण विज्ञान—

इसके मक़सद ये हैं:—

१—बच्चोंको इस क़ाबिल बनाना कि आसपासकी दुनियाको समझ सकें।

२—उन्हें इसकी आदत डालना कि चीज़ोंको सही तौरपर देखें और जो देखते हैं उसे तजर्बा करके जाँचें । ३—उन्हें इस क़ाबिल बनाना कि विज्ञानके उन बड़े बड़े उसूलोंको समझ सकें जिनकी मिसालें (अ) आसपासकी क़ुदरती चीज़ोंमें और (आ) विज्ञानको इन्सानके काममें लानेमें मिलती हैं। ४—उन्हें बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंके हालात बताना जिन्होंने इल्मके लिये क़ुर्बानियाँ की हैं, ताकि उनके दिलपर असर पड़े ।

कोर्समें कई विज्ञानोंके नीचे लिखे हुए विषय शामिल होने चाहिएँ—

क—प्रकृतिका पढ़ना—

(अ) आसपासके पौदों, जानवरों और चिड़ियोंका हाल जानना ।

(आ) फ़स्लोंके बदलने और उस असरका इल्म जो उससे पौदों, जानवरों, चिड़ियों और इन्सानोंकी ज़िंदगीपर पड़ता है ।

ख—वनस्पतियोंका विज्ञान—

(क) पौदेके अलग-अलग हिस्से और उनके काम । (ख) पौदे उगना, बढ़ना और फैलना । (ग) स्कूके बाग़ और आसपासके खेतोंमें काम कराकर बच्चोंको समझाना कि तरी, गरमी और रोशनीकी भिन्न-भिन्न हालतों और बीज और खादकी मुख़्तलिफ़ क़िस्मोंका क्या असर पड़ता है ।

ग—पशु-विज्ञान

बीमारीके कीड़ों, उड़नेवाले और रेंगनेवाले कीड़ों, चिड़ियों और जानवरोंका हाल मालूम करना और यह जानना कि उनमें कौन इन्सानके दोस्त और कौन दुश्मन हैं ।

घ—शरीर-विज्ञान

इन्सानका शरीर, उसके अंग और उनके काम।

ङ—आरोग्य और सफ़ाईका इल्म

क—शरीरका आरोग्य : दाँतों, ज़बान, नाख़ूनों, आँखों, बालों, नाक, कान, खाल और कपड़ोंकी सफाई । ख—घर और गाँवकी सफ़ाई; सेहत, स्वास्थ्यका इंतज़ाम; मैला उठानेका इंतज़ाम । ग—साफ़ पानी; गाँवका कुवाँ, घ—साफ़ हवा; हवाकी सफ़ाईमें दरख़्तोंका काम, ठीक-ठीक साँस लेना । ङ—स्वास्थ्यके लिये अच्छा और बुरा खाना, वह आहार जिसमें सब ज़रूरी चीज़ें शामिल हों याने युक्ताहार । च—घायलों और बीमारोंकी मदद और मामूली दवा-इलाज । छ—छूत, छूतकी बीमारियाँ, उनसे कैसे बच सकते हैं । ज—पवित्र

ज़िंदगीसे तन्दुरुस्तीकी रक्षा होती है। च—कसरत : खेल, कसरत, ड्रिल, (देशी खेलोंका शौक़ दिलाया जाय) छ—रसायन शास्त्र : हवा, पानी, तेज़ाब, खार, नमक वग़ैरा क्या हैं और कैसे बनते हैं। ज—सितारोंका इल्म, जिससे रातको रास्ता पहचान सकें। झ—कहानियाँ (वैज्ञानिकों और नये-नये देश ढूँढ़नेवालों और उनके कामोंकी जो उन्होंने इंसानकी भलाईके लिये किए।)

६. ड्राइंग

इसके मक़सद ये हैं:—१. आँखको शक्लों और रंगोंके पहचानने और उनमें फ़र्क़ करनेका अभ्यास। २. शक्लोंको याद रखनेका अभ्यास। ३. क़ुदरतकी और कलाकी ख़ूबसूरत चीज़ोंको जानना और उनसे आनन्द उठाना। ४. चीज़ोंका अच्छा नक़शा सोचना और सजावटका काम। ५. दस्तकारीमें जो चीज़ें बनानी हों उनकी ड्राइंग।

यह मक़सद इस तरह हासिल हो सकते हैं:—

१. बच्चे जिन चीजोंको देखें या पढ़ें उनकी ड्राइंग करें। २. नमूनेसे और यादसे पौदों, जानवरों, इन्सानों वग़ैरःकी शक्लें खींचें (साधारण विज्ञान, दस्तकारी वग़ैराके सिलसिलेमें)। ३. नई-नई चीज़ोंके नक़्शे सोचें और बनावें। ४. स्केल, ग्राफ़ और तसवीरोंकी ड्राइंग करें।

पहले चार सालमें पढ़ाई, साइंस और दस्तकारीकी शक्लें बनानेके सिलसिलेमें ड्राइंगका काम होना चाहिए। बादके तीन सालमें नक़शा सोचने, सजावटके काम और बाक़ायदा ड्राइंगपर ज़ोर देना चाहिए ताकि बच्चे अपने कामके सिलसिलेमें सही शक्लें बना सकें।

७. संगीत

इसका मक़सद यह है कि बच्चोंको अच्छे गीत याद हो जायँ और उन्हें अच्छे गानोंकी पहचान और शौक़ हो जाय, बच्चोंमें लय और तालकी जो क़ुदरती भावना होती है, उसे उन्हें दोनों हाथोंसे ताल देना सिखाकर बढ़ाया जाय, क़दम मिलाकर तालके साथ चलनेसे भी इसमें मदद मिल सकती है। इसका ख़ास तौरपर ख़याल रक्खा जाय कि सिर्फ़ अच्छे गीत चुने जायँ, जिनका नैतिक असर भी अच्छा हो। उनका विषय भी पवित्र और ऊँचा होना चाहिए। मिलकर गानेपर खास ज़ोर दिया जाय।

८. हिन्दुस्तानी

हिंदुस्तानीको स्कूलके कोर्समें लाज़िमी रखनेका मक़सद यह है कि राष्ट्रिय स्कूलोंमें पढ़े हुए बच्चे देशकी आम ज़बान थोड़ी बहुत जानते हों और बड़े हो कर हिंदुस्तानके दूसरे सूबोंके साथ आसानीसे काम कर सकें।

तीसरा हिस्सा

अध्यापकोंकी तालीम

अध्यापक नये तालीमी और सामाजिक विचारोंको जो इस स्कीममें सामने रखे गए हैं अच्छी तरह समझते हों और उनको अमलमें लानेका शौक़ और उत्साह रखते हों।

ट्रेनिंग स्कूलमें दाख़िलेके लिये यह शर्त होनी चाहिए कि उम्मीदवार किसी क़ौमी या सरकारी तौरपर माने हुए मदरसेमें मैट्रीक्युलेशन तक पढ़ चुका हो या वर्नाक्यूलर फ़ाइनल या उसके बराबर कोई और इम्तिहान पास करनेके बाद कमसे-कम दो बरस पढ़ानेका तजरबा हासिल कर चुका हो।

अध्यापकोंकी तालीमका पूरा कोर्स

(तीन सालका)

१. क—कपास बोना, चुनना, धुनना (या ऊनका धुनना) सूत कातना और ताना लगाना। ख—चर्ख़े (या और औज़ारोंका, जिनसे बुनियादि दस्तकारीमें काम लिया जाय)के मिस्त्रीक काम, ग—गाँवोंके उद्योगोंका और ख़ास तौरपर अपनी चुनी हुई दस्तकारीका आर्थिक ज्ञान। घ—बढ़ईका मामूली काम, जिसकी चुने हुए उद्योगमें ज़रूरत पड़े।

२. इन बुनियादी उद्योगोंमेंसे कोई एक सीखना :—कताई और बुनाई, खेती, तरकारी और फल उगाना, बढ़ईका काम, खिलौने बनाना, चमड़ेका काम, काग़ज बनाना या कोई भी दस्तकारी, जो किसी इलाक़ेके लिये उचित समझी जाय।

३. तालीमके नीचे लिखे हुए उसूल :—पैदा करनेवाले कामके ज़रिये तालीम देनेका बुनियादी ख़याल, स्कूलका तअल्लुक़ समाजसे, बच्चोंकी तबीयतके इल्मका एक सादा ख़ाका (जहाँतक हो सके इसका संबंध तजरबों और घटनाओंसे हो) और वह उसूल जिनके मुताबिक़ आदमी काम सीखता है, पढ़ानेके तरीक़े, ख़ासकर कामके नक़्शे सोचना और उनपर अमल करना, नई तालीमके मक़सद और उनका तअल्लुक़ मुल्ककी असली हालतसे।

४. शरीर-विज्ञान :—सेहत और सफ़ाईके इल्म और खानेपीनेके इल्मका एक ख़ाका, जिसका तअल्लुक़ गाँवके रोज़मर्रोके सलूकसे हो।

५. समाजके इल्मका जो कोर्स बुनियादी तालीममें पढ़ाया गया है, उसे दोहराना और उससे आगे पढ़ाना, ताकि अध्यापक समाजके तरह-तरहके सलूकको अच्छी तरह समझ सके। इसके बाद एक नज़र इसपर डालनी

चाहिए कि पिछले पचास बरसमें हिंदुस्तानका और दुनियाके दूसरे मुल्कोंका क्या हाल रहा है।

६. मादरी ज़बानकी पढ़ाई, जिसके ज़रियेसे अध्यापक हिन्दुस्तानकी कला और साहित्य (अदब) के बढ़िया-से-बढ़िया नमूनोंसे वाक़िफ़ हो जाय और मुल्की तहज़ीब (संस्कृति) की आम बुनियादको समझ सके।

७. हिन्दुस्तानीका इल्म :—फ़ारसी और नागरी दोनों ख़तोंका लिखना और पढ़ना। (यह न सिर्फ़ हिन्दुस्तानी बोलनेवाले इलाक़ोंमें बल्कि सारे हिन्दुस्तानके सरकारी और सरकारसे मदद पानेवाले मदरसोंमें लाज़िमी होना चाहिए क्योंकि इसके बग़ैर इस तालीमका बुनियादी, तहज़ीबी और समाजी मक़सद हासिल नहीं होगा।

८. बोर्डपर लिखना और ड्राइङ्ग बनाना।

९. जिस्मकी शिक्षा, ड्रिल और देशी खेल।

१०. अध्यापकोंकी निगरानीमें उन स्कूलोंमें पढ़ानेका अभ्यास करना जहाँ ट्रेनिङ्ग-स्कूलोंके साथ बोर्डिङ्ग हाउस भी हों, जिनमें अध्यापक और विद्यार्थी हर समय साथ रह सकें। इनमें सबके मेलजोलसे हर तरहके समाज और संस्कृतिकी ज़िन्दगीका सामान होना चाहिए, ताकि ट्रेनिङ्ग पानेवाले अध्यापकोंको अपनी अपनी ख़ास दिलचस्पियाँ ज़ाहिर करनेका अवसर मिले।

हमारा ध्येय आलिम फ़ाज़िल (धुरंधर विद्वान्) पैदा करना नहीं, बल्कि होशियार, समझदार, पढ़े-लिखे दस्तकार पैदा करना है, जो सही ख़याल और समाजकी सेवाका शौक़ रखते हों, और क़ौमके बच्चोंको शिक्षाकी इस योजनाका मक़सद और उसकी क़ीमत समझा सकें।

अध्यापकोंकी तालीमका छोटा कोर्स

इस स्कीमको जल्द-से-जल्द शुरू करनेके लिये हम यह सिफारिश करते हैं, कि इस वक़्तकी ज़रूरतको सामने रखकर उन अध्यापकोंको जो मौजूदा स्कूलों, क़ौमी मदरसों और आश्रमोंसे ख़ास तौरपर चुने गए हों, एक सालका छोटा कोर्स पढ़ाया जाय। ये चुने हुए अध्यापक ऐसे हों, जिन्हें पढ़ानेका काम या दस्तकारीका अच्छा तजरबा हो और जिनसे यह उम्मीद हो कि वह स्कीमको सही तरीक़ेसे समझकर और जोशके साथ चला सकेंगे। उन अध्यापकोंकी तादाद हर सूबेमें उन स्कूलोंके लिहाज़से मुक़र्रिर होनी चाहिए जो शुरूमें खोले जायँगे।

इन अध्यापकोंके कोर्समें नीचे लिखी हुई चीजें होनी चाहिए :—(क) धुनाई और तकलीकी कताई; यह हर एकके लिये लाज़िमी होगा, चाहे उसने अपने लिये कोई भी बुनियादी दस्तकारी चुनी हो। (ख) जिन बुनियादी

दस्तकारियोंका ज़िक्र ऊपर आ चुका है, उनमेंसे कोई एक, ताकि अध्यापक स्कूलके पहिले तीन दर्जोंमें तालीम देनेके क़ाबिल हो जायँ। (ग) शरीर-विज्ञान—सेहत और सफ़ाईके इल्म और खाने-पीनेके इल्मका एक छोटा कोर्स। (घ) दस्तकारी-के मदरसे और समाजकी ज़िन्दगीसे उसके ताल्लुक़का बुनियादी ख़याल। (ङ) सब विषयोंको दस्तकारीके ज़रियेसे पढ़ानेके आसान नक़्शे सोचना। (च) हिन्दुस्तानी क़ौमोंके जागनेका थोड़ा-सा इतिहास और इस सदीमें दुनियाकी बड़ी-बड़ी हलचलोंकी तारीख़। (छ) अध्यापकोंकी निगरानीमें कम-से-कम २५ सबक़ पढ़ाना।

चौथा हिस्सा

निगरानी और इम्तहान

क—निगरानी—नये स्कूलोंके लिये योग्य और हमदर्द निगरानी करनेवाले अध्यापकोंकी भी उतनी ही ज़रूरत है, जितनी अच्छे अध्यापकोंकी।

ख—इम्तिहान

हमारे मुल्कमें आज इम्तिहान लेनेका जो तरीक़ा चल रहा है वह तालीमके लिये बद-दुआ सा साबित हुआ है। एक तो तालीमका तरीक़ा ही ख़राब था, तिसपर इम्तिहानोंका ज़रूरतसे ज्यादा महत्त्व देकर उस तरीक़ेको और भी बदतर बना दिया गया है।

विद्यार्थियोंकी तरक्क़ीका याने उनको एक दर्जेसे दूसरे दर्जेमें चढ़ानेका फ़ैसला विद्यार्थियोंके कामके ठीक-ठीक हिसाबकी बुनियादपर अध्यापकोंकी कमेटीको ही करना चाहिए।

पाँचवाँ हिस्सा

इन्तज़ाम

१. तालीमके जो मक़सद हमने ऊपर (दूसरे हिस्सेमें) बयान किए हैं उनको हासिल करनेके लिये बच्चोंको सात सालतक स्कूलमें रहनेकी ज़रूरत है। बहुत ग़ौर करनेके बाद हम इस नतीजेपर पहुँचे हैं कि लाज़िमी तालीम सात बरसकी उम्र पूरी होनेके बादसे शुरू होनी चाहिए। चूँकि हमने यह उसूल मान लिया है कि बुनियादी तालीम जहाँतक हो सके सब बच्चोंके लिये एक ही हो, इसलिये हम यह सिफारिश करते हैं कि वह ७ से १४ बरसकी उम्रतक हर लड़के और लड़कीके लिये लाज़िमी कर दी जाय। हाँ, लड़कियोंके साथ इतनी रिआयत कर दी जाय कि अगर उनके सरपरस्त चाहें तो उन्हें १२ बरसकी उम्र पूरी हो जानेके बाद स्कूलसे उठा लें।

२. हम इस बातको समझते हैं कि हमने जो पूरे ७ बरसकी उम्रको

लाज़िमी तालीम शुरू करनेकी उम्र ठहराई है उसमें बच्चोंकी ज़िंदगीका एक महत्वका हिस्सा छूट जाता है। इस ज़मानेमें वह गाँवके ग़रीब घरोंमें बेपढ़े और बेसमझ माँ-बापकी निगरानीमें रहेगा जिन्हें अपनी ज़िंदगी काटना ही मुश्किल है।

३. कोर्सके मुख़्तलिफ़ विषयोंके पढ़ानेमें ५॥ घंटे लगेंगे।

अन्दाज़ा हमने कताई और बुनाईको बुनियादी दस्तकारी समझ कर किया है। दूसरी दस्तकारियोंके वक़्तकी तक़सीम मुख़्तलिफ़ हो सकती है। मगर किसी सूरतमें भी बुनियादी दस्तकारीको इससे ज़्यादा वक़्त नहीं देना चाहिए जितना कि ऊपरके नक़्शेमें दिया है। स्कूलमें २८८ दिन और महीनेमें २४ दिन पड़ता है।

४. बच्चोंकी मुख़्तलिफ़ दिलचस्पियोंको देखते हुए हम यह सिफ़ारिश करते हैं कि जहाँतक हो सके कम-से-कम स्कूलके आख़िरी दो दर्जोंमें कई दस्तकारियोंका इन्तज़ाम होना चाहिए।

५. हमारी रायमें हर स्कूलके साथ इतनी ज़मीन होना चाहिए जिसमें स्कूलका बाग़ और खेलका मैदान बन सके।

६. साइन्सवालोंकी छानबीनसे यह साबित हुआ है कि लड़कोंको बुरा खाना मिलनेमें और उनके स्कूलके काममें पीछे रहनेमें गहरा तअल्लुक़ है। यह देखते हुए कि गाँवके बच्चोंको आम तौरपर काफ़ी खाना नहीं मिलता, हम ज़ोरके साथ सिफ़ारिश करते हैं कि पूरी कोशिश करनी चाहिए कि स्कूलके घंटोंमें लड़कोंको हलका-सा नाश्ता देकर यह कमी पूरी की जाय। हमें उम्मीद है कि हुकूमतकी और जनताकी मददसे इसका ख़र्च पूरा हो जायगा।

७. अध्यापकोंकी तनख़्वाहके बारेमें हम गांधीजीकी इस तजवीज़की ताईद करते हैं—"हो सके तो पच्चीस रुपये महीने हो, लेकिन बीस रुपयेसे कम कभी न हो।" हमारे ख़यालमें ऊँचे दर्जोंके लिये शायद ज्यादा क़ाबिलियतके अध्यापककी ज़रूरत होगी और उन्हें इससे ज्यादा तनख़्वाह देनी पड़ेगी।

८. हम सिफ़ारिश करते हैं कि इस तजरबेके पहले दो-तीन सालमें ख़ास तौरपर क़ाबिल अध्यापक रक्खे जाने चाहिएँ। उनकी तनख़्वाह कुछ ज़्यादा हो ताकि चुने हुए स्कूलोंमें वह नये कोर्स और नये तरीक़ेकी तालीमको चला सकें और इस स्कीममें जिन चीज़ोंकी कमी रह गई है उन्हें पूरा कर सकें। जब शुरूका मुश्किल काम हो जायगा तो मामूली अध्यापक जो ट्रेनिंग स्कूलोंकी तीन सालकी तालीम पा चुके होंगे, अच्छी तरह काम चला सकेंगे।

९. हर दर्जेमें बच्चोंकी तादाद बीससे ज़्यादा नहीं होनी चाहिए।

१० अध्यापकोंके चुननेमें उन लोगोंको तरजीह देना चाहिए जो उसी इलाक़ेके हों जहाँ स्कूल वाक़ै है।

११. औरतोंकी हिम्मत बढ़ानेके लिये वह तालीमके पेशेको इख़्तियार करें, उनको ट्रेनिंगके लिये ख़ास आसानियाँ होनी चाहिएँ।

१२. ट्रेनिंग स्कूलके उम्मीदवारोंको चुननेमें बहुत अच्छी तरह ग़ौर करना चाहिए और उसके लिये मुनासिब उसूल बनाने चाहिएँ। हमें यक़ीन है कि जबतक यह मुश्किल मसला हल न होगा, यह योजना कामयाब नहीं हो सकेगी। शिक्षाके कामके लिये ख़ास समाजी और इख़लाक़ी तबीयत और गुणोंकी जरूरत है और यह समझना ग़लत है कि हर शख़्स जो इस पेशेका उम्मीदवार बनकर आता है, इसके लिये मुनासिब है। इसलिये हमें चुननेमें बहुत ध्यान और एहतियातसे काम लेना चाहिए और जहाँतक हो सके सिर्फ़ उन्हीं लोगोंको चुनना चाहिए जिनकी तबीयत समाजकी सेवाके लिये ख़ास तौरपर मुनासिब हो।

१३. हमारी तजवीज़ है कि ट्रेनिङ्ग स्कूलोंमें पढ़नेवालोंके रहनेका इन्तज़ाम हो। उनमें हर तबक़े (वर्ग) और हर धर्म (मज़हब)के लोग शामिल हो सकें और खाने-पीने और उठने-बैठनेमें छूतछात न बरती जाय।

१४. इन स्कूलोंमें दस्तकारीकी तालीम देनेके लिये वे कारीगर, जो अपने काममें उस्ताद हो, रक्खे जा सकते हैं। अगर ज़रूरत हो तो बुनियादी स्कूलोंके अध्यापकोंको दस्तकारीकी तालीममें मदद देनेके लिये, बच्चोंकी बनाई हुई चीज़ोंको ठीक करके बाज़ारमें भेजनेके लिये मुक़ामी कारीगरोंसे काम लिया जा सकता है।

२५. ट्रेनिङ्ग कालिजों और स्कूलोंमें बड़े पैमानेपर ऐसे कोर्स जारी करने चाहिएँ जिनमें स्कूलोंके अध्यापक छुट्टीके दिनोंमें अपना इल्म ताज़ा कर सकें, ताकि उनकी क़ाबलियत क़ायम रहे और बढ़ती रहे। यह कोर्स कई तरहके होने चाहिएँ जैसे आम तहज़ीबके, खास तालीमके, पेशेके और दस्तकारीके।

१६. हर ट्रेनिङ्ग स्कूलके साथ ऐसे बुनियादी स्कूल लगाने चाहिएँ जिनमें ट्रेनिङ्ग पानेवालोंको पढ़ानेकी अमली तालीम दी जाय। यहाँ तालीमके लिये तरीक़ोंको अज़माना चाहिए, इन स्कूलोंमें ख़ास तौरपर योग्य अध्यापक रक्खे जायँ और यह अपने हलक़े और स्कूलोंके लिये नमूनेका काम दें। दूसरे स्कूलोंके अध्यापकोंको मौक़ा दिया जाय कि यहाँ आकर कामका तरीक़ा और तालीमका सामान देखें।

१७. स्कूलोंमें दस्तकारी जारी करना, कोर्सके विषयोंका तअल्लुक़ एक दूसरेसे और ज़िन्दगीसे क़ायम करना, कामके ज़रियेसे तालीम देना, बच्चोंमें अपने शौक़से काम करने और समाजी ज़िम्मेवारीका ख़याल पैदा करना। जो इस नई स्कीमके ख़ास मक़सद हैं वे तबतक हासिल नहीं हो सकते, जबतक

शिक्षकों और शार्गिदों, ख़ासकर शिक्षकोंके लिये मुनासिब किताबें और सामान मुहैया न किया जाय। नमूनेकी चीज़ें, अध्यापकोंके लिये किताबें और सब विषयोंकी पढ़ाईमें तअल्लुक़ पैदा करनेके प्रोग्राम तैयार करना बहुत ज़रूरी है। इसी तरह बच्चोंके लिये नई स्कीमके मुताबिक़ बिल्कुल नई किताबें लिखवानेकी ज़रूरत है। हर सूबेका तालीमी बोर्ड और राष्ट्रीय तालीमकी केन्द्रीय (मरकज़ी) संस्था, जिसके क़ायम करनेकी हमने नीचे सिफ़ारिश की है, इस काममें बहुत मदद दे सकती है। जो सूबे नई तर्ज़के स्कूल खोलना चाहते हैं, उन्हें इन ज़रूरी किताबों और सामानके मुहैया करनेका जल्द-से-जल्द इन्तज़ाम करना चाहिए।

१८. इम्तिहानके हिस्सेमें हमने इसका ज़िक्र किया है कि स्कूलके कामकी बाक़ायदा जाँच हर सूबेके तालीमी महकमेका एक ज़रूरी काम है। हम सिफ़ारिश करते हैं कि हर सूबेके तालीमी बोर्डमें तालीमके माहिरों (निष्णातों) का एक क़ाबिल स्टाफ़ रखा जाय। यह स्टाफ़ स्कूलके कोर्सको लोगोंकी असली ज़रूरतोंके मुताबिक़ बनाने और अध्यापकोंके कामके जाँचनेके नये तरीक़े सिखानेके लिये वैज्ञानिक रिसर्च करता रहे। इसका यह भी काम हो कि तालीमके नये तरीक़ोंको आज़माए। इस मुल्कमें और दूसरे मुल्कोंमें जो प्रयोग किए जा रहे हैं उनसे अध्यापकोंको और निगरानी करनेवालोंकी ट्रेनिंगकी रहनुमाई करे।

१९. हम सिफ़ारिश करते हैं कि सरकारी बोर्डोंके अलावा राष्ट्रिय शिक्षाकी एक अलग ग़ैर-सरकारी केन्द्रीय संस्था क़ायम की जाय, जिसके ज़िम्मे कोई इंतज़ामी काम न हो। इसमें ऐसे लोग शामिल हों जो तालीम और दूसरे तहज़ीबी कामोंमें ख़ास योग्यता रखते हों। इस संस्थाके मक़सद ये होंगे—

क. तालीमकी पालिसी और अमली काममें सलाह देना।

ख. हिंदुस्तान और दूसरे मुल्कोंमें जो तालीमी कोशिशें की जा रही हैं उनके उसूल और मक़सदपर ग़ौर करना और इसके नतीजेसे दिलचस्पी रखनेवाले लोगोंको इत्तिला देना।

ग. हिन्दुस्तानके और रियासतों और दूसरे मुल्कोंको तालीमी कामोंके बारेमें मालूमात इकट्ठी करना।

घ. तालीमके मसलोंपर रिसर्च करना।

ङ. तालीमका काम करनेवालोंके लिये छोटी-छोटी किताबें और मासिक पत्र निकालना।

२०. यह बात सबको मालूम है कि देशके मुख़्तलिफ़ महकमोंमें जिनमें इसके होनहार नागरिकोंकी भलाईके लिये काम करना चाहिए, आपसमें

बहुत कम तअल्लुक़ है। हम सिफ़ारिश करते हैं कि तालीमके महकमेको हुकूमतके और महकमों (आरोग्य, खेती, तामीरात, कोऑपरेशन, लोकल सेल्फ़ गवर्नमेंट) से मिलकर काम करनेका मौक़ा दिया जाय, ताकि स्कूलोंसे तन्दुरुस्त, खुशदिल और क़ाबिल बच्चे पैदा हो सकें।

वर्धा-शिक्षा-योजनाका विश्लेषण

कई वर्ष अनुभव करनेके पश्चात् उसके पक्ष और विपक्षके रूप अत्यन्त स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं।

इस योजनासे विद्यालयोंके बाहरी रूपमें अन्तर आ गया है। नीरस कोरी भीतोंपर अब अनेक प्रकारके बेल-बूटे और चित्र बने दिखाई देते हैं। उसमें प्रवेश करनेपर एक स्वाभाविक आकर्षण होता है, उसके प्रति एक प्रकारकी ममता होती है, अपनी नूतन रचना अथवा अपने बनाए हुए चित्रसे बालकोंके मुखपर स्वनिर्मितिका गौरवपूर्ण उल्लास और उत्साह भी दिखाई देता है, उनकी निष्क्रिय उँगलियोंमें कलापूर्ण सक्रियताकी स्वस्थ चहल-पहल दिखाई देती है, रटने-घोखनेका रोग दूर होता जा रहा है और इससे छात्रोंमें वह आतंक नहीं दिखाई देता जो किसी समय इन पाठशालाओंका विशेष श्रृंगार था। मातृभाषामें शिक्षा होनेसे उनका ज्ञान अधिक वेगसे बढ़ रहा है और विदेशी भाषापर अधिकार प्राप्त करनेके अतिप्रयासमें जो समय और शक्ति नष्ट होती थी वह दूसरे कामोंके लिये बच गई है। अध्यापकको भी थोड़ा विश्राम मिल गया है। वह भी उतना व्यग्र और व्यस्त नहीं दिखाई देता जितना पहले था।

यह सब होते हुए भी तनिक भीतर प्रवेश करनेपर उसमें निष्पक्ष दृष्टिसे आँख गड़ाकर देखनेसे ज्ञात होगा कि हमने जिस स्वर्गके निर्माणके लिये प्रासाद खड़ा किया था उसके निर्माणके पूर्व ही उसपर दानवोंने अधिकार कर लिया है। सबसे पहला दोष तो यह आ रहा है कि विनय और शील, जो मानव-शिक्षा और समाजोन्नतिके दो प्रधान स्तम्भ हैं, वे अत्यन्त निर्ममताके साथ तोड़कर गिराए जा रहे हैं। छात्रोंमें उद्दण्डता, असहनशीलता और उच्छृंखलता बढ़ रही है। वे हस्तकौशलका काम करते अवश्य हैं किन्तु अधिकांश बालकोंकी उधर रुचि नहीं हैं, क्योंकि हमारे देशकी अधिकांश जनता गाँवोंमें रहती है और प्रत्येक छोटे-बड़ेको अपने सब काम अपने हाथ करने पड़ते हैं। घरमें जो बालक प्रातःकाल सानी-पानी करके आया होगा वह चरख़ेके चरख़ेमें पड़कर ऊबेगा नहीं तो क्या होगा और फिर यह हस्त-कौशलका चरख़ा, विधिका चक्र बनकर पाठशालाके सभी घंटोंमें उसके सिरपर घूमता है, क्योंकि भाषा,

इतिहास, गणित, संगीत, सभी विषयोंका पाठ उसी हस्त-कौशलसे प्रारम्भ होता है और उसीसे उनका अन्त हो जाता है। इसके प्रवर्त्तकोंने समझ लिया है कि किसी विषयको मूल हस्तकौशलके आधारपर सिखानेका तात्पर्य यह है कि संगति और आवश्यकताका विचार बिना किए सदा मूल हस्त-कौशल-को लेकर उसका राग अलापते रहें और कहते रहें कि हम मूल हस्तकौशलसे विषयका सहयोग (कौरिलेशन) स्थापित कर रहे हैं। किसीको भी पागल कर डालनेके लिये इससे बढ़कर और क्या उपाय हो सकता है। जान पड़ता है इस योजनाके स्रष्टाओं तथा पोषकोंने 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का पाठ कहीं पढ़ा या सुना नहीं है। उन भले आदमियोंको इतना तो जान ही लेना चाहिए कि विषयोंके पारस्परिक सहयोगका अर्थ केवल यही है कि जहाँ उचित और आवश्यक संबंध स्थापित किया जा सके और एक विषयकी सहायतासे दूसरे पाठ्य विषयको 'अधिक स्पष्ट किया जा सके' वहीं पारस्परिक सहयोग (कौरिलेशन) ठीक होता है। सब विषयोंके लिये तकली या चरख़ा लेकर खड़े हो जाना और बेसिरपैरका, कहींकी ईंट कहीं रोड़ा जोड़ना केवल मूर्खता ही नहीं हास्यास्पद भी होता है।

सामग्रीका विनाश

एक ओर हम समूचे समाजको 'पाई पाई बचाओ', 'कुछ नष्ट न करो' का उपदेश देते हैं, दूसरी ओर हम देख रहे हैं कि हमारे इन नये विद्यालयोंमें सूत, रूई, लकड़ी, काग़ज़, कार्डबोर्ड आदिका इतना अपव्यय हो रहा है कि उसे देखकर अपने देशकी दरिद्रतामें तनिक भी विश्वास करनेका मन नहीं करता। शिक्षा-केन्द्रोंसे तीन-तीन महीनेमें कला-कौशलके महापंडित बनकर निकले हुए अध्यापकगण जो परिमित ज्ञान लेकर आते हैं बस वही ज्योंका त्यों अपने छात्रोंको सिखा देते हैं। युक्तप्रान्तमें, मध्य देशमें जहाँ चाहे चले जाइए, चित्र एकसे, काग़ज़के खिलौने एकसे, लकड़ीके निर्माण भी एकसे और वे सब भी ऐसे हैं जिनका भारतीय जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं। विलायतसे हस्त-कौशलकी शिक्षा पाए हुए महाचार्योंने छात्रोंको तश्तरी, दियासलाईकी डिबिया, चौकोर या अठपहलू डलिया, अँगरेज़ी चालका गिरजाघरके ढंगका घर, पत्र रखनेका बगचा आदि बनाना सिखलाया है। गाँवके लोग इन्हें लेकर क्या करेंगे ! यदि उन्हें झोंपड़ीके कुछ रूप समझाए होते, खटिया बुनना, खाट सालना, चौकी, पीढ़ा या मसालेकी चौकड़ी बनाना सिखाया होता, रस्सी, चर्ख़ा, करघा बनाना सिखाया होता, जिनका उनके जीवनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, तो उन्हें लाभ भी होता और उनके व्यावसायिक जीवनके चुनावमें भी सहायता मिलती।

परीक्षाका भूत

और फिर सबसे बड़ा भूत तो परीक्षाका हमारे सिरपर चढ़ा ही हुआ है। हमारी सम्पूर्ण शिक्षाका केन्द्र तो परीक्षा है। हम जो कुछ पढ़ते हैं या पढ़ाते हैं सब परीक्षाके लिये, क्योंकि समाज यही चाहता है और शिक्षा-विभाग भी यही चाहता है कि छात्र अधिकसे अधिक संख्यामें परीक्षामें उत्तीर्ण हों। परीक्षाफलसे ही अध्यापककी योग्यता और सफलता आँकी जाती है। अतः जबतक यह परीक्षा हमारी प्रणालीमें कृत्या बनकर बैठी रहेगी तबतक हमारी शिक्षाका उद्धार नहीं हो सकता।

नैतिक शिक्षाका अभाव

फिर इस प्रणालीमें नैतिक और धार्मिक शिक्षाका अत्यन्ताभाव है। जिस बातके लिये वास्तवमें शिक्षा दी जानी चाहिए उसीका अभाव इसमें आद्यन्त खटकता है। यदि नैतिक शिक्षाकी हमने उपेक्षा की तो हमारी शिक्षा-योजनाका अर्थ क्या रह जायगा।

वर्धा-शिक्षा-योजनाकी त्रुटियाँ

यद्यपि ऊपर हमने इस योजनाकी आलोचना कर दी है किन्तु वह इसका बाह्य विश्लेषण मात्र है। यदि हम क्रमसे चलें तो प्रतीत होगा कि—(१) महात्मा गाँधी शिक्षा-शास्त्री नहीं थे। उन्होंने अपने आश्रमसे कताई-बुनाईका प्रयोग करके जो परिणाम निकाले थे वे एकदेशीय ही नहीं वरन् एक आश्रमीय थे, जहाँका प्रत्येक सदस्य सेवा, त्याग और आत्म-संयमके भावसे कार्य करता था। अतः ऐसे एक प्रकार और एक संकल्पके लोगोंके प्रयोगको सारे देशके लिये प्रयुक्त करना अत्यन्त अनुचित और भ्रमपूर्ण बात थी। (२) इन विद्यालयोंसे जो यह आशा की गई थी कि इससे निकलनेवाले लोग परस्पर सहयोग करनेवाले समाजकी नींव डालेंगे, वह भी सिद्ध न हुआ, उल्टे ऐसे लोग उत्पन्न हुए जिन्होंने लूटना-खाना प्रारंभ किया और समाजको कलंकित किया। (३) विद्यालयोंसे विद्यालयका व्यय निकल आनेका विरोध तो प्रारंभसे ही होता रहा, यहाँतक कि शिमलेमें जो इस योजनापर विचार हुआ तो स्वावलंबी होनेकी बात छोड़ ही दी गई। (४) हाथके कामपर इतना बल दिया गया और इतना समय निश्चित किया गया कि बौद्धिक ज्ञान ठंढा पड़ गया और यह परिणाम हुआ कि जिन प्रारंभिक विद्यालयोंसे गणितके अच्छे कुशल छात्र निकलते थे, वे निकम्मे निकलने लगे और छात्रोंका सुलेख अभ्यास नष्ट हो गया। (५) विद्यालयोंमें जो छात्रोंने हाथका काम किया, वह न तो छात्रोंके काम आया, न सरकारने ही उसे मोल लिया, सब रद्दी करके फेंक दिया जाता रहा जिससे राष्ट्रकी बड़ी आर्थिक क्षति होती रही। (६) हस्तकौशलके द्वारा जो

अन्य विषयोंकी शिक्षा देनेकी व्यवस्था चली वह अत्यन्त अतिकृत, अव्यावहारिक, अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक, अमनोवैज्ञानिक, आडंबरपूर्ण तथा हास्यास्पद बनी रही। (७) इससे नैतिक या सामाजिक सहयोगके बदले अनैतिक और असामाजिक भावनाएँ उद्दीप्त हुईं और परस्पर अविश्वास तथा असहयोग बढ़ा। यहाँतक कि जिन जात-पातके बन्धनोंको यह प्रणाली दूर करना चाहती थी वे अधिक कटु होकर दृढ़ होते गए। वर्त्तमान ग्राम-जीवन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। (८) इससे समाज-सेवाकी भावनाके बदले स्वार्थ-साधनकी वृत्ति ही बढ़ी। (९) जो पाठ्यक्रम बनाया गया है वह पाँच वर्षकी अवस्थासे प्रारंभ होना चाहिए था और उसमें चार वर्षसे अधिक नहीं लगने चाहिए। कारीगरोंके बच्चे और किसानोंके बच्चे तो यह सब काम चार-पाँच महीनेमें ही आदिसे अन्ततक सीख जाते हैं। (१०) खेती और फल-साग-भाजी उत्पन्न करना कोई हस्तकौशल नहीं है। यह तो शुद्ध व्यवसाय-वृत्ति है जो गाँवोंमें स्वभावतः होती है और नगरोंके लिये, जहाँ भूमि प्राप्त नहीं है, वहाँके लिये व्यर्थ है। (११) बढ़ईगिरी और चमड़ेका काम सबको सिखाकर उस स्थानके बढ़इयों और मोचियोंकी जीविकामें बाधा देना होगा और व्यर्थमें उनके मनमें गाँठ उत्पन्न करके समाजकी संयुक्त भावनाको छिन्न-भिन्न करना होगा और अनावश्यक रूपसे अस्वास्थ्यकर प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करना होगा। इसके अतिरिक्त जिन विद्यालयोंमें बढ़ईगिरी और चमड़ेका काम सिखाया जाता रहा है, वहाँके एक प्रतिशत छात्रोंने भी उसे व्यवसाय-वृत्तिके रूपमें ग्रहण नहीं किया, केवल परीक्षामें उत्तीर्ण होने भरके लिये उसका प्रयोग किया गया। (१२) पाठ्यक्रममें समाजके इल्मके लिये जो विवरण दिया है वह इतना विस्तृत, अव्यावहारिक और शिक्षा-विरोधी रख दिया है कि वह छात्रके लिये भारस्वरूप ही होगा। शिक्षाके सिद्धान्तके अनुसार ज्ञातसे अज्ञातकी ओर चलना चाहिए अर्थात् अपने देशके इतिहाससे प्रारंभ करना चाहिए किन्तु इस योजनामें प्रारंभसे ही संसारका इतिहास पढ़ानेकी कष्ट-कल्पना की गई है और इसी अवस्थामें म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड आदिके नियम भी सिखानेकी निरर्थक योजना बना दी गई है। यह तो हाई स्कूलके पश्चात् सिखाना चाहिए जब वह वयस्क होने लगे, जब उसे लोककार्यमें संलग्न होना पड़े। उसके कच्चे मस्तिष्कपर वोटका भार क्यों डाला जाय। (१३) इसी प्रकार साधारण विज्ञानमें बहुत सा ज्ञान तो गाँवके बालकको इस पाठ्यक्रमसे अधिक होता है। विशेषतः प्रकृति, वनस्पति और पशु-ज्ञानपर शरीर-विज्ञान, रसायन-शास्त्र और वैज्ञानिकोंकी कहानियाँ सीखकर वे क्या करेंगे। (१४) ड्राइंग और संगीत सबके लिये नहीं है। उसके लिये रुचि और प्राकृतिक साधन—उँगली और कंठ चाहिए। ऐसे व्यक्तिको ड्राइंग सिखानेसे क्या लाभ जो करेलेका कटहल और बैंगनकी लौकी बना दे

और ऐसे व्यक्तिको संगीत सिखानेमें समय क्यों नष्ट किया जाय जो सदा गर्दभ स्वरमें रेंकता हो और फटे बाँससे स्वर मिलाता हो। ये विषय अनिवार्य न रखकर ऐच्छिक रक्खे जा सकते हैं। हाँ, सामूहिक गान या भजनके अभ्यासमें कोई दोष नहीं है। (१५) हिन्दुस्तानीकी अनिवार्यता इस योजनाकी सबसे बड़ी भूल थी, विशेषतः दो लिपियोंके साथ। यह अच्छा हुआ कि राष्ट्रने हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपिको राष्ट्रिय व्यवहारके लिये स्वीकार कर लिया है। (१६) परीक्षाका पाप अभीतक बना हुआ है जो शिक्षाका सबसे भयंकर घुन है। (१७) अध्यापकोंके वेतनके संबंधमें जो २०) और २५) मासिकका विधान किया गया है वह अत्यन्त निन्दनीय है। जान पड़ता है इसके विधायकोंने यह समझ लिया है कि अध्यापक वेदान्ती संन्यासी होता है जिसके पास न परिवार होता है न अन्य कोई आवश्यकता।

इसका तात्पर्य यह है कि यह केवल गाँधीजीके प्रति आदर दिखलानेके लिये उन्हें प्रसन्न करनेके लिये, उनकी चाटुकारीके लिये अथवा उनके प्रति अन्ध-श्रद्धाके वश स्वीकार कर लिया गया है। इसमें यदि उचित सुधार न हुआ और इसको ठीक रूपसे व्यवस्थित न किया गया तो बचीखुची शिक्षा भी चौपट हो जायगी और इससे निकलेंगे धोबीके कुत्ते, जो न घरके होंगे न घाटके।

बहुशिल्प-विद्यालय (पोलीटेकनिक स्कूल), दिल्ली

सन् १९३६–३७ में इँगलैंडके दो प्रधान शिक्षाशास्त्री श्री ए. एबट और एस्. एच्. वुड भारत सरकारके निमन्त्रणपर भारतमें व्यावसायिक शिक्षाकी संभावनाओंकी जाँच करने आए थे। उन्होंने जो सुझाव दिए उनके अनुसार दिल्लीमें एक प्रथम श्रेणीका बहुशिल्प-विद्यालय (पोलीटेकनिक इन्स्टिट्यूट) खोला गया।

शिक्षाक्रम और विशेषता

इस विद्यालयके दो विभाग हैं—एक निम्न विभाग और दूसरा उच्च विभाग। निम्न विभागका शिक्षाक्रम तीन वर्षका है।

इस विद्यालयकी विशेषता यह है कि इसमें पुस्तक-ज्ञानतक शिक्षा परिमित नहीं है और रटनेको भी कड़ाईसे रोका जाता है। इसीलिये यहाँ पाठ्य-पुस्तकोंका अत्यन्त अभाव है। प्रत्येक मासके अन्तिम शनिवारको सब छात्र कोई न कोई मनोहर स्थान देखने निकल जाते हैं जहाँ वे कभी तो यन्त्रघरोंमें जाकर यन्त्रोंकी क्रिया देखते हैं, कभी पुराने ऐतिहासिक भवनोंकी बनावट और कारीगरीका अध्ययन करते हैं और कभी जाकर अन्य ऐसी ही बातोंका ब्यौरा एकत्र करते हैं।

अन्य क्रियाएँ

यहाँके बच्चे समय-समयपर अखिल भारतीय आकाशवाणी (औल इण्डिया रेडियो) पर जाकर कुछ गाते-बजाते, कहते-सुनते हैं अन्यथा वे निम्नलिखित सुव्यसनोंमेंसे किसी न किसीमें समय लगाते हैं—फोटोग्राफ़ी, ज्यौतिष, मानचित्र, गत्तेका काम, एकत्रीकरण (टिकट, सिक्के, चित्र आदि), भोजन बनाना, स्काउटिंग आदि। इनके अतिरिक्त नाटक, वादविवाद, संगीत-गोष्ठी आदिका भी आयोजन होता रहता है। बच्चोंके लिये आकाशवाणीपर जो कार्यक्रम चलता है उसे सुननेके लिये रेडियो लगा हुआ है और चित्रप्रदर्शक यन्त्रके साथ व्याख्यान आदिका प्रबन्ध भी होता रहता है। इनके साथ-साथ शारीरिक व्यायाम और खेलकी भी विस्तृत व्यवस्था है।

इस विद्यालयमें प्रत्येक छात्रको विज्ञान और ललितकला सिखानेके लिये भली प्रकार सुसज्जित प्रयोगशालाएँ हैं और यन्त्रशालाओंमें काम करनेके लिये भी प्रत्येक छात्रको सप्ताहमें कुछ घंटे जाना ही पड़ता है।

उच्च विभाग

उच्च विभागमें बिजली तथा यान्त्रिक विज्ञान, वास्तुकला, प्रयोगात्मक विज्ञान तथा कलाओंकी शिक्षाके लिये उचित व्यवस्था है और सर्वसाधारणके लिये भी संध्याको शिल्पकला सिखानेका प्रबन्ध किया गया है।

विश्लेषण

भारतकी वर्तमान आर्थिक स्थितिको देखते हुए यह आवश्यक है कि इस प्रकारके विद्यालय भारतके प्रत्येक ज़िलेमें खोले जायँ क्योंकि व्यवसायोंकी सर्वतोमुखी उन्नतिके साथ-साथ शिक्षित शिल्पियोंकी बड़ी आवश्यकता पड़ रही है और यदि इस प्रकारके विद्यालय स्थान-स्थानपर खोल दिए जायँ तो स्थानीय व्यवसायियोंको भी नये व्यवसाय प्रारंभ करनेकी प्रेरणा मिलती रहे और उन्हें यह भी विश्वास रहे कि यदि कोई यान्त्रिक व्यवसाय प्रारंभ कर दिया जाय तो यन्त्र मँगाने या ठीक करानेकी सहायता इन शिल्प-विद्यालयोंसे प्राप्त होती रहेगी। उन्हें यह भी संतोष रहेगा कि इन विद्यालयोंसे हमें निरन्तर समय-समयपर कुशल शिल्पी भी मिलते रहेंगे। इन विद्यालयोंसे सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि यहाँके शिक्षित शिल्पी स्वयं अपने व्यवसाय खड़े कर लेंगे, बेकारोंकी संख्या घटने लगेगी और यहाँ भी व्यावसायिक निर्देशके लिये प्रयोगशालाएँ खोलना आवश्यक हो जायगा।

३०

आदर्श शिक्षा-योजना

शिष्याध्यापक पद्धतिपर गुरुकुल-प्रणाली

हमारी आवश्यकता

अपने देशकी शिक्षाकी व्यवस्था करनेसे पूर्व हमें अपनी आवश्यकताएँ देखनी चाहिएँ और उनकी पूर्तिके लिये शिक्षाकी योजना बनानी चाहिए। हमारी इतनी आवश्यकताएँ हैं—

१—चरित्रबल।

२—अर्थबल।

३—शरीरबल।

४—बुद्धिबल।

५—संस्कारबल।

सिद्धान्त

इन पाँचों बलोंके बिना हमारे देशके मानवोंकी व्यक्तिगत या सामूहिक उन्नति असम्भव है। अतः हमें इनके लिये निम्नलिखित सिद्धान्त स्थिर करने चाहिएँ—

१—स्वस्थ स्थानोंमें विद्यालय हों।

२—छात्र और अध्यापक पारिवारिक जीवन व्यतीत करें।

३—कन्याओं और कुमारोंकी शिक्षा भिन्न प्रकारकी हो और भिन्न विद्यालयोंमें हों।

४—शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य हो।

५—चरित्रबलकी शिक्षा उदाहरण तथा कौटुम्बिक जीवन-द्वारा, अर्थबलकी शिक्षा व्यावसायिक ज्ञान-द्वारा, शरीरबलका क्षिक्षा व्यायाम-द्वारा, बुद्धिबलकी शिक्षा भाषा, साहित्य, नीति, गणित, इतिहास, विज्ञान आदिके द्वारा तथा संस्कारबलकी शिक्षा संगीत, चित्रकला, समाज गोष्ठी आदिके द्वारा होनी चाहिए।

मंडल-विद्यालय

यह तभी सम्भव है जब कई ग्रामोंके बीच एक मंडल-विद्यालय हो और एकाध्यापक प्रणाली या शिष्याध्यापक प्रणालीसे पढ़ानेकी व्यवस्था हो। इस मंडल-विद्यालयको अन्न-वस्त्र देनेका भार उस मंडलके ग्रामोंपर

हो जो अपनी उपजका तथा अपने व्यावसायिक लाभका दशम अंश इस विद्यालयके लिये निकाल दें। इस मंडल-विद्यालयके पास इतनी गौएँ और इतनी भूमि हो कि पर्याप्त दूध, अन्न और तरकारी छात्रोंको मिल सके। यहाँके छात्र सब काम स्वयं करें और प्रबन्ध भी सब उन्हींके हाथों हो। अपनी कुटिया तथा विद्यालय आदि सब वे स्वयं बनावें। सब छात्रोंके लिये एक ही कार्यक्रम न हो। सबको एक ही डंडेसे न हाँका जाय। आजकल जो वर्धा-शिक्षायोजनाके आधारपर विभिन्न नामोंसे योजनाएँ चलाई जा रही हैं वे अत्यन्त अस्वाभाविक हैं क्योंकि वे बलपूर्वक उन बालकोंको भी उन विषयोंमें अधिक समय देनेको बाध्य करती हैं जिनकी उसमें रुचि नहीं है। अनिवार्य विषयोंमें केवल भाषा और साधारण गणित ही आवश्यक हैं, शेषमेंसे छात्रोंको स्वतन्त्रता देनी चाहिए कि वे जितने और जो विषय चाहें ले लें। इसी प्रकार जो विद्यार्थी हस्तकौशल नहीं सीखना चाहता उसे विद्यालयका और दूसरा काम देना चाहिए जिसमें उसे रुचि हो और जिसके लिये उसे शारीरिक श्रम करना पड़े क्योंकि उद्देश्य तो यही है कि छात्र सुस्त न बैठें, शारीरिक परिश्रमका अभ्यास करें और उसका महत्त्व समझें। विद्यालयकी शिक्षावधिके अन्तमें छात्र निकले तो वह सच्चा, निर्भय, सुगठित शरीरवाला, सदाचारी, शिष्ट, व्यवहार-कुशल और कोई शुद्ध व्यवसाय करके जीविका कमा सकनेवाला होकर निकले जिससे व्यक्ति, परिवार, नगर, देश, और समाजका हित हो, अहित कभी न हो और बालक अपने मनकी बात कुशलतासे व्यक्त करने योग्य हो।

मंडल-विद्यालयका कार्यक्रम

इस दृष्टिसे मंडल-विद्यालयका कार्यक्रम इस प्रकार हो—

प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठकर सब शौच-स्नानादिसे निवृत्त होकर गौओंको सानी-पानी देकर प्राणायाम और व्यायाम करें। इसके पश्चात् धारोष्ण गोदुग्ध पीवें। फिर सम्मिलित प्रार्थना करके भाषा, गणित तथा विज्ञानका अध्ययन करें। तत्पश्चात् भोजन बनाकर परोसकर सब भोजन करें। भोजनके पश्चात् एक घंटे विश्राम तथा वस्त्र-प्रक्षालनादि करें, फिर दो घंटेतक पढ़े हुए पाठपर परस्पर विचार और अध्ययन करें तथा पुस्तकालयका प्रयोग करें। तत्पश्चात् अपनी-अपनी रुचिके अनुसार एक-एक घंटे किसी हस्तकौशल, संगीत या मूर्त्तिकला आदिका अभ्यास करें। सूर्यास्तसे दो घंटे पहलेसे खेती-बारी, फुलवारी आदिकी देखरेख, विद्यालयकी स्वच्छता आदिका काम तथा गौओंको सानी-पानी देकर सूर्यास्तके पश्चात् सब छात्र दूध पीकर एकत्र हों। वहीं ईश-प्रार्थनाके पश्चात् सबको समान रूपसे एक घंटेतक इतिहास,

पुराण, सामाजिक जीवन, नागरिक-शास्त्र, सदाचार आदिपर कथा, व्याख्यान आदि सुनाए जायँ और चित्र आदि दिखाए जायँ। तदनन्तर दस बजते-बजते सब सो जायँ।

इस जीवनसे लाभ

इस मण्डल-विद्यालयमें परस्पर एक दूसरेकी सेवा और सहयोगसे तथा वहाँ सब प्रकार काम करनेसे चरित्रबल, सदाचार, सचाई, शिष्टता, व्यवहार-कुशलता और नैतिकताकी स्वाभाविक शिक्षा मिलती रहेगी। खुले जंगलके वातावरणसे स्फूर्ति तथा स्वस्थता मिलेगी और व्यायाम तथा पर्यटनसे छात्रोंका शरीर भी खुलेगा। विभिन्न पर्वों और उत्सवों या महापुरुषोंकी जयन्तियाँ मनाकर तथा उनका गुणगान करके उदात्त वृत्तियोंका विकास होगा और सत्कार्यमें प्रवृत्ति बढ़ेगी।

प्रणाली

इस विद्यालयकी शिक्षा-प्रणाली भी यह हो कि एक प्रधान गुरु हो जो सर्वस्वीकृत बहु-विद्याविचक्षण, तेजस्वी, प्रतिभाशाली विद्वान् हो जो ऊपरकी कक्षाको पढ़ावे, शेष सब कक्षाओंको क्रमशः ऊपरके छात्र ही पढ़ाते चलें। इससे विनय, शील और परस्पर आदर तथा सम्मानकी भावना बढ़ेगी।

कन्याओंका पाठ्यक्रम

जैसे पुरुषोंके लिये अलग विद्यालयकी आवश्यकता है वैसे ही कन्याओंके लिये भी है किन्तु उनकी शिक्षा-योजना भिन्न होनी चाहिए। वे समाजकी माता होती हैं अतः उन्हें सफल मातृत्वकी शिक्षा देनी चाहिए। इसी मातृत्व पदके साथ उनका गृहिणी पद भी लगा हुआ है। उनकी शिक्षा व्यक्तिगत न होकर ऐसी हो कि वे जिस परिवारमें पहुँचे उसे सुखी, स्वस्थ, सद्वृत्त, शिष्ट और सुन्दर बना दें। यही उनकी सामाजिक श्रेष्ठता है।

कन्याओंकी शिक्षा

कन्याओंकी शिक्षा ऐसी हो जिसमें सांस्कृतिक, उपयोगी, हस्तकौशलपूर्ण, मनोविनोदात्मक तथा व्यावहारिक विषयोंका समावेश हो।

इस दृष्टिसे कन्याओंका पूर्ण पाठ्यक्रम इस प्रकारका होना चाहिए—

सांस्कृतिक विषय—भाषा (मातृभाषाका पूर्ण ज्ञान तथा संस्कृतका व्यावहारिक ज्ञान।)

चित्रकला (मनुष्य और प्रकृतिका चित्रण तथा धार्मिक चित्र)

संगीत (भजन, कीर्त्तन (वाद्य तथा शास्त्रीय संगीतका ज्ञान ऐच्छिक हो ।)

इतिहास (पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषोंकी तथा धार्मिक कथाएँ ।)

उपयोगी—स्वास्थ्यकी मोटी-मोटी बातें और घरलू चिकित्सा (सबको स्वच्छ और स्वस्थ रखना), भोजन बनाना (नित्य भोजनके अतिरिक्त अन्य खाद्य, पेय, लेह्य, चोष्य तथा चर्व्य पदार्थ बनाना), घरकी व्यवस्था (कपड़े-लत्ते, बर्तन-भाँड़े, अन्न, आभूषण तथा अन्य सामग्रीकी देख-रेख और घरकी स्वच्छता), शिशुपालन (बच्चेका भोजन, रक्षण, पालन, रोग-निवारण आदि), साधारण गणित (घरके आय-व्ययका लेखा आदि)

हस्तकौशल—घरकी सजावट ।

फूल गूँथने और सींक बुननेकी कला ।

सीना, पिरोना, बुनना, काढ़ना ।

रँगना, धोना ।

ओटना, धुनना, कातना, बुनना ।

फुलवारी लगाना ।

मनोविनोदात्मक—कहानी सुनाना

घरेलू उत्सव

गीत, वाद्य और नृत्य

व्यावहारिक—सहनशीलता

बैंक और डाकका काम

अतिथि-सत्कार ।

यात्राके नियम जानना और उसकी व्यवस्था करना

सबसे सद्व्यवहार और मधुरभाषिता ।

इतनी और इस प्रकारकी शिक्षा संसारकी कन्याओंको मिल जाय तो संसारके घरोंसे देवताओंको भी ईर्ष्या होने लगे और यह पृथ्वी इन्द्र-लोकको भी लज्जित करने लगे ।

काशी
विजयादशमी
सं० २००८

सीताराम चतुर्वेदी

परिशिष्ट १

वैदिक आर्य शिक्षा-प्रणाली

कर्मवाद

वैदिक युगमें ही आर्योंने इहलौकिक और पारलौकिक तत्त्वोंका ज्ञान समन्वित करके यह सिद्धांत निकाल लिया था कि प्रत्येक प्राणी कर्मके बन्धनमें बँधा हुआ है। वह जैसा करता है वैसा ही उसे फल भोगना पड़ता है और यह फल उसे या तो इसी जीवनमें भोग लेना पड़ता है या उसे भोगनेके लिये उसे दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। इस दूसरे जन्ममें यह आवश्यक नहीं है कि उसे मानव शरीर ही प्राप्त हो। अंडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज इन चार आकरोंमेंसे किसीके द्वारा चौरासी लाख योनियोंमें वह घूम सकता है। इस आवागमनके फेरसे मुक्त करनेके लिये ही आर्योंने तीन विधान किए—१. सत्कर्म किए जायँ, अर्थात् धर्माचरण किए जायँ, २. ज्ञानकी अग्निमें सब कर्म ही जलाकर भस्म कर दिए जायँ, ३. जो भी कर्म किया जाय सब ईश्वरको अर्पण कर दिया जाय। सुकर्म और कुकर्म सबसे अपना पल्ला बचा रहे क्योंकि धर्माचरण करनेमें भी एक बन्धन यह लगा हुआ था कि सत्कर्मका फल भोगनेके लिये तो मनुष्यको जन्म लेना ही पड़ेगा। इतना सिद्धान्त प्रतिपादित कर देनेपर भी वे यह जानते थे कि यदि प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करनेके फेरमें पड़ जायगा तो लोक-स्थिति या सामाजिक जीवनमें संकट उत्पन्न हो जायगा इसलिये उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि कर्म तो सभीको करना चाहिए, पर कर्ममें लिप्त नहीं होना चाहिए। कर्मके परिणामसे अपनी बुद्धि और अपने मनको अलग या असंग रखना चाहिए। इतनी सब बातें विचारकर उन्होंने धर्मकी परिभाषा ही ऐसी बना दी जिसमें इहलोक और परलोक दोनोंके परम सौख्यका सुन्दर समन्वय हो सके। वैशेषिक दर्शनमें धर्मकी परिभाषा बताई गई—

'यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

[जिससे इस लोकमें पूर्ण अभ्युदय या सौख्य मिले और परलोकमें मुक्ति प्राप्त हो वही धर्म है।]

अभ्युदय और तीन एषणाएँ

अभ्युदय या इहलौकिक सौख्य क्या हो सकता है? इसके संबंधमें विस्तृत विचार करके आर्योंने यह निष्कर्ष निकाला कि मनुष्यकी संपूर्ण लौकिक चेष्टाएँ

या तो धन-संपत्ति प्राप्त करनेके लिये होती हैं, या पुत्र प्राप्त करनेके लिये होती हैं या यश प्राप्त करनेके लिये होती हैं। इन तीनों प्रवृत्तियों या इच्छाओं-को उन्होंने क्रमशः वित्तेषणा, पुत्रेषणा और लोकेषणा कहा है। इन्हींको हम दूसरे शब्दोंमें अर्थ-प्रवृत्ति, काम-प्रवृत्ति और धर्म-प्रवृत्ति या यशःप्रवृत्ति कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग हैं जो इस जीवनसे ऊबकर अलक्ष्य परमात्म शक्तिमें लीन हो जाना चाहते हैं या उसकी किसी व्यक्त सत्तासे परम सान्निद्ध या तन्मयत्व सिद्ध करना चाहते हैं। इसे हम मोक्षेषणा कह सकते हैं। इन्हीं चारों एषणाओंकी सिद्धिके लिये आर्योंने प्रत्येक मनुष्यके लिये यह निर्धारण किया कि सबको चार पुरुषार्थ सिद्ध करने चाहिएँ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यही मनुष्य-जीवनकी सफलता है, यही इसका परम-लक्ष्य है, यही इसका पौरुष और कर्त्तव्य है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तोंसे भेद

आजकलके कुछ मनोवैज्ञानिक विशेषतः फ्रौएड, यूंग और एडलर यह मानते हैं कि मनुष्यकी संपूर्ण चेष्टाओंका आधार भोजन और मैथुन है। वे लोकेषणाको भी इन्हींके अन्तर्गत ही लेना चाहते हैं किन्तु वे यह नहीं समझते कि कभी कभी मनुष्य जलते भवनमें रोते हुए बच्चोंको निकाल लानेके लिये अपने प्राण संकटमें डालता है, डूबते हुए अपरिचित व्यक्तिको बचा लानेके लिये जलमें कूद जाता है, अनुभव मात्र प्राप्त करके संसारको इसका परिचय देनेके लिये हिमालयपर चढ़ जाता है और अपने देशकी रक्षाके लिये तोपके मुँहमें कूद पड़ता है, फाँसीपर झूल जाता है, यातनाएँ सहता है यहाँतक कि वह अनशन भी करता है। इसके पीछे भोजन और मैथुनकी भावना कहाँसे आ धमकी। निश्चय ही इन प्रवृत्तियोंका आधार लोकोत्तर कार्य करके यश पाना या धर्म-निर्वाह ही है। यह सत्य है कि साधारण मनुष्यकी अत्यन्त साधारण प्रवृत्ति भोजन और मैथुनकी भी होती है पर अन्यन्त साधारण प्रवृत्तियोंमें निद्रा (आलस्य या कामचोरी) और भय भी तो है इसलिये किसी नीतिज्ञने कहा है—

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीना पशुभिः समानाः॥

[भोजन, नींद, डर और मैथुन, ये चारों ही प्रवृत्तियाँ पशुओं और मनुष्योंमें एक सी होती हैं किन्तु मनुष्यमें एक धर्म-प्रवृत्ति अधिक होती हैं और जिस मनुष्यमें यह धर्म-प्रवृत्ति नहीं होती, वह मनुष्य नहीं हैं।] यद्यपि यह सूची पूरी नहीं है क्योंकि जब गौ अपने बछड़ेको बचानेके लिये, हिरनी अपने छौनेकी रक्षाके लिये और बाघिन अपने बघौटोंकी आड़के लिये जूझ पड़ती है तो निश्चय ही मनुष्यकी एक और भी विशेष प्रवृत्ति होती है जिसे हम भोजन और

मैथुनके अन्तर्गत तो नहीं रख सकते पर धर्मके भीतर रख सकते हैं या अधिकसे अधिक एक नई प्रवृत्ति मान सकते हैं—मोह या स्नेह-प्रवृत्ति। किन्तु भारतीय सिद्धान्तकी काम-प्रवृत्तिके अन्तर्गत यह सब आ जाता है। हाँ, यह अवश्य माना जा सकता है कि आजकल बहुत लोगोंकी काम-प्रवृत्तिका लक्ष्य सुन्दर मनचाही स्त्री पाना ही है, पुत्र हों या न हों। इसलिये हम अपनी एषणाओंमेंसे पुत्रेषणाको बदल कर कलत्रेषणा कह सकते हैं। यही बात भोजनके संबंधमें भी है। मनुष्य केवल भोजनसे संतुष्ट नहीं होता, उसे सुन्दर, स्वादिष्ट भोजन चाहिए, भोजनके पश्चात् विश्रामके लिये आवास, शैया, बयार, वस्त्र सभी कुछ चाहिए और इन सबको भी वह जितना सुखकर बनाना चाहता है, उतना बनानेका प्रयत्न भी करता है। ये सब मिलाकर उसकी काम-प्रवृत्ति बनती है, इसलिये केवल भोजन मात्रको मूल प्रवृत्ति नहीं कहना या मानना चाहिए।

धर्म किसे कहते हैं

'धारणाद्धर्ममित्याहुः'के अनुसार जो सबकी रक्षा करे वही धर्म है। भगवान् व्यासने दो श्लोकोंमें बड़े अच्छे ढंगसे धर्मकी व्याख्या की है। वे कहते हैं—

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति मे मतः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

[प्राणियोंके कल्याणके लिये धर्मका बखान किया गया है। जिस कर्मसे प्राणियोंका कल्याण होता हो उसे धर्म कहते हैं। अहिंसाके लिये धर्मका बखान हुआ है। जिन कामोंसे हिंसा न होती हो (दूसरेको मानसिक या शारीरिक कष्ट न होता हो) वही धर्म है।] गोस्वामी तुलसीदासजीने इसीको इस प्रकार समझाया है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसे सब काम धर्म कहलाते हैं जिनसे दूसरोंको सुख मिलता हो, शान्ति मिलती हो, लोक-कल्याण होता हो, किसीका जी न दुखता हो, किसीको किसी प्रकारका कष्ट न होता हो। इस प्रकारके कर्मोंसे सुख पानेवाले लोग निश्चय ही प्रशंसा करेंगे, गुण गावेंगे, बड़ाई करेंगे और यही वास्तवमें लोकेषणाकी तृप्ति है, यश प्राप्त करके सुखी होनेकी भावना है और यही धर्म-प्रवृत्ति है।

काम-प्रवृत्ति

हम ऊपर समझा आए हैं कि कामका अर्थ केवल मैथुन मात्र नहीं समझना चाहिए। वह भूख-प्यासके समान ही एक साधारण-सा शारीरिक उत्प्रेरण है जो पशुमें भी होता है। पर मनुष्यका 'काम' पशुओंके समान क्षणिक सम्पर्क मात्रसे समाप्त नहीं हो जाता। वह परिवार जोड़ता है, उन्हें प्रसन्न, सुखी, स्वस्थ और सुस्थिर रखनेके लिये भवन बनाता, निश्चित वृत्ति ग्रहण करता, अनेक प्रकार की सामग्रियाँ जोड़ता और सब प्रकारके अनिष्टों, उपद्रवों और आघातोंसे अपने परिवारकी और अपनी रक्षा करता है। ये सब बातें मिलकर उसकी काम-प्रवृत्तिका निर्माण करती हैं। यह प्रवृत्ति जितनी ही अधिक तृप्त होती चलती है, उतनी ही अधिक बढ़ती भी चलती है इसलिये इसके संबंधमें इत्यलम् नहीं कहा जा सकता।

अर्थ-प्रवृत्ति

जैसे काम-प्रवृत्तिकी कोई सीमा नहीं होती वैसे ही अर्थ-प्रवृत्तिकी भी कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। किन्तु यही प्रवृत्ति वास्तवमें धर्म प्रवृत्ति और काम-प्रवृत्तिकी पोषिका है। यह प्रवृत्ति कम हो या न हो तो न धर्म सध सकता है न काम। इसलिये अर्थ-प्रवृत्तिकी साधना अवश्य करनी चाहिए अर्थात् प्रयत्न-पूर्वक इतना धन, इतनी सम्पत्ति अर्जित कर लेनी चाहिए कि हम अपनी धर्म और काम-प्रवृत्तियोंको तृप्त और तुष्ट कर सकें। किन्तु इसमें एक सबसे बड़ प्रतिबन्ध यह है कि यह अर्थार्जन या धनका प्राप्त करना धर्म मार्गसे, अच्छी जीविकासे, सच्चाईसे तथा दूसरोंको बिना कष्ट दिए होना चाहिए। यदि इस अर्थार्जनमें तनिक भी पाप-संग हुआ कि धर्म भी नष्ट हो जाता है और काम भी समाप्त हो जाता है।

मोक्ष-वृत्ति

मोक्षवृत्ति दो प्रकारसे उद्दीप्त होती है— १. या तो धर्म, अर्थ और कामकी अतृप्तिसे या २. धर्म, अर्थ और कामकी अतितृप्तिसे। अतृप्तिसे जो मोक्षवृत्ति उद्दीप्त होती है वह अस्थिर और चंचल होती है। उसमें यदि कहीं भी उपर्युक्त तीनों वृत्तियोंकी तुष्टिके साधन निकल आते हैं तो वह तत्काल समाप्त हो जाती है। किन्तु अतितृप्तिसे जो मोक्षवृत्ति उद्दीप्त होती है वह स्थिर रहती है और वह निश्चित रूपसे सफल भी होती है क्योंकि वह ऐसी विराग-दशामें उत्पन्न होती है जब किसी प्रकारकी कोई लौकिक इच्छा शेष नहीं रह जाती और सांसारिक भोगोंसे भली प्रकार जी ऊब चुका रहता है।

सिद्धिकी व्यवस्था

इन चारों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्यका

शरीर स्वस्थ और सशक्त हो, उसकी बुद्धि ज्ञान-विज्ञानसे इतनी विवेक-युक्त हो गई हो कि वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित, अच्छा और बुरा सबका भली प्रकार निर्णय कर सके, उसका मन इतना सध गया हो कि वह सब जीवोंमें आत्मभाव स्थापित कर सके, दूसरेके दुःखसे दुखी और सुखसे सुखी होना जान सके। इसी उद्देश्यको स्थिर करनेके लिये आर्योंने वर्णाश्रमकी व्यवस्था की और धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र तथा मोक्षशास्त्रके द्वारा शिक्षा व्यवस्थित कर दी।

वर्ण-व्यवस्था

जैसे शरीरमें सिर हाथ, उदर, पैर आदि विभिन्न अंगोंसे शरीर बना हुआ है और ये सब अंग पूरे शरीरकी रक्षाके लिये निरन्तर सचेष्ट रहते हैं उसी प्रकार आर्योंने सभी सृष्टिको, सब प्रकारके जड़ और चेतन पदार्थोंके गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार चार भाग या वर्ण बना दिए। इसके अनुसार वृक्ष भी चार वर्णके हुए—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, हाथी भी चार वर्णके हुए, घोड़े भी चार वर्णके हुए, जल भी चार वर्णके हुए और मनुष्य भी चार वर्णके हुए। यदि कोई व्यक्ति हाथके दुर्बल रह जानेसे या कट जानेसे हाथका काम पैरसे करने लगे तो उसके पैरको केवल हाथका काम करने मात्रसे हाथ नहीं कहने लगते। उसी प्रकार यदि किसी वर्णका पुरुष किसी दूसरे वर्णके योग्य कार्य करने लगे तो उससे उसका वर्ण नहीं बदल जाता क्योंकि पारम्परिक संस्कारके कारण उसकी जो मानसिक वृत्ति बन जाती है वही वर्ण-व्यवस्थामें प्रधान समझी जाती है। केवल बाह्य आचरण और व्यवसायसे उसमें अन्तर नहीं आता। यदि घोड़ेसे बोझ ढोनेका काम लिया जाय तो वह गधा नहीं कहला सकता और यदि खच्चर या गधेको टमटममें जोत दिया जाय तो वह घोड़ा नहीं कहला सकता। घोड़ेका घोड़ापन उसके जन्मसंस्कारपर अवलंबित है भले ही वह गधेसे भी अधिक दुर्बल और अशक्त क्यों न हो गया हो। इस प्रकारकी व्यवस्थासे गुण-कर्म-स्वभावके कारण समाजकी चार मुख्य आवश्यकताएँ बाँट दी गईं—बौद्धिक, शारीरिक, आर्थिक और सेवात्मक। इस प्रकार काम बँट जानेसे सब अपनी रुचि, सामर्थ्य और प्रवृत्तिके अनुसार बिना पारस्परिक संघर्षके लोककल्याणके कार्योंमें संलग्न हो गए। आजका मनोविज्ञान भी गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा है कि मनुष्यकी रुचि, प्रवृत्ति और समर्थताका परीक्षण करके उसके योग्य कार्य उसे दिया जाय। यह कार्य आर्योंने न जाने कितने सहस्र वर्ष पहले ही कर दिया और उन्होंने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक उन लोगोंपर व्यर्थ पढ़नेका भार नहीं डाला जो अनेक प्रकारके शिल्पों और कलाओंका पोषण करके समाजकी रक्षा कर रहे थे क्योंकि यदि वे भी गुरुकुलोंमें

भेजे जानेके लिये विवश किए जाते तो उनकी निकुलीनिका (कुल या घरकी व्यवसाय-कला) ठंढी पड़ जाती। अतः पढ़ने-लिखनेकी अनिवार्यता केवल उन तीन वर्णोंके लिये रक्खी गई जिनका काम बिना अध्ययनके चल ही नहीं सकता था।

चारों वर्णोंके कर्त्तव्य

ब्राह्मणोंका काम था पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। क्षत्रियका काम था प्रजा, आश्रित या आर्त्त जनोंका रक्षण और पालन करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना तथा भोगविलाससे दूर रहना। वैश्यका काम था ढोर पालना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, व्यापार करना, महाजनी करना और खेती करना। शूद्रका काम था निश्छल भावसे सब वर्णोंके कामकी वस्तुएँ बनाना, जुटाना और सेवा करना अर्थात् ब्राह्मणोंके यज्ञके लिये कुंड, पात्र, खड़ाऊँ, दण्ड, कुटी आदि बनाना तथा मृगछाला आदि एकत्र करना, क्षत्रियोंके लिये रथ, यन्त्र और अस्त्र-शस्त्र बनाना तथा वैश्योंके लिये हल, गाड़ी, रस्सी, रथ आदि बनाना। जीविका चलानेके लिये ब्राह्मण यज्ञ कराने और अध्यापनका कार्य करते थे और केवल उसीसे दान लेते थे जिसने सचाई और अच्छे कामसे धन कमाया हो। ब्राह्मणका काम यह था कि वह सदा प्राणिमात्रके उपकारमें लगा रहे, किसी प्रकार भी किसीका अहित न करे। उसका यह भी धर्म था कि वह सब प्राणियोंसे दया और मित्रताका व्यवहार करे, कभी भूलकर भी धनका लोभ न करे तथा सन्तोषका जीवन बितावे। उसका यह भी काम था कि वह वेद पढ़ने, तीर्थ करने और पृथ्वीदर्शनके लिये सारे भूमंडलपर भ्रमण करे और ज्ञानका प्रसार करे।

आश्रम-व्यवस्था

जिस प्रकार समाजको पूर्णांग व्यवस्थित करनेके लिये वर्ण-व्यवस्थाका विधान किया गया वैसे ही मनुष्यके व्यक्तित्वको पूर्ण करनेके लिये आश्रम-व्यवस्था स्थापित की गई, क्योंकि हम इस ग्रंथमें भली प्रकार देख आए हैं कि सब देशोंमें जितनी शिक्षा-व्यवस्थाएँ चलीं उन सभीमें या तो व्यक्ति प्रधान रहा या समाज। किन्तु भारतीय वैदिक जीवनकी यह व्यवस्था रही कि उसमें व्यक्ति और समाज दोनों समान रूपसे प्रधान बने रहे और यही कारण है कि हमारा समाज आजतक ज्योंका त्यों सुस्थिर बना चला आ रहा है और संसारके अन्य सभी देश अपनी एकांगी संस्कृतिको लिए-दिए समाप्त हो गए।

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिके लिये ज्ञान भी आवश्यक है और बुद्धि भी। इसी कारण यह निर्देश किया गया कि

सौ वर्ष मानवीय पूर्णायुके चौथाई अंशको विद्याध्ययनके लिये सुरक्षित कर दिया जाय अर्थात् २५ वर्षकी अवस्थातक छात्र पढ़ते रहें। पच्चीस वर्षकी अवस्था तक केवल ब्राह्मणके पुत्रको ही नहीं, क्षत्रिय और वैश्यको भी विद्यालयमें अध्ययन करना पड़ता था। प्रत्येक वर्णको जितनी विद्या अपेक्षित होती थी उतना ज्ञान देकर ही उसे छुट्टी दे दी जाती थी। इसका तात्पर्य यह है कि पाठ्यक्रमके निर्णयमें वर्णका भी विचार किया जाता था। इस अध्ययनकी अवस्थाको ब्रह्मचर्याश्रम कहते थे। इसके पश्चात् गृहस्थाश्रम आता है। ब्रह्मचर्याश्रम अवस्था पार करते ही प्रत्येक व्यक्तिको विवाह करके गृहस्थ हो कर गृहस्थ जीवनमें धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धि करना आवश्यक था। २५ वर्षतक गृहस्थ धर्मका निर्वाह करके ५० वर्षकी अवस्थामें अपने पुत्र आदिको घरका भार सौंपकर लोग तपस्याके लिये वनमें चले जाते थे और वहाँ शरीरको इस प्रकार साध लेते थे कि वह मोक्षकी सिद्धिके निमित्त तपस्या करनेको तैयार हो जाय और फिर ७५ वर्षकी अवस्था पार करते ही मनुष्य सांसारिक बन्धनोंसे पूर्णतः विरक्त होकर संन्यास ले लेता था और जीवित ही मोक्ष प्राप्त कर लेता था। यह आश्रम धर्म भी पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। प्रारंभमें अध्ययन करना, फिर गृहस्थ-जीवनमें सचाईसे धन कमाकर लोकसेवा करना, धर्म और यश कमाना, गृहस्थीका सुख भोगना और कामेषणा तृप्त करना, वानप्रस्थमें धीरे-धीरे संसारसे विरक्त होनेका अभ्यास करना और अन्तमें पूर्णतः मुक्त हो जाना। इस क्रमसे मनुष्य इस संसारका और परलोकका सुख एक साथ साध सकता है। इसमें संघर्ष नहीं, केवल कर्तव्य-बुद्धि प्रधान है। आजकलकी भाँति यह नहीं है कि अन्त समयतक अपनी संपत्तिसे लिपटे पड़े रहें और अपने पुत्र-पौत्र तथा बन्धुजनोंके ईर्ष्या-भाजन बनें।

चारों आश्रमोंकी योग्यता और कर्त्तव्य

ब्राह्मणको ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास चारों आश्रमोंका पालन करना पड़ता था। क्षत्रियों और वैश्योंको संन्यास नहीं लेना पड़ता था, केवल तीन ही आश्रमोंमें रहना पड़ता था। शूद्रके लिये केवल गृहस्थाश्रमका ही विधान था। उपनयनके पश्चात् जितेन्द्रिय होकर गुरुगृहमें रहते हुए अंगों सहित वेद पढ़ना ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता था। इस अवस्थामें उपनयन हो जानेपर ब्रह्मचारीका यह कर्त्तव्य था कि वह मन लगाकर गुरुके घरको ही अपना घर समझे, वहाँ वेद पढ़े, अत्यन्त पवित्र तथा निरालस भावसे गुरुकी सेवा करे, दोनों समय सन्ध्या करे, सूर्यकी उपासना करे, गुरुजीका अभिवादन करे, गुरु खड़े हों तो खड़ा रहे, बैठें तो अपने गुरुसे नीचे आसनपर बैठ जाय,

सदा गुरुकी आज्ञा माने, गुरुकी आज्ञासे उनकी ओर मुँह करके मन लगाकर विद्या सीखे, उनकी आज्ञा लेकर ही भिक्षासे प्राप्त किया हुआ अन्न ग्रहण करे, गुरुके स्नान कर लेनेपर स्नान करे, नित्य समिधा, जल, आरने, कुशा, पत्तल आदि सामग्री प्रातः लाया करे और पढ़ाई पूरी हो चुकनेपर गुरुकी आज्ञा लेकर गुरु-दक्षिणा देकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे।

२५ वर्षमें विवाह कर चुकनेपर गृहस्थका धर्म यह था कि वह श्राद्ध आदि करके पितरोंको, यज्ञ आदिके द्वारा देवताओंको, धन-भोजनादि देकर अतिथियोंको, स्वाध्यायके द्वारा ऋषियोंको, सन्तान उत्पन्न करके प्रजापतिको, अन्न-फल आदिकी बलि देकर भूतादिको तथा दया और स्नेह-भावके द्वारा सारे संसारको तृप्त, प्रसन्न, संतुष्ट और सुखी करता रहे, भिक्षाभोगी, परिव्राजक, ब्रह्मचारी, पर्यटक, सायंगृह तथा साधुजनोंका स्वागत करे, उनसे मधुर वचन बोले, उन्हें आसन, जल, भोजन और शैय्या दे, कभी द्वेष, क्रोध अहंकार और पाखंड न करे, किसी प्रकार भी किसीका अपमान या अहित न करे, धर्मानुकूल आचरण करते हुए जीविका कमावे, सन्तान उत्पन्न करे और परिवारका पालन करे।

पचासकी अवस्था पार कर चुकनेपर अपनी गृहस्थी भली प्रकार जमा लेने तथा पुत्रों-पुत्रियोंको शिक्षा देकर, उनका विवाह करके, उन्हें भली प्रकार गृहस्थाश्रममें प्रतिष्ठित करके अपनी भार्याको पुत्रोंके सहारे छोड़कर या साथ लेकर वनमें कुटिया बनाकर रहे। यही वानप्रस्थ आश्रम है। इस आश्रमका कर्तव्य था कि मूँछ, दाढ़ी और जटा बढ़ाए रहे, धरतीपर शयन करे, गिरे हुए ही फल खाकर रहे, आए हुए अतिथियोंका सत्कार करे, मृगचर्म या कुशासनसे शरीर ढँके, तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और सायं) सन्ध्या तथा देवताओंकी अर्चना करे, हवन और अतिथिपूजन करे, भिक्षाटन करे, बलि दे, निरन्तर ईश्वरकी आराधना करते हुए तपस्या और तितिक्षा (भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख सहन करनेकी शक्ति) साधे।

७५ वर्षकी अवस्था हो जानेपर या इससे पूर्व ही वानप्रस्थ अवस्थामें मन सध जानेपर सिर मुँड़ाकर, गेरुआ वस्त्र पहनकर दंड-कमंडलु लेकर संन्यास लिया जाता था। संन्यासीका कर्त्तव्य था कि सब प्रकारका लोभ, मोह, मद, मत्सर छोड़कर, अपने पुत्र-पौत्र, धन-संपत्तिकी ममता छोड़कर वैराग्य ले ले, प्राणिमात्रसे मित्रता करे। मन, वचन और कर्मसे किसी प्राणीका अनिष्ट न करे, पाँच रात्रिसे अधिक एक बस्तीमें न ठहरे, जब गृहस्थके चूल्हे ठंढे हो चुकें, सब खा-पी चुकें, उसी समय उच्च वर्णके गृहस्थोंके घर जाकर केवल शरीर चलाने भरके योग्य भिक्षा ले और सबका कल्याण करता हुआ

निर्भय और निःस्पृह भावसे विचरण करे और ईश्वराधन तथा योगके द्वारा मुक्ति प्राप्त करे ।

तीन ऋण : देव ऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण

आर्योंका यह भी अखण्ड तथा निश्चित विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सिरपर तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है—देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण । ईश्वरने यह सृष्टि बनाई है । मनुष्य तथा प्राणियोंको सुख, जीवन तथा सुविधा देनेके लिये ईश्वरने जल, वायु, प्रकाश, वनस्पति, पशु, पक्षी, नदी, ताल, निर्झर, मेघ आदिकी सृष्टि की है । इन सबके सहारे हमारा जीवन चलता और पलता है । यही देवऋण हमारे सिरपर चढ़ा हुआ है । इससे उऋण होना ही चाहिए । किन्तु ईश्वरके साक्षात् दर्शन तो हो नहीं पाते इसलिये हम देव-शक्तियोंके निमित्त अन्न, आदिका दान तथा यज्ञ करें । इस प्रकार यज्ञ करके हम देवऋणसे उऋण हो सकते हैं । किन्तु यज्ञ करनेके लिये, उसकी विधि, कर्मकांड, वेद, वेदांग, शास्त्र और स्मृतिका ज्ञान होना चाहिए । क्योंकि मन्त्र पढ़नेमें तनिक-सी भी गड़बड़ी हुई कि वह मन्त्र ही उसे ले बीते । इसलिये इस संबंधमें बड़ी सावधानी चाहिए और ठीक ठीक अध्ययन भी चाहिए अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम अवश्य सिद्ध करना चाहिए ।

दूसरा ऋण है पितृऋण । हमारे माता-पिताने हमें यह शरीर दिया है । हम केवल उनकी सेवा करके उनके ऋणसे उऋण नहीं हो सकते । उनसे उऋण होनेके लिये हमारा यह धर्म है कि हम अच्छे कुल, गोत्र, शील, संस्कारकी कन्यासे शुद्ध विवाह करें और उससे पुत्र उत्पन्न करें । इसका तात्पर्य यह है कि हम गृहस्थ आश्रमका पालन करें । इसके लिये हमें स्वस्थ शरीर चाहिए, गृहस्थी चलानेकी योग्यता चाहिए । इसके लिये भी शिक्षा आवश्यक है और तदनुकूल कामशास्त्रकी शिक्षा मिलनी चाहिए । बहुतसे लोग कामशास्त्रके संबंधमें यह धारणा बनाए हुए हैं कि इसमें केवल विभिन्न मुद्राओंसे मैथुन करनेके चौरासी आसन मात्र हैं । किन्तु ऐसी बात वास्तवमें है नहीं । उसमें स्पष्ट रूपसे ऐसे सब उपाय और विधान सुझाए गए हैं कि मनुष्य संपूर्ण शारीरिक भोग करते हुए किस प्रकार दीर्घायु और स्वस्थ रह सकता है । वात्स्यायनने अपने कामसूत्रमें कहा भी है कि मेरे कथनके अनुसार यदि कोई अपनी जीवन-चर्या बना ले तो—

'आषोडशात्सप्ततिपर्यन्तं कैशोरकम्'

अर्थात् सोलह बरससे सत्तर बरस तक किशोर अवस्था बनी रह सकती है । अतः पितृऋण चुकानेके लिये भी स्वस्थ शरीर, सत्संकल्प और शुद्धाचरणकी तो आवश्यकता है ही । उसके लिये भी शिक्षा आवश्यक है ।

तीसरा ऋण है ऋषिऋण। हमारे पूर्वज ऋषियोंने अपनी तपस्या, अनुभव, प्रयोग तथा अध्ययनसे जो ज्ञान हमारे लिये संचित कर छोड़ा है और जिसके सहारे हमारे ज्ञानका विकास होता है उनका भी हमपर बड़ा भारी ऋण है। उस ऋणसे उऋण होनेके लिये यह आवश्यक है कि हम उनके दिए हुए ज्ञानका अध्ययन करके उसका प्रचार करें अर्थात् विद्यादान या ज्ञानदान करें। यह ज्ञानदान ब्रह्मचर्य अवस्थासे लेकर संन्यास आश्रमकी अवस्थातक चल सकता है। इसके लिये ज्ञान संचय करना, अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है और यों भी अपना जीवन सफल, सरस, सुन्दर और मधुर बनानेके लिये शिक्षा तो अत्यन्त आवश्यक है ही।

शिक्षा-विधान

अब हमें यह देखना चाहिए कि शिक्षाके द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक सौख्य प्राप्त करनेके लिये आर्योंने क्या शिक्षा-विधान किया। उन्होंने शिक्षाके सम्बन्धमें इतनी बातें निश्चय कर दीं—

१. बालकका शिक्षा-संस्कार गर्भसे ही प्रारंभ कर दिया जाय।

२. प्रारंभमें माता उसे नित्यकर्म, स्वच्छता, शील और शिष्टाचारका अभ्यास करावे।

३. उसके पश्चात् पिता उसे अक्षर-ज्ञान करावे तथा अपना कुल-शील, आचरण तथा लोक-व्यवहारका ज्ञान करावे। यदि पिता अक्षर-ज्ञान न करा सके तो कुल-पुरोहित या ग्रामके उपाध्यायको बुलाकर अक्षरारम्भ करा दिया जाय और लिखना, बाँचना, बोलना-समझना सिखा दिया जाय।

४. इतने ज्ञानके पश्चात् उसे गुरुकुलमें भेज दिया जाय।

५. गुरुकुलमें केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके पुत्र ही भरती किए जायँ।

६. गुरुकुलोंमें वर्णके कर्त्तव्योंके अनुकूल निःशुल्क विद्यादान दिया जाय।

७. गुरुकुलोंकी व्यवस्थामें कोई राज्य-शासक किसी प्रकारका हस्तक्षेप न करें।

गुरुकुल-आश्रम

१. स्थान—गुरुकुल आश्रम किसी नदी या विस्तृत स्वच्छ जलवाले सरोवरके पास नगरके कोलाहलसे दूर किसी ऐसे वन या उपवनमें स्थापित किया जाता था जहाँ आश्रमकी गौओंको चरने, कुश और समिधा प्राप्त करने तथा विद्यार्थियोंके निवास, अध्ययन, व्यायाम, धनुर्विद्याके अभ्यास आदिके लिये पर्याप्त स्थान मिले तथा स्वच्छ जलवायु प्राप्त हो।

२. प्रवेश—ब्राह्मणके पुत्रको गर्भसे आठवें वर्ष, क्षत्रियके पुत्रको गर्भसे ग्यारहवें वर्ष और वैश्यके पुत्रको गर्भसे बारहवें वर्षमें गुरुकुलमें पहुँचा दिया जाता था। यह संस्कार उपनयन या 'गुरुके पास पहुँचानेका संस्कार' कहलाता था। गुरुकुल शुल्क नहीं लेता था। गुरु उस बालकसे ही पूछते थे—'कस्य ब्रह्मचारी असि' (तुम किसके ब्रह्मचारी हो)। वह कहता था 'भवतः' (आपका)। फिर उसका नाम पूछा जाता था और उसे भर्त्ती कर लिया जाता था।

३. पाठ्यक्रम—प्रत्येक बालकको कुछ सांस्कारिक, कुछ नैतिक, कुछ शारीरिक, कुछ व्यावहारिक और कुछ व्यावसायिक शिक्षा दी जाती थी। सांस्कारिक शिक्षाके अंतर्गत तीन वेद (ऋग्, यजुः और साम), वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष छन्द, व्याकरण), दर्शन तथा नीतिशास्त्र पढ़ाया जाता था जो सभीको पढ़ना पड़ता था। अलग-अलग वर्णके छात्रोंके वेद और उन वेदोंकी अलग शाखाओंके अध्ययनका विधान था। उसीके अनुसार सबको वेद और वेदांग पढ़ाए जाते थे। नैतिक शिक्षा कुछ तो उपदेशसे और कुछ आश्रमके पारस्परिक सेवा, स्नेह और सहयोगके वातावरणसे ही प्राप्त हो जाती थी जिसमें छात्र यह सीखते थे कि स्वयं असुविधा और कष्ट झेलकर भी दूसरेको सुख पहुँचाना चाहिए और सहनशीलताका व्यवहार करना चाहिए। शारीरिक शिक्षाके लिये प्राणायाम और व्यायामका विधान था। क्षत्रिय बालकोंके लिये धनुष-बाण, करवाल आदिके संचालन तथा अश्वारोहणकी शिक्षा भी शारीरिक सम्पन्नताके लिये दी जाती थी। इसके अतिरिक्त जंगलसे लकड़ी लाना, नदीसे जल लाना, कुश, आरने और समिधा एकत्र करना आदि तो स्वतः अनेक प्रकारकी व्यायाम-क्रियाएँ हैं। व्यावहारिक शिक्षाके निमित्त सन्ध्याको सायंहवनके पश्चात् सब अन्तेवासियोंको इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, कथावार्ता, भौगोलिक वर्णन तथा नये समाचार सुना या बता दिए जाते थे जिससे छात्रोंका व्यावहारिक ज्ञान अभिनव बना रहता था। व्यावसायिक शिक्षा वर्णोंके अनुकूल दी जाती थी। ब्राह्मणोंको पौरोहित्य, दर्शन, कर्मकांड आदि विषय पढ़ाए जाते थे, क्षत्रियको दंडनीति, राजनीति, सैन्य-शास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि विषय पढ़ाए जाते थे और वैश्यको पशुपालन, कृषिशास्त्र, व्यापार-शास्त्र पढ़ाया जाता था। इन विषयोंके अतिरिक्त आयुर्वेद आदि विषयोंको सीखनेकी स्वतन्त्रता सभीको थी। २५ वर्षकी अवस्थातक तीनों वर्णोंकी विद्याएँ पूर्ण हो जाती थीं किन्तु ब्राह्मणको यह छूट थी कि वह चाहे तो जीवन भर विद्यार्जन कर सकता था—'यावज्जीवमधीते विप्रः'।

ऊपर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामके जो चार पुरुषार्थ गिनाए गए हैं

उनकी सिद्धिके निमित्त सब विद्याओंको चार भागोंमें बाँट दिया गया था जिन्हें धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र कमशास्त्र और मोक्षशास्त्र कहते हैं।

वेदोंका कर्मकाण्ड और तदन्तर्गत, तदधीन सम्पूर्ण साहित्य "धर्मशास्त्र" के विभागमें आता है। "अर्थशास्त्र" या "अर्थवेद" स्वयं एक उपवेद ही है जो अथर्ववेदके अधीन है और जिसके अन्तर्गत और अधीन सम्पूर्ण धर्मशास्त्र सम्बन्धी साहित्य है। "कामशास्त्र" या "कलाशास्त्र" का मूल सामवेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद स्थापत्य और तदन्तर्गत, तदधीन सम्पूर्ण कलासाहित्य है। मोक्षशास्त्र वेदोंका ज्ञानकांड और उपासनाकाण्ड है और उसके अन्तर्गत समस्त दर्शन तथा सम्पूर्ण मोक्षसाहित्य है। यद्यपि अठारह विद्याओंमें उन चारों रूपोंका समावेश हो जाता है तथापि कामशास्त्रके वर्णनमें कुछ कमी रह गई है। वे हैं कलाएँ या महाविद्याएँ जो चौंसठ बताई जाती हैं। यद्यपि उन चौसठोंमेंसे अनेकका समावेश इन अठारहोंमें यत्रतत्र हो चुका है तथापि किसी एक स्थानपर विशेष रूपसे इनकी सूची नहीं दी गई है। इनमें विनय और शिष्टाचार, अभिधानकोष और छन्दोंका ज्ञान, काव्यकला, अनेक भाषाओंका ज्ञान इत्यादिका समावेश हुआ है। यहाँ उनकी पूरी सूची दे दी जाती है।

१. गीत (गाना)
२. वाद्य (बाजा बजाना)
३. नृत्य (नाचना)
४. नाट्य (अभिनय)
५. आलेख्य (चित्रकारी)
६. विशेषकच्छेद्य (तिलकके साँचे बनाना)
७. तण्डुल-कुसुमावलि-विकार (चावल और फूलोंसे चौक पूरना)
८. पुष्पास्तरण (फूलोंकी सेज रचना या बिछाना)
९. दसनवसनाङ्गराग (दाँतों, कपड़ों और अंगोंको रँगना या दाँतोंके लिये मंजन, मिस्सी आदि, वस्त्रोंके लिये रंग और रँगनेकी सामग्री तथा अंगोंमें लगानेके लिये चन्दन, केसर, मेंहदी, महावर आदि बनाना और उनके बनाने तथा कलापूर्ण ढंगसे रचानेकी विधिका ज्ञान)
१०. मणिभूमिका-कर्म (ऋतुके अनुकूल घर सजाना)
११ शयन-रचना (बिछावन या पलँग बुनना, सजाना और बिछाना)
१२. उदकवाद्य (जलतरंग बजाना)
१३. उदकघात (जलक्रीड़ा, पानीकी चोटसे.काम लेना जैसे पनचक्की, पिचकारी आदि काम लेनेकी विद्या)

१४. चित्रयोग (अवस्था परिवर्तन करना अर्थात् जवानको बुड्ढा और बुड्ढेको जवान करना या रूप बदलना आदि)।

१५. माल्यग्रन्थविकल्प (देवपूजनके लिये या पहननेके लिये माला गूँथना)

१६. केशशेखरापीडयोजन (शिरपर फूलोंसे अनेक प्रकारकी रचना करना या शिरके बालोंमें फूल गूँथना या मुकुट बनाना)।

१७. नेपथ्य-योग—(देशकालके अनुसार वस्त्र या आभूषण पहनना)।

१८. कर्णपत्रभंग (पत्तों और फूलोंसे कानोंके लिये कर्णफूल आदि आभूषण बनाना)।

१९. गन्धयुक्ति (सुगन्धित पदार्थ जैसे गुलाब, केवड़ा आदिसे फुलेल बनाना)।

२०. भूषण-योजन (सोने तथा रत्नके आभूषण सजाकर पहनना)।

२१. इन्द्रजाल।

२२. कौचुमारयोग—(कुरूपको सुन्दर करना या मुँहमें और शरीरमें मलनेके लिये ऐसे उबटन आदि बनाना जिनसे कुरूप भी सुन्दर हो जाय)।

३२. हस्तलाघव—हाथकी सफाई, फुर्ती या लाग।

२४. चित्रशाकापूपभक्ष्य-विकार-क्रिया—(अनेक प्रकारकी तरकारियाँ, पूप और खानेके पकवान बनाना। सूपकर्म।)

२५. पानकरसरागासव-योजन (पीनेके लिये अनेक प्रकारके शर्बत, अर्क और मद्य आदि बनाना।)

२६. सूचीकर्म (सीना पिरोना)।

२७. सूत्रकर्म (अनेक प्रकारके कपड़े बुनना, रफूगरी, कसीदा काढ़ना तथा तागेसे अनेक प्रकारके बेल-बूटे बनाना।

२८. प्रहेलिका (पहेली-बुझौव्वल, और कहानी बूझना)

२९. प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी अर्थात् श्लोकका अन्तिम अक्षर लेकर उसी अक्षरसे आरम्भ होनेवाला दूसरा श्लोक कहना, बैतबाज़ी)

३०. दुर्वाचयोग (कठिन पदों या शब्दोंका अर्थ निकालना)

३१. पुस्तक-वाचन (उपयुक्त रीतिसे पुस्तकें पढ़ना)

३२. नाटिकाख्यायिका-दर्शन (नाटक देखना या दिखलाना)

३३. काव्यसमस्यापूर्ति

३४. पट्टिकावेत्रवाणविकल्प (नेवाड़, बेंत या बाधसे चारपाई आदि बुनना)

३५. तर्कुकर्म—(तकुआ-सम्बन्धी सारे काम जैसे तकली, चर्खा)

३६. तक्षण (बढ़ई, संगतराश आदिका काम करना)।

३७. वास्तुविद्या (घर बनाना, इंजिनियरींग)

३८. रूप्य-रत्नपरीक्षा (सोने-चाँदी आदि धातुओं और रत्नोंको परखना)

३९. धातुवाद (कच्ची धातुओंको साफ करना या मिली धातुओंको अलग-अलग करना) ।

४०. मणिराग ज्ञान (रत्नोंके रंगोंके जानना) ।

४१. आकर-ज्ञान (खानोंकी विद्या)

४२. वृक्षायुर्वेदयोग (वृक्षोंका ज्ञान, चिकित्सा और उन्हें रोपने आदिकी विधि)

४३. मेष-कुक्कुट-लावक-युद्ध-विधि (मेढ़ा, मुर्गा, बटेर, बुलबुल आदि लड़ानेकी विधि)

४४. शुकसारिका प्रलापन--(तोता-मैना पढ़ाना) ।

४५. उत्सादन (उबटन लगाना, मालिश करना, हाथ, पैर, शिर आदि दबाना) ।

४६. केशमार्जन-कौशल (सिरके बाल सँवारना और तेल लगाना) ।

४७. अक्षरमुष्टिकाकथन-(करपलई)

४८. म्लेच्छित-कलाविकल्प (म्लेच्छ या विदेशी भाषा जानना) ।

४९. देशभाषा-ज्ञान (प्राकृतिक बोलियाँ जानना) ।

५०. पुष्पशकटिका-निमित्त-ज्ञान (दैवी लक्षण जैसे बादलकी गरज, बिजलीकी चमक इत्यादि देखकर आगामी घटनाके लिये भविष्यवाणी करना)

५१. यन्त्रमातृका (सब प्रकारके यन्त्रोंका निर्माण करना) ।

५२. धारण-मातृका (स्मरण शक्ति बढ़ाना) ।

५३. सम्पाठ्य (दूसरेको कुछ पढ़ते हुए सुनकर उसे उसी प्रकार दुहरा देना) ।

५४. मानसी काव्य क्रिया (दूसरेका अभिप्राय समझकर उसके अनुसार तुरन्त कविता करना या मनमें काव्य करके शीघ्र कहते जाना) ।

५५. क्रिया-विकल्प (क्रियाके प्रभावको पलटना) ।

५६. छलिक योग—(छल या ऐयारी करना) ।

५७. अभिधानकोष, छन्दोज्ञान (शब्दका अर्थ और छन्दोंका ज्ञान) ।

५८. वस्त्रगोपन—(वस्त्रोंकी रचना करना तथा फटे कपड़े इस प्रकार पहनना कि वे फटे न प्रतीत हों) ।

५९. द्यूतविशेष (जूआ खेलना) ।

६०. आकर्षण-क्रीड़ा (खींचने-फेंकनेवाले सारे खेल)

६१. बाल-क्रीड़ा-कर्म—(लड़का खेलाना)

६२. वैनायिकीविद्याज्ञान (विनय, सभाजन और शिष्टाचार)

६३ वैजयिकीविद्याज्ञान (दूसरोंपर विजय पानेका कौशल)

६४. व्यायामिकीविद्याज्ञान ('खेल कसरत, योगासन, प्राणायाम आदि व्यायाम) ।

४ दैनिक कार्यक्रम—ब्राह्म मूहूर्त्त (पौ फटनेके समय) में उठना, नित्यकर्म,

शौच, स्नान संध्यासे निवृत्त होकर आश्रमके लिये कुश, जल, समिधा लाना, आश्रम बुहारना, गौएँ दूहना, हवन करना, दूध पीकर गुरुजीके पास जाकर हाथपर हाथ रखकर दाहिने हाथसे गुरुजीका दायाँ पैर और बाएँ हाथसे बायाँ पैर छूकर झुककर प्रणाम करना, चुपचाप बैठकर गुरुजीका पढ़ाया हुआ पाठ सुनना, पूर्ण हो चुकनेपर गुरुजीकी आज्ञासे शंका-समाधान करना, मध्याह्नमें पासके नगर या ग्राममें जाकर सिद्धान्न (पका हुआ शुद्ध अन्न) भिक्षामें लेना जिसमें कोई तामसी पदार्थ (प्याज़, लहसुन, मांस, मदिरा आदि) न हो, भिक्षान्न लाकर गुरुजीको दे देना, उनका दिया हुआ लेकर भोजन करना, भोजन करनेके पश्चात् प्रातःकाल पढ़े हुए पाठको आपसमें बैठकर विचारना, संध्याको व्यायाम करना, गौ चराना, आश्रम शुद्ध करना, कुश, लकड़ी, समिधा, जल लाना, सायंकालकी नित्यक्रिया, शौच-संध्यादिसे निवृत्त होकर गौ दूहना, हवन करना और सायंकाल गुरुजीसे अथवा किसी अभ्यागत ऋषि-मुनि-साधु-विद्वान्से इतिहास-पुराण, कथा-वार्त्ता सुनना और एक पहर रात गए सोजाना और दो पहर सोना।

५. शिक्षण-विधि—प्रश्नोत्तरी-प्रणालीसे ही प्रधानतः शिक्षा दी जाती थी अर्थात् पढ़ा चुकनेके पश्चात् शिष्य प्रश्न करते थे और गुरुजी उत्तर देते थे। सब ज्ञान कंठस्थ कर लिया जाता था। शुद्ध उच्चारणका बड़ा महत्त्व था और यह महत्त्व साधारण ग्रामोपाध्याय या खंडिकोपाध्याय भी समझते थे—

उदात्ते कर्त्तव्ये योऽनुदात्तः करोति, खण्डिकोपाध्यायः तस्मै चपेटां ददाति।

[जो उदात्तके बदले अनुदात्त कर देता था, उसे खंडिकोपाध्याय चाँटा जड़ देता था।] स्वयं अनुभवके लिये भी कभी-कभी निर्देश कर दिया जाता था और छात्र गुरुके निर्देशके अनुसार अभ्यास करता चलता था और ज्ञान प्राप्त करता चलता था। अधिकांश शिक्षा गुरुमुखसे ही व्याख्या-प्रणाली-द्वारा दी जाती थी अर्थात् गुरु ही स्वयं किसी शास्त्र या विषयको लेकर उसकी स्वयं व्याख्या करते चलते थे और छात्र केवल मूक और मौन श्रोता बनकर बैठे रहते थे। पाठ समाप्त होने पर छात्र प्रश्न करते थे। जिन विषयोंकी व्यावहारिक शिक्षा भी अपेक्षित है उनके लिये प्रायोगिक शिक्षणकी भी व्यवस्था की जाती थी। हमारे यहाँ यह माना जाता था कि गुरुसे चौथाई ज्ञान मिलता है, दूसरा चौथाई स्वयं छात्र अपनी मेधासे पूरा करता है, तीसरा चौथाई वह साथियोंके साथ विचार करके सीखता है और शेष अपने आप समय समयपर पूरा होता चलता है—

आचार्यात्पादमाधत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया।
पादं सब्रह्मचारिभ्यः पादं कालक्रमेण तु॥

६. शिक्षण-व्यवस्था—विद्यालयमें कुलपति, आचार्य, गुरु और उपाध्याय

चार प्रकारके अध्यापक होते थे। जो दस सहस्र ऋषियों या ब्रह्मचारियोंको अन्नदान आदि देकर पढ़ानेका प्रबन्ध करते थे वे कुलपति कहलाते थे। जो छात्रोंका जनेऊ करके उन्हें कल्प और रहस्यके साथ वेद पढ़ाते थे वे आचार्य कहलाते थे। जो वेद या वेदांगके किसी एक अंशका अध्यापन जीविकाके लिये करते थे वे गुरु कहलाते थे और जो बालकके सब संस्कार करके उसका अन्नादि से पालन-पोषण करते थे वे उपाध्याय कहलाते थे।

आचार्य या गुरु तो केवल सबसे ऊपरके वर्गके छात्रोंको ही पढ़ाते थे। ऊपरके छात्र अपनेसे नीचे छात्रोंको पढ़ाते थे और वे अपनेसे नीचेवालोंको। इस प्रकार वास्तवमें वहाँ सब गुरु ही गुरु रहते थे और वह सचमुच गुरुकुल ही बन जाता था क्योंकि केवल सबसे नीचेके वर्गमें ही छात्र रह जाते थे।

७. विनय और शील—उपर्युक्त व्यवस्थासे सबसे बड़ा लाभ यह होता था कि पूरे गुरुकुलमें व्यापक रूपसे विनय और शीलकी भावना व्याप्त रहती थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनेको गुरु समझकर उसकी मर्यादाका पालन करता था और शिष्य समझकर अपनेसे बड़ोंमें गुरुभाव स्थापित करके अत्यन्त शील और शिष्टाचारका व्यवहार करता था। यही कारण था कि दुःशीलता, अविनय, दुष्टता, मारपीट, कलह आदिकी घटनाएँ वहाँ सुननेको नहीं मिलती थी।

८. गुरु और शिष्य—गुरुका धर्म केवल पढ़ाना भर नहीं था। उसका यह भी धर्म था कि वह छात्रोंके आचरणकी रक्षा करे, उनमें सदाचारकी भावना भरे, उनकी योग्यताके संवर्धनमें योग दे, उनके कौशल और उनकी प्रतिभाकी सराहना करके उनकी सर्वांगीण अभिवृद्धिमें सहायता करे, वात्सल्य भावसे उनकी देखरेख करे, उनके भोजन वस्त्रका प्रबन्ध करे, छात्रोंके रोगी होनेपर उनकी सेवा करे और जब वे विद्या प्राप्त करने या शंका मिटाने आवें उसी समय उनकी शंकाका समाधान करे, उन्हें अपने घरका अपना बालक समझे अर्थात् उनमें शुद्ध पुत्रभाव स्थापित करे और यदि वे बुद्धि-कौशलमें अपनेसे बढ़ जायँ तो इसे अपना गौरव समझे—

'सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयः।'

[सबसे विजयकी कामना करे किन्तु पुत्र और शिष्यसे पराजय की ही इच्छा करे।]

छात्र भी गुरुको पिता और देवता समझते थे। 'आचार्य देवो भव' की उन्हें शिक्षा ही दी जाती थी। उस समय विश्वास ही यह था कि—

पुस्तक-प्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरु-सन्निधौ।
न शोभते सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः॥

[जो लोग पुस्तकके सहारे पढ़ते हैं और जिन्होंने गुरुके पास बैठकर नहीं पढ़ा है वे सभामें ऐसे ही लज्जित होते हैं जैसे पर पुरुषके संसर्गसे धारण किया हुआ स्त्रीका गर्भ धारण ।] गुरुका एक एक वाक्य छात्र अपने लिये अमृत-वाक्य समझता था, उसकी सेवा करनेमें वह सात्त्विक गौरव समझता था। वह सब प्रकारसे गुरुकी कृपा तथा आशीर्वाद प्राप्त करने और गुरुको प्रसन्न रखनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहता था और यही कारण था कि उस समयके सब छात्र एकसे एक बढ़कर सच्चरित्र, मेधावी, विद्वान् और तेजस्वी होकर निकलते थे। गुरुकुलके छात्र अपने गुरुओंके पैर दाबते थे, उनके बर्तन माँजते थे, उनके लिये जल जाते थे, उनके इंगितपर सब सेवाकार्य करते थे, उनका आदर करते थे, वे सदा गुरुजीके पीछे रहते थे, यदि वे पास बुलावें तो बाईं ओर खड़े होकर बात सुनते थे, यदि वे हाथमें कुछ लेकर चले जा रहे हों तो उनके हाथसे ले लेते थे अर्थात् जितने प्रकारसे भी हो सकता था वे सेवा करते थे और अपने सामने गुरुजीको किसी प्रकारका कष्ट या किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होने देते थे।

९. छुट्टी—सब विद्यार्थी गुरुकुलमें ही रहते थे और तबतक घर नहीं लौटते थे जबतक पूरी विद्या नहीं प्राप्त कर लेते थे, इसलिये जिस प्रकारकी छुट्टी आजकल होती है ऐसी कोई छुट्टी वहाँ नहीं होती थी। वहाँ विशेष अवसरोंपर अनध्याय होता था अर्थात् पढ़ाई बन्द कर दी जाती थी। किसी विशेष अतिथिके आ जानेपर, अष्टमी चतुर्दशी और प्रतिपदाको पढ़ाई नहीं होती थी और यह माना जाता था कि—

अष्टमी गुरुहन्ता च शिष्यहंता चतुर्दशी ।

[अष्टमीको पढ़ानेवाले गुरुकी मृत्यु हो जाती है और चतुर्दशीको पढ़ने वाले शिष्यकी ।] प्रतिपदाको रिक्ता तिथि होनेके कारण अनध्याय रहता था। इनके अतिरिक्त चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, संक्रान्ति, वर्षा, विशिष्ट पर्वोत्सव, उस देशके राजाका अभिषेक, राजाका अवसान, किसी विशिष्ट पुरुषका अवसान, अन्तेवासीकी मृत्यु अथवा अन्य ऐसे अवसरोंपर ही अनध्याय होता था।

१०. वर्षसत्र—वर्षका आरंभ श्रावणसे समझा जाता था यद्यपि जिस प्रकार आजकल जुलाईमें वर्षका आरंभ होता है और मार्च, अप्रैल या मई तक चलता है वैसा उस समय नहीं था। केवल औपचारिक रूपसे गणना मात्र करनेके लिये श्रावणसे शिक्षा-वर्ष प्रारंभ किया जाता था।

११. दंड—जहाँ विनय और शीलका इतना भव्य और उदात्त वातावरण हो वहाँ दंडका प्रश्न ही कहाँ उठता है। फिर भी ग्राम-पाठशालाओंमें कपड़ेके कोड़े, फटे हुए बाँसके टुकड़े या हाथसे पीठपर मारनेका विधान था और यह

ताडन बुरा नहीं समझा जाता था। बहुतसे छात्र ऐसे आ जाते थे जिनका कुलशील-संस्कार बहुत अच्छा नहीं होता था और वे आकर विद्यालय और गुरुकुलकी शान्तिमें विघ्न डालते थे इसलिये कभी-कभी दंडका प्रयोग आवश्यक हो जाता था। वैदिक आर्य लोग ताडनको आवश्यक समझते थे। उनका निश्चित मत था—

लालयेत्पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं (शिष्यं) मित्रवदाचरेत्।

[पाँच बरसतक पुत्रका लाड़-प्यार करे, दस बरसोंतक उसकी ताडना करे या उसे डाँट-फटकारमें रक्खे पर जब वह सोलह वर्षका हो जाय तो पुत्रसे (या शिष्यसे) मित्रका सा व्यवहार करे।]

किन्तु जैसा हम ऊपर कह आए हैं दंडके अवसर बहुत कम आते थे।

१२. प्रायश्चित्त—गुरुकुलोंमें बहुतसे अपराधोंके प्रायश्चित्तोंका भी विधान था। अनेक प्रकारके सज्ञान और अज्ञान अपराधोंको लिये अनेक प्रकारके प्रायश्चित्त करके छात्रगण आत्मशुद्धि कर लेते थे।

१३. वातावरण—इस प्रकार गुरुकुलोंका वातावरण अत्यन्त शुद्ध, सात्त्विक जीवनसे ओतप्रोत था, पारस्परिक स्नेह, सेवा, सहानुभूति सत्संकल्प, तपस्या, ज्ञानार्जन, विद्यार्जन, आत्मत्याग, सहिष्णुता तथा विवेकशीलतासे भरा हुआ था। वहाँ छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, राजा-रंक, धनी-निर्धन किसी प्रकारका कोई भेद नहीं था। सब मिलकर समान भावसे रहते थे। सबका रहन-सहन अत्यन्त सरल होता था। सबके पास कुशासन, कंबल, मृगचर्म, पलाशदंड, मेखला (ब्राह्मणके पास मूँजकी, क्षत्रियके पास ताँतकी और वैश्यके पास सूतकी), जलपात्र और खड़ाऊँके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं होती थी। सारा जीवन खुले स्वच्छ प्राकृतिक वातवरणमें सक्रिय होकर व्यतीत करनेसे शरीरमें स्फूर्ति और दृढ़ता आती थी। प्राणायाम, हवन और तपस्यासे मुखपर तेज और शरीरमें कान्ति आती थी। सेवा तथा सहिष्णुतासे मनमें उदारता, आत्म-त्याग और सत्संकल्पकी सृष्टि होती थी तथा वेद-शास्त्र आदिके अध्ययनसे बुद्धिमें विवेक प्रस्फुरित होता था। सबसे बड़ी बात यह थी छात्र सब प्रकार की चिन्ताओंसे मुक्त होकर अध्ययन करता था।

१४ परीक्षा—उन गुरुकुलोंमें आजकल जैसी परीक्षा नहीं होती थीं। प्रति दिन जो कुछ गुरुजी पढ़ाते थे उसे वे अगले दिन सुनकर ही आगेका पाठ पढ़ाते थे अतः परीक्षा तो नित्य चलती रहती थी। इसके अतिरिक्त स्वयं छात्र ही आपसमें पाठ विचार करके अपनी अपनी परीक्षा करते चलते थे और जहाँ

कभी होती थी उसे पूरा करते चलते थे। शास्त्रार्थके रूपमें सामूहिक परीक्षा भी होती थी जिनमें एक ही गुरुकुलके छात्र दो श्रेणियोंमें विभक्त होकर एक पूर्वपक्ष ग्रहण कर लेता था, दूसरा उत्तर पक्ष। इसमें एक गुरुजी मध्यस्थ हो जाते थे और शास्त्रार्थ हो जानेपर वे निर्णय देते थे कि किसका पक्ष प्रबल है किसका निर्बल। जिसका पक्ष निर्बल होता था वह और भी अधिक उत्साहसे अध्ययन करनेमें जुट जाता था और इस प्रकार सात्विक तथा स्वस्थ प्रतियोगितः तथा प्रतिस्पर्धाका भाव उद्दीप्त होता था। कभी कभी दो गुरुकुलोंके छात्रोंमें भी शास्त्रार्थ हुआ करता था। आज भी नागपंचमीके दिन काशीमें अनेक स्थानोंपर उसी प्रकार शास्त्रार्थ होते रहते हैं। इन परीक्षाओंके अतिरिक्त कौशल-परीक्षाएँ और बुद्धि-परीक्षाएँ भी होती थीं जैसे द्रोणाचार्यंने वृक्षपर काठकी चिड़िया टाँगकर अपने राजसी शिष्योंको उसकी आँख बेधनेको कहा था किन्तु केवल अर्जुन हीं उसमें सफल हो पाए।

१५. समावर्त्तन तथा गुरुदक्षिणा—विद्या प्राप्त कर चुकनेपर प्रत्येक छात्र स्नातक हो जाता था और वह विशिष्ट उपदेश लेकर विद्यालयसे बिदा लेता था। इस इस बिदाके संस्कारको समावर्त्तन अर्थात् 'अच्छे ढंगसे लौटना' कहते थे। इस समावर्त्तनके समय गुरुदक्षिणा देनेकी भी परिपाटी थी अर्थात् प्रत्येक शिष्य अपने अपने सामर्थ्यके अनुसार गुरुको कुछ देनेका संकल्प करता था। यदि गुरु ही कुछ माँग बैठें तो शिष्य उसे पूरा करना अपना धर्म समझता था और जैसे भी संभव हो सकता उस गुरु-दक्षिणाके ऋणसे मुक्त होता था। यह गुरु-दक्षिणा धनके रूपमें भी दी जाती थी और प्रतिज्ञाके रूपमें भी कि मैं जीवन भर अमुक कार्य करूँगा।

१६. गुरुकुलका पोषण—इतना सब विवरण प्राप्त करनेके पश्चात् स्वभावतः यह पूछा जा सकता है कि भोजनका प्रबन्ध तो भिक्षासे हो जाता होगा किन्तु इतने छात्रोंके वस्त्र और निवासका प्रबन्ध कैसे चलता होगा। इस संबंधमें पहली बात तो यह समझ लेनी चाहिए कि इन गुरुकुलोंमें पक्के भवन नहीं होते थे। जंगलसे कुश, काँस, बाँस, लकड़ीसे ही बड़े सुन्दर और दृढ़ आवास बना लिए जाते थे और यह सब काम भी छात्रगण स्वयं करते थे। फिर भी गुरुकुलके लिये गौएँ चाहिएँ, उनकी सेवाका प्रबन्ध चाहिए, ब्रह्म-चारियोंको वस्त्र चाहिएँ और इधर उधर आने जानेकी भी व्यवस्था चाहिए। इन सबकी सुविधाके लिये अनेक राजा और धनी लोग भी आकर धन दे जाते थे और बहुत सा द्रव्य गुरुदक्षिणाके रूपमें मिल जाता था। इस प्रकार अत्यन्त निष्काम भावसे सरल जीवन बितानेवाले विद्यावयोवृद्ध गुरुजन प्राचीन गुरुकुल चलाते थे जिनके वचनोंका मान राजाओंको भी करना पड़ता था।